ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

श्री पंचास्तिकायसंग्रह प्रवचन

(भाग - 3)

परमपूज्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत **श्री पंचास्तिकायसंग्रह** ग्रन्थ
पर **अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के
गाथा 63 से 125 तक संकलित तथा 126 से 146 तक
अक्षरशः मंगल प्रवचन)

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2077	2548	2021

—: प्रकाशन :—

भगवत कुन्दकुन्दाचार्यदेव की साधनास्थली पौन्नूर हिल में स्थापित जिनमन्दिर के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में दिनांक 26 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 2021

प्राप्ति स्थान :

— श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334

— श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
Email - vitragva@vsnl.com

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

अहो उपकार जिनवर का, कुन्द का ध्वनि दिव्य का,
जिन-कुन्द ध्वनि गाथा, अहो श्री गुरु कहान का॥

परमपूज्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे महासमर्थ आचार्य भगवन्त द्वारा प्रणीत पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ जिनसिद्धान्त और जिनअध्यात्म का प्रवेश द्वारा है। इसमें जिनागम में प्रतिपादित द्रव्य-व्यवस्था और पदार्थ-व्यवस्था का संक्षिप्त में प्राथमिक परिचय प्रदान किया गया है।

आचार्य जयसेनदेव के कथनानुसार इस शास्त्र की रचना शिवकुमार महाराज इत्यादि संक्षिप्त रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिये हुई है।

महाश्रमण तीर्थंकरदेव की वाणी दिव्यध्वनि का-प्रवचन का सार ही संक्षिप्त में इस शास्त्र में समायोजित किया गया है।

मूल शास्त्र की अन्तिम गाथा 173 के अनुसार जिनप्रवचन के साररूप 'पंचास्तिकायसंग्रह' सूत्र मेरे द्वारा मार्ग की प्रभावना की हेतु से जिनप्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर कहा गया है।

इस शास्त्र के वाँचन-मनन से होनेवाले लाभ सम्बन्धी नोंध लेते हुए मूल ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि इस प्रकार जिनप्रवचन के सारभूत इस पंचास्तिकायसंग्रह को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दु:ख से मुक्त हो जाता है (गाथा-103)।

प्रस्तुत पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ पर दो टीकायें जगतप्रसिद्ध हैं। आचार्य अमृतचन्द्रदेव द्वारा लिखी गयी 'समयव्याख्या' और आचार्य जयसेनदेव कृत 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका।

प्रथम टीकाकार के मतानुसार इस ग्रन्थ के स्पष्टरूप से दो खण्ड हैं, जिनका उल्लेख टीकाकार ने 'श्रुतस्कन्ध' नाम से किया है। जबकि तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य जयसेन ने इस ग्रन्थ को तीन महा अधिकारों में विभक्त किया है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव द्वारा विभाजित प्रथम श्रुतस्कन्ध अनुसार ही आचार्य जयसेन द्वारा विभाजित प्रथम महा अधिकार है। अमृतचन्द्राचार्य के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जयसेनदेव ने दूसरे और तीसरे महा अधिकारों में विभाजित किया है। विशेष इतना ही कि अमृतचन्द्राचार्य जिसे 'मोक्षमार्ग प्रपंच चूलिका' कहते हैं, उसे ही जयसेनाचार्य तृतीय महाअधिकार कहकर पुकारते हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में सर्व प्रथम पहली छब्बीस गाथाओं में मंगलाचरण, ग्रन्थ प्रतिज्ञा उपरान्त छह द्रव्य और पंचास्तिकाय के सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका प्रस्तुत की गयी है। तत्पश्चात् विशेष व्याख्यान प्रारम्भ होता है। इस क्रम में सर्व प्रथम 27वीं गाथा से 73वीं गाथा तक कुल 47 गाथाओं में जीवास्तिकाय का व्याख्यान प्रस्तुत किया है। जो अत्यन्त गहन तथा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकरण में आत्मस्वरूप का जीवत्व, चेतयित्व, उपयोगत्व, प्रभुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, देहप्रमाणत्व, अमूर्तत्व और कर्मसंयुक्तत्वरूप से सविशेष स्पष्टीकरण किया गया है। उक्त सब ही विशेषण आत्मा के संसार और मुक्त दोनों अवस्थाओं पर घटित करके समझाये गये हैं।

तत्पश्चात् 9 गाथाओं में पुद्गल का, सात गाथाओं में धर्म-अधर्म का तथा और सात गाथाओं में आकाश द्रव्यास्तिकाय का निरूपण है। बाद की तीन गाथाओं में विशेष चूलिका है; जिसमें पाँचों अस्तिकाय द्रव्यों की मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व गुणधर्म समझाये गये हैं। तत्पश्चात् तीन गाथाओं में कालद्रव्य का वर्णन और अन्तिम दो गाथाओं में प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार के साथ अध्ययन का फल दर्शाया गया है। इस प्रकार कुल 104 गाथाओं का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। पश्चात् गाथा 105 से द्वितीय श्रुतस्कन्ध आरम्भ होता है, जो गाथा 153 तक विस्तरित है।

मंगलाचरण, मोक्षमार्ग, नौ पदार्थों का नाम-निर्देशपूर्वक गाथा 109 से 123वीं गाथा तक जीव-पदार्थ का, 124 से 127 गाथा तक अजीव पदार्थ का वर्णन है, जिसमें पाँच अजीव द्रव्यों का अजीवपना सिद्ध किया गया है।

यहाँ एक विशेष बावत ध्यान में रखनेयोग्य है कि पाँचों परमागमों में प्राप्त होनेवाली '**अरसमरुवमगंधं....**' गाथा यहाँ 127वीं गाथारूप से और अजीवपदार्थ के व्याख्यान के प्रकरण में आयी हुई है।

तत्पश्चात् जीव और अजीव के ही विशेष ऐसे सात पदार्थों के उपोद्घात के लिये तीन गाथाओं में जीवकर्म (भावकर्म) और पुद्गलकर्म (द्रव्यकर्म) के दुष्चक्र का विवेचन प्रस्तुत करने के बाद का चार गाथाओं में पुण्य-पाप पदार्थों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

तत्पश्चात् छह गाथाओं में (गाथा 135-140) आस्रव पदार्थ का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है, जिसमें अज्ञानी, ज्ञानी की अपेक्षा से अरहन्तादि के प्रति भक्ति इत्यादि विषय का विवेचन विशेषरूप से मननीय है।

इस प्रकरण में अनुकम्पा सम्बन्धी 137वीं गाथा दृष्टव्य है :-

क्षुधा तृषा से दुःखीजन को व्यथित होता देखकर।
जो दुःख मन में उपजता करुणा कहा उस दुःख को ॥१३७॥

इस गाथा की टीका में आचार्यदेव ने अज्ञानी के और ज्ञानी के हृदय में वर्तती अनुकम्पारूप पुण्य-परिणाम की नोंध बहुत ही मार्मिकता से ली है। आप फरमाते हैं कि 'ज्ञानी की अनुकम्पा तो, निचली भूमिकाओं में विहरते जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से मन में जरा खेद होना, वह है।'

तत्पश्चात् की गाथाओं में चित्त की कलुषिता की सूक्ष्म व्याख्या (गाथा 138) और पापास्रव के स्वरूप की विवेचना 139-140वीं गाथाओं में प्रस्तुत की गयी है। तत्पश्चात् तीन गाथाओं में (गाथा 141-142-143) संवरतत्त्व का और बाद की तीन गाथाओं में (गाथा 144-145-146) निर्जरा पदार्थ का निरूपण किया गया है।

यहाँ गाथा 146 में 'शुद्धस्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति वह वास्तव में ध्यान है।' ध्यान की ऐसी अपूर्व व्याख्या देकर ध्यान प्रगट करने की सम्पूर्ण विधि भी समझायी गयी है। मूल टीका में उद्धृत की गयी दो प्राचीन गाथायें स्वरूप प्राप्ति के लिये सचोट प्रेरणा के साथ वैराग्यभावना की हूंक प्रदान करती है। दूसरा सन्दर्भ-गाथा कुछ ऐसी शिक्षा देती है कि 'श्रुतियों का अन्त नहीं, काल थोड़ा है और हम अल्पबुद्धि हैं, इसलिए वही केवल सीखनेयोग्य है कि जो जन्म-मरण का क्षय करे....'

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के समयान्तर में पंचास्तिकाय ग्रन्थ पर व्याख्यान हुए हैं। यहाँ क्रमशः धारावाही हुए 88 प्रवचनों को चार भागों में प्रकाशित किये जाने की योजना है। उसमें से यह तीसरा प्रकाशित भाग आप सभी आत्मार्थी भव्यात्माओं

के करकमल में प्रस्तुत है। जिसमें पूज्य गुरुदेवश्री के गाथा 63 से 125 तक के 'प्रवचन प्रसाद' में प्रकाशित संकलित प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं। क्योंकि इन गाथाओं के प्रवचन सी.डी. में उपलब्ध न होने के कारण अक्षरश: प्रवचन प्रकाशित नहीं किया जा सकते। तत्पश्चात् 126 से 146 गाथा तक के 18 अक्षरश: प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं।

इन सभी प्रवचनों को सी.डी. से कम्प्यूटराईज्ड (गुजराती भाषा में) करने का कार्य आत्मार्थी श्रीमती बीनाबेन चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा सम्पन्न किया गया है। जिन्हें सी.डी. से मिलान करने का कार्य आत्मार्थी भाईश्री डॉ. देवेन्द्रभाई दोशी, सुरेन्द्रनगर और चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा किया गया है। तीन प्रवचन सन् 1969 के वर्ष में अनुपलब्ध होने से सन् 1963 के प्रवचनों से लिये गये हैं।

प्रस्तुत प्रवचनों का हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज को भी लाभ प्राप्त हो इस उद्देश्य से इस प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सी.डी. से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का टाईपसेटिंग का कार्य श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ द्वारा सम्पन्न हुआ।

संस्था सभी सहयोगियों के प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com पर भी उपलब्ध है।

सभी आत्मार्थी जीव इस प्रवचन ग्रन्थ का अध्ययन कर वस्तुस्वरूप के सम्यक् परिज्ञानपूर्वक निज आत्महित साधें इसी भावना के साथ....

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है—

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन

रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल

तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त

ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन	दिनांक	गाथा	पृष्ठ क्र.
संकलित प्रवचन	वीर संवत् २४७८	६३-१२५	१ से ३२५
२८	२३.०९.१९६४	१२६-१२७	३२६
२९	२४.०९.१९६४	१२६ से १३०	३५२
३०	२५.०९.१९६४	१२८ से १३०	३७६
३१	२६.०९.१९६४	१२८ से १३१	३९५
३२	२७.०९.१९६४	१३२	४१४
३३	२९.०९.१९६४	१३३ - १३४	४३४
३४	३०.०९.१९६४	१३५ - १३६	४५६
३५	०१.१०.१९६४	१३७ से १३९	४८०
३६	०२.१०.१९६४	१४०	५०३
३७	०३.१०.१९६४	१४० से १४२	५१६
३८	०४.१०.१९६४	१४२	५४०
३९	०५.१०.१९६४	१४३ - १४४	५६१
४०	०६.१०.१९६४	१४४	५८३
४१	०७.१०.१९६४	१४५	६०१
४२	०८.१०.१९६४	१४५ - १४६	६२१
४३	०९.१०.१९६४	१४६	६४४
४४	१०.१०.१९६४	१४६	६६४
४५	११.१०.१९६४	१४६	६८३

ॐ

परमात्मने नमः

श्री पञ्चास्तिकायसंग्रह प्रवचन

भाग-३

पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ की गाथा ६३ से १२५ तक पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन सी.डी. में अनुपलब्ध हैं। इस कारण इन गाथाओं के प्रवचन सद्गुरुप्रवचनप्रसाद (हस्तलिखित दैनिक) में उपलब्ध संकलित प्रवचनों से लिये गये हैं। इसलिए सभी मुमुक्षु इन प्रवचनों का मात्र पढ़कर ही स्वाध्याय कर सकेंगे। तत्पश्चात् १२६ गाथा से धारावाही शब्दशः प्रवचन इस भाग में प्रकाशित किये गये हैं।

गाथा - ६३

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुंजदि अप्पा कम्मं च देदि फलं।।६३।।
कर्म कर्म करोति यदि स आत्मा करोत्यात्मानम्।
कथं तस्य फलं भुङ्क्ते आत्मा कर्म च ददाति फलम्।।६३।।

समयव्याख्या : कर्मजीवयोरन्योन्याकर्तृत्वेऽन्यदत्तफलान्योपभोगलक्षणदूषणपुरःसरः पूर्वपक्षोऽयम्।।६३।।

यदि करम करते करम को आतम करे निज आत्म को।
क्यों करम फल दे जीव को क्यों जीव भोगे करम फल।।६३।।

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि [कर्म] कर्म [कर्म करोति] कर्म को करे और [सः

आत्मा] आत्मा [आत्मानम् करोति] आत्मा को करे तो [कर्म] कर्म [फलम् कथं ददाति] आत्मा को फल क्यों देगा [च] और [आत्मा] आत्मा [तस्य फलं भुङ्क्ते] उसका फल क्यों भोगेगा?

टीका:–यदि कर्म और जीव को अन्योन्य अकर्तापना हो तो 'अन्य का दिया हुआ फल अन्य भोगे' ऐसा प्रसंग आयेगा–ऐसा दोष बतलाकर यहाँ पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है।

भावार्थ:–शास्त्रों में कहा है कि (पौद्गलिक) कर्म जीव को फल देते हैं और जीव (पौद्गलिक) कर्म का फल भोगत है। अब यदि जीव कर्म को करता ही न हो तो जीव से नहीं किया गया कर्म जीव को फल क्यों देगा और जीव अपने से नहीं किये गये कर्म के फल को क्यों भोगेगा? जीव से नहीं किया कर्म जीव को फल दे और जीव उस फल को भोगे, यह किसी प्रकार न्याययुक्त नहीं है। इस प्रकार, 'कर्म, कर्म को ही करता है और आत्मा, आत्मा को ही करता है', इस बात में पूर्वोक्त दोष आने से यह बात घटित नहीं होती–इस प्रकार यहाँ पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है।।६३।।

अब सिद्धान्तसूत्र है (अर्थात् अब ६३वीं गाथा में कहे गये पूर्वपक्ष के निराकरणपूर्वक सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाली गाथाएँ कही जाती है)।

गाथा - ६३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, फाल्गुन कृष्ण अमावस्या, मंगलवार)

जो ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का कर्मसमूह है, वह अपने परिणाम को करता है और जो वह संसारी जीवद्रव्य अपने स्वरूप को करता है, तब उस कर्म का उदय अवस्था को प्राप्त हुआ जो फल, उसको जीवद्रव्य किस प्रकार भोगता है और ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का कर्म अपने विपाक को कैसे देता है?

इस गाथा में शिष्य **प्रश्न** करता है कि आप कहते हो कि जीव अपने भाव को करता है और जीव की दशा पर में नहीं जाती और जड़कर्म की अवस्था भी जड़ से होती है, कर्म जीव को कुछ नहीं करता तो फिर हमारा **प्रश्न** है कि कर्म का उदय आने से कर्म का फल जीव किस प्रकार भोगे और जड़कर्म ज्ञानावरणादि अपना फल जीव को किस प्रकार दे?

देखो! यहाँ शिष्य को उलझन हुई है कि आत्मा तो अरूपी-अमूर्त है, कर्म रूपी-मूर्त है। शरीर, वाणी इत्यादि सब रूपी हैं। जैसे पानी और कंकड़ एक क्षेत्र में हजारों वर्ष रहते हैं, तथापि पानी कंकड़रूप नहीं होता और कंकड़ पानीरूप नहीं होते; उसी प्रकार चैतन्य आत्मा जल समान कभी भी शरीर, वाणी, मन, कर्मरूप नहीं होता और उनका कुछ नहीं कर सकता। तो फिर अरूपी आत्मा बाँधे हुए रूपी कर्मों को किस प्रकार भोगता है और रूपी कर्म उसके रूपी फल को अरूपी आत्मा को किस प्रकार दे? ऐसा शिष्य प्रश्न करता है।

भावार्थ - रूपी कर्म तो अपने रूपी स्वरूप का कर्ता है और आत्मा अपने विकारी अथवा अविकारीभाव का कर्ता है। वह अरूपी आत्मा जड़स्वरूप कर्मों को किस प्रकार भोगता है और जड़कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा को किस प्रकार फल देते हैं? जड़कर्म आत्मा को फल देता होगा?

समाधान - निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा किसी भी प्रकार से कर्म को भोगता नहीं तथा कर्म भी आत्मा को फल नहीं देता। परन्तु आत्मा अपने अज्ञान के कारण से राग-द्वेष के परिणाम करता है, तब परपदार्थों में सुख-दुःख मान लेता है और कर्म ने फल दिया, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी जीव को आत्मा और परपदार्थ के भेदज्ञान की खबर नहीं है, इसलिए वह मानता है कि मैं इस जड़पदार्थ को भोगता हूँ। जैसे कि बँगला, लड्डू, दाल, भात, ठण्डे पानी इत्यादि को भोगता हूँ, ऐसा वह मानता है। अरूपी आत्मा खाने-पीने के रूपी पदार्थ को खाता होगा? नहीं। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव परपदार्थ का भोक्ता है ही नहीं। अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह मानता है कि मैंने शक्कर खायी, ठण्डा पानी पीया, परन्तु वह अपनी उल्टी मान्यता और विकार का अनुभव करता है; जड़ को अनुभव नहीं करता। छुरा लगने पर छुरे का अनुभव नहीं करता परन्तु द्वेष का अनुभव करता है। अग्नि में हाथ पड़े, तब जीव अग्नि का अनुभव नहीं करता, परन्तु द्वेष का अनुभव करता है, निगोद का जीव भी समय-समय में अपने परिणाम को अनुभव करता है। कर्म या परपदार्थ को अनुभव नहीं करता।

यदि पर के कारण दु:ख हो तो केवली भगवान सबको जानते हैं और समुद्घात के समय नरक में भी उनके प्रदेश फैलते हैं, तथापि उन्हें दु:ख नहीं है, क्योंकि उन्हें राग-द्वेष नहीं है। इससे साबित होता है कि ज्ञानी जीव को भी पर का दु:ख नहीं है।

रोग आना, वह दु:ख नहीं, शरीर में रोग आने पर मुझे (आत्मा को) रोग आया, ऐसा मानकर द्वेष का अनुभव करता है। पर से भिन्न माने और विकार क्षणिक है, मैं तो शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ, ऐसा भान करे तो धर्म हो, परन्तु अज्ञानी को शुद्ध चैतन्य का भान नहीं है, इसलिए वह विपरीत मान्यता करता है। बिच्छू काटने पर उसके डंक का अनुभव नहीं करता परन्तु द्वेष का अनुभव करता है। इस प्रकार अपने में राग-द्वेष के परिणाम करना, तथापि पर के कारण राग-द्वेष मानकर पर को अनुभव करता है, ऐसा मानता है, परन्तु जड़पदार्थ से आत्मा भिन्न है, ऐसा नहीं मानता; इसलिए अज्ञान और राग-द्वेष का अनुभव करता होने पर भी मानता है कि मैं परपदार्थों को भोगता हूँ। कर्म ने मुझे फल दिया और उस फल को मैं भोगता हूँ, ऐसा मान रहा है। उस समय उल्टे परिणाम करता है, वे भी स्वयं से करता है, कर्म के कारण नहीं करता। परन्तु कर्मों ने फल दिया और मैंने उसे भोगा—ऐसा मानकर परद्रव्य सम्बन्धी दु:ख-दु:ख मान लेता है। ●●

गाथा - ६४

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ।।६४।।

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चानंतानंतैर्विविधैः ।।६४।।

समयव्याख्या : कर्मयोग्यपुद्गला अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक-व्यापित्वाद्यत्रात्मा तत्रानानीता एवावतिष्ठंत इत्यत्रोक्तम् ।।६४।।

करम पुद्गल वर्गणायें अनन्त विविध प्रकार कीं।
अवगाढ़-गाढ़-प्रगाढ़ हैं सर्वत्र व्यापक लोक में।।६४।।

अन्वयार्थ :- [लोकः] लोक [सर्वतः] सर्वतः [विविधैः] विविध प्रकार के, [अनंतानंतैः] अनन्तानन्त [सूक्ष्मैः बादरैः च] सूक्ष्म तथा बादर [पुद्गलकायैः] पुद्गलकायों (पुद्गलस्कन्धों) द्वारा [अवगाढगाढनिचितः] (विशिष्ट रीति से) अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है।

टीका:-यहाँ ऐसा कहा है कि-कर्मयोग्य पुद्गल (कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध) अंजनचूर्ण से (अंजन के बारीक चूर्ण से) भरी हुई डिब्बी के न्याय से समस्त लोक में व्याप्त है; इसलिए जहाँ आत्मा है वहाँ, बिना लाये ही (कहीं से लाये बिना ही), वे स्थित हैं।।६४।।

गाथा - ६४ पर प्रवचन (वी.स.२४७८, चैत्र शुक्ल १, बुधवार)

अज्ञानी कहता है कि 'जड़ जड़ के कारण से परिणमता है और आत्मा आत्मा के कारण से परिणमता है, ऐसे छह कारक कहे तो फिर कर्म न हो तो शरीर किस प्रकार मिला? यह सब भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के आत्मा दिखते हैं न! यदि कर्म आत्मा में कुछ नहीं करता हो तो इस विचित्रता का कारण क्या है? और शरीर तथा कर्म आत्मा में न हो तो आत्मा की अभी मुक्ति होनी चाहिए! वर्तमान मुक्ति नहीं है, इसलिए शरीर और कर्म आत्मा के हों, ऐसा लगता है। किसी को स्त्री-पुत्र मर जाये, किसी को व्यापार में नुकसान आवे - यह सब कर्म का फल इसका है। यदि आत्मा और शरीर अथवा

कर्म भिन्न हों तो भिन्न, भिन्न को फल किस प्रकार दे और फल न दे तो भिन्न आत्मा किस प्रकार फल भोगे ?'— ऐसा प्रश्न शिष्य ने गाथा ६३ में किया था। उसका जवाब मूल गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं।

समस्त त्रैलोक्य सब जगह पुद्गलस्कन्धों के द्वारा अतिशय भरपूर गाड़ा भरा हुआ है। जैसे काजल की काजलदानी अंजन से भरी होती है, उसी प्रकार सर्वत्र पुद्गलों से लोक भरपूर तिष्ठता है। कैसे हैं पुद्गल ? अतिशय सूक्ष्म है तथा अतिशय बादर है। फिर कैसे हैं पुद्गल ? अपरिमाणसंख्या लिये हुए हैं। फिर कैसे हैं पुद्गल ? निश्चय करके कर्म परमाणु स्कन्ध आदि अनेक प्रकार के हैं।

तीन लोक में जीव भरे हुए हैं। कोई भी जगह जीवों से खाली नहीं है, उसी प्रकार सम्पूर्ण लोक में पुद्गलस्कन्ध अतिशय गाढ़ भरपूर हैं। जिस प्रकार काजल की काजलदानी पूरी अंजन से भरपूर है। उसी प्रकार से सर्वत्र ऊर्ध्व, मध्य और अधो-ऐसे तीन लोक में पुद्गल ठसाठस भरे हुए हैं। वे अतिशय सूक्ष्म हैं और स्थूल भी हैं। जिनकी संख्या का माप नहीं। दो परमाणु के स्कन्ध से लेकर अनन्त परमाणु के स्कन्धवाले-अनेक विचित्रतावाले हैं। औदारिक, कार्मण, तैजसशरीर के परमाणु के स्कन्ध भी ठसाठस भरे हुए हैं। जिस प्रकार जगत में भिन्न-भिन्न प्रकार के मकानों में प्लास्टर होता है और वह अपने-अपने कारण से होता है, कारीगर से नहीं होता; उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्रतावाले कर्म परमाणुओं के स्कन्ध अपने कारण से होते हैं। निगोद का जीव नीचे हो तो भी कर्म बाँधता है और सिद्धशिला के ऊपर हो तो भी कर्म बाँधता है और वहाँ रहे हुए सिद्ध कर्म नहीं बाँधते। केवली समुदघात करे, तब जहाँ केवली हैं, वहाँ निगोद के जीव हैं। केवली भगवान को योग के कारण एक समय में कर्म आते हैं और दूसरे समय में खिर जाते हैं और उस जगह रहा हुआ निगोद का जीव मोहनीयादि कर्म बाँधता है। मुनि अमुक कर्म बाँधते हैं, अज्ञानी अमुक कर्म बाँधता है, तो एक क्षेत्र में होने पर भी आत्मा के अन्तर से कर्म बाँधने में अन्तर पड़ता है तो वह कर्म बाँधने में आत्मा आधार है या नहीं ? और यदि आत्मा आधार नहीं तो पुद्गलस्कन्ध भिन्न-भिन्न जीवों के पास भिन्न-भिन्नरूप से कैसे परिणमते हैं ? इसका उत्तर अब बाद की गाथा में देते हैं।

दूसरे कोई कारण से कर्म की उत्पत्ति नहीं है, जब रागादि भावोंरूप आत्मा परिणमित होता है, तब उनका निमित्त पाकर पुद्गलकर्म स्वयं बँधते हैं। ●●

गाथा - ६५

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ।।६५।।

आत्मा करोति स्वभावं तत्र गताः पुद्गलाः स्वभावैः।
गच्छन्ति कर्मभावमन्योन्यावगाहावगाढाः ।।६५।।

समयव्याख्या : अन्याकृतकर्मसंभूतिप्रकारोक्तिरियम्। आत्मा हि संसारावस्थायां पारिणामिकचैतन्यस्वभावमपरित्यजन्नेवानादिबंधनबद्धत्वादनादिमोहरागद्वेषस्निग्धैरविशुद्धैरेव भावैर्विवर्तते। स खलु यत्र यदा मोहरूपं रागरूपं द्वेषरूपं वा स्वस्य भावमारभते, तत्र तदा तमेव निमित्तीकृत्य जीवप्रदेशेषु परस्परावगाहेनानुप्रविष्टाः स्वभावैरेव पुद्गलाः कर्मभावमापद्यंत इति ।।६५।।

आतम करे क्रोधादि तब पुद्गल अणु निजभाव से।
करमत्व परिणत होंय अर अन्योन्य अवगाहन करें।।६५।।

अन्वयार्थ :- [आत्मा] आत्मा [स्वभावं] (मोहरागद्वेषरूप) अपने भाव को [करोति] करता है; [तत्र गताः पुद्गलाः] (तब) वहाँ रहनेवाले पुद्गल [स्वभावैः] अपने भावों से [अन्योन्यावगाहावगाढाः] जीव में (विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य-अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए [कर्मभावम् गच्छन्ति] कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

टीका:-अन्य द्वारा किये गये बिना कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसका यह कथन है।

आत्मा वास्तव में संसार-अवस्था में पारिणामिक चैतन्यस्वभाव को छोड़े बिना ही अनादि बन्धन द्वारा बद्ध होने से अनादि मोहरागद्वेष द्वारा *स्निग्ध ऐसे अविशुद्ध भावोंरूप से ही विवर्तन को प्राप्त होता है (-परिणमित होता है)। वह (संसारस्थ आत्मा) वास्तव में जहाँ और जब मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप ऐसे अपने भाव को करता है, वहाँ और

---

* स्निग्ध=चीकने; चीकनाईवाले। (मोहरागद्वेष कर्मबन्ध में निमित्तभूत होने के कारण उन्हें स्निग्धता की उपमा दी जाती है। इसलिए यहाँ अविशुद्ध भावों को 'मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध' कहा है।)

उस समय उसी भाव को निमित्त बनाकर पुद्गल अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में (विशिष्टतापूर्वक) परस्पर अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मभाव को प्राप्त होते हैं।

भावार्थः–आत्मा जिस क्षेत्र में और जिस काल में अशुद्ध भावरूप परिणमित होता है, उसी क्षेत्र में स्थित कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध उसी काल में स्वयं अपने भावों से ही जीव के प्रदेशों में विशेष प्रकार से परस्पर–अवगाहरूप से प्रविष्ट हुए कर्मपने को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार, जीव से किये गये बिना ही पुद्गल स्वयं कर्मरूप से परिणमित होते हैं।।६५।।

गाथा - ६५ पर प्रवचन (वी.स.२४७८, चैत्र शुक्ल १, बुधवार)

जीव अशुद्ध रागादि विभावपरिणामों को करता है। जहाँ जीवद्रव्य तिष्ठता है, तहाँ वर्गणारूप पुद्गल तिष्ठता है, वह अपने परिणामों के द्वारा ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप भाव को प्राप्त होता है। कैसे हैं वे पुद्गल? परस्पर एकक्षेत्र अवगाहना करके अतिशय गाढ़े भर रहे हैं।

जीव के शुभाशुभभावों को, अभव्य के मिथ्यात्व के भाव को, तीर्थंकर तथा ज्ञानी की असातना के भावों को यहाँ स्वभाव कहा है क्योंकि जीव स्वयं वे भाव पर्याय में करता है। अपने चैतन्यस्वभाव की जिन्हें खबर नहीं और जो विरुद्ध मान्यता करते हैं, वे केवली की असातना कर रहे हैं। उन असातना के भाव तथा कसाईखाने में पशु काटने के भावों को यहाँ स्वभावभाव कहा है।

इस प्रकार अज्ञानी जीव अपने में मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि के अशुद्धभाव करता है। जहाँ जीवद्रव्य है, वहाँ कार्मणवर्गणारूप परमाणु रहे हुए हैं, वे परमाणु कर्मरूप परिणमते हैं। कोई कहता है कि कर्म बाहर से आते होंगे? नहीं; वहाँ की वर्गणा कर्मरूप परिणमित होती है। जीव उसे कर्ता नहीं। जीव कर्मों को करे तो जीव-पुद्गल एक हो जायें। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न तत्त्व हैं। अज्ञानी मानता है कि **शरीर और कर्म मेरे हैं और मैं उनका हूँ, ऐसा अज्ञानभाव प्रगट करता है, तब पुद्गल स्वयं**

ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप परिणमते हैं। कर्म से पृथक्ता तूने नहीं मानी और तू मिथ्याभावरूप हुआ, तब कर्म मिथ्यात्व की प्रकृतिरूप परिणमते हैं, उन्हें तू परिणमाता नहीं है। जड़ परमाणुओं का ज्ञानावरणीयादि कर्मरूप परिणमने का स्वभाव है। मूल में 'स्वभावैः' शब्द है। अपने पर्यायस्वभाव से कर्मरूप अवस्थारूप परिणमता है। और '**गच्छन्ति**' शब्द का अर्थ 'प्राप्त होता है'—स्वयं कर्मरूप अवस्था को प्राप्त होता है। कोई प्राप्त कराता नहीं।

अब औदारिक, कार्मण, तैजस और भाषा इत्यादि के परमाणु पूरे लोक में भरे हुए हैं। कोई ईश्वर ने या आत्मा ने उन्हें बनाया नहीं है। वे आत्मा से भिन्न हैं, ऐसी खबर बिना का—बेखबर जीव पर से अपना कार्य मानकर अज्ञानभाव करता है, तब जड़ परमाणु कर्मरूप बँधकर एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ परस्पर एक क्षेत्र में अति गाढ़रूप से पुद्गल परमाणु रहे हुए हैं, वे पुद्गल परमाणु कर्मरूप से बँधते हैं।

कोई **प्रश्न** करे कि इसमें धर्म क्या आया?

समाधान : जीव और अजीव दो तत्त्व स्वतन्त्र हैं। उनकी सात पर्यायें मिलकर नौ तत्त्व होते हैं। नौ स्वतन्त्र न मानकर एक-दूसरे में एक-दूसरे का कार्य माने तो मिथ्यात्व होता है। जीव, अजीव नहीं होता; अजीव, जीव नहीं होता; पुण्य, वह पाप नहीं; पाप, वह पुण्य नहीं; पुण्य से धर्म नहीं होता; पुण्य-पाप दोनों आस्रव और बन्ध है, वे संवर-निर्जरा नहीं हैं। संवर-निर्जरा आंशिक शुद्धता है और मोक्ष पूर्ण शुद्धता है। इस प्रकार नौ को नौ पृथक् माने तो उसे अभी व्यवहार श्रद्धा अर्थात् पुण्य का कारण है। जो नौ को पृथक् नहीं जानता और एक-दूसरे को पराधीन मानता है, उसे धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य भी नहीं है। जैसे कंकड़ और पानी साथ में होने पर भी कंकड़ पानी नहीं होते, उसी प्रकार आत्मा और जड़कर्म इकट्ठे होने पर भी एक-दूसरेरूप नहीं होते। ऐसे अपने आत्मा को पर से भिन्न मानकर, विकार जितना भी नहीं; मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करे तो धर्म होता है।

भावार्थ - यह आत्मा संसार अवस्था में अनादि काल से परद्रव्य के निमित्त से

मिथ्यात्व-रागादि अशुद्धभावोंरूप परिणमता है। जीव मुनिपना लेकर नौवें ग्रैवेयक गया, परन्तु आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भान नहीं किया। इसलिए अशुद्ध भावोंरूप से परिणमता है। आत्मा अरूपी शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, कर्मरूपी जड़ स्वभावी है। शरीर भी रूपी है, दोनों भिन्न हैं, तथापि शरीर, कर्म, परिवार मेरे हैं—ऐसा मिथ्यात्वभाव अपने चैतन्यस्वभाव को चूककर करता है। वह निमित्त के लक्ष्य से करता है। स्त्री-पुत्र कर्म और शरीर संसार नहीं है, परन्तु वे मेरे हैं और मैं उनका, ऐसे अज्ञानभाव से मोह-राग-द्वेषरूप से परिणमता है। आत्मा कर्म और विकार से भिन्न है, ऐसा ज्ञान नहीं किया। अनादि से निगोद से लेकर सभी संसारी जीव अपने कारण से विभावरूप परिणमते हैं, तब उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु अपनी उपादान शक्ति से आठ कर्मोंरूप परिणमते हैं। अर्थात् कि निश्चय से अपने कारण से कर्मरूप होते हैं।

आत्मा और कर्म भिन्न है, ऐसा अज्ञानी को भान नहीं, इसलिए मानता है कि आत्मा कर्म करता है और कर्म आत्मा को रागादि कराते हैं - ऐसा अज्ञानी मानता होने पर भी अज्ञानी का आत्मा स्वतन्त्ररूप से विभावरूप परिणम रहा है और कर्म भी स्वतन्त्र बँधते हैं। ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्ता है, अज्ञानी अज्ञानभाव का कर्ता है और जड़ जड़भाव का कर्ता है।

अज्ञानी जीव ने अज्ञान बहुत किया है, इसलिए वहाँ चिकने कर्मरूप बँधाऊँ, ऐसी क्या पुद्गल परमाणु को खबर है? शरीर को कुछ खबर है? खबर नहीं होने पर भी कैसे बँधता है? भाई! उसमें खबर की कोई आवश्यकता नहीं है। जड़ में शक्ति है। जड़ भी ईश्वर है। जैसे चेतन, चेतन के भाव को करता है; वैसे जड़ अपने जड़भाव को करे, ऐसी सामर्थ्य है। किसी के कारण कुछ नहीं होता। कोई ईश्वर जड़ को करे या कोई आत्मा जड़ की अवस्था करे, ऐसा माननेवाले को पर से पृथक् पड़ना रुचता नहीं है, उसे तीव्र एकत्वबुद्धि वर्तती है। उसकी त्रस की स्थिति पूरी होने आयी है और वह निगोद में जाने की तैयारीवाला है।

अज्ञानी जीव जितने प्रमाण में अज्ञानभाव करता है, उतने ही प्रमाण में पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणमकर एकक्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, तथापि आत्मा कर्म में प्रविष्ट

नहीं हो जाता है। दोनों की क्रिया स्वतन्त्र है, इसलिए निश्चित होता है कि पूर्व में बँधे हुए कर्म के उदय के समय जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव को चूककर अपनी पर्याय की योग्यता के कारण से मिथ्यात्व, राग, द्वेषादि भावों का कर्ता होता है। पूर्व में छह निरपेक्ष कारक कहे गये थे, वह बात रखकर यह बात करते हैं। जड़कर्म ने इसे अशुद्ध नहीं किया है, परन्तु 'कर्म मुझे हैरान करते हैं', इस प्रकार जड़कर्म पर दोष डालता हुआ, अपने स्वभाव को चूकता हुआ अज्ञानभावरूप से परिणमता है। जड़कर्म आत्मा के कर्ता नहीं और आत्मा जड़ का कर्ता नहीं। तथापि आत्मा के कर्ता बिना राग-द्वेष नहीं होते और जड़ के कर्ता बिना उसका कर्मरूप कार्य नहीं होता। कर्म, कर्म में है; कर्म, आत्मा से पर है; विकार, विकार में है, वह क्षणिक है। इसके अतिरिक्त आत्मा शुद्ध है, ऐसे द्रव्य, विकार और निमित्त—ऐसा तीनों का प्रमाणज्ञान कराते हैं। जो इस प्रकार सच्चा ज्ञान नहीं करता, वह रागादिरूप परिणमता है।

अज्ञानी मानता है कि मेरी होशियार से पैसा मिला, उसे तो पुण्य की भी श्रद्धा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं, दया, दानादि के भाव होते हैं, वे विकार, कर्म के कारण से नहीं, परन्तु तेरे अपराध के कारण से होते हैं। **वह तेरा पर्यायधर्म है और उस विकार से तुझे द्रव्यकर्म नहीं बँधता, द्रव्यकर्म पुद्गल के कारण से बँधता है। इस प्रकार कर्म और विकार की स्वतन्त्रता बतलाते हैं।**

ऐसी स्वतन्त्रता की खबर नहीं, ऐसा अज्ञानी जीव मानता है कि मैं हूँ तो शरीर चलता है और शरीर से आत्मा में कार्य होता है। उसे रागादिभाव होते हैं, उनका निमित्त पाकर कार्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणु अपनी उपादानशक्ति से आठ कर्मोंरूप होते हैं और वे परमाणु उन कर्मों के कर्ता होते हैं। जीव उन कर्मों का कर्ता नहीं होता। इस जीव ने अज्ञानभाव किया, इसलिए मैं वहाँ कर्मरूप परिणमित होऊँ, ऐसी पुद्गल को खबर नहीं है। कर्म, कर्म के कारण से परिणमता है, वह उपादानकारण है। जीव के राग -द्वेष उसमें निमित्तमात्र है।

प्रश्न : राग-द्वेष जीव करे तो कर्म को आना पड़े न?

समाधान : नहीं, पुद्गल परमाणु में कर्मरूप होने की योग्यता है, तो होते हैं,

किसी के कारण नहीं होते। अज्ञानी कहता है कि जगत का कर्ता ईश्वर है और ईश्वर की इच्छा बिना पत्ता भी नहीं हिलता। ऐसी मान्यतावाला जैसे मिथ्यादृष्टि है, वैसे जैन नाम धरानेवाला कहे कि आत्मा के बिना शरीर और कर्म नहीं चलता तो वह भी उसके जैसा ही मिथ्यादृष्टि है। वह ऐसी उल्टी दृष्टि से भटक रहा है। छहों द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। कोई किसी का काम नहीं करते। आत्मा पुद्गल का कर्ता नहीं और पुद्गल आत्मा का कर्ता नहीं। पुद्गल अपने कारण से कर्मरूप होता है, उसमें उपादान स्वयं ही है, परद्रव्य से मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ●●

गाथा - ६६

जह पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ।।६६।।
यथा पुद्गलद्रव्याणां बहुप्रकारैः स्कंधनिर्वृत्तिः।
अकृता परैदृ ष्टा तथा कर्मणां विजानीहि ।।६६।।

समयव्याख्या : अनन्यकृतत्वं कर्मणां वैचित्र्यस्यात्रोक्तम्। यथा हि स्वयोग्यचंद्रार्कप्रभोपलंभे संध्याभ्रेंद्रचापपरिवेषप्रभृतिभिर्बहुभिः प्रकारैः पुद्गलस्कंधविकल्पाः कर्त्रंतरनिपरपेक्षा एवोत्पद्यंते, तथा स्वयोग्यजीवपरिणामोपलंभे ज्ञानावरणप्रभृतिभिर्बहुभिः प्रकारैः कर्माण्यपि कर्त्रंतरनिपरेक्षा-ण्येवोत्पद्यंते इति ।।६६।।

ज्यों स्कन्ध रचना पुद्गलों की अन्य से होती नहीं।
त्यों करम की भी विविधता परकृत कभी होती नहीं।।६६।।

अन्वयार्थ :- [यथाः] जिस प्रकार [पुद्गलद्रव्याणां] पुद्गलद्रव्यों की [बहुप्रकारैः] अनेक प्रकार की [स्कन्धनिर्वृत्तिः] स्कन्धरचना [परैः अकृता] पर से किये गये बिना [दृष्टा] होती दिखाई देती है, [तथा] उसी प्रका [कर्मणां] कर्मों की बहुप्रकारता [विजानीहि] पर से अकृत जानो।

टीकाः-कर्मों की विचित्रता (बहुप्रकारता) अन्य द्वारा नहीं की जाती, ऐसा यहाँ कहा है।

जिस प्रकार अपने को योग्य चन्द्र-सूर्य के प्रकाश की उपलब्धि होने पर, सन्ध्या-बादल इन्द्रधनुष-प्रभामण्डल इत्यादि अनेक प्रकार से पुद्गलस्कन्धभेद अन्य कर्ता की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अपने को योग्य जीव-परिणाम की उपलब्धि होने पर, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म भी अन्य कर्ता की अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः-कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभागरूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है।।६६।।

गाथा - ६६ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल २, गुरुवार)

कर्मों की अनेक प्रकार की विचित्रता का अन्य कोई द्रव्य कर्ता नहीं परन्तु पुद्गल उसका कर्ता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं। ऐसा बतलाते हैं।

जैसे पुद्गलद्रव्यों के नाना प्रकार के भेदों से स्कन्धों की परिणति देखी जाती है। कैसी है स्कन्धों की परिणति? अन्य द्रव्यों के द्वारा नहीं की हुई, अपनी शक्ति से उत्पन्न हुई है, वैसे ही कर्मों की विचित्रता जानो।

पुद्गलद्रव्यों के अनेक प्रकार के स्कन्ध दिखाई देते हैं, वे स्कन्ध अपने कारण से हुए हैं। आत्मा के कारण से अथवा दूसरे द्रव्यों के कारण से नहीं हुए; उसी प्रकार कर्मों के विचित्रता जानना। जितने प्रमाण में जीव राग करे, उतने प्रमाण में कर्म बँधते हैं, तथापि जीव उनका कर्ता नहीं, तो फिर जीव शरीर का या बाहर के पदार्थों का कर्ता हो, ऐसा कभी नहीं होता।

भावार्थ - चन्द्रमा से अथवा सूर्य की प्रभा का निमित्त पाकर सन्ध्या खिलती है तब आकाश में अनेक प्रकार के लाल-हरे रंग दिखाई देते हैं। अनेक प्रकार के रंगरूप पुद्गल अपने कारण से होता है। सूर्य अथवा चन्द्र का निमित्त है, इसलिए होता है, ऐसा नहीं है परन्तु स्वतन्त्ररूप से होता है। जैसे धूप में हाथ रखने से परमाणु की काली पर्याय होती है, वह परमाणु के कारण से होती है, हाथ के कारण से नहीं होती, सवेरे भी आकाश में अनेक रंग दिखते हैं, वे परमाणु के कारण से होते हैं, सूर्य के कारण नहीं होते। बादल का अनेक रंग-रूप होना, इन्द्रधनुष वर्षा के समय होता है, चन्द्र के आसपास जलभँवर जैसा दृश्य होते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार की पुद्गलस्कन्धों की अवस्था स्वयं की योग्यता से होती है, पर के कारण से नहीं। बादल इकट्ठे होकर बिखरें तो भी स्वयं के कारण से बिखरते हैं, दूसरे के कर्तापन की अपेक्षा बिना उस-उसरूप परिणमते हैं। यह दृष्टान्त-अनुसार जीव के अशुद्ध विकारी परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणायें आठ कर्म की दशारूप स्वयं परिणमती हैं।

कोई कहता है कि 'जो जीव स्वरूप नहीं जानते, उन्हें कम दोष लगता है और

जानकर जो पाप करे, वह अधिक दोष का पात्र है' तो यह बात मिथ्या है, वस्तुस्वरूप का अजानपना, यही बड़ा पाप है। निगोद के जीव को 'मैं किसी को मारूँ' ऐसी खबर नहीं है, तथापि उल्टी मान्यता और विपरीत आचरण, यही बड़ा पाप है।

समकिती जीव युद्ध में करोड़ों लोगों की हिंसा करता दिखाई दे, तथापि चारित्र की अस्थिरता का अल्पबन्ध है और निगोद का जीव किसी को मारता हुआ दिखाई न दे, तथापि उल्टी मान्यता द्वारा महापाप बाँध रहा है। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप क्या है, उसकी खबर नहीं है, वही बड़ा पाप है।

वह अज्ञानी निगोद का जीव इतना बड़ा मिथ्यात्व का पाप करता है, ऐसी जड़ परमाणु को खबर नहीं है, तथापि जड़ परमाणु विकार के प्रमाण में कर्मरूप परिणमते हैं, तथापि आत्मा उस कर्म को बाँधता नहीं। ऐसी स्वतन्त्र क्रिया प्रत्येक जीव और पुद्गल में हो रही है।

यहाँ 'चेतनात्मक भावों का निमित्त पाकर' लिखा है। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि राग-द्वेष ने कर्म कराये अथवा परमाणु में कर्मरूप होने की योग्यता तो थी परन्तु जीव ने विकार किया नहीं, इसलिए वह रुक गये, ऐसा भी नहीं है। अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर पुद्गलस्कन्ध अपनी शक्ति से कर्मरूप से बँधते हैं।

कोई कहे कि 'यदि आत्मा कर्म से बँधा नहीं तो वह अबन्ध सिद्ध होने से अभी ही सिद्ध होना चाहिए।' भाई! तेरे जैसे भाव हुए, वैसे ही कर्म बँधे, उन कर्मों को तूने किया नहीं, उन कर्मों का निमित्तपना—राग-द्वेष तुझमें नहीं, ऐसा भी नहीं। यदि राग-द्वेष न हो तो सिद्ध हो जाये, तुझमें राग-द्वेषरूपी संसार है, इसलिए पुद्गल को कर्मरूप होना पड़ता है, ऐसा भी नहीं है। जीव के राग-द्वेष के तथा कर्म के-दोनों के स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जीव जितने राग-द्वेष करे, उतने प्रमाण में कर्म बँधते हैं। यह शरीर और कर्म मेरे हैं, ऐसी एकत्वबुद्धि करे तो उसके प्रमाण में कर्म बँधते हैं, तथापि आत्मा उसका कर्ता नहीं है। और कोई जीव दया थोड़ी करे और पुण्यकर्म अधिक बँधे, ऐसा नहीं। दया बहुत करे और पुण्यकर्म अल्प बँधे, ऐसा नहीं। अधिक अशुभभाव करे और अल्प

पापकर्म बँधे, ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार तराजू में बाँट की अपेक्षा सामने चीज़ कम हो, तब काँटा टेढ़ा रहता है, तथापि काँटा अपने कारण से टेढ़ा रहता है, सामने चीज़ कम है; इसलिए टेढ़ा रहता है—ऐसा नहीं है तथा चीज़ और बाँट समान होने पर काँटा बराबर सीधा होता है, वह अपने कारण से होता है। परचीज़ के कारण नहीं होता। वहाँ काँटे को खबर नहीं कि मैं सीधा होऊँ, तथापि वह अपने कारण से सीधा होता है।

उसी प्रकार जीव जितने प्रमाण में राग-द्वेष करे, उतने प्रमाण में जड़कर्म बँधते हैं। काँटा काँटे से समान मिल जाता है। जीव ने इतने और ऐसे राग-द्वेष किये, इसलिए उसके प्रमाण में बँधू, ऐसी जड़कर्मों को खबर नहीं है, तथापि विकार के प्रमाण में कर्म बँधते हैं तो भी जीव उनका कर्ता नहीं है, तो फिर दुकान-शरीर इत्यादि परपदार्थ का आत्मा कर्ता हो, ऐसा कभी नहीं बनता। ●●

गाथा - ६७

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति।।६७।।

जीवाः पुद्गलकायाः अन्योन्यावगाढग्रहणप्रतिबद्धाः।
काले वियुज्यमानाः सुखदुःखं ददति भुञ्जन्ति।।६७।।

समयव्याख्या : निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैककर्तृत्वेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुध्यत इत्यत्रोक्तम्। जीवा हि मोहरागद्वेषस्निग्धत्वात्पुद्गलस्कंधाश्च स्वभावस्निग्धत्वा-द्बंधावस्थायां परमाणुद्वंद्वानीवान्योन्यावगाहग्रहणप्रतिबद्धत्वेनावतिष्ठंते। यदा तु ते परस्परं वियुज्यंते, तदोदितप्रच्यवमाना निश्चयेन सुखदुःखरूपात्मपरिणामानां व्यवहारेणेष्टानिष्टविषयाणां निमित्तमात्रत्वात्पुद्गलकायाः सुखदुःखरूपं फलं प्रयच्छन्ति। जीवाश्च निश्चयेन निमित्तमात्र-भूतद्रव्यकर्मनिर्वर्तितसुखदुःखरूपात्मपरिणामानां व्यवहारेण द्रव्यकर्मोदयापादितेष्टानिष्ट विषयाणां भोक्तृत्वात्तथाविधं फलं भुञ्जन्ते इति। एतेन जीवस्य भोक्तृत्वगुणोऽपि व्याख्यातः ।।६७।।

पर, जीव अर पुद्गलकरम पय-नीरवत प्रतिबद्ध हैं।
करम फल देते उदय में जीव सुख-दुख भोगते।।६७।।

अन्वयार्थ :- [जीवाः पुद्गलकायाः] जीव और पुद्गलकाय [अन्योन्यावगाढ-ग्रहणप्रतिबद्धाः] (विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य-अवगाह के ग्रहण द्वारा (परस्पर) बद्ध हैं; [काले वियुज्यमानाः] काल में पृथक होने पर [सुखदुःखं ददति भुंजन्ति] सुखदुःख देते हैं और भोगते हैं (अर्थात् पुद्गलकाय सुखदुःख देते हैं और जीव भोगते हैं)।

टीका:-निश्चय से जीव और कर्म को एक का (निज-निज रूप का ही) कर्तृत्व होने पर भी, व्यवहार से जीव को कर्म द्वारा दिये गये फल का उपभोग विरोध को प्राप्त नहीं होता (अर्थात् 'कर्म जीव को फल देता है और जीव उसे भोगता है' यह बात भी व्यवहार से घटित होती है), ऐसा यहाँ कहा है।

जीव मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध होने के कारण तथा पुद्गलस्कन्ध स्वभाव से स्निग्ध

होने के कारण, (वे) बन्ध-अवस्था में-[१]परमाणुद्वंद्वों की भाँति-(विशिष्ट प्रकार से) अन्योन्य-अवगाह के ग्रहण द्वारा बद्धरूप से रहते हैं। जब वे परस्पर पृथक होते हैं, तब (पुद्गलस्कन्ध निम्नानुसार फल देते हैं और जीव उसे भोगते हैं)-उदय पाकर खिर जानेवाले पुद्गलकाय सुखदुःखरूप आत्मपरिणामों के निमित्तमात्र होने की अपेक्षा से [२]निश्चय से, और ईष्टानिष्ट विषयों के निमित्तमात्र होने की अपेक्षा से [२]व्यवहार से [३]सुखदुःखरूप फल देते हैं; तथा जीव निमित्तमात्रभूत द्रव्यकर्म से निष्पन्न होनेवाले

---

१. परमाणुद्वंद्व=दो परमाणुओं का जोड़ा; दो परमाणुओं से निर्मित स्कन्ध; द्वि-अणुक स्कन्ध।

२. (१) सुखदुःखपरिणामों में तथा (२) ईष्टानिष्ट विषयों के संयोग में शुभाशुभ कर्म निमित्तभूत होते हैं, इसलिए उन कर्मों को उनके निमित्तमात्रपने की अपेक्षा से ही ''(१) सुखदुःखपरिणामरूप (फल) तथा (२) ईष्टानिष्ट विषयरूप फल 'देनेवाला' (उपचार से) कहा जा सकता है। अब, (१) सुखदुःखपरिणाम तो जीव की अपनी ही पर्यायरूप होने से जीव सुखदुखपरिणाम को तो 'निश्चय से' भोगता हैं, और इसलिए सुखदुःखपरिणाम में निमित्तभूत वर्तते हुए शुभाशुभकर्मों में भी (-जिन्हें 'सुखदुःखपरिणामरूप फल देनेवाला' कहा था उनमें भी) उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि ''वे जीव को 'निश्चय से' सुखदुःखपरिणामरूप फल देते हैं;'' तथा (२) ईष्टानिष्ट विषय तो जीव से बिल्कुल भिन्न होने से जीव ईष्टानिष्ट विषयों को तो 'व्यवहार से' भोगता हैं, और इसलिए ईष्टानिष्ट विषयों में निमित्तभूत वर्तते हुए शुभाशुभ कर्मों में भी (-जिन्हें 'ईष्टानिष्ट विषयरूप फल देनेवाला' कहा था उनमें भी) उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि ''वे जीव को 'व्यवहार से' ईष्टानिष्ट विषयरूप फल देते हैं।''

यहाँ (टीका के दूसरे पैरे में) जो 'निश्चय' और 'व्यवहार' ऐसे दो भंग किये हैं, वे मात्र इतना भेद सूचित करने के लिये ही किये हैं कि 'कर्मनिमित्तक सुखदुःखपरिणाम जीव में होते हैं और कर्मनिमित्तक ईष्टानिष्ट विषय जीव से बिल्कुल भिन्न हैं।' परन्तु यहाँ कहे हुए निश्चयरूप से भंग से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'पौद्गलिक कर्म जीव को वास्तव में फल देता है और जीव वास्तव में कर्म के दिये हुए फल को भोगता है।'

परमार्थतः कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य को फल नहीं दे सकता और कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के पास से फल प्राप्त करके भोग नहीं सकता। यदि परमार्थतः कोई द्रव्य अन्य द्रव्य को फल दे और वह अन्य द्रव्य उसे भोगे तो दोनों द्रव्य एक हो जायें। यहाँ यह ध्यान

सुखदु:खरूप आत्मपरिणामों को भोक्ता होने की अपेक्षा से निश्चय से, और (निमित्तमात्रभूत) द्रव्यकर्म के उदय से सम्पादित ईष्टानिष्ट विषयों के भोक्ता होने की अपेक्षा से व्यवहार से, उस प्रकार का (सुखदु:खरूप) फल भोगते हैं (अर्थात् निश्चय से सुखदु:खपरिणामरूप और व्यवहार से ईष्टानिष्टा विषयरूप फल भोगते हैं)।

इससे (इस कथन से) जीव के भोक्तृत्वगुण का भी व्याख्यान हुआ।।६७।।

गाथा - ६७ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल २, गुरुवार)

निश्चय की अपेक्षा से जीव अपने विकारभावों का कर्ता है और पुद्गल अपने कर्मरूपी भाव का कर्ता है, तथापि व्यवहार से कर्म द्वारा प्राप्त सुख-दु:ख की सामग्री के फल को जीव भोगता है, ऐसे व्यवहार कथन में विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जीवद्रव्य है, वह पुद्गलवर्गणा के पुंज परस्पर अनादि काल से लेकर अत्यन्त सघन मिलाप से बन्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं। वे ही जीव पुद्गल उदयकाल अवस्था में अपना रस देकर खिरते हैं, तब साता-असाता देते हैं और भोगते हैं।

आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे चूककर विकारभाव करता है, तब पुद्गलवर्गणा अपने कारण से कर्मरूप परिणमती है। और वह जीव और पुद्गल कर्म परस्पर अनादि काल से निबिडरूप से बँधे हैं अर्थात् एकक्षेत्रावगाहरूप से है। आत्मा आत्मारूप से है और जड़, जड़ के कारण से कर्मरूप होता है। किसी के कारण से कोई नहीं है। पुद्गलकर्म उसके उदय के काल में रस देकर खिर जाता है, तब साता या असाता के संयोगों की प्राप्ति जीव को होती है। अज्ञानी जीव उन चीज़ों में ठीक-अठीक की कल्पना करता है,

---

रखना खास आवश्यक है कि टीका के पहले पैरे में सम्पूर्ण गाथा के कथन का सार कहते हुए श्री टीकाकार आचार्यदेव स्वयं ही जीव को कर्म द्वारा दिये गये फल का उपभोग व्यवहार से ही कहा है, निश्चय से नहीं।

३. सुखदु:ख के दो अर्थ होते हैं : (१) सुखदु:खपरिणाम, और (२) ईष्टानिष्ट विषय। जहाँ 'निश्चय से' कहा है, वहाँ 'सुखदु:खपरिणाम'-ऐसा अर्थ समझना चाहिए और जहाँ 'व्यवहार से*' कहा है, वहाँ 'ईष्टानिष्ट' विषय*-ऐसा अर्थ समझना चाहिए।

इसलिए उन पदार्थों को तथा कर्म को भोगता है, ऐसा कहा जाता है। किसी को पैसा मिले, किसी को रोग हुआ, किसी का पुत्र मरे, किसी को सर्प काटे - ऐसे प्रसंग अपने कारण से बनते हैं, उसमें पूर्व कर्म निमित्त कहलाता है और उन चीज़ों में हर्ष-शोक जीव करता है, इसलिए भोगता है - ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ - एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के अनन्त अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को चूककर पूर्व कर्म के निमित्त से मोह-राग-द्वेषरूप भाव करते हैं, उनमें राग स्निग्ध है और द्वेष रूक्ष है, उस समय पुद्गल परमाणु अपने स्निग्ध-रूक्ष परिणाम द्वारा कर्म के स्कन्धरूप से परिणमते हैं।

दो गुण—दो अंश रूक्षता अथवा स्निग्धता के अधिक हों तो पुद्गल की बन्ध अवस्था होती है। शरीर, लकड़ी इत्यादि पुद्गल परमाणुओं के स्कन्ध हैं। पुद्गल परमाणु द्रव्य है, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण हैं और उसमें स्पर्शगुण की रूक्षता अथवा स्निग्धतारूप पर्याय होती है, उसमें दो गुण स्निग्धतावाला चार गुण स्निग्धतावाले के साथ, चारवाला छह गुणवाले के साथ, पाँचवाला सातवाले के साथ स्कन्धरूप होता है। वह अपनी योग्यता से होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है।

परमाणु में एक गुण अधिक हो तो बन्ध नहीं होता, दो अंश अधिक हों, तभी बँधते हैं; उसी प्रकार आत्मा में राग-द्वेष का अन्तिम अंश बन्ध का कारण नहीं है। यदि अन्तिम अंश बन्ध का कारण हो तो आत्मा कभी अबन्ध नहीं होगा।

शरीर का बँधना, कर्म का बँधना, लड्डू होना, वह जड़ के रूक्षता और स्निग्धता के कारण से होता है। वे सब पुद्गल स्कन्ध आत्मा बिना एकत्रित होते हैं। कर्म से अनन्तगुणे ऐसे पुद्गल स्कन्ध हैं कि जिन्हें आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। वे अपने कारण से पिण्डरूप होते हैं। यह अँगुली ऊँची-नीची होती है, वह अपने कारण से होती है, तथापि आत्मा से होती है - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

जिस प्रकार पुद्गल स्कन्धरूप होते हैं, उसी प्रकार पुद्गलवर्गणा कर्म के स्कन्धरूप परिणमित होती है, उन कर्म परमाणुओं के उदय काल में साता-असाता के फल मिलते हैं, इसलिए उन्हें सुख-दुःखरूप कहा गया है, उनके निमित्त से पैसा, रोटी, स्त्री,

कुटुम्ब, मकान इत्यादि प्राप्त होते हैं, तब अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण से यह पदार्थ मैं लाया, ऐसा अभिमान करके उसमें सुख-दुःख की कल्पना खड़ी करता है। वे-वे पदार्थ अपने-अपने कारण से आते हैं, उसमें पूर्व में बँधे हुए कर्म निमित्तमात्र है और जीव अपने में राग-द्वेष के भाव करके आकुलता को भोगता है, उसमें भी निमित्तमात्र है। पुराने कर्म स्वतन्त्र, सामग्री का आना स्वतन्त्र और जीव के हर्ष-शोक के परिणाम होना भी स्वतन्त्र है। शरीर में रोग आने पर बोला जाता है कि असाताकर्म के फल दिया। सामग्री के ढ़ेर मिले, तब बोला जाता है कि साताकर्म ने फल दिया। इस प्रकार आत्मा ने कर्मफल भोगा और कर्म ने आत्मा को सुख-दुःख का फल दिया, ऐसा बोला जाता है।

अज्ञानी जीव को स्व-पर का भान नहीं है, इसलिए शरीर को मैं चलाता हूँ, यह रुपये का ब्याज मैं उपजा सकता हूँ, ऐसा वह मानता है। शरीर, शरीर के कारण से और रुपये, रुपये के कारण से आवें-जायें, तथापि अज्ञानी जीव, 'मेरे कारण से वे आये'—(ऐसा) मानकर मिथ्यात्व के भाव करके संसार में भटकता है।

अभी जीवों को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है। 'णमो अरिहन्ताणं' का अर्थ नहीं समझते। भगवान ने जड़कर्मरूपी शत्रु का नाश किया, ऐसा अज्ञानी मानता है। आत्मा का अजानपना, वही शत्रु है, उस शत्रु को अर्थात् अज्ञान-राग-द्वेष को आत्मा के भान द्वारा जिन्होंने नाश किया, उन्हें अरिहन्त कहते हैं, व्यवहार से कर्म का घात किया—ऐसा कहा जाता है। लोगों में बोला जाता है कि पानी का लोटा, गाँव आया, इत्यादि सब निमित्त से कथन है।

और यहाँ कहा है कि शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थ में कर्म निमित्त कारण है। अभी कितने ही ऐसा कहते हैं कि समाज की व्यवस्था बराबर नहीं है, इसलिए कितने ही करोड़पति होवे और कितने ही गरीब रहते हैं, परन्तु यह बात मिथ्या है, सबको कर्म अनुसार संयोगों की प्राप्ति होती है। वह सामग्री प्राप्त होने पर अज्ञानी जीव राग-द्वेष करे तो सामग्री सुख-दुःख में निमित्त कहलाती है। इस प्रकार कर्मोदय के निमित्त से सामग्री प्राप्त होती है और उसके निमित्त से जीव सुख-दुःख की कल्पना करता है, इसलिए कर्मों ने सुख-दुःख के फल दिये और जीव ने उसे भोगा, ऐसा कहा जाता है।

वीर संवत् २४७८, चैत्र शुक्ल ३, शुक्रवार

आत्मा जड़कर्म का कर्ता नहीं है। आत्मा अपने राग-द्वेष का कर्ता है। कोई पूछता है कि कर्म के बिना आत्मा को सुख-दुःख होगा? भाई! सुख-दुःख की कल्पना जीव करता है तो बाह्य चीज़ को और कर्म को भोगता है, ऐसा कहा जाता है। जड़कर्म दो प्रकार से निमित्त होते हैं। जीव के राग-द्वेष परिणाम में मोहनीयकर्म निमित्त है और संयोग प्राप्त होने में अघातिकर्म निमित्त है। कर्म राग-द्वेष करावे या बाह्य चीज़ों को प्राप्त करा दे, ऐसा नहीं होता, परन्तु जीव राग-द्वेष करे तो कर्म निमित्त कहे जाते हैं और संयोगी वस्तु उसके कारण से आवे तो कर्म निमित्त कहलाते हैं और जीव उसे भोगता है, ऐसा कहा जाता है।

शरीर में छुरी लगने से अज्ञानी छुरी को दुःख का कारण मानता है, परन्तु उसका दुःख नहीं है, अज्ञानदशा का दुःख है। और कोई शरीर को दुःख का कारण मानता है, कोई शरीर को धर्म का कारण मानता है, दोनों भ्रान्ति में हैं।

और ऐसा कहता है कि 'संसार में जीव कर्म के कारण भटकता है।' भाई! यह कथन निमित्त से है। कर्म के कारण जीव भटकता नहीं, अपनी भूल के कारण से भटकता है। चिदानन्दस्वभाव को चूककर इष्ट पदार्थों को देखकर राग करे, अनिष्ट पदार्थों को देखकर द्वेष करे, वह भूल है, उस भूल को भोगता है। व्यापार में मन्दी आने पर शोक अपने कारण से करता है, मन्दी के कारण शोक नहीं। जीव परचीज़ को कभी भी अनुभव नहीं करता। क्योंकि जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप स्वचतुष्टय अपने में है और पर के चतुष्टय पर में है। अपने चैतन्यस्वभाव को चूककर जीव भूल करता है और भूल को भोगता है। अथवा स्वभाव का भान करके भूल टालता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ जीव कर नहीं सकता। इसलिए जीव वास्तव में अपने सुख-दुःख के परिणाम का भोक्ता है।

व्यवहारकर द्रव्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए जो शुभ-अशुभ पदार्थ, तिनको भोगता है।

कितने ही जीव कहते हैं कि समाज व्यवस्था बराबर नहीं, इसलिए कोई पैसावाला और कोई गरीब है। इसलिए व्यवस्था बराबर रखना, जिससे सब समान हो जायें। ऐसी मान्यतावाला पुण्यकर्म को नहीं मानता। यहाँ स्पष्ट लिखा है कि द्रव्यकर्म के उदय से शुभ-अशुभ पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे कर्म उपार्जन किये हों, तत्प्रमाण सामग्री मिलती है।

यहाँ ऐसा कहना है कि द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से जो सामग्री मिलती है, उसमें अज्ञानी जीव सुख-दुःख की कल्पना करता है। तो उन पदार्थों को जीव ने भोगा, ऐसा कहा जाता है। जड़ परमाणु को जीवद्रव्य कभी स्पर्श नहीं करता, परन्तु जीव राग-द्वेष करता है, तो उसमें पदार्थ निमित्त हैं, इसलिए उन पदार्थों को भोगा है, ऐसा कहा जाता है। जीव में भोक्तागुण है। हर्ष-शोक के वेदनरूप होने की योग्यता है। कर्म में तथा पुद्गल में राग-द्वेष के वेदनरूपी भोक्तागुण नहीं है, क्योंकि वे पदार्थ जड़ हैं। शरीर और कर्म को सुख-दुःख का अनुभव नहीं है।

इसमें धर्म क्या आया ?—निर्णय कर कि जीव पर को अनुभव नहीं करता। जीव अज्ञान करे तो विकार को अनुभव करता है और स्वभाव का ज्ञान करे तो अपने ज्ञान को और आनन्द को अनुभव करता है, इसलिए पर के ऊपर की दृष्टि छोड़कर, विकार क्षणिक है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है—ऐसा ज्ञान करके, स्वभावसन्मुख ढलना, यही धर्म है।

शिष्य ने प्रश्न किया था कि आत्मा जड़कर्म को किस प्रकार भोगता है और जड़कर्म आत्मा को किस प्रकार फल देते हैं ? उसका जवाब दिया कि जीव अपने स्वरूप को चूकता है और राग-द्वेष करता है, तो कर्म को तथा संयोगों को भोगता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

अब कर्तृत्व-भोक्तृत्व का संक्षेप से व्याख्यान कहते हैं। ●●

गाथा - ६८

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स।
भोत्ता हु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं।।६८।।

तस्मात्कर्म कर्तृ भावेन हि संयुतमथ जीवस्य।
भोक्ता तु भवति जीवश्चेतकभावेन कर्मफलम् ।।६८।।

समयव्याख्या : कर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्योपसंहारोऽयम्। तत एतत् स्थितं निश्चयेनात्मनः कर्म कर्तृ, व्यवहारेण जीवभावस्य, जीवोऽपि निश्चयेनात्मभावस्य कर्ता, व्यहारेण कर्मण इति। यथात्रोभयनयाभ्यां कर्म कर्तृ, तथैकेनापि नयेन न भोक्तृ। कुतः ? चैतन्यपूर्वकानुभूतिसदभावभावात्। ततश्चेतनत्वात् केवल एव जीवः कर्मफलभूतानां कथंचिदात्मनः सुखदुःखपरिणामानां कथंचिदिष्टानिष्टविषयाणां भोक्ता प्रसिद्ध इति ।।६८।।

चेतन करम युत है अतः करता-करम व्यवहार से।
जीव भोगे करमफल नित चैत्य-चेतक भाव से।।६८।।

अन्वयार्थ :- [तस्मात्]इसलिए[अथ जीवस्य भावेन हि संयुक्तम्]जीव के भाव से संयुक्त ऐसा [कर्म]कर्म (द्रव्यकर्म) [कर्तृ]कर्ता है। (-निश्चय से अपना कर्ता और व्यवहार से जीवभाव का कर्ता; परन्तु वह भोक्ता नहीं है)। [भोक्ता तु]भोक्ता तो [जीवः भवति](मात्र) जीव है[चेतकभावेन]चेतकभाव के कारण[कर्मफलम्]कर्मफल का।

टीका:-यह, कर्तृत्व और भोक्तृत्व की व्याख्या का उपसंहार है।

इसलिए (पूर्वोक्त कथन से) ऐसा निश्चित हुआ कि-कर्म निश्चय से अपना कर्ता है, व्यवहार से जीवभाव का कर्ता है; जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्ता है, व्यवहार से कर्म का कर्ता है।

जिस प्रकार यहाँ दोनों नयों से कर्म कर्ता है, उसी प्रकार एक भी नय से वह भोक्ता नहीं है। किसलिए? क्योंकि उसे *चैतन्यपूर्वक अनुभूति का सद्भाव नहीं है। इसलिए चेतनापने के कारण मात्र जीव ही कर्मफल का-कथंचित् आत्मा के सुखदुःख परिणामों का और कथंचित् ईष्टानिष्ट विषयों का-भोक्ता प्रसिद्ध है।।६८।।

---

* जो अनुभूति चैतन्यपूर्वक हो, उसी को यहाँ भोक्तृत्व कहा है, उसके अतिरिक्त अन्य अनुभूति को नहीं।

गाथा - ६८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ३, शुक्रवार)

तिस कारण से निश्चय करके द्रव्यकर्म जो है, सो अपने परिणामों का कर्ता है। कैसा है द्रव्यकर्म? आत्मद्रव्य का अशुद्ध चेतनात्मकपरिणामोकर संयुक्त है।

भावार्थ - वास्तव में द्रव्यकर्म अपने परिणामों अर्थात् ज्ञानावरणादि परिणामों का उपादानकर्ता है और व्यवहार से जीव के राग-द्वेषादि भावों का कर्ता कहा जाता है।

फिर इसी प्रकार जीवद्रव्य अपने अशुद्ध चेतनात्मक भावों का उपादानरूप कर्ता है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म को अशुद्ध चेतनात्मक भाव निमित्तभूत हैं। इस कारण व्यवहार से जीव द्रव्यकर्म का भी कर्ता है।

जीव अपने अशुद्ध परिणाम का कर्ता है, परन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं। परन्तु नये कर्म जो अपने कारण से बँधते हैं, उसमें जीव के विकारीभाव निमित्त हैं, इसीलिए जीव को द्रव्यकर्मों का कर्ता व्यवहार से कहा जाता है। पानी में लहरें उठें तो हवा निमित्त कहलाती है और लहरें न उठें तो हवा का अभाव निमित्त कहलाता है। उसी प्रकार जीव विकार करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है और शुद्धता करे तो कर्म का अभाव निमित्त कहलाता है। जड़कर्म को आत्मा करता नहीं परन्तु विकार करता है, तब कर्म बँधते हैं, तो आत्मा ने कर्म किये, ऐसा जाता है।

कोई **प्रश्न** करे कि कर्म निमित्तमात्र है तो उसका क्या काम है?

समाधान - आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्व-परप्रकाशक है, अपनी अधूरीदशा में साधकजीव ज्ञान करता है कि कर्म कितना रहा हुआ है और कितना टला है। स्व-पर दोनों का ज्ञान करता है। अकेले स्व को या अकेले पर को जानने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, स्व-पर दोनों को जानने का आत्मा का काम है।

और आत्मद्रव्य जो है, सो अपने अशुद्ध चेतनात्मक रागादिभावों से साता-असातारूप कर्मफल का भोगनेवाला है।

जीवद्रव्य अपने विकारीभावों को भोगता है। कर्म को तथा सामग्री को नहीं भोगता, परन्तु पूर्वकर्म के निमित्त से संयोगरूप फल आता है और जीव रागादि परिणाम

करता है तो कर्म को तथा सामग्री को व्यवहार से भोगता है, ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ - जिस प्रकार जीव अथवा कर्म निश्चय-व्यवहारनयों से एक-दूसरे के परस्पर कर्ता हैं, उसी प्रकार दोनों भोक्ता नहीं। निश्चय से जीव अपने परिणाम का कर्ता है, व्यवहार से जीव जड़कर्म का कर्ता है; निश्चय से परमाणु अपने ज्ञानावरणादि पर्याय का कर्ता है, व्यवहार से कर्म, राग-द्वेष का कर्ता है। इस प्रकार कर्ता में जीव और कर्म दोनों में पारस्परिक निश्चय और व्यवहार लागू पड़ता है; उसी प्रकार भोक्तापने में भी दोनों पारस्परिक लागू नहीं पड़ते। भोक्तापना अर्थात् हर्ष-शोक के परिणाम का वेदन मात्र जीवद्रव्य में है। क्योंकि स्वयं चैतन्यस्वरूप है। पुद्गलद्रव्य अचेतन है, उसमें सुख-दुःख के वेदन का या शुद्धता के वेदन का गुण नहीं है। इसलिए पुद्गलद्रव्य निश्चय से या व्यवहार से भोक्ता नहीं है।

(१) जीव अपने रागादिभावों का कर्ता, यह निश्चय है;

(२) जीव को जड़कर्मों का कर्ता कहना, वह व्यवहार है;

(३) जड़ पुद्गल ज्ञानावरणादिकर्म का कर्ता, वह निश्चय है;

(४) कर्म को विकारादि का कर्ता कहना, वह व्यवहार है;

(५) जीव अपने हर्ष-शोक के परिणाम को भोक्ता है, वह निश्चय है;

(६) जीव कर्म को तथा सामग्री को भोगता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। कर्म अचेतन है, इसलिए वह अपनी पर्याय में हर्ष-शोकादि को भोगना नहीं है, इसलिए कर्म आत्मा को भोगे, ऐसा व्यवहार लागू नहीं पड़ता।

जीव अपने अज्ञान के कारण विकार का भोक्ता होता है और व्यवहार से कर्म का तथा पदार्थ का भोक्ता होता है परन्तु कर्म या जड़ पदार्थ को सुख-दुःख का वेदन नहीं है तथा वह सुख-दुःख कराते नहीं हैं, इसलिए कर्म से दृष्टि उठाकर सुख-दुःख के परिणाम स्वयं स्वतन्त्र करता है, ऐसा निर्णय करके, वह विकार क्षणिक है; आत्मा तो शुद्ध चैतन्य स्वभावी है—ऐसी दृष्टि करना, वह धर्म है।

जीव कर्ता-भोक्ता है, यह बात पूरी हुई। अब कर्म संयुक्त जीव की मुख्यता से

प्रभुत्वगुण का व्याख्यान करते हैं। गाथा २७ में पृष्ठ ५६ में जीव को प्रभु कहा है, उस प्रभु की व्याख्या इस गाथा में शुरु करते हैं। तीन प्रकार के प्रभु हैं।

(१) **जड़ेश्वर :-** जड़ भी प्रभु है, अपने में शक्तिवान है। इस लकड़ी की सड़ने की पर्याय होती है, उस समय आत्मा अपनी प्रभुता बहुत प्रस्फुटित करे तो भी उस जड़ की सड़नेरूपी प्रभुता को बदल नहीं सकता। यह लकड़ी आत्मा की प्रभुता से ऊँची होती हो तो आत्मा के कारण से आकाश भी ऊँचा होना चाहिए। परन्तु वह ऊँचा नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल अनादि से जहाँ पड़े-बिछे हैं, वहाँ अपनी प्रभुता से हैं। पुद्गल भी प्रभु है। इस प्रकार जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय सब प्रभु है।

(२) **विभावेश्वर :-** जीव स्वयं राग-द्वेष करे, उसमें प्रभु है। साक्षात् तीर्थंकर भी दूसरे के राग-द्वेष की प्रभुता टाल नहीं सकते। ऐसी विपरीतता में अज्ञानी प्रभु है। विभावेश्वर है।

(३) **स्वभावेश्वर :-** अपने शुद्धस्वभाव का भान करके परिपूर्ण शुद्धता प्रगटावे, वह स्वभावेश्वर है।

अब इस गाथा में संसारी की प्रभुता की बात करते हैं, सिद्ध की बात नहीं। ●●

गाथा - ६९

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।।६९।।

एवं कर्ता भोक्ता भवन्नात्मा स्वकैः कर्मभिः।
हिंडते पारमपारं संसारं मोहसंछन्नः ।।६९।।

समयव्याख्याः कर्मसंयुक्तत्वमुखेन प्रभुत्वगुणव्याख्यानमेतत्। एवमयमात्मा प्रकटित-प्रभुत्वशक्तिः स्वकैः कर्मभिर्गृहीतकर्तृत्वभोक्तृत्वाधिकारोऽनादिमोहावच्छन्नत्वादुपजात-विपरीताभिनिवेशः प्रत्यस्तमितसम्यग्ज्ञानज्योतिः सांतमनंतं वा संसारं परिभ्रमतीति। ।६९।।

इस तरह कर्मों की अपेक्षा जीव को कर्ता कहा।
पर, जीव मोहाच्छन्न हो भ्रमता फिरै संसार में।।६९।।

अन्वयार्थ :- [एवं] इस प्रकार [स्वकैः कर्मभिः] अपने कर्मों से [कर्ता भोक्ता भवन्] कर्ता-भोक्ता होता हुआ [आत्मा] आत्मा [मोहसंछन्नः] मोहाच्छादित वर्तता हुआ [पारम् अपारं संसारं] सान्त अथवा अनन्त संसार में [हिंडते] परिभ्रमण करता है।

टीकाः-यह, कर्मसंयुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है।

इस प्रकार प्रगट प्रभुत्वशक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा (-निश्चय से भावकर्मों और व्यवहार से द्रव्यकर्मों द्वारा) कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है, ऐसे इस आत्मा को, अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत *अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त हो गई है, इसलिए वह सान्त अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

(इस प्रकार जीव के कर्मसहितपने की मुख्यतापूर्वक प्रभुत्वगुण का व्याख्यान किया गया।)।।६९।।

* अभिनिवेश=अभिप्राय; आग्रह।

गाथा - ६९ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ४, शनिवार)

जीव अनादि से अविद्यारूपी परिणमता है। ज्ञानावरणादि जड़कर्म का उदय जड़ में है। कर्म विकार नहीं कराता; स्वयं अपने स्वभाव की प्रभुता चूकता है और अज्ञान करता है तो कर्म का उदय निमित्त कहलाता है। इस प्रकार जीवद्रव्य निश्चय से राग-द्वेष का और निमित्तरूप से कर्म का कर्ता-भोक्ता होता है। भव्य की अपेक्षा से संसार सान्त कहलाता है। भव्य जीव अपने आत्मा का भान करके राग-द्वेष टालेगा, इसलिए भव्य को संसार का कर्ता-भोक्तापने का अन्त है। और अभव्य कभी संसार नहीं टालेगा, इसलिए उसका संसार अनन्त है। यहाँ भव्य और अभव्य दोनों की प्रभुता बतलाते हैं। भव्य संसार को टाले तो भी अपनी प्रभुता से टालता है और अभव्य नहीं टाले और परिभ्रमण करे तो भी वह अपनी प्रभुता से है। इस प्रकार पाँच परावर्तनरूप संसार धारण करके अज्ञानी चार गति में भटकता है।

पंच परावर्तन (१) द्रव्य=द्रव्य के संयोगों में, (२) क्षेत्र=अलग-अलग क्षेत्र में, (३) काल=उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में, (४) भाव=अलग-अलग शुभाशुभभावों में, (५) भव=चार गतिरूप भव में—ऐसे पाँच प्रकार के परावर्तन में जीव भटक रहा है।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि जीव शुभाशुभभावों के कारण से भटकता है। अपनी प्रभुता से भटकता है, कोई भटकाता नहीं। स्वयं मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी अशुद्ध परिणति से आच्छादित है, कर्म के कारण आच्छादित कहा नहीं है। शुभाशुभभाव की रुचि और स्वभाव की अरुचि, वह मिथ्याभाव है। अपने स्वरूप से विपरीत ज्ञान, वह मिथ्याज्ञान है और शुभाशुभभाव, वह मिथ्या आचरण है।

भावार्थ - अज्ञानी जीव कहते हैं कि जैसे जादूगर डोरी खींचे और पुतली को नचाता है, उसी प्रकार कर्मरूपी डोरी जादूगर की भाँति संसारी जीवों को नचाता है। परन्तु यह मान्यता भूलवाली है। यहाँ कहते हैं कि अपनी भूल से ही जीव अनेक विभावपर्याय धारणकर संसार में नाचता है। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' किसी ने हैरान किया नहीं। कर्म जड़ है, वह हैरान नहीं करता। इसीलिए कर्म के कारण मैं हैरान नहीं होता, मेरे अज्ञान के कारण विभावरूप स्वतन्त्रपने होता हूँ, ऐसा ज्ञान करे तो स्वभावरूप होने की योग्यता मेरी है, ऐसा समझे तो मुक्ति का मार्ग हाथ आवे।

वी. सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ४, शनिवार

कर्म जड़ है, कर्म आत्मा को भटकाता नहीं, परनतु आत्मा अपनी भूल से भटकता है। आत्मा भूल करने में प्रभु है और धर्म करने में भी प्रभु है, अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि करके उसमें रमणता करना, वह धर्म है, अनुकूल शरीर या संहनन से धर्म नहीं होता। ज्ञानावरणीयादि कर्म आत्मा की शक्ति को रोकते हैं? नहीं। स्वयं आत्मा का स्वभाव चूककर, अपने अपराध से भूल करता है तो कर्म निमित्त कहलाता है। पुण्य-पाप दोनों दोष है, वह आत्मा का गुण नहीं। पुण्य से और शरीर से धर्म मानकर जीव चार गति में भटकता है।

प्रश्न - भूल कैसे होती है?

समाधान - आत्मा की वर्तमान पर्याय की योग्यता से भूल होती है। परपदार्थ की भूल नहीं होती। परपदार्थ का आत्मा में अभाव है, कर्म जड़ है। विकार में कर्म का अत्यन्त अभाव है।

गाथा ६९ में कहा है कि 'मोह संक्षण्णों' इसका अर्थ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप अशुद्ध परिणति से आत्मा ढँका हुआ है। मोहकर्म से ढँका हुआ नहीं तथा मोहकर्म के कारण ढँका हुआ नहीं। मोहकर्म से ढँका है, ऐसा कहना वह निमित्त का कथन है। मैं चिदानन्द हूँ, ऐसी रुचि छोड़कर अनुकूल निमित्त से लाभ होगा, पुण्य से धर्म होगा—ऐसी मान्यता को मिथ्यादर्शन कहते हैं। कर्म मोह नहीं कराता। तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यादर्शन इत्यादि के औदायिकभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा गया है। कर्म का उदय परतत्त्व है, परतत्त्व से मुझमें कुछ नहीं होता। जड़ की क्रिया मैं नहीं कर सकता, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो ज्ञाता हूँ—ऐसी सच्ची रुचि नहीं करके विकार से धर्म होता है, यह मान्यता मिथ्यादर्शन है और वह जीव के स्वतत्त्व में होता है। आत्मा त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है। उसके गुण त्रिकाल हैं और वर्तमान पर्याय अशुद्ध है। दया, दान और काम, क्रोध की पर्याय एक समय की है, मोक्षमार्ग भी पर्याय है और केवलज्ञान भी पर्याय है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, उसकी रुचि छोड़कर निमित्त से लाभ

मानना, एक समय के विकार जितना आत्मा को मानना अथवा एक समय के ज्ञान के उघाड़ जितना मानना, वह मिथ्यादर्शन है।

त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से भ्रान्ति का नाश होता है। निमित्त से, पुण्य से और वर्तमान पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। त्रिकाली शुद्धस्वभाव की रुचि करे तो सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु अनादि से अज्ञानी जीव पर्यायबुद्धि में सर्वस्व मान बैठा है। कर्म, शरीर और परिवार में संसार नहीं है, जीव की वर्तमान उल्टी मान्यता में संसार है। मिथ्यादर्शन में अपनी उल्टी प्रभुता है। आत्मा में प्रभुत्व नाम की एक शक्ति त्रिकाल है, उसकी विपरीत परिणति अपनी भूल से होती है। कोई पर या कर्म भूल नहीं कराता।

अपना शुद्ध चैतन्य का स्वसंवेदन छोड़कर राग से धर्म मानकर उल्टा ज्ञान करना, वह मिथ्याज्ञान है और राग-द्वेष के भाव होते हैं, वह मिथ्याचारित्र है। मैं ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसे भान से सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् आत्मा के आश्रय से अकषाय शान्ति होना, वह विशेष लीनता होना, उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। उससे विरुद्ध भाव को मिथ्याचारित्र कहते हैं।

अभी जीव क्रिया का स्वरूप नहीं समझते और अपनी मानी हुई क्रिया से धर्म मानते हैं।

कर्ता परिणामी दरव, कर्मरूप परिणाम,
क्रिया पर्याय की फेरणी, वस्तु एक त्रय नाम।

आत्मा स्वयं पदार्थ है, स्वयं अपने परिणाम का कर्ता है, परमाणु का कर्ता नहीं। जड़ परमाणु अपना कर्ता है, चेतन का कर्ता नहीं और जो परिणाम होते हैं, वह उसका कर्म है-कार्य है और पूर्व अवस्था पलटकर नयी अवस्था होना, वह उसकी क्रिया है। भगवान न क्रिया तीन प्रकार की कही है।

(१) **जड़ की क्रिया—** जड़ की अवस्था जड़ से होती है, वह जड़ की क्रिया है। शरीर के परमाणु की प्रथम अवस्था का व्यय होकर दूसरी अवस्था होना, वह शरीर की अथवा जड़ की पर्याय है। जड़ की क्रिया से पुण्य नहीं, पाप नहीं तथा धर्म नहीं।

(२) **विकारी क्रिया—** आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को चूककर, निमित्त से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है - ऐसा मानता है, वह मिथ्यादर्शन की विकारी क्रिया अपनी पर्याय में होती है।

(३) **निर्विकारी धार्मिक क्रिया—**मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, जड़ की पर्याय का तथा राग का ज्ञाता हूँ, ऐसा भान करके शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग प्रगट होकर मोक्ष होता है, उसे निर्विकारी धार्मिक क्रिया कहते हैं। जड़ की क्रिया से धर्म या मोक्ष नहीं होता।

अज्ञानी जीव को क्रिया के सच्चे स्वरूप की खबर नहीं है। हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि अशुभभाव पाप की क्रिया है। दया-दानादि भाव पुण्य की क्रिया है और उन दोनों से रहित, वह धर्म की क्रिया है। अज्ञानी जीव अशुद्ध परिणति द्वारा आच्छादित है, पर से अशुद्धता मानी है, अथवा अशुद्धता जितना मैं हूँ, ऐसा मानकर स्वयं रुक गया है। अपना सामान्य शुद्धस्वभाव विकार से ढँक गया है। इस प्रकार जीव अपने भावबन्ध से रूलता है। भावबन्ध करे तो द्रव्यबन्ध को निमित्त कहा जाता है। भावबन्ध न करे तो द्रव्यबन्ध निमित्त नहीं कहा जाता।

अज्ञानी जीव अनन्त बार समवसरण में गया, परन्तु अपने अज्ञान के कारण से समझा नहीं। अभी महाविदेहक्षेत्र में भगवान विराजते हैं, वहाँ मिथ्यादृष्टि जीव भी हैं, उन्हें भगवान समझा सकें, ऐसा नहीं। स्वयं समझे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है। छहढाला में पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि —

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

सम्यग्दर्शन बिना व्रत-तपादि सच्चे नहीं हैं। मुनिपना धारण करके अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में गया, परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना जरा भी सुख को पाया नहीं। यात्रा आदि के शुभभाव से पुण्य होता है परन्तु पुण्य से धर्म माने तो मिथ्यात्व का महापाप बाँधता है।

अज्ञानी जीव कर्म का जोर मानकर भ्रान्ति का सेवन कर रहे हैं। बलदेव छह

महीने तक वासुदेव का मुर्दा उठाते हैं, वहाँ चारित्रमोहनीयकर्म के जोर के कारण ऐसा राग होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। ज्ञानी या अज्ञानी किसी को भी कर्म से राग नहीं होता, अपनी निर्बलता के कारण राग होता है।

प्रश्न : कषाय की मन्दता से गुणस्थान चढ़ते हैं।

समाधान : नहीं; कषाय की मन्दता, वह विकार है, वह पुण्य-आस्रव है। जिस कारण से आस्रव होता है, उस कारण से संवर नहीं होता। दोनों के कारण एक हों तो आस्रव और संवर दोनों एक होने से नवतत्त्व नहीं रहते। निमित्त से तो धर्म नहीं, पुण्य से तो धर्म नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय से भी चारित्र नहीं होता। चारित्र अथवा गुणस्थान की शुद्धता की वृद्धि त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से होती है। जीव को निमित्त की, पुण्य की तथा पर्याय की रुचि छोड़कर शुद्धस्वभाव की प्रथम रुचि करना चाहिए, उसके आधार से सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् स्वभाव में लीनता करने से आसक्ति घटती जाती है और अप्रत्याख्यानावरणीय तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय टलती है। इस प्रकार छठवाँ गुणस्थान शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है। छठवें गुणस्थान में पंच महाव्रतादि के परिणाम होते हैं, वे भी पुण्यास्रव हैं। उनसे गुणस्थान टिकता नहीं, तथापि उस भूमिका में उस प्रकार की राग की मन्दता होती है और निमित्तरूप से वस्त्र, पात्र नहीं होते।

कोई कहे कि वस्त्र, पात्र हों और मुनिपना प्रगट हो, तो यह बात मिथ्या है। और वस्त्र-पात्र छूटे, इसलिए मुनिपना प्रगट हुआ, ऐसा माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। गुणस्थान का प्रगट होना, टिकना और आगे बढ़ना अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से है। कषाय की मन्दता से गुणस्थान बढ़ता नहीं।

वर्तमान में अज्ञानी जीव कषाय की मन्दता से धर्म मान रहे हैं। ऐसी कषाय की मन्दता के परिणाम जीव ने बहुत बार किये हैं। शरीर के टुकड़े करे तो भी क्रोध न करे, ऐसे शुभपरिणाम होने पर भी अन्तर का भान नहीं होने से अज्ञानी अनन्त संसार में भटकता है। कषाय की मन्दता से धर्म नहीं होता परन्तु मैं त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा और स्थिरता से धर्म होता है। उपशम तथा क्षयोपशमभाव से क्षायिकभाव नहीं होता

और उपशमभाव तथा क्षयोपशमभाव भी शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है। राग की मन्दता से वह भाव प्रगट नहीं होता; द्रव्य के अवलम्बन से शुद्धता प्रगट होती है और बढ़ती है।

और जो कषाय उत्पन्न हुई, उसका नाश कैसे करना?

आत्मा की पर्याय में राग होता है, वह दो समय तो रहता नहीं। एक समयमात्र ही रहता है। जिस समय राग उत्पन्न हुआ, उसका उस समय में किस प्रकार नाश होगा? उस समय तो नाश नहीं किया जा सकता, परन्तु दूसरे समय उत्पन्न न हो, ऐसा करे तो नाश किया कहलाता है। उसका उपाय मात्र द्रव्यदृष्टि है। एक समय की पर्याय जितना मैं नहीं; मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसा भान करके स्वभाव में स्थिरता करे तो राग उत्पन्न नहीं होता। उसने राग का नाश किया, ऐसा कहने में आता है। सर्वज्ञ ने कहा हुआ वस्तुस्वभाव जानना चाहिए। इस जगत में छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। कोई किसी की स्वतन्त्रता लूट नहीं लेता। छह द्रव्यों को स्वतन्त्र जानना चाहिए। अपनी भूल से होनेवाले विकार को क्षणिक जानना और अपना त्रिकाली स्वभाव शुद्ध है, ऐसी रुचि करना, वह धर्म है।

भावार्थ - जीव अपनी भूल के कारण से भटकता है। झूठे उपदेशक अथवा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के कारण नहीं भटकता। तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र से तिर नहीं जाता। उल्टी दशा करने में भी स्वयं प्रभु है और सुल्टी दशा करने में भी स्वयं प्रभु है।

प्रश्न : सिद्ध के गुणों का स्मरण करने से धर्म होता है?

समाधान : नहीं। स्मरण करने का भाव, वह शुभभाव है। निमित्त से धर्म नहीं है। शुभराग से धर्म नहीं है तथा पर्याय में से भी धर्म की पर्याय प्रगट नहीं होती। शुद्ध चैतन्य-स्वभाव के अवलम्बन से धर्म होता है। सिद्ध का स्मरण अनन्त बार किया और वैराग्यपूर्वक मुनिपना पालन किया, परन्तु आत्मा के भान बिना धर्म नहीं हुआ। सिद्ध के स्मरण से तो कल्याण नहीं परन्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से भी कल्याण नहीं। भेदबुद्धि धर्म का कारण नहीं है। मैं अभेद स्वभावी शुद्ध हूँ, ऐसी रुचि करना, वह धर्म का कारण है।

जीव अपनी भूल से संसार में अनेक प्रकार के उदयभावरूप परिणमकर भटकता है तथा असत्वस्तु में सत्रूप मानता है। शरीर, मन, वाणी, आत्मा नहीं है, वे पर हैं, तथापि उन्हें अपना मानना, वह असत् है। और विकार एक समयमात्र का सत् है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव में नहीं, इसलिए वह भी असत् है। विकार से सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा मानना, वह असत् को सत् मानने के बराबर है। और जिस प्रकार मदिरा पीये हुए मनुष्य को स्वस्त्री और परस्त्री के बीच विवेक नहीं है, वह जैसे-तैसे वर्तता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव असत् को सत् मानकर भ्रमरूप प्रवर्तता है और अपने शुद्धस्वभाव को चूक जाता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने अज्ञान के कारण से जिस प्रकार प्रवर्तता है, यह बतलाया। ●●

गाथा - ७०

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ।।७०।।

उपशांतक्षीणमोहो मार्गं जिनभाषितेन समुपगतः।
ज्ञानानुमार्गचारी निर्वाणपुरं व्रजति धीरः ।।७०।।

समयव्याख्या : कर्मवियुक्तत्वमुखेन प्रभुत्वगुणव्याख्यानमेतत्। अयमेवात्मा यदि जिनाज्ञया मार्गमुपगम्योपशांतक्षीणमोहत्वात्प्रहीणविपरीताभिनिवेशः समुद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिः कर्तृत्वभोक्तृत्वाधिकारं परिसमाप्य सम्यक्प्रकटितप्रभुत्वशक्तिर्ज्ञानस्यैवानुमार्गेण चरति, तदा विशुद्धात्मतत्त्वोपलंभरूपमपवर्गनगरं विगाहत इति ।।७०।।

जिन वचन से पथ प्राप्त कर उपशान्त मोही जो बने।
शिवमार्ग का अनुसरण कर वे धीर शिवपुर को लहें।।७०।।

अन्वयार्थ :- [जिनभाषितेन मार्ग समुपगतः] जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्ग को प्राप्त करके [उपशांतक्षीणमोहः] उपशान्तक्षीणमोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है, ऐसा होता हुआ) [ज्ञानानुमार्गचारी] ज्ञानानुमार्ग में विचरता है (-ज्ञान का अनुसरण करनेवाले मार्ग वर्तता है), [धीरः] वह धीर पुरुष [निर्वाणपुरं व्रजति] निर्वाणपुर को प्राप्त होता है।

टीका:-यह, कर्मवियुक्तपने की मुख्यता से प्रभुत्वगुण का व्याख्यान है।

जब यही आत्मा जिनाज्ञा द्वारा मार्ग को प्राप्त करके, उपशान्तक्षीणमोहपने के कारण (दर्शनमोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम के कारण) जिसे विपरीत अभिनिवेश नष्ट हो जाने से सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा होता हुआ, कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यक्रूप से प्रगट प्रभुत्वशक्तिवान होता हुआ ज्ञान का ही अनुसरण करनेवाले मार्ग में विचरता है (-प्रवर्तता है, परिणमित होता है, आचरण करता है), तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धिरूप अपवर्गनगर को (मोक्षपुर को) प्राप्त करता है।

(इस प्रकार जीव के कर्मरहितपने की मुख्यतापूर्वक प्रभुत्वगुण का व्याख्यान किया गया)।।७०।।

अब जीव के भेद कहे जाते हैं।

गाथा - ७० पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ५, रविवार)

गाथा ६९ में कहा कि अनादि से अज्ञानी जीव सत् को असत् मानता है और असत् को सत् मानता है, वह अपने अज्ञान के कारण से है। मैं चैतन्य शुद्ध हूँ, उसे विसर जाने की प्रभुता भी उसकी अपनी है। कर्म की महत्ता है, इसलिए स्वभाव को विसर जाता है, ऐसा नहीं है। अपनी त्रिकाल सच्ची प्रभुता को भूलता है और दया दान में अटक जाता है, उसमें कर्म निमित्तरूप से होता है; इस प्रकार कर्म संयुक्त जीव की विकार में प्रभुता बतलायी।

अब, ७०वीं गाथा में बतलाते हैं कि जीव धर्म करता है, वह अपने पुरुषार्थ से करता है, कर्म का वियोग है, इसलिए धर्म होता है, ऐसा नहीं है। राग-द्वेष करता है, वह अपनी प्रभुता से करता है और साधकदशा में धर्म करता है, वह भी अपनी प्रभुता से करता है।

अपनी फलविपाक दशारहित उपशमभाव को अथवा मूल सत्ता से विनाश भाव को प्राप्त हुआ है। असत् वस्तु में प्रतीतिरूप मोहकर्म जिसका ऐसा अपने स्वरूप में निश्चल सम्यग्दृष्टि जीव है, सो मोक्षनगर में गमन करता है।

जीव को उपशम समकित होता है, वह स्वयं की प्रभुता से होता है। कर्म उपशम को प्राप्त हुए, इसलिए उपशम समकित होता है, ऐसा नहीं है। कर्म के उपशम का समय था और आत्मा में उपशम समकित का समय एक है, तथापि कर्म के उपशम के कारण से समकित नहीं होता। जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा करता है, तो कर्म का उपशम कर्म के कारण से होता है। कर्म आत्मा में कुछ करता नहीं तथा आत्मा कर्म में कुछ करता नहीं। दोनों में स्वतन्त्र क्रिया होती है।

और अज्ञानदशा में शरीर मैं हूँ और विकल्प मैं हूँ, ऐसी जो विपरीत प्रतीति थी,

उसका अपने ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से पुरुषार्थ द्वारा मूल में से नाश किया, इसलिए निमित्तरूप से कर्म का नाश हुआ, उसे क्षायिक समकित कहते हैं। गोम्मटसार में कथन आता है कि दर्शनमोहकर्म का क्षय हो तो क्षायिक समकित हो-यह कथन निमित्त से है। वहाँ अन्तरंग हेतु कर्म के क्षय को कहा है और बाह्य हेतु सत् देव-गुरु-शास्त्र कहे हैं और उपादान स्वयं से है। इस प्रकार जो धर्मी जीव उपशम अथवा क्षायिक समकित प्रगट करता है, वह अपने स्वरूप में निश्चल है-अडिग है और वह मोक्षनगर में जाता है अर्थात् कि अपने में परिपूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट करता है। अपनी परमानन्ददशा में एकाकार होता है। कर्म के अभाव के कारण मोक्ष नहीं पाता परन्तु अपनी प्रभुता से मोक्ष पाता है।

भावार्थ - धर्मी जीव को चौथे गुणस्थान में शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा है, पाँचवें गुणस्थान में श्रद्धासहित विशेष स्थिरता है, छठवें में उससे विशेष स्थिरतापूर्वक मुनिपना है। साधक जीव अपनी प्रभुता से आगे बढ़ता है। जड़ की प्रभुता जड़ में है। विकार में भी अपनी प्रभुता है और धर्मदशा में भी अपनी प्रभुता है। शरीर नहीं, मन-वाणी नहीं। पुण्य विकार है; मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसी श्रद्धा तो है। तदुपरान्त विशेष अन्तर पुरुषार्थ करके सम्यग्दृष्टि जीव अपनी प्रभुता से मुक्तदशा को प्राप्त करता है।

और कैसा है वह सम्यग्दृष्टि जीव?

सर्वज्ञप्रणीत आगम के द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ है। फिर कैसा है? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानमार्ग में प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग को पाता है, उसमें निमित्त कैसा होता है? एक समय में तीन काल और तीन लोक का ज्ञान प्रगट वर्त रहा है, ऐसे भगवान सर्वज्ञ के कहे हुए शास्त्र निमित्त होते हैं। कुशास्त्र उसमें निमित्त नहीं होते। जो शास्त्र, पन्द्रह भेद से सिद्ध होते हैं—ऐसा कहते हैं, वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं। स्वरूप के आश्रय से सिद्धदशा होती है, ऐसा एक ही भेद है। आत्मा के भानसहित अन्तर्दशा आगे बढ़ने पर मुनिपना प्रगट होता है, तब बाह्य नग्न दिगम्बरदशा होती है। वे मुनि अपने स्वभाव के आश्रय से ही मोक्ष प्रगट करते हैं। इस एक ही प्रकार से मुक्ति है। जो शास्त्र वस्त्रसहित मुनिपना कहते हैं, और स्त्री को मोक्ष कहते हैं, गृहस्थलिंग से मोक्ष कहते हैं, अन्यलिंग से मोक्ष कहते हैं,

वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं। 'एक होय तीन काल में, परमारथ का पन्थ।' इस प्रकार सच्चे शास्त्रों के निमित्त से धर्मी जीव आत्मा की सच्ची दृष्टि, स्वसंवेदन ज्ञान और अन्तर रमणतारूप मोक्षमार्ग पाता है।

प्रश्न : भगवान की वाणी निमित्त होती है, इससे क्या आत्मा की प्रभुता खण्डित होती है?

समाधान : नहीं; वाणी से धर्मी जीव मोक्षमार्ग नहीं पाता, परन्तु कुदेवादि की वाणी निमित्तरूप नहीं होती, परन्तु सच्चे देव की वाणी निमित्त होती है, इतना बतलाना है। जीव अपने पुरुषार्थ से क्षायिक समकित पाता है, तब तीर्थंकर आदि की समीपता होती है, परन्तु तीर्थंकर के कारण क्षायिक समकित नहीं पाता है। यदि उनसे पाता हो तो सभा में सबको क्षायिक समकित होना चाहिए। वहाँ मिथ्यादृष्टि जीव धर्म पाता नहीं, उपादान अपनी प्रभुता से कार्य करता है तो प्रभु का निमित्त कहा जाता है। उसमें अपनी प्रभुता खण्डित नहीं होती।

और कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? '**ज्ञानानुमार्गचारि**' कहा है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे ज्ञान को अनुसरकर प्रत्यक्ष ज्ञानमार्ग में प्रवर्तता है। कोई निमित्त का अनुचारी, भगवान का अनुचारी या राग का अनुचारी कहा नहीं। मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसे ज्ञान को अनुसरकर अन्तरमार्ग को अनुसरण करना, वह मोक्षमार्ग है। साधकजीव को अपनी निर्बलता के कारण देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग हो जाता है; परन्तु वह उसे पुण्य समझता है, बन्धमार्ग समझता है; मोक्षमार्ग नहीं समझता।

पुनश्च निमित्त की, शुभराग की और पर्याय की रुचि छोड़कर, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसे अन्तर के आश्रय से प्रगट होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान है। ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रवर्तना, वह मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन बिना का ज्ञान परोक्षज्ञान भी नहीं कहलाता। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे शुद्धता के लक्ष्य से साधक को जो ज्ञान प्रगट होता है, वह आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान है, उसे बाकी का ज्ञान राग के लक्ष्य से होता है, वह परोक्ष कहलाता है। अकेले राग के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान परोक्ष भी नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपनी प्रभुता से मोक्षमार्ग में-ज्ञानमार्ग में प्रवर्तता है। कर्म का अभाव हुआ है, इसलिए मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है, ऐसा नहीं है।

भावार्थ - जो जीव पुरुषार्थ द्वारा अनादि मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अविद्या का नाश करता है, उसे नौ तत्त्वों की प्रतीति वर्तती है।

काललब्धि अर्थात् अपना स्वकाल अथवा पुरुषार्थ ऐसा अर्थ समझना। पाँचवाँ काल या चौथा काल, ऐसे व्यवहार काल की बात नहीं है। स्वयं जिस समय ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ करता है, वह अपना स्वकाल है। इसलिए उसे अपनी काललब्धि पकी है।

धर्मी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अनादि अविद्या का नाश करता है। शरीर, विकार और पर्याय जितना ही मैं हूँ, इत्यादि प्रकार से मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को अविद्या कहते हैं। उसे सच्चे भान द्वारा नाश किया, अर्थात् कि निमित्तबुद्धि का और पर्यायबुद्धि का नाश किया और मैं शुद्ध हूँ, ऐसी सच्ची प्रतीति की। इस प्रकार जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रवर्तता है, उसे नौ पदार्थ की यथार्थ प्रतीति वर्तती है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, उसमें जीव की प्रतीति आयी। मैं जीव हूँ तो अजीव पदार्थ मुझमें नहीं हैं, ऐसा निर्णय करने से अजीव की प्रतीति हुई। मेरे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय चूकता हूँ, उतनी मुझमें अशुद्धता आती है, वह आस्रव है। उसके पुण्य-पाप दो भेद हैं। जितना अशुद्धता में अटकता हूँ, वह बन्ध है। अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से शुद्धता प्रगट होती है, वह संवर है और शुद्धि की वृद्धि, वह निर्जरा है। संवर-निर्जरा अपूर्ण शुद्धता है। पूर्ण शुद्धता, वह मोक्ष है। ऐसी मोक्ष की प्रतीति वर्तती है। और स्वयं धर्मदशा प्रगट करता है, नौ पदार्थों की प्रतीति करता है, उसमें सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त हैं, तथापि उनसे धर्म नहीं होता। इस प्रकार पदार्थों की यथार्थ प्रतीति वर्तती है। अज्ञानी जीवों को पुरुषार्थ की बात जँचती नहीं। वह भी उनकी प्रभुता है।

और कैसा है धर्मी का आत्मा? प्रगट भेदविज्ञान की ज्योति से राग-द्वेष के कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूपी अन्धकार का नाश किया है। यदि निमित्त से धर्म होता हो तो निमित्त से भेदज्ञान करने का अवसर नहीं रहता। पर से और राग से भिन्न मैं चिदानन्द हूँ, ऐसा ज्ञान करना, वह भेदज्ञान है। ऐसी प्रभुत्वशक्ति पर्याय में बतलानी है।

समयसार में ४७ शक्तियों में एक प्रभुत्वशक्ति की बात आयी है। वह त्रिकाली गुण अथवा त्रिकाली शक्ति की बात है। जिसका प्रपात अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वातन्त्र्य से (स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका

लक्षण है, उसे प्रभुत्वशक्ति कहते हैं। वैसी प्रभुत्वशक्ति अनादि-अनन्त है। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य करे तो पर्याय में प्रभुता प्रगट हो, वहाँ त्रिकाली शक्ति की बात है। (वहाँ राग की प्रभुता की बात गौण है)। और प्रत्येक गुण में भी प्रभुत्वशक्ति है। ज्ञान की प्रभुता, दर्शन की प्रभुता, आनन्द की प्रभुता, अपनी अपनी प्रभुता करे, ऐसे कर्तागुण की प्रभुता, कार्य की प्रभुता - ऐसे अनन्त गुणों की प्रभुता है। इसलिए वहाँ त्रिकाली शक्ति की बात है। वैसी प्रभुत्वशक्ति से भरपूर आत्मा के आश्रय से धर्म होता है। वहाँ द्रव्यदृष्टि से दर्शन प्रधान कथन है।

यहाँ 'पंचास्तिकाय' में प्रभुता की बात पर्याय में लेकर प्रमाणज्ञान कराते हैं। प्रभुत्वशक्ति तो अनादि-अनन्त है। प्रभुत्वशक्ति दो नहीं है, शक्ति तो एक है। परन्तु उसका जिसे मान नहीं और राग-द्वेषादि के परिणाम करता है, तो विकार में अपनी प्रभुता है और स्वभाव का भान करके शुद्धता प्रगटावे तो शुद्धता प्रगटाने में भी अपनी प्रभुता है। इस प्रकार ६९-७० गाथा में पर्याय की प्रभुता की बात की। और स्वतन्त्र पर्याय का ज्ञान कराकर प्रमाणज्ञान कराते हैं। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है।

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव ने भेदविज्ञान प्रगट किया। निमित्त तो पर है, उससे मैं भिन्न हूँ, ऐसा तो भेदज्ञान किया, परन्तु निमित्त की ओर का शुभराग एक समय की पर्याय है, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसा भेदज्ञान किया। परपदार्थ को राग से प्राप्त कर सकता हूँ और परपदार्थ को भोग सकता हूँ, ऐसी परपदार्थ के स्वामित्व की तथा भोक्तापने की बुद्धि, वह अन्धकार है, उसका भेदविज्ञान की ज्योति से नाश किया। यह भी पर्याय से कथन है। शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन लेने से अज्ञान अन्धकार का विनाश हो जाता है। निमित्त का कर्तृत्व और भोक्तृत्व मुझमें नहीं और मेरा कर्तृत्व और भोक्तृत्व निमित्त में नहीं। मैं मन, वाणी और परपदार्थरूप नहीं। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसी मान्यता द्वारा अज्ञान अन्धकार का विनाश करके धर्मी जीव अपनी प्रभुत्वशक्ति से स्वरूप में प्रवर्तता है। कोई काल से या वज्रकाय के बल से आत्मा में लाभ नहीं होता। और व्यवहार में या राग में प्रवर्तता नहीं, परन्तु अपनी प्रभुता से स्वरूप में प्रवर्तता है। इस प्रकार जो जीव अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव की प्रभुता समझकर उसका आश्रय करता है, वह मोक्षदशा को प्राप्त करता है। ●●

गाथा - ७१-७२

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि।
चदुचंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य ।।७१।।
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभङ्गसब्भावो।
अट्ठासओ णवट्ठो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो ।।७२।।

एक एव महात्मा स द्विविकल्पस्त्रिलक्षणो भवति।
चतुश्चंक्रमणो भणितः पञ्चाग्रगुणप्रधानश्च।।७१।।
षट्कापक्रमयुक्तः उपयुक्तः सप्तभङ्गसद्भावः।
अष्टाश्रयो नवार्थो जीवो दशस्थानगो भणितः ।।७२।।

समयव्याख्याः अथ जीवविकल्पा उच्यन्ते। स खलु जीवो महात्मा नित्यचैतन्योपयुक्तत्वादेक एव, ज्ञानदर्शनभेदाद्विविकल्पः, कर्मफलकार्यज्ञानचेतनाभेदेन लक्ष्यमाणत्वात्त्रिलक्षणः ध्रौव्योत्पादविनाशभेदेन वा, चतसृषु गतिषु चंक्रमणत्वाच्चतुश्चंक्रमणः, पञ्चभिः पारिणामिकौदयिकादिभिरग्रगुणैः प्रधानत्वात्पञ्चाग्रगुणप्रधानः, चतसृषु दिक्षूर्ध्वमधश्चेति भवांतरसंक्रमणषट्केनापक्रमेण युक्तत्वात्षट्कापक्रमयुक्तः, अस्तिनास्त्यादिभिः सप्तभङैगः सद्भावो यस्येति सप्तभङ्गसद्भावः, अष्टानां कर्मणां गुणानां वा आश्रयत्वादष्टाश्रयः, नवपदार्थरूपेण वर्तनान्नवार्थः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति-साधारणप्रत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियरूपेषु दशसु स्थानेषु गतत्वाद्दश - स्थानग इति ।।७१-७२।।

आतम कहा चैतन्य से इक ज्ञान-दर्शन से द्विविध।
उत्पाद-व्यय-ध्रुव से त्रिविध अर चेतना से भी त्रिविध।।७१।।
चतुपंच षट् व सप्त आदिक भेद दसविध जो कहे।
वे सभी कर्मों की अपेक्षा जिय के भेद जिनवर ने कहे।।७२।।

अन्वयार्थ :- [सः महात्मा] वह महात्मा [एकः एव] एक ही है, [द्विविकल्पः] दो भेदवाला है और [त्रिलक्षणः भवति] त्रिलक्षण है; [चतुश्चंक्रमणः] और उसे चतुर्विध भ्रमणवाला [च] तथा [पंचाग्रगुणप्रधानः] पाँच मुख्य गुणों से प्रधानतावाला

[भणितः] कहा है। [उपयुक्तः जीवः] उपयोगी ऐसा वह जीव [षट्कापक्रमयुक्तः] छह *अपक्रम सहित, [सप्तभंगसद्भावः] सात भंगपूर्वक सद्भाववान, [अष्टाश्रयः] आठ के आश्रयरूप, [नवार्थः] नौ-अर्थरूप और [दशस्थानगः] दशस्थानगत [भणितः] कहा गया है।

टीकाः-वह जीव महात्मा (१) वास्तव में नित्यचैतन्य-उपयोगी होने से 'एक' ही है; (२) ज्ञान और दर्शन ऐसे भेदों के कारण 'दो भेदवाला' है; (३) कर्मफलचेतना, कार्यचेतना और ज्ञानचेतन ऐसे भेदों द्वारा अथवा ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश ऐसे भेदों द्वारा लक्षित होने से 'त्रिलक्षण (तीन लक्षणवाला)' है; (४) चार गतियों में भ्रमण करता है, इसलिए 'चतुर्विध भ्रमणवाला' है; (५) पारिणामिक, औदयिक इत्यादि पाँच मुख्य गुणों द्वारा प्रधानता होने से 'पाँच मुख्य गुणों से प्रधानतावाला' है; (६) चार दिशाओं में, ऊपर और नीचे इस प्रकार षड्विध भवान्तरगमनरूप अपक्रम से युक्त होने के कारण (अर्थात् अन्य भव में जाते हुए उपरोक्त छह दिशाओं में गमन होता है इसलिए) 'छह अपक्रम सहित' है; (७) अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों द्वारा जिसका सद्भाव है, ऐसा होने से 'सात भंगपूर्वक सद्भाववान' है; (८) (ज्ञानावरणीयादि) आठ कर्मों के अथवा (सम्यक्त्वादि) आठ गुणों के आश्रयभूत होने से 'आठ के आश्रयरूप' है; (९) नव पदार्थरूप से वर्तता है, इसलिए 'नव-अर्थरूप' है; (१०) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियरूप दश स्थानों में प्राप्त होने से 'दशस्थानगत' है।।७१-७२।।

गाथा - ७१-७२ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ६, शनिवार)

वह जीवद्रव्य अविनाशी चैतन्य उपयोगसंयुक्त है, इस कारण सामान्यनय से एक ही है। जो-जो जीव है, सो चैतन्यस्वरूप है, इस कारण जीव एक ही कहा जाता है।

यह जीवद्रव्य अविनाशी ज्ञातादृष्टा उपयोगवाला है, देहादि की तथा पुण्य-पाप की क्रिया होती है, उसे जाननेवाला है। पुण्य-पाप के भेद तथा अवस्था के हीनाधिक

*** अपक्रम=(संसारी जीव को अन्य भव में जाते हुए) अनुश्रेणी गमन अर्थात् विदिशाओं को छोड़कर गमन।**

भेद पड़ते हैं, वे पर्याय में पड़ते हैं। तथापि त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से सब जीव सदा चैतन्य उपयोगी हैं, वही उसका स्वरूप है।

प्रश्न : तो फिर दया किसकी पालना?

समाधान : परजीव की दया कोई नहीं पाल सकता। अपनी पर्याय में राग आवे, वह अलग बात है, परन्तु यह जीव दया पालनेयोग्य है और यह जीव मारनेयोग्य है, ऐसा मूल वस्तुस्वभाव में नहीं है। केवली भगवान हैं, इसलिए मुझे आदरणीय हैं और निगोद का जीव आदरणीय नहीं, ऐसा भेद मूलस्वभाव में नहीं है। जीव सबका जाननेवाला-देखनेवाला है। अपने से दूसरे को महान स्वीकार करे, ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है। स्वयं ही महात्मा है। जड़ शरीर या कर्म तो जीव का स्वरूप नहीं परन्तु जीव की पर्याय में जो भेद पड़ते हैं, वे भी जाननेयोग्य हैं। वे मूलस्वरूप नहीं हैं, इसलिए आदरणीय नहीं हैं। पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन के ऐसे बारह भेद पड़ते हैं, वे पर्याय में पड़ते हैं, उनकी अभी बात नहीं है। मैं त्रिकाल एकरूप चैतन्य उपयोगी हूँ, मेरा कोई देव नहीं, मैं किसी का देव नहीं। मैं किसी का मालिका नहीं और कोई मेरा मालिक नहीं। स्वामी और सेवकपना विकल्प के समय होता है, वह मात्र पर्याय के भेद जाननेयोग्य है, पुण्य-पाप के भेद पर्याय में पड़े, तथापि मैं अभेद चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसी पहिचान करना, वह धर्म है।

प्रश्न : विश्वप्रेम कैसे हो?

समाधान : यह जीव हीन है और यह जीव बड़ा है, ऐसे कहीं ज्ञेय में भाग न करे और पर्याय के भेद को गौण करके त्रिकाली स्वभाव की समानता की दृष्टि से सभी जीवों को देखे, वह विश्वप्रेम है। सिद्ध आदरणीय है और निगोद आदरणीय नहीं, धर्मी जीव के प्रति राग करनेयोग्य है और धर्म के दुश्मन के प्रति द्वेष करनेयोग्य है, वह सब तो भेद हुए, ऐसे भेद को स्वभाव में स्थान नहीं है। सभी जीव त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वभावी हैं, ऐसे त्रिकाल की दृष्टि से देखना, वह विश्वप्रेम है।

प्रश्न : भगवान की वाणी आत्मा को स्थिर करती है?

उत्तर : वाणी तो जड़ है, वाणी से आत्मा स्थिर नहीं होता, तथा आत्मा वाणी को

निकालता नहीं। वाणी निकलती है तो इच्छा को निमित्त कहा जाता है। यहाँ तो इच्छा करे, उसे भी आत्मा नहीं कहते हैं परन्तु इच्छा को जाननेवाला आत्मा है। यह ज्ञान होता है, वह श्रवण से नहीं होता। अन्तर चैतन्यस्वभाव में से ज्ञान प्रगट होता है। तो वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी, ज्ञान को स्पर्श नहीं करती और ज्ञान, वाणी को स्पर्श नहीं करता, दोनों स्वतन्त्र है।

कोई **पूछता** है कि तो फिर दीवार में से वाणी क्यों नहीं निकलती और आत्मा हो तो वाणी निकलती है ?

समाधान - पक्षघातवाले जीव बोल नहीं सकते, वहाँ जीव तो है, तो भी वाणी निकलती नहीं, क्योंकि वाणी का निकलना, वह वाणी के कारण से है, आत्मा के कारण वाणी नहीं निकलती और वाणी के कारण आत्मा को लाभ नहीं होता, स्वयं शुद्धचैतन्यस्वरूपी है।

जो जीव वाणी के कारण ज्ञान मानता है, देव-गुरु-शास्त्र के कारण ज्ञान खिलता है, ऐसा मानता है, वह अपने चैतन्यस्वभाव को नहीं जानता, इसलिए ऐसे जीव यात्रा, व्रत, तपादि करे तो पुण्य हो, परन्तु उसे धर्म नहीं होता। सोना, ताँबे के कारण पन्द्रहवान कहलाता है, परन्तु सोना तो सोलहवान ही है; उसी प्रकार जीव की पर्याय में भेद होने पर भी सभी जीव शुद्ध हैं, उपयोगमय है। 'सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझें वे हो।' - सभी जीव सिद्ध समान हैं, जो समझते हैं, वे सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं।

अब दो भेद से जीव का स्वरूप कहते हैं :-

वह ही जीवद्रव्य ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का भी कहा जाता है।

ज्ञान और दर्शन उपयोगवाला, ऐसे दो प्रकार से जीव है। भाई! तेरा दर्शन और ज्ञान का व्यापार करने का जीव का स्वभाव है। पर का व्यापार करने का या राग-द्वेष करने का जीव का स्वभाव नहीं है। पैसे आवें या जावें, उसका आत्मा जाननेवाला है। परन्तु अज्ञानी जीव पर का स्वामी होता है। 'बारात में कोई जानता नहीं और वर की बुआ मैं।' जड़ को खबर नहीं कि मेरे ऊपर कौन राग करता है। शरीर पर जीव ममता

करता है, ऐसी शरीर को खबर नहीं। मकान को देखकर अज्ञानी अभिमान करता है, ऐसी मकान को खबर नहीं, तथापि अज्ञानी जीव 'वर की बुआ की भाँति' जड़ का स्वामी हो बैठा है, उसे अपने ज्ञान-दर्शन-व्यापार की खबर नहीं है, इसलिए यहाँ दर्शन और ज्ञान उपयोगवाला कहकर दो प्रकार के भेद से जीव की पहिचान दी है।

अब जीव के तीन प्रकार कहते हैं।

फिर वह ही जीवद्रव्य कर्मचेतना, कर्मफलचेतना, ज्ञानचेतना, इन तीन भेदोंकर संयुक्त होने से।

(१) **कर्मचेतनावाला जीव :-** जीव अपना शुद्धचैतन्यस्वरूप चूककर दया, दान, काम, क्रोधादि के भावों में एकाग्र होता है, वह कर्मचेतनावाले जीव हैं। हमने इतनी यात्रा की, हमने इतने मन्दिर बनाये, इतने व्रत-तप किये, ऐसे राग का कर्तृत्व मानते हैं। उसे ही सर्वस्व मानते हैं और अपने ज्ञातास्वभाव को चूक जाते हैं। सब अज्ञानी जीव रागादि में कर्तृत्व मानते हैं।

(२) **कर्मफलचेतनावाले जीव :-** अपने शुद्ध स्वभाव को चूककर हर्ष-शोक में एकाग्रता, वह कर्मफलचेतना है। अनुकूलता के समय हर्षित हो जाना और मन्दी आने पर मर गया मानकर शोक में एकाकार होना, वह कर्मफलचेतना है।

एकेन्द्रिय जीवों को कर्मफलचेतना गिनी है, वह मुख्यरूप से कथन करके कहा है। त्रस जीव की भाँति विशेष वीर्य स्फुरित करके राग की कर्तृत्वबुद्धि उन्हें मुख्यरूप से नहीं होती, इसलिए वहाँ कर्मफलचेतना मुख्य गिनी है। परन्तु कर्मचेतना वहाँ भी है ही, त्रस जीव राग के कर्तृत्व की मुख्यता में रुके हुए हैं, इसलिए उनके कर्मचेतना मुख्य गिनी है, परन्तु वहाँ भी कर्मफलचेतना है।

कितने ही जीव प्रतिकूलता आने पर खेदखिन्नता के समुद्र में डूब जाते हैं और अनुकूलता आने पर राग के बर्फ में गल जाते हैं। उन्हें ज्ञानचेतना का भान नहीं है, उन्हें धर्म नहीं होता। निगोद से पंचेन्द्रिय तक के सभी अज्ञानी जीवों को कर्मफलचेतना है।

(३) **ज्ञानचेतनावाले जीव :-** धर्मी जीव समझते हैं कि हर्ष-शोक मेरी निर्बलता से होते हैं। हम उसके जाननेवाले हैं। शान्तिनाथ इत्यादि तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी थे।

छियानवें हजार रानियाँ थीं, नौ निधान थे, तथापि अन्तर्भान था कि यह सब पुण्य के ठाठ हैं। यह हम नहीं, हम तो आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं। आत्मा ज्ञान का पिण्ड है, ऐसे ज्ञानस्वभाव का भान करके अन्तर एकाकार होनेवाला भी एक जीव का वर्ग है, समकिती से सिद्ध तक के जीव उसमें आ जाते हैं।

यह जीव के भेद का वर्णन है। जीव राग में एकाकार हो या हर्ष-शोक में एकाकार हो, तो वह जीव का अपना भेद है। कर्म के कारण कर्मचेतना हो या लक्ष्मी के कारण हर्ष हो या यात्रा के स्थान के कारण पुण्य हो, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। जीव की पर्याय की योग्यता के कारण शुभाशुभभाव होते हैं; पर के कारण वे नहीं होते। कर्म के कारण कर्मचेतना नहीं तथा कर्म हटा, इसलिए ज्ञानचेतना नहीं। अनुकूल सामग्री मिले तो ज्ञान प्रगटे और प्रतिकूलत सामग्री आने पर ज्ञान रुक जाये, ऐसा है ही नहीं। निगोद के जीव ने भारी कर्म किये हैं, इसलिए कर्मफलचेतना होगी? और त्रस में हिलने-चलने की शक्ति है और व्यापारादि के संयोग हैं, इसलिए कर्मचेतना होगी? नहीं, जीव का अपनी पर्याय का भेद है, वह पर के कारण नहीं है। शिक्षक की होशियारी के प्रमाण में विद्यार्थी सीखता नहीं, परन्तु अपने कारण से अपनी योग्यतानुसार सीखता है। उसी प्रकार धर्म में जैसे गुरु मिलें, उस प्रकार से ज्ञान करता नहीं, परन्तु अपने कारण से ज्ञान या अज्ञान करता है, गुरु के कारण से नहीं।

अब जीव के तीन प्रकार से भेद दूसरी रीति से कहते हैं।

तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुणसंयुक्त होने से तीन प्रकार का भी होता है।

उत्पाद-व्यय और ध्रुव की अपेक्षा से जीव के तीन भेद हैं, वे कहते हैं।

उत्पाद - सिद्ध को समय-समय में केवलज्ञान होता है। निगोद को समय-समय में अज्ञान होता है, अभव्य को समय-समय में मिथ्यात्व का उत्पाद होता है। उत्पाद सबमें समय-समय में होता है, इस अपेक्षा से सब समान हैं। कर्म के उत्पाद के कारण मिथ्यात्व नहीं होता। वाणी के कारण ज्ञान का उत्पाद नहीं होता। अज्ञान हो या ज्ञान हो, विकार हो या अविकार हो, पूर्ण पर्याय हो या अधूरी पर्याय हो, वह उत्पाद स्वयं के कारण से है, पर के कारण से नहीं। किसी जीव को केवलज्ञान का उत्पाद, किसी को

अज्ञान का, किसी को क्षायिक सम्यक्त्व का उत्पाद, किसी को मिथ्यात्व का उत्पाद, किसी को वीतरागता का उत्पाद, किसी को अचारित्र का, यह उत्पाद जीव का प्रकार है, कर्म के कारण यह उत्पाद नहीं है।

तीर्थंकर के समवसरण में जाकर सम्यग्ज्ञान का उत्पाद करे या मिथ्याज्ञान का उत्पाद करे, वह स्वयं के कारण से है और सातवें नरक में अज्ञान का उत्पाद करे तो वह स्वयं के कारण से है। पर से उत्पाद नहीं है, जीव अपने में धर्म करे या अधर्म करे, राग करे या वीतरागता करे, गुण करे या अवगुण करे, वह पर के कारण नहीं है, स्वयं के कारण है। इस प्रकार अपने कारण से उत्पाद करता है, इस अपेक्षा से निगोद से सिद्ध तक के सभी जीव समान हैं। इस प्रकार उत्पाद की अपेक्षा से जीव का भेद कहा।

वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ७, मंगलवार

जीव के भेद की बात चलती है। जीव में समय-समय में नयी अवस्था उत्पन्न होती है, वह जीव का स्वभाव है। जीव को अलग-अलग समय में अलग-अलग भाव होते हैं। राग-द्वेष के भाव होते हैं, काम, क्रोध, मिथ्यात्व, समकित, केवलज्ञान, सिद्धदशा इत्यादि का उत्पाद होता है, वह जीव के कारण से है, किसी कर्म के कारण से नहीं। इस प्रकार पर से भेदज्ञान कराकर, उत्पाद स्वतन्त्र बताकर, मात्र उत्पाद जितना नहीं परन्तु पूरा परिपूर्ण है, ऐसा द्रव्य तथा पर्याय का प्रमाणज्ञान कराना है।

व्यय - जीव समय-समय में पूर्व अवस्था से बदलता है, वह जीव का भेद है। मनुष्यगति का व्यय होकर देवगति होती है, वह कर्म के कारण से नहीं। अल्पज्ञता का व्यय होता है, संसार का व्यय होता है, समकित का नाश होकर मिथ्यात्व होता है, ग्यारहवें गुणस्थान से गिरे, वह उपशमभाव का व्यय हुआ, वह स्वयं के कारण से है। कर्म का उदय आया, इसलिए जीव ग्यारहवें (गुणस्थान) से गिर जाता है, यह बात सत्य नहीं है। कुदेव मिले, इसलिए समकित का व्यय हुआ? नहीं; व्यय जीव का भेद है। कोई अज्ञान का व्यय, कषाय का व्यय, सब व्यय का कारण जीव स्वयं है। मुनि छठवें-सातवें में चारित्रवान हैं और देह छूट जाये, वहाँ मार्ग में असंयमी होते हैं तो चारित्रदशा

के व्यय का कारण ? देव नामकर्म का उदय आया इसलिए ? नहीं। व्यय, वह जीव का भेद है। पर के कारण नहीं, पूर्व के कारण व्यय नहीं। उत्पाद के कारण व्यय नहीं, व्यय के कारण से व्यय होता है। वह जीव का भेद है।

प्रश्न : उसमें पर्याय की महत्ता आती है।

समाधान : एक समय की पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकारने से त्रिकाली द्रव्य की स्वतन्त्रता स्वीकार करने में आती है।

यहाँ समय-समय की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करते हैं। अल्प ज्ञान का व्यय हो, मिथ्यात्व का व्यय हो। मनुष्यगति का व्यय हो, उन सबमें स्वयं का कारण है, कर्म के कारण वह नहीं है।

ध्रुव - जीव का ध्रुवपना जीव के कारण से है। ध्रुवपना, उत्पाद और व्यय के कारण से नहीं। त्रिकाली ध्रुव—स्वभाव स्वयं के कारण से है, दूसरे के कारण से नहीं।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुव की अपेक्षा से जीव के तीन भेद बतलाये।

मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच—इन चार गतियों में जीव भटकता है, इस अपेक्षा से जीव के चार भेद हैं। किसी कर्म के कारण अमुक गति मिली, ऐसा स्वरूप नहीं है। और कोई कहे कि निगोद में कर्म का जोर बहुत है और त्रस में उल्टे पुरुषार्थ का जोर है, ऐसे निगोद और त्रस में ऐसा भेद अज्ञानी करता है। निगोद में हो या त्रस में, चाहे जिस गति में हो तो भी विकार अपने कारण से है। कर्म के कारण से नहीं। श्रेणिक राजा ने नरकगति का कर्म बाँधा, इसलिए नरक में जाना पड़ा ? कोई मनुष्य में से अनुत्तर विमान में जाये, वह शुभकर्म बाँधा है, इसलिए जाता होगा ? यहाँ उससे इनकार करते हैं। नारक या तिर्यंच, मनुष्य या देव, इन सब गतियों में जाने की जीव की योग्यता है। अपनी स्वतन्त्रता से वह भटकता है। इन प्रकार पर से भेदज्ञान कराते हैं।

फिर जीव के पाँच प्रकार से भेद कहते हैं—

पारिणामिकभाव - आत्मा पारिणामिक शुद्धभाव है, वह एकरूप है। शरीर और कर्म के कारण वह नहीं है। स्वयं एकरूप है। और पारिणामिकभाव में भव्य और अभव्य के भेद हैं, उनका कारण ? कोई कर्म कारण होगा ? नहीं; भव्य और अभव्य पारिणामिकभाव

से हैं। उसमें कोई कर्म का कारण नहीं है तथा उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव स्व अपेक्षा से पारिणामिकभाव में आ जाते हैं। पारिणामिकभाव पर्याय अपेक्षा से विकाररूप अथवा उपशमरूप स्वयं होता है। किसी कर्म के कारण राग हुआ अथवा कर्म हटा, इसलिए गुण हुआ - ऐसा नहीं है। अपने परिणाम अनुसार भेद पड़ता है। इस प्रकार स्वतन्त्र समझे और अंश जितना मैं नहीं, परन्तु मैं तो अंशी हूँ—ऐसा भान करे तो धर्म होता है।

औदयिकभाव - जीव की पर्याय में राग-द्वेष, दया, दानादि के परिणाम हों, वह जीव का भेद है। कर्म के कारण उदयभाव नहीं है। केवली भगवान का औदयिकभाव और निगोद का औदयिकभाव, स्वयं के कारण से है, इस अपेक्षा से समान है। भगवान को कर्म बाकी हैं, इसलिए विभाव और योग का कम्पन है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी जीव कर्म के ऊपर जोर डालता है। कर्म तथा प्रतिकूल संयोग जीव में प्रविष्ट नहीं होते और वे राग-द्वेष नहीं कराते, परन्तु अज्ञानी जीव वर्तमान संयोगों को देखकर वर्तमान दबाव में दब जाता है, परन्तु राग-द्वेष स्वयं से होते हैं, ऐसा स्वतन्त्र ज्ञान करे तो पर से पृथक् पड़कर द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुखता का अवकाश रहता है।

उपशमभाव - जीव में समकित अथवा चारित्र का उपशम होता है, वह स्वयं के कारण से है। कर्म का उपशम हुआ, इसलिए उपशमभाव हुआ, ऐसा नहीं है। और कर्म मन्द पड़े तो आत्मा उपशमश्रेणी में आगे बढ़ता होगा? नहीं, स्वयं के कारण से बढ़ता है। और देव-गुरु-शास्त्र से उपशम समकित नहीं, परन्तु स्वयं से है। ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमभाव और चौथे गुणस्थान में उपशमभाव स्वयं के कारण से है। इतनी अपेक्षा से दोनों समान हैं। वे पर के कारण नहीं हैं। यह जीव के भेद का वर्णन है।

क्षयोपशमभाव - जीव में ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ ज्ञात होता है, वह जीव के कारण से है। अज्ञानी जीव कहते हैं कि घड़ा है, इसलिए घड़े का ज्ञान होता है। जैन कहते हैं कि ज्ञान, ज्ञान का कारण है, परवस्तु कारण नहीं।

तो अन्यमतवाले **पूछते** हैं कि तो फिर घड़े के समय में घड़े का ही ज्ञान क्यों होता है और दूसरी चीज़ का ज्ञान क्यों नहीं होता?

उसका **समाधान** :- उस समय जीव की पर्याय में क्षयोपशम की योग्यतानुसार ज्ञान होता है। अब जहाँ क्षयोपशम की बात की, वहा अज्ञानी जीव दूसरी दलील करते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, इसलिए ज्ञान का विकास दिखता है। तो यह भी मिथ्या मान्यता है। ज्ञान अल्प दिखाई दे या अधिक दिखाई दे, वह जीव के कारण से है, पर के कारण से नहीं। जो विविधता और विचित्रता क्षयोपशमभाव में दिखती है, वह जीव का भेद है। इस प्रकार समय-समय की पर्याय स्वतन्त्र समझे तो त्रिकाली स्वभाव की स्वतन्त्रता की खबर पड़े।

क्षायिकभाव - क्षायिक समकित केवली अथवा श्रुतकेवली के कारण होता नहीं। क्षायिक का भेद तेरा है, वह निमित्त का भेद नहीं। और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि केवलज्ञानावरणीय के कारण केवलज्ञान रुका, वहाँ तो केवलज्ञानावरणीय पुद्गलकर्म का निमित्तपना बतलाना है। परन्तु उससे केवलज्ञान रुका है, ऐसा वहाँ कहना नहीं है। केवलज्ञान रुका, वह तेरे कारण से है।

परमपारिणामिकभाव के तीन भेद हैं और दूसरे चार भावों के पचास भेद हैं, इस प्रकार कुल ५३ भेदों में समझ लेना कि प्रत्येक परिणाम अपने कारण से है। अभव्य क्यों? उसका स्वभाव है। करोड़ों उपदेश का प्रपात पड़े तो भी उसका ज्ञान पिघलता नहीं, ऐसा उसका स्वभाव है। जाति, लेश्या, असिद्धत्व, इत्यादि प्रत्येक भेद स्वतन्त्र अपने कारण से है। जीव अपने को विकार में रोके या स्वभाव में रोके परन्तु पर का कुछ नहीं कर सकता तथा परपदार्थ जीव में कुछ नहीं कर सकते। पर के कारण अपने में कुछ हो और अपने कारण पर में कुछ हो तो तत्त्व पराधीन हो जाता है। इसलिए स्वतन्त्रता का ज्ञान करके पर से पृथक् पड़कर, अंश का ज्ञान करके अंश जितना भी मैं नहीं; मैं स्वभाव से त्रिकाली अंशी हूँ, ऐसा प्रमाणज्ञान होने पर धर्म होता है।

जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे - ऐसी छह दिशाओं में गमन करता है, ऐसे छह प्रकार से जीव के भेद हैं। विदिशा में जीव गमन नहीं करता, विदिशा चौड़ाई की अपेक्षा से एक प्रदेशी है, इसलिए जीव सीधा विदिशा में नहीं जाता। पूर्व, पश्चिमादि दिशा असंख्य प्रदेशी हैं, उनमें जीव गमन करता है। उसका कारण स्वयं है, कर्म कारण नहीं है।

सप्तभंगी के सात भंग से जीव पहिचाना जा सकता है, इसलिए जीव सात प्रकार से भी कहा जाता है।

(१) **अस्तित्वभंग** - जीव स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिरूप है, ऐसे एक भंग में सभी जीव आ जाते हैं। द्रव्य=त्रिकाली वस्तु; क्षेत्र=अपने असंख्य प्रदेशरूप चौड़ाई; काल=समय—समय की पर्याय; भाव=त्रिकाली गुण या शक्तियाँ - ऐसे स्वचतुष्टय से प्रत्येक जीव है।

(२) **नास्तित्वभंग** - शरीर, कर्म, वाणी, देव, गुरु, शास्त्ररूप से यह जीव नहीं है। ऐसा नास्तित्वधर्म जीव का है। नास्तित्वधर्म पर का नहीं, परन्तु अपना है। कर्म, शरीर, वाणी का जीव में अभाव है। यह तीनों काल के जीव की बात चलती है। अकेले सिद्ध की नहीं। भव्य-अभव्य, संसारी या सिद्ध सभी जीव पररूप नहीं, ऐसे भेद में समाहित हो जाते हैं।

(३) **अस्तित्व-नास्तित्वभंग** - आत्मा स्यात् अपने से अस्ति है। स्यात् पर से नास्ति है, ऐसे क्रम से कहा जा सके, ऐसा आत्मा में धर्म है। वाणी में क्रम पड़ता है, इसलिए वक्तव्य धर्म है, ऐसा नहीं। वह धर्म अपने कारण से है।

(४) **अवक्तव्य भंग**- आत्मा अपने से है और पर से नहीं, ऐसे युगपत् नहीं कहा जा सकता है, ऐसा जीव का धर्म है। वाणी एक साथ नहीं कह सकती, इसलिए अवक्तव्य भंग है, ऐसा नहीं परन्तु स्वयं के कारण से है।

(५) **अस्तित्व-अवक्तव्य भंग** - स्वयं अस्तिरूप है, ऐसा कहा जाता है परन्तु अस्तित्व-नास्तित्व युगपत् नहीं कहे जो सकते, ऐसा अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म जीव का है, वाणी के कारण नहीं।

(६) **नास्तित्व-अवक्तव्य भंग** - नास्तित्वधर्म कहा जाता है, उस समय अस्तित्व-नास्तित्व युगपत् नहीं कहे जाते, ऐसा नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म जीव का है, वाणी के कारण नहीं।

(७) **अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य भंग** - अस्ति-नास्ति क्रम से कहे जा सकते

हैं, परन्तु दोनों युगपत् नहीं कहे जा सकते, ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म जीव का है।

इस प्रकार जीव में उतरते (घटित होते) सात भेद, पर से भिन्न कराकर भेदज्ञान कराते हैं।

सिद्ध जीवों में आठ गुण—अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध इत्यादि हैं तथा संसारी जीवों में आठ गुण शक्तिरूप से हैं, इसलिए उस प्रकार से जीव पहिचाना जा सकता है अथवा संसारदशा में जीव आठ कर्मों का आश्रय लेता है और अटकता है, इस प्रकार से भी जीव में आठ प्रकार से भेद पड़ते हैं। आठ कर्म हैं, इसलिए भेद पड़ते हैं, ऐसा नहीं परन्तु जीव अपने त्रिकाली स्वभाव को चूकता है और आठ प्रकार के कर्म का आश्रय लेता है तो अपने में विकार होता है, इसलिए जीव में आठ प्रकार के भेद कहे हैं।

छठवें-सातवें (गुणस्थान) में झूलते महामुनियों ने यह रचना की है, उसमें प्रयोजन है। यहाँ पर से भेदज्ञान कराकर, पर्याय स्वतन्त्र बतलाकर, ज्ञान की निर्मलता कराते हैं। पर्याय में विविधता और विचित्रता होने पर भी पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा जो यथार्थ मानता है , वह जीव विविधता बिना के एकरूप द्रव्यस्वभाव को स्वतन्त्र माने बिना नहीं रहता और जो विचित्रता को परतन्त्र मानता है, वह द्रव्य को स्वतन्त्र नहीं मान सकता। पर के साथ की एकत्वबुद्धिवाला जीव स्वसन्मुख नहीं ढल सकता, इसलिए यहाँ पर से भेदज्ञान कराते हैं। कर्म के कारण जीव में कुछ नहीं, परन्तु जीव स्वयं विकार करे तो होता है।

इस प्रकार जीव के आठ प्रकार से भेद बतलाये।

वी. सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ८, बुधवार

यहाँ जीव किसे कहना, उसकी बात प्रमाणज्ञान से करते हैं। जीव में पर्याय के भेद की अपेक्षा से बात करते हैं; इसलिए यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है।

समयसार में और नियमसार में जीवद्रव्य की व्याख्या दृष्टिप्रधान कथन से की गयी है। वहाँ तो पुण्य-पाप, आस्रव—बन्ध को विकार गिनकर, शुद्ध जीव में नहीं गिना है, क्योंकि विकार के लक्ष्य से धर्म नहीं होता। तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष भी पर्याय है। उस धर्म की पर्याय में से भी धर्म पर्याय नहीं होती, इसलिए उसे भी परद्रव्य गिनकर जीव नहीं गिना है। शुद्ध त्रिकाली जीव अन्तःतत्त्व एक के ही आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए उसे जीवतत्त्व गिना गया है, विकारी पर्याय तथा अपूर्ण पर्याय को गौण करके शुद्ध जीव त्रिकाली एकरूप ध्रुव रहता है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है, उसके आधार से धर्म होता है और धर्मदशा बढ़ती है, इसलिए दर्शनप्रधान कथन में पर्यायबुद्धि छुड़ाने और स्वभावबुद्धि कराने के लिये शुद्ध जीव को ही जीव गिना है। (जबकि) यहाँ जीवद्रव्य की ज्ञानप्रधान (शैली) से बात करते हैं। वर्तमान पर्याय और सामान्य द्रव्य, ऐसे दो होकर जीवद्रव्य है। यहाँ जीव के नौ भेद कहते हैं।

(१) **जीव** - मैं त्रिकाल एकरूप शुद्ध जीव हूँ, वह जीवतत्त्व है।

(२) **जीव का भेद अजीव** - यह शरीर है, वाणी है, धर्म है, अधर्म है, काल है, उस अजीव पदार्थ के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है, उस राग को अजीव कहा है और उस राग में जीव स्वयं रुकता है। इसलिए जीव स्वयं अजीवरूप होता है। यहाँ अजीव कहने से शरीर, मन, वाणी नहीं समझना। वे तो अजीव हैं और आत्मा से भिन्न ही हैं, परन्तु अजीव के लक्ष्य से जो राग होता है, वह अपना भेद है, इसलिए राग को अजीव गिनकर, उसे जीव का भेद गिना है। कर्म, शरीर तो रूपी हैं, परन्तु कर्म के लक्ष्य से होता राग जीव के द्रव्य-गुण की भाँति अरूपी है, वे जीव के अस्तिकाय में होते हैं परन्तु अजीव के लक्ष्य से होते हैं, इसलिए उन्हें अजीव कहा है। परन्तु वह राग शरीर और कर्म के कारण से नहीं होता, अपितु जीव के कारण से होता है; इसलिए उसे जीव का भेद कहा है। इस प्रकार जीव स्वयं अजीव के भेदरूप होता है।

(३) **जीव का भेद पुण्य** - जीव की पर्याय में दया, दानादि के भाव होते हैं, वे जीव के कारण से हैं, अरूपी हैं। कर्म के कारण अथवा पर के कारण पुण्यभाव नहीं होते। जीव की पर्याय में पुण्य होने की योग्यता है। कर्म तथा आत्मा को अत्यन्त अभाव है। पुण्य तथा आत्मा में कथंचित् भाव है, क्योंकि पर्याय में पुण्य होता है और पुण्य का भाव त्रिकाली स्वभाव में नहीं है, इसलिए पुण्य को और आत्मा को कथंचित् अभाव है।

यहाँ कहते हैं कि जीव को शुभभाव होता है, वह जीव का भेद है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कथन आता है कि कर्म का तीव्र उदय हो, तब तो पुरुषार्थ नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ कर्म का उदय मन्द होता है, वहाँ प्रमादी नहीं होना, परन्तु सावधान होकर अपना कार्य कर लेना, ऐसा जो कथन आता है, वह निमित्त से कथन है। कर्म तथा आत्मा को अत्यन्त अभाव है। मन्द कर्म के कारण कषाय की मन्दता होती है, ऐसी मान्यता करना, वह विपरीत दृष्टि है। पुण्य का भाव जीव का है, ऐसा यथार्थ ज्ञान करके फिर नौ भेदों से रहित मैं अखण्ड शुद्ध हूँ—ऐसी दृष्टि करना, वह धर्म है।

(४) **जीव भेद पाप** - जीव की पर्याय में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय के अशुभपरिणाम होना, वह पाप है। वह जीव का भेद है। परनिमित्त से या जड़ के अस्तित्व से पाप के परिणाम नहीं होते। अज्ञानी जीव कहते हैं कि क्या करें ? ऐसा कर्म का उदय आया कि अशुभभाव होता है। कर्म के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव तुझसे पर है, उसका अस्तिकाय तुझमें नहीं है। यदि कर्म से राग होता है तो मोक्ष होने का अवसर नहीं रहता। तू जीव है, विकाररूप हो या स्वभावरूप हो, वह तेरा भेद है; कर्म का भेद नहीं। अपने शुद्ध त्रिकाली स्वभाव को चूककर अशुभपरिणामरूप जीव स्वयं होता है, शरीर के कारण या पर के कारण अशुभभाव नहीं होते, अपने अस्तिकाय में होते हैं।

(५) **जीव का भेद आस्रव** - पुण्य-पाप के भाव, दोनों आस्रव हैं। कर्म के परमाणु आते हैं, इसलिए जीव में आस्रव होता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म का आस्रव कर्म में है। कर्म जड़ है, कोई जवाहरात का व्यापार करे, कोई विद्यार्थी को पढ़ावे, कोई लड़के को विलायत पढ़ने भेजे, ऐसे अलग-अलग अशुभभाव का आस्रव होता है, उसका कारण भिन्न-भिन्न कर्म उदय में होंगे, इसलिए विचित्रता होगी ? नहीं, कर्म के कारण विचित्रता नहीं है, तेरे कारण से विचित्रता है। जीव स्वयं आस्रवरूप होता है।

(६) **जीव का भेद बन्ध** - यह भावबन्ध की बात है, कर्म का बन्ध कर्म में है। कर्म जड़ है। जीव राग-द्वेष में रुक जाता है, वह भावबन्ध अपने अस्तिकाय में होता है। वह जीव का भेद है। कर्म के बन्ध को आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। भावबन्ध जड़ में नहीं है, जड़ के कारण नहीं है।

(७) **जीव का भेद संवर** - आत्मा शुद्धचैतन्यस्वभावी है, ऐसी पहिचान करके जो सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह संवर है, वह जीव का भेद है। स्त्री, कुटुम्ब को छोड़ दिया या कर्म को रोक दिया, इसलिए संवर होता है, ऐसा नहीं है। कर्म पर है और विकार मेरा स्वरूप नहीं है। पुण्य-पापरहित स्वभाव का आश्रय करने से जो अरागी पर्याय प्रगट होती है, वह संवर है। संकल्प-विकल्प का अभाव करके संवर होता है, ऐसा जो कहा जाता है, वह व्यवहार से कथन है। जो विकल्प हुआ है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। उसका व्यय दूसरे समय में होता है तो वह किस प्रकार होता है? संकल्प-विकल्प की रुचि छोड़कर मैं शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसे भानपूर्वक स्वभाव में एकाग्र होने पर संकल्प-विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते, उसे विकल्प छोड़कर अथवा रोककर संवर किया, ऐसा कहा जाता है। कर्म आना रुक गया, इसलिए संवर हुआ? नहीं। यह जीवद्रव्य के अस्तिकाय की व्याख्या है। जीव के कारण जीव में संवर होता है।

(८) **जीव का भेद निर्जरा** - जीव की पर्याय में शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। कर्म का छूट जाना कर्म में है, उसे आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। स्वर्ण में अलग-अलग रंग के भेद पड़ते हैं, वह स्वर्ण के भेद हैं, उसी प्रकार जीव में अलग-अलग भेद पड़ते हैं, वे जीव के भेद हैं। अज्ञानी पर के कारण से कार्य मानता है। स्वपर्याय में नौ भेद का ज्ञान करना और त्रिकाली द्रव्य—सामान्य का ज्ञान करना, ऐसा दोनों का ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है।

(९) **जीव का भेद मोक्ष** - जीव मोक्षदशा प्राप्त करता है, वह जीव का भेद है। कर्म छूटे, इसलिए मोक्ष हुआ, ऐसा नहीं है। जीव के कारण से जीव के अस्तिकाय में मोक्ष होता है।

पंचाध्यायी में **शंकाकार** कहता है कि नौ तत्त्व जीव में से निकल जाते हैं, इसलिए

नौ पदार्थ नहीं कहना चाहिए। जीव तो एकरूप है, इसलिए एकरूप ही कहो न?

समाधान - नौ भेद जीव में होते हैं, इसलिए नौ भेद बराबर कहना चाहिए। पर्याय का सर्वथा अभाव मानने से पर्यायवान के अभाव का प्रसंग आयेगा और यदि पर से नौ भेद होते हों तो उनका निषेध नहीं किया जा सकता। वे भेद अपने से अपने में होते हैं, ऐसा स्वीकार करने के पश्चात् स्वभाव का आश्रय लेने के लिये उसका निषेध करना चाहिए। परपदार्थ और कर्म आत्मा में नहीं है, तो उसका निषेध क्या करना? और पर के कारण से जीव में नौ भेद होते हों, तो उसका किस प्रकार निषेध करना? इसलिए अशुद्धता के परिणाम जीव में जीव के कारण से होते हैं, ऐसा निर्णय करके, उसका निषेध करे तो अभेद स्वभाव में स्थिर हो सकता है, परन्तु नौ भेद पर्याय में माने ही नहीं अथवा पर से माने तो उसका ज्ञान यथार्थ नहीं है, उसे धर्म नहीं होता। नौ भेद पर्याय में अपने से होते हैं और स्वयं त्रिकाल अभेदस्वरूपी है। ऐसा पर्याय और द्रव्य का ज्ञान करके स्वभाव सन्मुख ढलना, वह धर्म है।

और जीव को दस प्रकार से वर्णन करते हैं।

(१) **पृथ्वीकाय जीव** - समयसार में पृथ्वीकाय आदि जीवों के भेद को कर्मकृत कहा है, वहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाने और त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये ऐसा कहा गया है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। सचेत नमक के एक कण में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में एक-एक जीव है, वह पृथ्वीकाय का जीव एकेन्द्रियरूप से हुआ है, वह स्वयं के अपराध से हुआ है। नामकर्म के उदय से हुआ है, ऐसा नहीं है। कर्म पुद्गलास्तिकाय है, जीव में उसका अभाव है तथा कर्म रूपी है, जीव अरूपी है। और यहाँ एकेन्द्रिय शरीर की बात नहीं है, वह तो जड़ है, जीव स्वयं अपराध करके एकेन्द्रिय की हीनदशारूप हुआ है, वह अपराध जीव का है, कर्म का नहीं।

(२) **अपकाय जीव** - पानी की एक बूँद में असंख्य शरीर हैं और एक शरीर में एक जीव है। एकेन्द्रिय शरीर की बात नहीं है, अन्दर जीव है, उसकी बात चलती है और एकेन्द्रिय कर्म का उदय आया, इसलिए पानी में जन्मा? नहीं; कर्म पुद्गल है, पुद्गल के कारण जीव में कुछ नहीं होता है।

पर के कारण अथवा कर्म के कारण विकास कम हुआ माना जाये तो पर्याय पराधीन होने से जीवद्रव्य पराधीन होता है, इसलिए जीव साबित नहीं होता। हीन परिणमनरूप जीव हुआ है, वह जीव का भेद है।

(३) **अग्निकाय जीव** - दियासलाई अथवा भट्टी में जो अग्नि दिखती है, वह शरीर है, उसमें अरूपी अस्तिकाय का जीव है। शरीर तो पुद्गल है और कर्म पुद्गल है। दोनों रूपी है, जीव अरूपी है। जीव अपने कारण से हीनरूप परिणमा है। शरीर उष्ण मिला, इसलिए अग्निकाय जीव है, ऐसा नहीं है।

पानी द्रवित है, इसलिए जलकाय जीव है, ऐसा नहीं है।

पृथ्वी कठिन है, इसलिए पृथ्वीकाय जीव है, ऐसा नहीं है।

प्रत्येक में जीव अपने कारण से है, इस प्रकार पर से भिन्न करके भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

वी. सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ९, गुरुवार

यहाँ जीवास्तिकाय का वर्णन है। जीव असंख्य प्रदेशी अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसमें समय-समय की अवस्था होती है, वह जीव के कारण होती है। पर के कारण नहीं होती। उदयादिभाव जीव का स्वतत्त्व है, कर्म के कारण वह नहीं है। दूसरा तत्त्व भले उपस्थित हो, परन्तु उसके कारण भेद नहीं पड़ता।

यहाँ जीव की पर्याय के स्वतन्त्र भेद बताकर, उन भेद अथवा राग जितना मैं नहीं हूँ; मैं तो त्रिकाली शुद्धद्रव्य हूँ, ऐसी अन्तररुचि का परिणमन करे तो सम्यग्दर्शन होता है, परन्तु वह सम्यग्दर्शन होने से पहले पर्याय स्वतन्त्र स्वीकार करना चाहिए। जो जीव पर से पर्याय मानता है, उसे पर्यायदृष्टि टल नहीं सकेगी। जीव में समय-समय में क्रमबद्धपर्याय हुआ करती है। तीन काल की पर्याय जितना द्रव्य है और जितनी पर्याय उतने तीन काल के समय हैं। अमुक प्रकार का निमित्त आवे तो ऐसी पर्याय हो और अमुक प्रकार का निमित्त न आवे तो ऐसी पर्याय न हो, ऐसा माने तो पर्याय स्वतन्त्र

नहीं रहकर द्रव्य अव्यवस्थित हो जाता है। उसे पर्यायदृष्टि टलकर द्रव्यदृष्टि नहीं हो सकेगी।

(४) **वायुकाय** - जीव के दस प्रकार के भेद कहते हैं, उसमें पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय की बात कल हो गयी है। यहाँ वायुकाय के शरीर की बात नहीं तथा नामकर्म भी जड़ है। अन्दर जीव की पर्याय एकेन्द्रिय गति के योग्य है, उसकी बात चलती है। वह जीव का भेद है। शरीर और कर्म का जीव में अत्यन्त अभाव है। जीव की पर्याय कर्म से भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करने की जिसे सामर्थ्य नहीं है, उसे विकार से भिन्न मैं शुद्ध चिदानन्दस्वभावी हूँ, ऐसा भेदज्ञान करने की ताकत प्रगट नहीं होगी।

अज्ञानी मानता है कि कर्म के उदय के कारण जीव वायुकायरूप से हुआ, परन्तु यह मान्यता भूल-भरी है। जीव के द्रव्य-गुण शुद्ध हैं परन्तु पर्याय में जो अशुद्धता और हीनता है, वह जीव की पर्याय की योग्यता के कारण से है, कर्म अथवा शरीर के कारण नहीं। और जीव की एकेन्द्रिय की योग्यता हुई, इसलिए शरीर उसरूप परिणमा, ऐसा भी नहीं है। तथा नामकर्म का उदय आया, इसलिए शरीर एकेन्द्रियरूप परिणमा, ऐसा भी नहीं है। जीव की एकेन्द्रियपने की योग्यता, कर्म का उस प्रकार का उदय और शरीर का एकेन्द्रियरूप होना, तीनों एक समय में होने पर भी, एक के कारण दूसरा नहीं है। एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। एक के कारण दूसरे का कार्य माना जाये तो कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो जाता है। जीव और पुद्गल में अत्यन्त अभाव है और पुद्गल की एक पर्याय को पुद्गल की दूसरी पर्याय के साथ अन्योन्यअभाव है। जो अभावरूप हो, वह दूसरे में क्या कर सकता है ? कुछ नहीं करता। तो भी जो जीव एक के कारण दूसरे में कार्य होना मानता है, वह ईश्वरकर्ता की मान्यतावाले की भाँति मिथ्यादृष्टि है।

जीव विग्रहगति में होता है, तब भी स्वतन्त्र है। आनुपूर्वीनामकर्म का उदय है, इसलिए एकेन्द्रिय का परिणमन है अथवा कार्मणशरीर साथ में है, इसलिए एकेन्द्रियपना हुआ है, ऐसा नहीं है। कार्मणशरीर या औदारिकशरीर के कारण जीव का एकेन्द्रियपना

नहीं है। जीव के एकेन्द्रियपने के कारण शरीर नहीं है। शरीर, शरीर की योग्यता से है तो जीव का एकेन्द्रियपना निमित्त कहलाता है। जीव, जीव में है; जीव, पुद्गल में नहीं है। पुद्गल, पुद्गल में है; पुद्गल जीव में नहीं है। एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, परन्तु एक-दूसरे में किसी का प्रवेश नहीं है। ऐसा समझे तो एक जीव दूसरे को मार सकता है अथवा बचा सकता है, ऐसी ताकत किसी जीव में नहीं है, ऐसा निर्णय होता है। प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप तीन अंश अपने (अपने में) हैं। एक के कारण दूसरे में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं है। इस प्रकार स्वतन्त्र समझे तो पर से पृथक् पड़कर द्रव्य की ओर ढलने का अवसर रहता है।

(५) **प्रत्येक (वनस्पति)** - एक शरीर में एक जीव रहता है, यह निमित्त का कथन है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। गति, लेश्या, कषाय आदि के जो परिणाम होते हैं, वे कर्म के कारण अथवा शरीर के कारण नहीं हैं परन्तु अपने कारण से हैं। और जीव के परिणाम के कारण शरीर आता है, ऐसा भी नहीं है और कर्म के कारण शरीर आता है, ऐसा भी नहीं है। कर्म कार्मण के परमाणु हैं और शरीर औदारिक (आहारवर्गणा) के परमाणु हैं। प्रत्येक वनस्पति जीव का भेद स्वयं के कारण से है, वह कर्म के और शरीर के निमित्त से कहा जाता है। राग-द्वेष मुझसे होते हैं, वह मेरा भेद है, ऐसा ज्ञान करके, अंश जितना मैं नहीं; मैं तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य हूँ—ऐसा ज्ञान करके द्रव्य का आश्रय ले, तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्त में से, राग में से या पर्याय में से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

नियमसार और समयसार में ऐसा कहा है कि जीव के व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम जड़ हैं, पुद्गल के हैं, क्योंकि शुद्धस्वभाव में से वे परिणाम निकल जाते हैं, इसलिए हेय हैं। शुद्ध चैतन्यस्वभाव एक ही आदरणीय है।

यहाँ पंचास्तिकाय में कहते हैं कि रागादि परिणाम तेरी योग्यता से होते हैं, वह जीव का भेद है। ऐसा स्वीकार करे तो अभेद की दृष्टि होती है।

प्रश्न - तो पहले कौन सी पुस्तक पढ़ना? समयसार या पंचास्तिकाय?

समाधान - पर्याय अपनी है, ऐसा अंश का सच्चा ज्ञान तब ही होता है कि यदि अपनी ओर उन्मुख हो तो। उपशम, औदयिक, क्षयोपशम, या क्षायिक किसी भी भाव की पर्याय स्वतन्त्र होती है, ऐसा प्रथम व्यवहारज्ञान करता है, परन्तु अंशी द्रव्यस्वभाव के ज्ञान बिना पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं कहलाता। द्रव्यानुयोग में दृष्टिप्रधान कथन में राग को असद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा है और अभूतार्थ कहा है। पंचास्तिकाय में ज्ञानप्रधान कथन में रागादि परिणाम को अशुद्धनिश्चय का विषय कहा है और वह समयमात्र भूतार्थ है, उस व्यवहारनय के विषय का ज्ञान करना चाहिए। उसे परतन्त्र माने, वह तो स्थूल भूल में है, इसलिए उसे एकसमयमात्र का भूतार्थ कहा है। वह तेरी पर्याय में तेरे कारण से होता है परन्तु वह राग व्यवहारनय का विषय है, वह ज्ञेय है परन्तु राग अथवा व्यवहारनय के आश्रय से धर्म नहीं होता, इसलिए अनित्य-भूतार्थ को गौण करके निश्चय की दृष्टि में उसे अभूतार्थ कहा है। और त्रिकाली एकरूप स्वभाव को भूतार्थ कहा है।

समयसार गाथा ११ में कहा है -

व्यवहारनय अभूतार्थदर्शित शुद्धनय भूतार्थ है
भूतार्थ आश्रित आत्मा सद्दृष्टि निश्चय होय है।

पर्याय की स्वतन्त्रता स्वीकार करे, उसे त्रिकाली स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होता है। पर्याय में विविधता और विचित्रता है, वह मेरा भेद है, ऐसा निर्णय किये बिना द्रव्य का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न - पहले कौन सा ज्ञान करना?

समाधान - भूतार्थ त्रिकाली शुद्ध हूँ, ऐसा निश्चय का ज्ञान किये बिना पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं कहलाता। अभेद के बिना भेद किसका? विकार स्वतन्त्र होता है, ऐसा साधारण निश्चित करे परन्तु स्वभाव का ज्ञान किये बिना रागादि पर्याय का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। मेरा ज्ञान मेरे अखण्ड स्वभाव में से आता है, ऐसा निर्णय करने से जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान जानता है कि इस प्रकार के व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग पर्याय में वर्तते हैं और ऐसे निमित्त हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान निमित्त

और राग में से नहीं आता, अपितु द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है। परन्तु जीव परिपूर्ण वीतराग न हो, तब तक साधकदशा में शुभराग आता है। वीतराग भगवान परिपूर्ण हो गये, उन्हें नय नहीं है। अज्ञानी को नय नहीं है, साधक को नय है। साधक जीव नय ज्ञान से चौथे, पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में) जिस प्रकार के शुभराग का व्यवहार होता है, उसे जान लेता है। जड़ की पर्याय व्यवहार नहीं है।

इस प्रकार जिसे निश्चयदृष्टि हुई है कि शरीर, कर्म, इत्यादि पर हैं और राग मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे निश्चय के भानवाले को जो राग-द्वेषादि के परिणाम वर्तते हैं, उन्हें समयसार में व्यवहार कहा है, परन्तु निश्चय के भाव बिना व्यवहार नहीं कहा जाता। समयसार में जो रागादि परिणाम को व्यवहार कहा है, उसे यहाँ अशुद्धनिश्चय से अपने हैं, ऐसा कहकर ज्ञान कराते हैं।

(६) **साधारण (वनस्पति)** - नित्यनिगोद के जीव अपने प्रचुर बुरे परिणामों के कारण निगोद में रहे हैं। कर्म के कारण निगोदपना है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु - तो फिर एकान्त हो जाता है।

समाधान - जीव स्वयं से है और पर से नहीं, यही अनेकान्त है। अपने धर्म अपने में हैं और पर के धर्म पर में हैं।

एक वस्तु में वस्तुपने को निपजानेवाली (अस्ति-नास्ति आदि) अपने में है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि संज्ञी जीवों को मन है, इसलिए पुरुषार्थ कर सकते हैं, परन्तु असंज्ञी जीवों को मन नहीं, इसलिए वहाँ कर्म का जोर है; इसलिए पुरुषार्थ नहीं कर सकते। तो यह बात मिथ्यात्व है। प्रत्येक जीव पुरुषार्थ अपने कारण से करता है। मन है तो पुरुषार्थ करता है, ऐसा नहीं है और मन का अभाव है, इसलिए पुरुषार्थ रुकता है, ऐसा भी नहीं है।

यह जैनदर्शन है। सर्वज्ञ ने वस्तु बनायी नहीं। वस्तु जैसी है, वैसी देखी है और वाणी द्वारा आयी है। वस्तु, वस्तु के कारण से है। सर्वज्ञ, सर्वज्ञ के कारण से है। नित्यनिगोद का जीव जो अभी तक त्रस भी नहीं हुआ, वह अपने कारण से है और शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, श्वास, आहार एक साथ लेते हैं—ऐसा जो कथन आता है, वह

व्यवहार का कथन है। शरीर, श्वास, आहार इत्यादि भेद पुद्गल के हैं; जीव के भेद नहीं। अपने कारण से नित्य या व्यवहार निगोदरूप रहा है। यदि पर्याय पर से मानी जाये तो पर्याय अपनी रहती नहीं, इसलिए द्रव्य पर्याय बिना का हो जाता है। ऐसा मानने से ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है।

यहाँ प्रथम निमित्त से भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि त्रिकाल गुण हैं, उनकी जितनी पर्याय, उतने समय हैं और जितने समय, उतनी पर्यायें हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान आदि के भाव स्वयं के कारण से है, दर्शनमोह के कारण से नहीं। जड़कर्म के कारण वे भाव होंवे तो कर्म की ओर देखना रहे। परन्तु अपने स्व चतुष्टय के सन्मुख देखना नहीं रहता, ऐसे जीव को धर्म नहीं होता।

वनस्पतिकाय के जीव को मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, गति का भाव इत्यादि जो परिणाम होते हैं, वे उसके असंख्य प्रदेश में होते हैं, इस प्रकार क्षेत्र एक है परन्तु काल एक समय का है। ज्ञान-दर्शनादि जो गुण हैं, वे असंख्य प्रदेश में हैं, परन्तु वे त्रिकाल हैं। इस प्रकार राग एक समय का होने पर भी, वह अपने कारण से है, जड़ में नहीं तथा जड़ के कारण से नहीं; इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करना चाहिए।

और निगोद में से निकलकर कोई जीव मनुष्य हो तो कर्म मन्द पड़ा, इसलिए मनुष्य हुआ, ऐसा नहीं है, परन्तु अपने कारण से ऊँचा आता है। जैसे द्रव्य-गुण स्वतन्त्र है, वैसे पर्याय भी स्वतन्त्र है, उसका कोई कर्ता नहीं है। इस गाथा में शब्द थोड़े हैं, परन्तु पीछे भाव बहुत है। कुन्दकुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्य भावलिंगी समर्थ आचार्य थे। अपने स्वभाव के आश्रय से तीन कषायों का नाश किया है और कर्मों का नाश तो उनके कारण से हो गया है। ऐसे चारित्रवन्त मुनियों को विकल्प उठा है और पुस्तक की रचना पुस्तक के कारण से हुई है। आचार्य कहते हैं कि हमसे पुद्गल में कुछ नहीं होता और पुद्गल से हमारे में भेद नहीं पड़ता। वे कहते हैं कि भाई! प्रत्येक जीव के परिणाम स्वयं से होते हैं। यह तेरी स्वतन्त्रता की बात होती है। निगोद में तीन भाव होते हैं। पारिणामिकभाव त्रिकाली है और औदयिक और क्षायोपशमिकभाव पर्याय में है, वह निगोद का जीव स्वतन्त्र करता है।

(१) यदि उदयभाव न हो तो सिद्धदशा हो जाये,

(२) यदि ज्ञानादि की क्षयोपशमभाव न हो तो केवल (ज्ञान) दशा हो जाये,

(३) यदि त्रिकाली पारिणामिकज्ञान न हो तो जीव का अभाव हो जाये।

तत्त्वार्थसूत्र में रागादि औदयिकभाव को स्वतत्त्व कहा है और समयसार में रागादि को परतत्त्व कहा है। समयसार में दृष्टिप्रधान कथन है। विकार छूट जाता है, इसलिए उसे परतत्त्व कहा है। और जड़पदार्थों को तो आत्मा छोड़ता नहीं, क्योंकि उन्हें कभी ग्रहण ही नहीं किया। परन्तु राग को आत्मा छोड़ता है अथवा नाश करता है, ऐसा कहना व्यवहार है। जिस समय राग का उत्पाद है, उसका उस समय में किस प्रकार नाश करना? और जो राग नहीं, उसका क्या नाश करना? स्वभावदृष्टिपूर्वक लीनता होने पर राग उत्पन्न नहीं हुआ, तब राग को छोड़ा अथवा नाश किया, ऐसा कथन किया जाता है।

यहाँ साधारण वनस्पतिकाय के जीव की बात चलती है। गोम्मटसार में गाथा १९७ में लिखा है कि '**भावकलंक सुपउरा**' निगोद के जीव अपने बहुत प्रचुर बुरे परिणाम के कारण निगोद अवस्था को छोड़ते नहीं, अर्थात् कि वहीं के वहीं रहते हैं।

प्रश्न - कर्म का प्रभाव जीव में पड़ता है न?

समाधान - नहीं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव है, जो अभावरूप हो, वह असर किस प्रकार करे? यदि असर करे तो भावरूप हो जाता है। अभाव नहीं रहता। एक स्कन्ध की पर्याय में एक परमाणु की पर्याय दूसरे को स्पर्श नहीं करती। दो गुण अधिक हों तो स्कन्धरूप होता है, तो फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रभाव डाले, यह असम्भवित है। कोई भी कार्य पर्याय में होता है, द्रव्य-गुण में कार्य नहीं होता। यदि कार्य परतन्त्र माना करे तो स्वतन्त्र होने का अवसर नहीं रहता, इसलिए यहाँ स्वतन्त्रता का ज्ञान कराते हैं।

(७) **दो इन्द्रिय** - दो इन्द्रिय शरीर, वह जीव नहीं है। भाव दो इन्द्रियपना जीव का भेद है; और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण ज्ञान का उघाड़ नहीं है, और नामकर्म के कारण दो इन्द्रिय का शरीर नहीं है। (कर्म) कार्मणशरीर के परमाणु हैं। इन्द्रिय औदारिक के परमाणु हैं, दोनों की जाति अलग है। एक परमाणु की पर्याय दूसरे

परमाणु की पर्याय को नहीं बनाती तो कर्म परमाणु से या शरीर के परमाणु से आत्मा में कार्य हो, ऐसा नहीं होता। सब स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करके राग जितना मैं नहीं, मैं तो ज्ञाता हूँ - ऐसा भान करना, वह धर्म है। ऐसे भान बिना व्रत, तप, सब बिना एक के शून्य जैसे हैं।

(८) **त्रीन्द्रिय** - अन्दर तीन भावेन्द्रिय का उघाड़ हुआ, वह जीव का भेद है। अपने ज्ञान का उत्पाद अपने कारण से है और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कर्म के कारण से है।

प्रश्न - पुद्गल में और जीव में एक समय में एक सरीखा परिणमन होता है, इसलिए भ्रम पड़ता है ?

उत्तर - नहीं। अपने अज्ञान के कारण भ्रम पड़ता है। सूर्य उगता है और कमल खिलता है; हवा आती है और पानी में तरंग उठती है। सब एक साथ होने पर भी किसी के कारण कोई नहीं है। कोई किसी में प्रभाव डाले या प्रेरणा करे, ऐसा नहीं होता। कोई पर्याय नहीं होनेवाली थी और होती है, ऐसा भी नहीं होता। जीव और पुद्गलादि प्रत्येक पदार्थ की जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। जीव का भेद जीव में और पुद्गल का भेद पुद्गल में है, ऐसा भेद समझे तो द्रव्यदृष्टि होने का अवकाश रहता है।

वी. सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १०, शुक्रवार

आत्मा सामान्यस्वभाव से एकरूप है और विशेषरूप के भेद पड़ते हैं, वे स्वयं के कारण से पड़ते हैं। निमित्त के कारण भेद नहीं पड़ता, यहाँ दस प्रकार के जीव के भेद की बात चलती है।

(९) **चतुरिन्द्रिय** - जीव चतुरिन्द्रियरूप से हुआ है, वह अपनी योग्यता से हुआ है। कर्म के कारण जीव चतुरिन्द्रियरूप हुआ नहीं है तथा चार इन्द्रियाँ हैं, इसलिए जीव चतुरिन्द्रिय है, ऐसा नहीं है। जीव अपने कारण से उसरूप हुआ है। जड़ परमाणु के

कारण जीव में भेद नहीं पड़ता। मक्खी, पतंगिया इत्यादि जीवों के शरीर ऊँचे चलते हैं, इसलिए जीव ऊँचा चलता है, ऐसा नहीं है। शरीर, शरीर के कारण और आत्मा, आत्मा के कारण से ऊँचा जाता है।

(१०) **पंचेन्द्रिय** - नारकी, देव, मनुष्य, तिर्यंच के शरीर दिखते हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव नहीं हैं। अन्तर में ज्ञान का विकास-उघाड़ है, वह स्वयं का भेद है। उघाड़ है, इसलिए पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, ऐसा नहीं है। और पाँच इन्द्रियाँ मिली हैं, इसलिए उघाड़ है, ऐसा नहीं है। पाँच इन्द्रियाँ पुद्गल का स्कन्ध है, वह पुद्गल के कारण से है। जीव का भाव पंचेन्द्रियपना, जीव के कारण से है, किसी के कारण से कोई नहीं है।

लोग कहते हैं कि पाँच इन्द्रियों को वश करना, वह धर्म है। परन्तु भाई! कौन सी पाँच इन्द्रियाँ? यह पाँच इन्द्रियाँ दिखती हैं, वह तो जड़ है, उन्हें वश करता हूँ—ऐसा मानना तो मिथ्याभाव है। जीव उसे वश नहीं कर सकता। भाव पंचेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर खण्ड-खण्ड झुकती है, उन्हें अखण्डस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान की ओर झुकाकर अखण्ड ज्ञान उपयोग करना, वह पाँच इन्द्रियों का जीतना है।

मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे स्वभाव में एकाग्र होने पर भावेन्द्रिय वश होती है। जड़ इन्द्रियों को वश करना नहीं पड़ता। इस प्रकार दस प्रकार जीव के कहे।

प्रत्येक भेद जीव के कारण से है। अज्ञानी जीव राग-द्वेष, उपशम, क्षायिकभाव इत्यादि कर्म से मानता है, परन्तु आचार्य कहते हैं, कि प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा माने तो द्रव्य स्वतन्त्र मानने की श्रद्धा प्रगटे। ●●

गाथा - ७३

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति।।७३।।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः सर्वतो मुक्तः।
ऊर्ध्वं गच्छति शेषा विदिग्वर्जां गतिं यांति।।७३।।

समयव्याख्या : बद्धजीवस्य षड्गतयः कर्मनिमित्ताः। मुक्तस्याप्यूर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकीत्यत्रोक्तम् ।।७३।।

- इति जीवद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

प्रकृति थिति अनुभाग बन्ध प्रदेश से जो मुक्त हैं।
वे उर्द्धगमन स्वभाव से हैं प्राप्त करते सिद्धपद।।७३।।

अन्वयार्थ :- [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध से [सर्वतः मुक्तः] सर्वतः मुक्त जीव [ऊध्वं गच्छति] ऊर्ध्वगमन करता है; [शेषाः]शेष जीव (भवान्तर में जाते हुए) [विदिग्वर्जा गतिं यातिं] विदिशाएँ छोड़कर गमन करते हैं।

टीका:-बद्ध जीव को कर्मनिमित्तक षड्विध गमन (अर्थात् कर्म जिसमें निमित्तभूत हैं, ऐसा छह दिशाओं में गमन) होता है; मुक्त जीव को भी स्वाभाविक ऐसा एक ऊर्ध्वगमन होता है।-ऐसा यहाँ कहा है।

भावार्थ:-समस्त रागादिविभाव रहित ऐसा जो शुद्धात्मानुभूतिलक्षण ध्यान उसके बल द्वारा चतुर्विध बन्ध से सर्वथा मुक्त हुआ जीव भी, स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि गुणों से युक्त वर्तता हुआ, एकसमयवर्ती अविग्रहगति द्वारा (लोकाग्रपर्यन्त) स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करता है। शेष संसारी जीव मरणान्त में विदिशाएँ छोड़कर पूर्वोक्त षट्-अपक्रमस्वरूप (कर्मनिमित्तक) अनुश्रेणीगमन करते हैं।।७३।।

इस प्रकार जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त हुआ।

गाथा - ७३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १०, शुक्रवार)

जो जीव सिद्धदशा प्राप्त करता है, वह ऊर्ध्वगति से जाता है और जो संसारी है, वह छह दिशा में जाता है। मुक्त जीव हों, या संसारी हों, परन्तु अपने कारण से गमन करते हैं। कर्म के कारण से गमन नहीं करते।

शुद्ध जीव चार प्रकार के बन्धों से छूटते हैं। कर्मों का स्वभाव, वह प्रकृति; कर्मों के रहने की स्थिति, वह स्थिति; कर्म के परमाणुओं की संख्या, वह प्रदेश और फलदान शक्ति, वह अनुभाग—इन चार प्रकार के बन्धों से सर्वांग असंख्य प्रदेशों से छूटकर शुद्धजीव सिद्धगति को प्राप्त करता है, एक समय में ऊर्ध्वगति के स्वभाव से मोक्षस्थान में पहुँच जाता है।

भावार्थ - जो जीव आठ कर्मों से रहित होता है, वह एक समय में अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव से श्रेणीबद्ध प्रदेशों द्वारा मोक्षस्थान में पहुँच जाता है। संसारी का स्वभाव छह दिशा में जाने का है और सिद्ध का स्वभाव एक समय में लोकाग्र में जाने का है।

जयसेन आचार्य ने टीका में लिखा है कि 'एकसमयलक्षणाविग्रह:गत्योर्ध्वं गच्छति'=ऊर्ध्वगमन - अविग्रहगति का समय ही एक है, एक समय ही उसका लक्षण है, वह लोकाग्र में रुकता है, वह अपने कारण से रुकता है, ऊर्ध्व चला ही जाये, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, एक ही समय ऊर्ध्वगमन करने का स्वभाव है। शुद्ध जीव जिस जगह मुक्तदशा पाता है, वहाँ समश्रेणी से ऊर्ध्व जाता है और लोकाग्र में विराजता है। धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए सिद्ध लोक से आगे नहीं जा सकते, ऐसा नहीं है। अपने कारण से नहीं जाते, ऐसा स्वभाव है और तब धर्मद्रव्य का अभाव निमित्त है। निमित्त बतलाना हो, तब ऐसा कहा जाता है कि धर्मद्रव्य के अभाव के कारण सिद्ध अलोक में नहीं जाते। यहाँ सिद्ध का स्वतन्त्र स्वभाव बतलाते हैं। यदि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण जीव अटक जाये तो वह जीव का भेद नहीं रहता, अजीव का भेद हो जाता है। यहाँ सिद्ध की ऊर्ध्वगमन की पर्याय स्वतन्त्र बतलाकर जीव का भेद बतलाना है।

बाकी के संसारी जीव वे निगोद से पंचेन्द्रिय तक के जीवों का चार कोने छोड़कर

ऊर्ध्व, अधो, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ऐसी छह दिशा में जाने का स्वभाव है। स्वर्ग में जाये या नरक में जाये तो अपनी योग्यता से जाता है, कर्म के कारण नहीं जाता।

संसारी जीव जो अलग-अलग देह में रहते हैं, उतने प्रमाण में वे अपने कारण से रहते हैं। कर्म के कारण नहीं रहते और मुक्त होते हैं तो भी अपने कारण से होते हैं।

भावार्थ - मोक्षगामी जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव से एक समय में लोकाग्र में विराजते हैं। उनके अतिरिक्त समस्त जीव छह दिशा में गमन करते हैं। चार विदिशा में नहीं जाते।

इस प्रकार २७वीं गाथा का स्पष्टीकरण हुआ कि जीव कर्ता-भोक्ता अपना है। कर्मसहित हो, कर्मरहित हो, ऊर्ध्वगमन हो या छह दिशा में गमन हो, वह स्वयं के कारण से है।

यह जीवद्रव्य के अस्तिकाय का व्याख्यान पूरा हुआ। ●●

गाथा - ७४

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ।।७४।।

स्कंधाश्च स्कंधदेशाः स्कंधप्रदेशाश्च भवन्ति परमाणवः।
इति ते चतुर्विकल्पाः पुद्गलकाया ज्ञातव्याः ।।७४।।

समयव्याख्या : अथ पुद्गलद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम्। पुद्गलद्रव्यविकल्पादेशोऽयम्। पुद्गलद्रव्याणि हि कदाचित्स्कंधपर्यायेण, कदाचित्स्कंधदेशपर्यायेण, कदाचित्स्कंध-प्रदेशपर्यायेण, कदाचित्परमाणुत्वेनात्र तिष्ठन्ति। नान्या गतिरस्ति। इति तेषां चतुर्विकल्पत्वमिति ।।७४।।

अब पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है।

स्कन्ध उनके देश अर परदेश परमाणु कहे।
पुद्गलकाय के ये भेद चतु यह कहा जिनवर देव ने।।७४।।

अन्वयार्थ :- [ते पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय के [चतुर्विकल्पाः] चार भेद [ज्ञातव्याः] जानना; [स्कंधाः च] स्कन्ध, [स्कंधदेशाः] स्कन्धदेश [स्कंधप्रदेशाः] स्कन्धप्रदेश [च] और [परमाणवः भवन्ति इति] परमाणु।

टीका:-यह, पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है।

पुद्गलद्रव्य कदाचित् स्कन्धपर्याय से, कदाचित् स्कन्धदेशरूप पर्याय से, कदाचित् स्कन्धप्रदेशरूप पर्याय से और कदाचित् परमाणुरूप से यहाँ (लोक में) होते हैं; अन्य कोई गति नहीं है। इस प्रकार उनके चार भेद हैं।।७४।।

गाथा - ७४ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १०, शुक्रवार)

पुद्गल-द्रव्य-अस्तिकाय का व्याख्यान करते हैं, जिसमें प्रथम पुद्गल के भेद कहते हैं।

(१) **पुद्गल स्कन्ध** - एक पुद्गल पिण्ड स्कन्ध जाति का है अर्थात् कि वह

परिणमन पुद्गल का है। शरीर को जीव ने बनाया नहीं। दाल, भात, रोटी के परमाणु पलटकर शरीर के स्कन्धरूप हुए हैं। अज्ञानी परपदार्थों के ग्रहण-त्याग का स्वामी होता है और मानता है कि मैंने इतने पदार्थ छोड़े, वह अज्ञानभाव है। मुनि अपने लिये बनाया हुआ आहार ग्रहण नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि आहार के प्रति का लक्ष्य छूट जाता है और आहार तो उसके कारण से छूट जाता है। आहार पुद्गल के स्कन्ध का आना और पृथक् पड़ना, वह पुद्गल के कारण से है, जीव के कारण से नहीं।

(२) **पुद्गल स्कन्धदेश** - स्कन्ध का आधा भाग हो, उसे स्कन्धदेश कहते हैं। वह पुद्गल से हुआ है। लकड़ी के दो टुकड़े होना या चावल के दो टुकड़े होना, वह पुद्गल का स्कन्धदेश है। वह पुद्गल के कारण से है, जीव के कारण से नहीं। वे टुकड़े जीव से नहीं हुए, वह पुद्गल का स्कन्धदेश है। ईश्वर से अथवा जीव की इच्छा से या ज्ञान से स्कन्धदेश हुआ नहीं है। किसी भी स्कन्ध के दो समान भाग पड़ें, उसे पुद्गल स्कन्धदेश कहते हैं, वह पुद्गल के कारण से होता है।

(३) **पुद्गल स्कन्धप्रदेश** - पूरे स्कन्ध के चौथे हिस्सेरूप स्कन्ध हो, उसे पुद्गल स्कन्धप्रदेश कहते हैं। पुद्गल स्वयं स्कन्ध प्रदेशरूप होता है। अज्ञानी जीव पुद्गल का स्कन्ध स्वयं से होना मानकर अभिमान करता है और ज्ञानी पुद्गल की अवस्था का ज्ञान करता है।

(४) **पुद्गल परमाणु** - पुद्गल स्कन्ध में से परमाणु पृथक् पड़कर अकेला रहे तो भी स्वयं के कारण से है। जीव के कारण से वह पृथक् नहीं पड़ता। अथवा अकेला परमाणु पृथक् भी है, वह भी स्वयं के कारण से है।

इस प्रकार पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्ध का आधा भाग, चौथाई भाग या परमाणु यह चार प्रकार पुद्गल के कारण से है। जीव के कारण से नहीं। इस प्रकार चार भेद 'ज्ञाताव्या' - जाननेयोग्य कहे हैं। परन्तु तू उन्हें कर सकता है, अथवा तोड़ सकता है, ऐसा नहीं कहा। इसलिए जीव को पुद्गल के कर्तापने का अभिमान छोड़ना चाहिए, ऐसा कहने का हेतु है।

अज्ञानी बाई घर की चीजों के बंटवारे में ममता करती है। भाई मणियारा के रुपये

के बंटवारे में ममता करते हैं और मानते हैं कि यह स्कन्ध की अवस्था हमसे होती है। रुपये की, रोटी की, सब्जी इत्यादि की जड़ पदार्थों की टुकड़ेरूप या पूरेरूप अवस्था होना उस-उस पुद्गल परमाणु के कारण से है। पुद्गल इकट्ठा रहे या पृथक् रहे, स्कन्धरूप हो या अर्ध भागरूप हो, वह अपने कारण से है। जीव उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। इस प्रकार ज्ञान करे तो पुद्गल का अभिमान छूट जाये और स्वयं उसका ज्ञाता रहे तो धर्म हो।

वी. सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ११, शनिवार

यह पुद्गलास्तिकाय का अधिकार है। पुद्गल का स्कन्ध पुद्गल के कारण से होता है। जीव उसका जाननेवाला है। स्कन्ध हो या उसका भेद हो, वह आत्मा से नहीं होता, वह पुद्गल के कारण से होता है।

पुद्गलद्रव्य का परिणमन चार प्रकार से है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु—ऐसे चार के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भेद हो, वह इन चार भेदों में आ जाता है। ●●

गाथा - ७५

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी।।७५।।

स्कंधः सकलसमस्तस्तस्य त्वर्धं भणन्ति देश इति।
अर्धार्धं च प्रदेशः परमाणुश्चैवाविभागी ।।७५।।

समयव्याख्या : पुद्गलद्रव्यविकल्पनिर्देशोऽयम्। अनंतानंतपरमाण्वारब्धोऽप्येकः स्कंधो नाम पर्यायः। तदर्धं स्कंधप्रदेशो नाम पर्यायः। तदर्धार्धं स्कंधप्रदेशो नाम पर्यायः। एवं भेदवशात् द्व्यणुकस्कंधादनंताः स्कंधप्रदेशपर्यायाः। निर्विभागैकप्रदेशः स्कंधस्यांत्यो भेदः परमाणुरेकः। पुनरपि द्वयोः परमाण्वोः संघातादेको द्व्यणुकस्कंधपर्यायः। एवं संघातवशादनंताः स्कंधपर्यायाः। एवं भेदसंघाताभ्यामप्यनंता भवंतीति।।७५।।

स्कन्ध पुद्गलपिंड है अर अर्द्ध उसका देश है।
अर्धार्द्ध को कहते प्रदेश अविभागी अणु परमाणु है।।७५।।

अन्वयार्थ :- [सकलसमस्तः]सकल-समस्त (पुद्गलपिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तु) वह [स्कंधः]स्कन्ध है। [तस्य अर्धं तु]उसके अर्ध को [देशः इति भणन्ति]देश कहते हैं, [अर्धार्धं च]अर्ध का अर्ध वह [प्रदेशः]प्रदेश है [च]और [अविभागी]अविभागी वह [परमाणुः एव]सचमुच परमाणु है।

टीकाः-यह, पुद्गल भेदों का वर्णन है।

अनन्तानन्त परमाणुओं से निर्मित होने पर भी जो एक हो, वह स्कन्ध नाम की पर्याय है; उसकी आधी स्कन्धदेश नामक पर्याय है; आधी की आधी स्कन्धप्रदेश नाम की पर्याय है। इस प्रकार भेद के कारण (पृथक होने के कारण) द्वि-अणुक स्कन्धपर्यन्त अनन्त स्कन्धप्रदेशरूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग-एक-प्रदेशवाला, स्कन्ध का अन्तिम अंश, वह एक परमाणु है। (इस प्रकार *भेद से होनेवाले पुद्गलविकल्पों का वर्णन हुआ।)

---

* भेद से होनेवाले पुद्गलविकल्पों का (पुद्गल भेदों का) टीकाकार श्री जयसेनाचार्य ने जो वर्णन किया है, उसका तात्पर्य निम्नानुसार है:-अनन्त परमाणु पिण्डात्मक घटपटादिरूप जो विवक्षित सम्पूर्ण वस्तु उसे 'स्कन्ध' संज्ञा है। भेद द्वारा उसके जो पुद्गलविकल्प होते

पुनश्च, दो परमाणुओं के संघात से (मिलने से) एक द्विअणुक-स्कन्धरूप पर्याय होती है। इस प्रकार संघात के कारण (द्विअणुकस्कन्ध की भाँति त्रिअणुक-स्कन्ध, चतुरणुक-स्कन्ध इत्यादि) अनन्त स्कन्धरूप पर्यायें होती है। (इस प्रकार संघात होनेवाले पुद्गलविकल्प का वर्णन हुआ।)

इस प्रकार भेद-संघात दोनों से भी (एक साथ भेद और संघात दोनों होने से भी) अनन्त (स्कन्धरूप पर्यायें) होती हैं। (इस प्रकार भेद-संघात से होनेवाले पुद्गलविकल्प का वर्णन हुआ)।।७५।।

गाथा - ७५ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ११, शनिवार)

अब इन चार प्रकार के पुद्गल के लक्षण कहते हैं।

(१) **स्कन्ध** - पुद्गल का स्कन्धभेद अनन्त परमाणु का बना हुआ एक पिण्ड है, वह जीव से नहीं हुआ। शरीर, वाणी, कर्म के स्कन्ध की अवस्था जीव से नहीं होती। रोटी, सब्जी आदि के स्कन्ध मुझसे नहीं होते, वे मुझसे भिन्न हैं। पर का मैं कर्ता नहीं, मैं तो जाननेवाला हूँ। इस प्रकार स्व को जानते हुए, पर ज्ञात हो जाता है।

(२) **स्कन्धदेश** - पुद्गल स्कन्ध का आधा भाग हो, उसे स्कन्धदेश कहते हैं।

हैं, वे निम्नोक्त दृष्टान्तानुसार समझना। मान लो कि १६ परमाणुओं से निर्मित एक पुद्गलपिण्ड है और वह टूटकर उसके टुकड़े होते हैं। वहाँ १६ परमाणुओं के पूर्ण पुद्गलपिण्ड को 'स्कन्ध' माने तो ८ परमाणुओंवाला उसका अर्धभागरूप टुकड़ा वह 'देश' है, ४ परमाणुओंवाला उसका चतुर्थभागरूप टुकड़ा वह 'प्रदेश' है और अविभागी छोटे-से-छोटा टुकड़ा वह 'परमाणु' है। पुनश्च, जिस प्रकार १६ परमाणुवाले पूर्ण पिण्ड को 'स्कन्ध' संज्ञा है, उसी प्रकार १५ से लेकर ९ परमाणुओं तक के किसी भी टुकड़े को भी 'स्कन्ध' संज्ञा है; जिस प्रकार ८ परमाणुओं वाले उसके अर्धभागरूप टुकड़े को 'देश' संज्ञा है, उसी प्रकार ७ से लेकर ५ परमाणुओं तक के उसके किसी भी टुकड़े को भी 'देश' संज्ञा है; जिस प्रकार ४ परमाणुवाले उसके चतुर्थभागरूप टुकड़े को 'प्रदेश' संज्ञा है, उसी प्रकार ३ से लेकर २ परमाणु तक के उसके किसी भी टुकड़े को भी 'प्रदेश' संज्ञा है।-इस दृष्टान्त के अनुसार, भेद द्वारा होनेवाले पुद्गलविकल्प समझना।

एक तिनका है, वह स्कन्ध है, उसके दो टुकड़े होना, वह जीव से नहीं हुए। अज्ञानी मानता है कि वे मुझसे हुए हैं, यह अज्ञानभाव है। पुद्गल की अवस्था को करने का जीव का स्वभाव नहीं परन्तु उसे जानने का है। स्कन्ध का आधा भाग होना, वह आत्मा से नहीं होता, वह पुद्गल के कारण से हुआ है, जीव उसका ज्ञातामात्र है।

(३) **स्कन्धप्रदेश** - स्कन्ध के आधे का आधा भाग अथवा स्कन्ध का चौथा भाग, उसे स्कन्धप्रदेश कहते हैं। वह पुद्गल से होता है।

(४) **पुद्गल परमाणु** - जिसके दो भाग न हो सकें, उसे पुद्गल परमाणु कहते हैं। इस प्रकार पुद्गल के चार विभाग जानना।

कार्मण, तैजस, औदारिकशरीर, दवा, वाणी, मन इत्यादि जो पुद्गल पिण्ड जगत में हैं, वे इन चार में आ जाते हैं। नमक का चूरा होता है, वह आत्मा से अथवा अँगुली से नहीं होता, पुद्गल के कारण से होता है। आहार-पानी की अवस्था आत्मा से होती है, ऐसा मानना, वह मिथ्याभाव है। तिल में से तेल निकलता है, वह आत्मा से नहीं निकलता। स्कन्ध होना, देश होना, प्रदेश होना, या परमाणु पृथक् रहे, वह पुद्गल के कारण से है। आत्मा से वह बिल्कुल नहीं होते। मूल गाथा में कहा है कि 'मुणेयव्वा =ज्ञातव्या' ऐसे चार प्रकार के भेद जाननेयोग्य है। अर्थात् कि आत्मा उनका जाननेवाला है, कर्ता-हर्ता नहीं।

मानस्तम्भ होगा, यह मानस्तम्भ का नक्शा है। वह पुद्गल के कारण से है, जीव के कारण नहीं। आत्मा पुद्गल का स्वामी नहीं तथा आत्मा पुद्गल का कर्ता नहीं। बरनी, दियासलाई, चाय इत्यादि स्कन्ध हैं, वे उनसे हैं, तथापि मेरे कारण से वे स्कन्ध हैं, ऐसा माननेवाला अज्ञानी पुद्गलद्रव्य को उड़ाता है और इसलिए अपने जीवतत्त्व को भी उड़ाता है। अर्थात् कि खोटी श्रद्धा करता है।

भावार्थ - स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, इन तीन पुद्गल स्कन्धों में अनन्त-अनन्त भेद हैं। यहाँ भेद की अपेक्षा से अनन्त की बात है। संख्या की अपेक्षा से तो तीनों अनन्त हैं परन्तु यहाँ संख्या की बात नहीं है, परन्तु उनके भेद की बात चलती है। परमाणु में एक ही प्रकार का भेद है। परमाणु संख्या से अनन्त हैं, परन्तु भेद एक प्रकार का है।

स्कन्ध के प्रकार - अब दृष्टान्त द्वारा इस कथन को समझाया जाता है। यह जयसेन आचार्य की टीका में से लिया है। अनन्तानन्त परमाणु के स्कन्ध की निशानी सोलह अंक से जानना। बड़े में बड़ा अनन्त की संख्या को सोलह की उपमा समझने के लिये दी है। अब उसमें से सोलह परमाणुवाले को उत्कृष्ट स्कन्ध जानना। उसके आधे से एक परमाणु अधिक हो, उसे जघन्य स्कन्ध जानना। दृष्टान्त के हिसाब से नौ परमाणुवाले को जघन्य स्कन्ध जानना और दस से पन्द्रह परमाणु के स्कन्ध को मध्यम स्कन्ध जानना। ये अनन्त प्रकार के समझना।

एक चीज़ के उत्कृष्ट स्कन्ध और दूसरी चीज़ के उत्कृष्ट स्कन्ध परमाणु की संख्या अपेक्षा से समान हैं - ऐसा कहना नहीं है। प्रत्येक के उत्कृष्ट अलग-अलग समझना, परन्तु एक स्कन्ध में एक उत्कृष्ट, एक जघन्य और अनन्त मध्यम स्कन्ध होते हैं। इस प्रकार अनन्त प्रकार के भेद स्कन्ध के जानना। एक घड़ा है, उसमें अपनी अपेक्षा से उत्कृष्टता एक भेद, जघन्य का एक भेद और मध्यम के अनन्त भेद जानना, ऐसा प्रत्येक स्कन्ध में समझना।

यह सब स्कन्धों के भेद पुद्गल के कारण हैं, जीव के कारण नहीं। शरीर टुकड़ेरूप होओ या पूरा रहो, वह पुद्गल का खेल है। कोई ऐसा **कहता है** कि 'तुम सब करते हो, तथापि जीव पुद्गल को करता नहीं, ऐसा मानने को क्यों कहते हो?'

समाधान - भाई! पुद्गल को पुद्गल करता है, जीव पुद्गल को करता ही नहीं। यह सब स्कन्ध होते हैं, अनाज के थैला आवें-जावें, मील चलें, इलैक्ट्रिक मशीनें चलें, वे सब पुद्गल के कारण से स्कन्धरूप होते हैं। जीव तो मात्र जाननेवाला, ऐसा यहाँ कहते हैं।

स्कन्धदेश के प्रकार - जो स्कन्ध हो, उसका आधा भाग, वह उत्कृष्ट स्कन्धदेश जानना। यहाँ दृष्टान्त में आठ परमाणु के स्कन्ध को उत्कृष्ट स्कन्धदेश जानना। वह एक है। चौथे भाग की अपेक्षा एक परमाणु अधिक हो, ऐसे स्कन्ध को अर्थात् यहाँ दृष्टान्तानुसार पाँच परमाणु के स्कन्ध को जघन्य स्कन्धदेश जानना, वह एक है और जघन्य से बड़े को उत्कृष्ट से छोटे अर्थात् दृष्टान्तानुसार छह और सात परमाणुओं के स्कन्धों को मध्यम

स्कन्धदेश जानना। वह भी अनन्त प्रकार के हैं। इस प्रकार स्कन्धदेश के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य होकर अनन्त प्रकार जानना।

पहले बात आयी थी कि ज्ञानसमय, शब्दसमय और अर्थसमय—ऐसे तीन प्रकार के समय हैं। जो शास्त्र अथवा वाणी राग-द्वेषरहितरूप से पदार्थ की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करे तथा सब आत्मा और परमाणु स्वतन्त्र है, राग आत्मा का स्वभाव नहीं परन्तु आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा जो प्रसिद्ध करे, वह शब्दसमय है। सच्चे शास्त्र हैं। इससे विपरीत बतलावे, वे शास्त्र सच्चे नहीं, वह शब्दसमय नहीं और ऐसा विपरीत माननेवाले जीव मूढ़ हैं।

प्रश्न - जो शब्द विपरीतता बतावे, उसे शब्दसमय क्यों नहीं कहते?

समाधान - लोग में भले उसे भाषा कहा जाता है परन्तु वह शब्दसमय नहीं है। सच्चे शास्त्र नहीं है। निमित्त से और राग से लाभ मनावे, केवली को आहार मनावे, मुनि को वस्त्रपना मनावे, वह शब्दसमय नहीं। वह कुशब्द अथवा कुशास्त्र है। पृष्ठ दस में व्याख्या दी है कि जो पंचास्तिकाय की राग-द्वेषरहितरूप यथार्थ अक्षर, पद और वाक्य की रचना करे, उसे द्रव्यश्रुतरूप शब्दसमय कहते हैं, बाकी के को कुश्रुत कहते हैं। और मिथ्यात्वभाव नष्ट होकर जो यथार्थ ज्ञान होता है, भावश्रुतरूप ज्ञानसमय कहते हैं। जो ज्ञान विकाररहित आत्मा को जानता नहीं, वह कुज्ञान है। सम्यग्ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाने जा सकते हैं, उन पदार्थ को अर्थसमय कहते हैं। यहाँ पदार्थ समय की बात चलती है। पदार्थ में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों आ जाते हैं। यहाँ पुद्गल पदार्थ का स्वरूप बताते हैं। पुद्गल का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान जाने और शास्त्र ऐसा कहे तो तीनों सच्चे हैं, विपरीत जाने तो एक भी सच्चा नहीं है।

यहाँ स्कन्धदेश के उत्कृष्ट एक, जघन्य एक और मध्यम अनन्त। ऐसे अनन्त प्रकार के भेद समझना चाहिए।

स्कन्धप्रदेश के भेद - कोई भी स्कन्ध का चौथा भाग उत्कृष्ट स्कन्धप्रदेश जानना। दृष्टान्त के हिसाब से चार परमाणु का उत्कृष्ट स्कन्धप्रदेश जानना। दो परमाणुओं का जघन्य स्कन्धप्रदेश जानना और जघन्य से बड़े और उत्कृष्ट से छोटे अर्थात् तीन परमाणुवाले

मध्यम स्कन्धप्रदेश जानना। ऐसे स्कन्धप्रदेश के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य होकर अनन्त भेद जानना।

पुस्तक का फटना पुस्तक के कारण से है। आहार आदि अच्छे हों तो लाभ हो, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। पुद्गल के स्कन्ध का ऐसा होना चाहिए और इस प्रकार उसे परिणमना चाहिए, ऐसा अभिमान और हठाग्रह करना नहीं। पुद्गल की अवस्था पुद्गल से होती है, तुझसे नहीं होती। पुद्गल तुझसे भिन्न है, तू जाननेवाला है, ऐसी सच्ची दृष्टि करना, वह धर्म है।

वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ११, रविवार

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, धर्म करनेवाले को जानना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ। पुण्य-पाप विकार है, शरीरादि की क्रिया मुझसे बिल्कुल नहीं होती। जो यह नहीं जाने, उसे अधर्म बुद्धि टलती नहीं। अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि मुझसे यह सुधरा, ऐसा मानना, वही बड़ा पाप है।

बहुत रजकणों के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। उसके अर्ध भाग को स्कन्धप्रदेश कहते हैं, स्कन्ध के चौथे भाग को प्रदेश कहते हैं। और एक स्कन्ध की अपेक्षा से जो आधा होकर स्कन्धप्रदेश हो, वह और अपनी अपेक्षा से स्कन्ध कहलाता है। इस प्रकार समझ लेना। ऐसे स्कन्ध, देश और प्रदेश में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे अनन्त भेद जानना। और परमाणु अविभागी है, उसमें भेदकल्पना नहीं है। इस प्रकार चार प्रकार भेद द्वारा जानना।

अब परमाणु इकट्ठे हों, उसमें चार भेद बताते हैं। परमाणु का मिलना, उसे **संघात** कहते हैं। दो परमाणु इकट्ठे हों, उसे जघन्य स्कन्धप्रदेश कहते हैं। उसमें एक-एक मिलने से उत्तरोत्तर प्रदेश, देश और स्कन्ध ऐसे तीन प्रकार के स्कन्ध होते हैं। अन्ततः उत्कृष्ट स्कन्ध तक जानना। इस प्रकार परमाणु पृथक् पड़े या इकट्ठे हों, उनमें यह तीन प्रकार के स्कन्ध परम आगम में गिनने में आये हैं। एक पृथ्वी पिण्ड में चारों भेद होते

हैं। सकल पिण्ड का नाम स्कन्ध है, अर्ध का नाम स्कन्धदेश है और चौथे भाग का नाम स्कन्धप्रदेश है। अविभागी का नाम परमाणु है। इस प्रकार खण्ड-खण्ड करने से उन भेदों के अनन्त भेद होते हैं। दो परमाणु के मिलाप से जो संघात हुआ, वह जघन्य स्कन्धप्रदेश है, उससे शुरु करके सकल पृथ्वीखण्डरूप उत्कृष्ट स्कन्ध तक परमाणु के संघात से जो स्कन्ध होते हैं, उनके अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार भेद और संघात से पुद्गल की अनन्त पर्यायें होती हैं।

परमाणु इकट्ठे हों, वे आत्मा के विज्ञान के कारण से एकत्रित नहीं होते। पुस्तक का इकट्ठा होना, श्लोक के अक्षर का लिखना, वह पुद्गल का स्वभाव है। जिनेश्वर भगवान की पूजा के लिये आठ प्रकार की सामग्री मिलाना, वह आत्मा के हाथ की बात नहीं। जीव को शुभभाव आता है, परन्तु शुभ के कारण जड़ की अवस्था नहीं होती। जड़ परमाणु इकट्ठे होना या पृथक् होना, वह उसका स्वभाव है। एक पृथ्वीपिण्ड के चार भेद कहे, वे जड़ के कारण से हैं। वह जगत का तत्त्व है। अज्ञानी जीव पर का स्वामी होता है, पर को इकट्ठा करना चाहता है, वह संयोगीदृष्टि है। ज्ञानी समझता है कि उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था पुद्गल के कारण से है, रागादि परिणाम होते हैं, वे मेरी निर्बलता से है, उसका भी मैं जाननेवाला हूँ। इस प्रकार ज्ञाता रहना, वह धर्म है।

अज्ञानी जीवों को आत्मा और जड़ के बीच भेद का ज्ञान नहीं और समझ बिना सामायिक के पाठ मात्र बोल जाये, 'तावकायं, ठाणेणं, मोणेणं'। परन्तु अर्थ की खबर नहीं। भाई! काया को तू स्थिर नहीं रख सकता। काया जड़ है, उसका स्थिर रहना उसके कारण से है। तू ज्ञानस्वभावी है, ऐसी समझ कर।

दो परमाणु के संघात से लेकर पृथ्वी पिण्ड तक के संघात के अनन्त भेद हैं। वे सभी पर्यायें हैं। भेद संघात से पुद्गल की अनन्त पर्यायें होती हैं।

स्कन्धों का नाम पुद्गल कहा है, इसलिए पुद्गल का अर्थ बतलाते हैं। ●●

गाथा - ७६

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ।।७६।।

बादरसौक्ष्म्यगतानां स्कंधानां पुद्गलः इति व्यवहारः।
ते भवन्ति षट्प्रकारास्त्रैलोक्यं यैः निष्पन्नम् ।।७६।।

समयव्याख्या : स्कंधानां पुद्गलव्यवहारसमर्थनमेतत्। स्पर्शरसगंधवर्णगुणविशेषैः षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिः पूरणगलनधर्मत्वात् स्कंधव्यक्त्याविर्भावतिरोभावाभ्यामपि च पूरणगलनोपपत्तेः परमाणवः पुद्गला इति निश्चीयंते। स्कंधास्त्वनेकपुद्गलमयैकपर्यायत्वेन पुद्गलेभ्योऽनन्यत्वात्पुद्गला इति व्यवह्रियंते, तथैव च बादरसूक्ष्मत्वपरिणामविकल्पैः षट्प्रकारतामापद्य त्रैलोक्यरूपेण निष्पद्य स्थितवंत इति। तथा हि - बादरबादराः, बादराः, बादरसूक्ष्माः, सूक्ष्मबादराः, सूक्ष्माः, सूक्ष्मासूक्ष्मा इति। तत्र छिन्नाः स्वयं संधानासमर्थाः काष्ठपाषाणादयो बादरबादराः। छिन्नाः स्वयं संधानसमर्थाः क्षीरधृततैलतोयरसप्रभृतयो बादराः। स्थूलोपलंभा अपि छेत्तुं भेत्तुमादातुमशक्याः छायातपतमोज्योत्स्नादयो बादरसूक्ष्माः। सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलंभाः स्पर्शरसगंधशब्दाः सूक्ष्मबादराः। सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः। अत्यंतसूक्ष्माः कर्मवर्गणाभ्योऽधो द्व्यणुकस्कंधपर्यन्ताः सूक्ष्मसूक्ष्मा इति ।।७६।। ?

सूक्ष्म-बादर परिणमित स्कन्ध को पुद्गल कहा।
स्कन्ध के षटभेद से त्रैलोक्य यह निष्पन्न है।।७६।।

अन्वयार्थ :- [बादरसौक्ष्म्यगतानां] बादर और सूक्ष्मरूप से परिणत [स्कंधानां] स्कन्धों को [पुद्गलः] 'पुद्गल' [इति] ऐसा [व्यवहारः] व्यवहार है। [ते] वे [षट्प्रकाराः भवन्ति] छह प्रकार के हैं, [यैः] जिनसे [त्रैलोक्यं] तीन लोक [निष्पन्नम्] निष्पन्न है।

टीका:- स्कन्धों में 'पुद्गल' ऐसा जो व्यवहार है, उसका यह समर्थन है।

(१) जिनमें षट्स्थानपतित (छह स्थानों में समावेश पानेवाली) वृद्धिहानि होती है, ऐसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुणविशेषों के कारण (परमाणु) 'पूरणगलन' धर्मवाले

होने से तथा (२) स्कन्धव्यक्ति के (–स्कन्धपर्याय के) आविर्भाव और तिरोभाव की अपेक्षा से भी (परमाणुओं में) 'पूरण–गलन' घटित होने से परमाणु निश्चय से [१]'पुद्गल' है। स्कन्ध तो [२]अनेकपुद्गलमय एकपर्यायपने के कारण पुद्गलों से अनन्य होने से व्यवहार से 'पुद्गल' है; तथा (वे) बादरत्व और सूक्ष्मत्वरूप परिणामों के भेदों द्वारा छह प्रकारों को प्राप्त करके तीन लोकरूप होकर रहे हैं। वे छह प्रकार के स्कन्ध इस प्रकार हैं:– (१) बादरबादर; (२) बादर; (३) बादरसूक्ष्म; (४) सूक्ष्मबादर; (५) सूक्ष्म; (६) सूक्ष्मसूक्ष्म। वहाँ, (१) काष्ठपाषाणादिक (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते, वे (घन पदार्थ) 'बादरबादर' हैं; (२) दूध, घी, तेल, जल, रस आदि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं, वे (प्रवाही पदार्थ) 'बादर' हैं; (३) छाया, धूप, अन्धकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध) जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा (हस्तादि द्वारा) ग्रहण नहीं किया जा सकता, वे 'बादरसूक्ष्म' हैं; (४) स्पर्श–रस–गन्ध–शब्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं (अर्थात् चक्षु को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कन्ध जो कि आँख से दिखाई न देने पर भी स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सकता है) जीभ द्वारा जिनका स्वाद लिया जा सकता है, नाक से सूंघा जा सकता है अथवा कान से सुना जा सकता है, वे 'सूक्ष्मबादर' हैं; (५) कर्मवर्गणादि (स्कन्ध) कि जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों ऐसे हैं वे 'सूक्ष्म' हैं; (६) कर्मवर्गणा से नीचे के (कर्मवर्गणातीत द्विअणुक–स्कन्ध तक के स्कन्ध) जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे 'सूक्ष्मसूक्ष्म' हैं।।७६।।

---

१. जिसमें (स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण की अपेक्षा से तथा स्कन्धपर्याय की अपेक्षा से) पूरण और गलन हो, वह पुद्गल है। पूरण=पुरना; भरना; पूर्ति; पुष्टि; वृद्धि। गलन=गलना; क्षीण होना; कृशता; हानि; न्यूनता; ((१) परमाणुओं के विशेष गुण जो स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण हैं, उनमें होनेवाली षट्स्थानपतित वृद्धि, वह पूरण है और षट्स्थानपतित हानि, वह गलन है; इसलिए इस प्रकार परमाणु पूरण–गलनधर्मवाले हैं। (२) परमाणुओं में स्कन्धरूप पर्याय का आविर्भाव होना, सो पूरण है और तिरोभाव होना, वह गलन है; इस प्रकार भी परमाणुओं में पूरण गलन घटित होता है।)

२. स्कन्ध अनेक परमाणुमय है, इसलिए वह परमाणुओं से अनन्य है; और परमाणु तो पुद्गल है; इसलिए स्कन्ध भी व्यवहार से 'पुद्गल' है।

गाथा - ७६ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल ११, रविवार)

अनन्त परमाणु इकट्ठे हों। कोई सूक्ष्म परिणमन धारण करे, जैसे कि कार्मणशरीर और कोई स्थूल परिणमन धारण करे। जैसे कि औदारिकशरीर, उन सबको पुद्गल कहते हैं। जो पूर्व में स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु—ऐसे चार प्रकार के भेद कहे, उनमें पूरण और गलन ऐसा स्वभाव है। पुद्=पूरण और गल अर्थात् पृथक् पड़ना। अपने कारण से पूरते हैं अर्थात् मिलते हैं और पृथक् पड़ते हैं, इसलिए पुद्गल कहते हैं। और जो बढ़ते हैं-घटते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं।

जो जीव ऐसा मानता है कि मुझसे पुद्गल में बढ़ना-घटना किया जा सकता है, वह मूढ़ है। ऐसा माननेवाले को धर्म तो नहीं, परन्तु 'स्वधर्मत्याग' वर्तता है। नियमसार में मोही का अर्थ 'स्वधर्मत्याग' किया है। अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को छोड़कर जड़ का कर्ता-हर्ता-भोक्ता होता है, इसलिए उसे स्वधर्मत्याग वर्तता है। वह कहलाता त्यागी पाप का त्यागी नहीं है, परन्तु अपने धर्म का त्यागी है। प्रथम सच्चा ज्ञान करो कि आहार आदि की क्रिया मुझसे नहीं होती। क्योंकि मैं ज्ञान हूँ। अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करे, उस श्रद्धा में समता है। ऐसी श्रद्धा की समता होने के पश्चात् स्वभाव के अवलम्बन से राग का अभाव होकर वीतरागता प्रगट हो, वह चारित्र की समता है। जिसे श्रद्धा की समता का ठिकाना नहीं और परपदार्थ छोड़ने का अभिमान करता है और आहारशुद्धि में सवेरे से शाम तक रुकता है, वह बाह्य से त्यागी दिखता होने पर भी उसे चारित्र की समता नहीं होती, इसलिए वह स्वधर्मत्यागी है।

यहाँ बताया है कि स्कन्धों में बढ़ना-घटना हुआ करता है, इसलिए उन्हें पुद्गल कहा है। अब परमाणु को पुद्गल क्यों कहा, वह कहते हैं। अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण के भेदों में षड्गुणी हानि-वृद्धि के प्रभाव से पुद्गल नाम पाता है। एक परमाणु में एक गुण स्निग्धता हो, दूसरे समय में अनन्तगुणी स्निग्धता हो जाये, दूध के परमाणु मिठास में से खटासरूप हो जाये, कोई थोड़ी मिठास में से अधिक मिठासरूप हो, कोई एक गुण हरा हो, वह दूसरे समय में अनन्त गुणा हरा हो जाये, कोई परमाणु शीत में से उष्ण हो, इसलिए उसे पुद्गल कहते हैं, वह सब जड़ से होता है। आत्मा की इच्छा से

नहीं होता। इसलिए इस पुद्गल के नाटक का ज्ञान कर। क्योंकि तू ज्ञाता है।

और इस परमाणु में किसी काल में अपनी योग्यता के कारण से स्कन्ध होने की शक्ति है, तथा कितने ही परमाणु ऐसे हैं कि जो कभी स्कन्धरूप हुए नहीं, तथापि उनमें स्कन्ध होने की योग्यता है, इसलिए उन्हें भी पुद्गल कहते हैं। तथा स्कन्ध, देश, और प्रदेश, ऐसे तीन प्रकार के स्कन्ध हैं, वे अनन्त परमाणु मिलकर एक पिण्डरूप अवस्था धारण करते हैं। इस कारण से उनमें भी पूरण-गलन स्वभाव है और उसे भी पुद्गल कहा जाता है। यह छह प्रकार के हैं। पूरे जगत के पुद्गल स्कन्धों को छह प्रकार से कहते हैं।

भावार्थ - पुद्गल स्कन्ध अपने स्थूलसूक्ष्म परिणामों के भेदों से तीन लोक में प्रवर्त रहे हैं। उनके छह प्रकार बताये जाते हैं।

(१) **बादरबादर** - जिस पुद्गलपिण्ड के दो टुकड़े होने के पश्चात् अपने आप फिर से इकट्ठे नहीं होते, ऐसे पुद्गलपिण्ड बादरबादर समझना। दृष्टान्त—पत्थर और लकड़ी के टुकड़े होने के पश्चात् वे इकट्ठे नहीं होते। उनके टुकड़े होना, वह पुद्गल के स्वभाव से है और वे फिर से इकट्ठे नहीं होते। वे पुद्गल के स्वभाव से इकट्ठे नहीं होते। ऐसा पुद्गलस्कन्ध का स्वभाव है।

(२) **बादर** - जिस पुद्गल का पिण्ड टुकड़े होने के पश्चात् अपने आप मिल जाये, उसे बादर कहते हैं। दृष्टान्त—घी, तेल पृथक् पड़कर वापस अपने कारण से इकट्ठे होते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है। आत्मा के कारण से वे पृथक् नहीं होते या इकट्ठे नहीं होते। यहाँ पुद्गल का ज्ञान कराकर तुझसे भिन्न हैं, ऐसा कहते हैं। तुझसे उसमें कुछ नहीं होता। और काल के कारण भी उसमें फेरफार नहीं होता। उसके कारण से पृथक् पड़े और इकट्ठे होते हैं, वह उसका स्वभाव है और वह बादरस्कन्ध है।

(३) **बादरसूक्ष्म** - जो देखने में आते हैं परन्तु हाथ इत्यादि से ग्रहण नहीं हो सकते, उस स्कन्ध को बादरसूक्ष्म कहते हैं। दृष्टान्त—सूर्य की धूप, चन्द्रमा की चाँदनी, परछाईं इत्यादि आँखों से दिखते हैं परन्तु हाथ से पकड़े नहीं जा सकते, इसलिए वे बादरसूक्ष्म मानना।

तू असंख्यप्रदेशी आत्मा है। तुझसे पुद्गल की अवस्था नहीं होती, तू जाननेवाला है। जैसे सूर्य लोक में प्रकाशित हो रहा है, वैसे जड़ प्रकाश से विलक्षण ऐसे केवलज्ञानरूपी प्रकाश से तू भरपूर पड़ा है, तू अनन्त प्रकाशी है। अनन्त स्कन्धों को जान लेने का तेरा स्वभाव है। अनन्त को जानने से राग होता है, ऐसा तेरा स्वभाव नहीं। अनन्त को जान ले, ऐसा अनन्त ज्ञानप्रकाश की शक्तिरूप तू है। और जैसे चन्द्र शीतलता देता है, वैसे जड़ शीतलता से विलक्षण ऐसी चैतन्य शीतलता-शान्ति-धीरज तुझमें अनन्त है। अनन्त पदार्थ होने पर भी वे तुझमें आकुलता उत्पन्न नहीं कर सकते। तू अनन्त अनन्त शक्तिवान है। इस प्रकार आत्मा अनन्त ज्ञानप्रकाश और अनन्त शान्ति का भरपूर भण्डार है।

ऐसा जिसे भान नहीं, वह परपदार्थ को अपना मानता है। एक पुद्गलद्रव्य की क्रिया मुझसे होती है, ऐसा माननेवाला अनन्त पदार्थों का स्वामी होता है और स्वयं अनन्त आकुलता में रुकता है, इसलिए उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता और इसलिए उसे अशान्ति होती है, उसे अधर्म होता है। परन्तु जो यथार्थ ज्ञान करता है कि पुद्गलों का परिणमन पुद्गल के कारण से है, पुद्गल की अनेक प्रकार की विविधता का ज्ञान करने का मेरा स्वभाव है, मुझमें अनन्त ज्ञानप्रकाश अनन्त शीतलता और शान्ति है। ऐसी जो श्रद्धा करता है, उसे धर्मदशा प्रगट होती है।

(४) **सूक्ष्मबादर** - जो स्कन्ध सूक्ष्म है परन्तु स्थूल जैसे प्रतिभासित होते हैं, उन्हें सूक्ष्मबादर कहते हैं। दृष्टान्त—नीम की कोर की गन्ध आती है, वह गन्ध दिखती नहीं, इसलिए सूक्ष्म परन्तु नाक द्वारा ख्याल में आती है, इसलिए बादर, ऐसी सूक्ष्मबादर है। वाणी दिखती नहीं, इसलिए सूक्ष्म परन्तु कान द्वारा सुनायी देती है, स्थूल, ऐसे सूक्ष्मस्थूल का अर्थ समझना। आत्मा भाषा बोलता नहीं तथा भाषा बन्द कर नहीं सकता। वह तो पुद्गल का सूक्ष्मबादर स्कन्ध है।

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़ संमेल
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीव के खेल।

जड़ का हलन-चलन जड़ से है, वह सब अजीव का खेल है। ज्ञानी जानता है कि वह जड़ की अवस्था है, इसलिए वह उसका अभिमान नहीं करते, परन्तु जैसा है,

वैसा जान लेते हैं। इस प्रकार पुद्गल के स्कन्धों को जैसा है, वैसा जानना और आत्मा उनसे भिन्न मात्र ज्ञाता है, ऐसा जानना, वह धर्म है।

वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १२, सोमवार

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। पुद्गल ज्ञेयों को जानने का उसका स्वभाव है। परमाणु पृथक् पड़ें या इकट्ठे हों, उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है। शरीर आदि दृश्यमान रूपी पदार्थों का विविधपना और विचित्रपना दिखता है, वह अन्दर आत्मा चेतन है, इसलिए विविधता होती है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी मानता है कि मुझसे यह विविधता होती है और ऐसा मानकर असत्य का पाप करता है।

यहाँ स्कन्धों के छह भेद की बात चलती है।

(१) **बादरबादर** - पत्थर, लकड़ी के टुकड़े हों और टुकड़े होने के बाद इकट्ठे न हों, ऐसा पुद्गल का स्वभाव है। उसे बादरबादर स्कन्ध कहते हैं। आत्मा उसके टुकड़े नहीं कर सकता।

(२) **बादर** - घी, तेल इत्यादि प्रवाही चीज़ें जो पृथक् पड़कर वापस स्वयं इकट्ठी होती है, उसे बादर स्कन्ध कहते हैं, अज्ञानी जीव मानते हैं कि हम घी को इकट्ठा करते हैं। वह अज्ञान है। घी का पिघलना या पृथक् पड़ना, घी के कारण से है। अग्नि के कारण से या आत्मा के कारण से नहीं।

(३) **बादरसूक्ष्म** - धूप, चाँदनी, छाया आँखों से दिखती है परन्तु हाथ से एक जगह से दूसरी जगह नहीं रखी जा सकती, इसलिए सूक्ष्म इस प्रकार से बादरसूक्ष्म है। वह किसी के किये हुए नहीं हैं। स्वभाव से हुए हैं।

(४) **सूक्ष्मबादर** - स्पर्श, रस, गन्ध और शब्दादि आँखों से ज्ञात नहीं होते, इसलिए सूक्ष्म और दूसरी कोई इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होते हैं, इसलिए बादर - ऐसे सूक्ष्मबादर जानना। यह चीज़ हल्की है या भारी है, यह आँख से दिखाई नहीं देता। परन्तु स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ख्याल आ आता है। यह चमड़ी कोमल है या कर्कश है, यह आँख से दिखाई नहीं देता

है परन्तु स्पर्श द्वारा ख्याल आता है। खट्टा, मीठा, कड़वा स्वाद आँख निश्चित नहीं करती, इसलिए सूक्ष्म और जीभ द्वारा निश्चित होता है, इसलिए बादर, इस प्रकार सूक्ष्मबादर। घासलेट की गन्ध के परमाणु दिखते नहीं, इसलिए सूक्ष्म, परन्तु नाक से ज्ञात होते हैं, इसलिए बादर; इस प्रकार सूक्ष्मबादर समझना। शब्द आँख से दिखाई नहीं देते परन्तु कान से सुनाई देते हैं। यह सब अवस्था पुद्गल से हो रही है। आत्मा से नहीं होती।

बादरबादर और बादर तो इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। बादरसूक्ष्म आँख से ग्राह्य हैं और दूसरी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं, और सूक्ष्मबादर आँख से ग्राह्य नहीं परन्तु आँख के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय से ग्राह्य है। अब इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, ऐसे स्कन्धों की बात करते हैं।

(५) **सूक्ष्म** - जो स्कन्ध इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, ऐसे कर्मवर्गणा के स्कन्धों को सूक्ष्मस्कन्ध कहते हैं। वे कोई इन्द्रिय द्वारा नहीं जाने जा सकते।

(६) **सूक्ष्मसूक्ष्म** - कर्मवर्गणाओं से भी अति सूक्ष्म दो परमाणु, तीन परमाणु इत्यादि के स्कन्धों को सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं, वे भी इन्द्रियग्राह्य नहीं।

यहाँ जो भेद कहे हैं, वे स्कन्धों के भेद हैं। गोम्मटसार में पुद्गल के छह भेद कहे हैं। उनमें पाँच बोल उपरोक्तानुसार है और छठवाँ बोल सूक्ष्म-सूक्ष्म का एक परमाणु का लिया है। यहाँ तो छह प्रकार के स्कन्धों की बात ली है। ●●

गाथा - ७७

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ।।७७।।

सर्वेषां स्कंधानां योऽन्त्यस्तं विजानीहि परमाणुम्।
स शाश्वतोऽशब्दः एकोऽविभागी मूर्तिभवः ।।७७।।

समयव्याख्या : परमाणुव्याख्येयम्। उक्तानां स्कंधरूपपर्यायाणां योऽन्त्यो भेदः स परमाणुः। स तु पुनर्विभागाभावादविभागी, निर्विभागैकप्रदेशत्वादेकः मूर्तद्रव्यत्वेन सदाप्यविनश्वरत्वान्नित्यः, अनादिनिधनरूपादिपरिणामोत्पन्नत्वान्मूर्तिभवः, रूपादि-परिणामोत्पन्नत्वेऽपि शब्दस्य परमाणुगुण-त्वाभावात्पुद्गलस्कंधपर्यायत्वेन वक्ष्यमाण-त्वाच्चाशब्दो निश्चीयत इति ।।७७।। ?

स्कन्ध का वह निर्विभागी अंश परमाणु कहा।
वह एक शाश्वत मूर्तिभव अर अविभागी अशब्द है।।७७।।

अन्वयार्थ :- [सर्वषां स्कंधानां]सर्व स्कन्धों का [यः अन्त्यः]जो अन्तिम भाग [तं]उसे [परमाणुम् विजानीहि]परमाणु जानो। [सः]वह [अविभागी]अविभागी, [एकः]एक, [शाश्वतः]शाश्वत [मूर्तिभवः]मूर्तिप्रभव (मूर्तरूप से उत्पन्न होनेवाला) और [अशब्दः] अशब्द है।

टीका:-यह परमाणु की व्याख्या है।

पूर्वोक्त स्कन्धरूप पर्यायों का जो अन्तिम भेद (छोटे-से-छोटा अंश), वह परमाणु है। और वह तो, विभाग के अभाव के कारण अविभागी है; निर्विभाग-एक-प्रदेशी होने से एक है; मूर्तद्रव्यरूप से सदैव अविनाशी होने से नित्य है; अनादि-अनन्त रूपादि के परिणाम से उत्पन्न होने के कारण *मूर्तिप्रभव है; और रूपादि के परिणाम से उत्पन्न होने पर भी अशब्द है, ऐसा निश्चित है, क्योंकि शब्द परमाणु का गुण नहीं है तथा उसका (शब्द का) अब (७९वीं गाथा में) पुद्गलस्कन्धपर्यायरूप से कथन है।।७७।।

---

* मूर्तिप्रभव=मूर्तपनेरूप से उत्पन्न होनेवाला अर्थात् रूप-गन्ध-रस स्पर्श के परिणामरूप से जिसका उत्पाद होता है ऐसा। (मूर्ति=मूर्तपना)।

गाथा - ७७ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १२, सोमवार)

अब परमाणु का स्वरूप कहते हैं।

यह सब जो स्थूलस्कन्ध दिखते हैं, वह कार्य है। इसलिए उसका कारण होना चाहिए। अनेकपना कायम नहीं रहता। जैसे कि यह अँगुली है, उसके पृथक्-पृथक् रजकण होते हैं। इकट्ठे हों तो स्कन्ध होता है और पृथक् होते-होते अन्ततः एक परमाणु रहता है।

देखो, यह सर्वज्ञ का विज्ञान! स्कन्ध में से पृथक् होकर परमाणु रहे तो परमाणु के कारण से रहता है। जीव के कारण पुद्गल में फेरफार नहीं होता।

यहाँ और कोई ऐसा **कहता** है कि हम निमित्त तो होते हैं न?

समाधान - किसका निमित्त? अभी वहाँ तो कार्य हुआ नहीं, उसके पहले किसका निमित्त? पुद्गल की अवस्थारूप कार्य होता है, तब जीव को निमित्त कहा जाता है। निमित्त आगे-पीछे नहीं है, परन्तु एक ही समय में है। निमित्त तो है न? ऐसा प्रश्न करनेवाले की दृष्टि संयोग के ऊपर है, इसलिए उसे पर के साथ एकताबुद्धि वर्तती है। उसे धर्म नहीं होता।

यहाँ बताते हैं कि स्कन्ध का अन्त का भेद परमाणु है। वह आत्मा के कारण से नहीं है। यहाँ अन्त का भेद कहा, अर्थात् छठा भेद सूक्ष्मसूक्ष्म कहा है, वह नहीं समझना, परन्तु अन्त का भेद कहने से अन्तिम टुकड़े की अर्थात् परमाणु की बात है। जिस टुकड़े में से भेद नहीं पड़ता, वह परमाणु एक ही प्रकार का है, उसके दो टुकड़े नहीं होते।

वह परमाणु त्रिकाल अविनाशी है। स्कन्धों के साथ मिलाप होने से उसकी एक पर्याय से दूसरी पर्याय होती है। एक परमाणु सूक्ष्मस्कन्ध में जुड़े तो उसकी सूक्ष्म विभाव पर्याय होती है और स्थूल में जुड़े तो स्थूल विभाव पर्याय होती है। इस प्रकार पर्याय में फेरफार होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा से परमाणु सदा टंकोत्कीर्ण नित्य है।

और एक परमाणु में शब्दरूप होने की ताकत नहीं है। एक परमाणु दूसरे अनन्त

परमाणु के साथ मिले तो शब्दरूप होने की शक्ति है, परन्तु अकेला परमाणु शब्द करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि हम भाषा बोलते हैं। परन्तु भाई! यह तेरा अज्ञान है। एक परमाणु स्पर्श, रस, गन्ध,वर्णवाला तत्त्व है, परन्तु उसमें शब्द होने की ताकत नहीं है। तो फिर तू आत्मा अरूपी—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरहित बोल सके, यह असम्भव है। इसलिए अभिमान छोड़।

शब्द है, वह पुद्गलद्रव्य का गुण नहीं है। यदि गुण हो तो अकेले परमाणु में कायम होना चाहिए। जो कायम रहे, उसे गुण कहते हैं और जो कदाचित् हो, उसे पर्याय कहते हैं। पुद्गल में शब्द कायम नहीं रहता। अकेले परमाणु में शब्द नहीं है, इसलिए शब्द गुण नहीं है। कदाचित् होता है, इसलिए पर्याय है। उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

परमाणु एक प्रदेशी है, तथापि उसमें स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए परमाणु को पुद्गलास्तिकाय कहा जाता है। उस परमाणु के दो भाग नहीं हो सकते, इसलिए निरंश है। और वह परमाणु सदाकाल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण—ऐसे चार गुणोंसहित है। स्पर्शादि गुण, वह स्वभाव है और परमाणु द्रव्य, वह स्वभाववान है। इस प्रकार गुण-गुणी अभेद है। आत्मा उसका जाननेवाला है, परन्तु उसका कर्ता नहीं। ●●

गाथा - ७८

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो समयसद्दो ।।७८।।

आदेशमात्रमूर्त्तः धातुचतुष्कस्य कारणं यस्तु।
स ज्ञेयः परमाणुः परिणामगुणः स्वयमशब्दः ।।७८।।

समयव्याख्याः परमाणूनां जात्यंतरत्वनिरासोऽयम्। परमाणोर्हि मूर्तत्वनिबंधनभूताः स्पर्शरसगंधवर्णा आदेशमात्रेणैव भिद्यंतेः वस्तुतस्तु यथा तस्य स एव प्रदेश आदिः, स एव मध्यं, स एवांतः इति, एवं द्रव्यगुणयोरविभक्तप्रदेशत्वात् य एव परमाणोः प्रदेशः, स एव स्पर्शस्य, स एव रसस्य, स एव गंधस्य, स एव रूपस्येति। ततः क्वचित्परमाणौ गंधगुणे, क्वचित् गंधरसगुणयोः, क्वचित् गंधरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु तदविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति। न तदपकर्षो युक्तः। ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातु-चतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणं परिणामवशात्। विचित्रो हि परमाणोः परिणामगुणः क्वचित्कस्यचिद्गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वेन विचित्रां परिणतिमादधाति। यथा च तस्य परिणामवशादव्यक्तो गंधादिगुणोऽस्तीति प्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति ज्ञातुं शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन शब्देन सहैकत्वविरोधादिति।।७८।।

कथनमात्र से मूर्त है अर धातु चार का हेतु है।
परिणामी तथा अशब्द जो परमाणु है उसको कहा।।७८।।

अन्वयार्थ :- [यः तु] जो [आदेशमात्रमूर्तः] आदेशमात्र से मूर्त है। (अर्थात् मात्र भेदविवक्षा से मूर्तत्ववाला कहलाता है) और [धातुचतुष्कस्य कारणं] जो (पृथ्वी आदि) चार धातुओं का कारण है [सः] वह [परमाणुः ज्ञेयः] परमाणु जानना- [परिणामगुणः] जो कि परिणामगुणवाला है और [स्वयम् अशब्दः] स्वयं अशब्द है।

टीकाः-परमाणु भिन्न-भिन्न जाति के होने का यह खण्डन है।

मूर्तत्व के कारणभूत स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का, परमाणु से *आदेशमात्र द्वारा ही

---

* आदेश=कथन (मात्र भेदकथन द्वारा ही परमाणु से स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का भेद किया जाता है, परमार्थतः तो परमाणु से स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभेद है।)

भेद किया जाता है; वस्तुतः तो जिस प्रकार परमाणु का वही प्रदेश आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है; उसी प्रकार द्रव्य और गुण के अभिन्न प्रदेश होने से जो परमाणु का प्रदेश है, वही स्पर्श का है, वही रस का है, वही गन्ध का है, वही रूप का है। इसलिए किसी परमाणु में गन्धगुण कम हो, किसी परमाणु में गन्धगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणु में गन्धगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुण से अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा। इसलिए उस गुण की न्यूनता युक्त (उचित) नहीं है। (किसी भी परमाणु में एक भी गुण कम हो तो उस गुण के साथ अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जायेगा; इसलिए समस्त परमाणु समान गुणवाले ही है, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न जाति के नहीं हैं।) इसलिए पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चार धातुओं का, परिणाम के कारण, एक ही परमाणु कारण है (अर्थात् परमाणु एक ही जाति के होने पर भी वे परिणाम के कारण चार धातुओं के कारण बनते हैं); क्योंकि विचित्र ऐसा परमाणु का परिणामगुण कहीं किसी गुण की [१]व्यक्ताव्यक्तता द्वारा विचित्र परिणति को धारण करता है।

और जिस प्रकार परमाणु को परिणाम के कारण [२]अव्यक्त गन्धादिगुण हैं, ऐसा ज्ञात होता है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एकप्रदेशी परमाणु को अनेक प्रदेशात्मक शब्द के साथ एकत्व होने में विरोध है।।७८।।

---

१. व्यक्ताव्यक्तता=व्यक्तता अथवा अव्यक्तता; प्रगटता अथवा अप्रगटता। (पृथ्वी में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण यह चारों गुण व्यक्त (अर्थात् व्यक्तरूप से परिणत) होते हैं; पानी में स्पर्श, रस, और वर्ण व्यक्त होते हैं और गन्ध अव्यक्त होता है; अग्नि में स्पर्श और वर्ण व्यक्त है और शेष दो अव्यक्त होते हैं; वायु में स्पर्श व्यक्त होता है और शेष तीन अव्यक्त होते हैं।)

२. जिस प्रकार परमाणु में गन्धादिगुण भले ही अव्यक्तरूप से भी होते तो अवश्य हैं; उसी प्रकार परमाणु में शब्द भी अव्यक्तरूप से रहता होगा, ऐसा नहीं है, शब्द तो परमाणु में व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से बिल्कुल होता ही नहीं है।

गाथा - ७८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १२, सोमवार)

वेदान्त ऐसा कहता है कि 'पुद्गल अनादि से पाँच जाति के हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच महाभूत हैं। उसमें से यह शरीर बना है। हड्डियों को पृथ्वी का तत्त्व कहते हैं। खून को पानी का तत्त्व कहते हैं। जठर की उष्णता को अग्नि का तत्त्व कहते हैं। श्वास वायु का तत्त्व कहते हैं - इत्यादि प्रकार से पाँच महाभूत के पुतलेरूप यह शरीर बना है और मृत्यु होने पर आत्मा अनन्त में मिल जाता है, ऐसा कहते हैं और शरीर बिखरकर ऊपर कहे उन पाँच महाभूत के परमाणुरूप हो जाता है - इस प्रकार जो मानता है, वह उसका अज्ञानभाव है। उसे कहते हैं कि आत्मा किसी के साथ मिल नहीं जाता, परन्तु अकेला रहता है और परमाणु एक ही प्रकार के हैं, पाँच प्रकार के नहीं, परन्तु पृथ्वीकाय आदि की अलग-अलग अवस्थारूप होते हैं। यह स्पष्टता इस गाथा ७८ में कहते हैं।

परमाणु स्वयं द्रव्य अर्थात् गुणी है और उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण हैं। गुड़ और मिठास नाम अलग हैं परन्तु वस्तु अलग नहीं है, उसी प्रकार परमाणु के द्रव्य और गुण में नामभेद है, परन्तु वस्तुभेद नहीं। वेदान्त आदि पृथ्वी इत्यादि को अलग-अलग प्रकार के परमाणु कहते हैं, वह बात यथार्थ नहीं है। वह इस गाथा में बतलाते हैं। पृथ्वी के परमाणु पानीरूप होते हैं, मुर्दे में से पानी निकलता है। हड्डी के और पानी के परमाणु अलग जाति के नहीं हैं। परमाणु कायम रहकर पृथ्वी आदि रूप होते हैं। रूपान्तर होते हैं। और परमाणु में शब्द की व्यक्तता नहीं परन्तु शब्द की शक्ति है, शब्द का कारण है।

भावार्थ - परमाणु द्रव्य है और उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चार गुण हैं। कोई कहे कि जड़ में शक्ति नहीं है। कर्म की बात आवे तो कर्म आत्मा को भटकाते हैं, ऐसा कहता है तो कर्म जो जड़ हैं, और जिसमें शक्ति नहीं, वह किस प्रकार भटकावे? अर्थात् कि वहाँ कर्म को शक्तिवाला माने। और दूसरी बार कहे कि आत्मा हो तो शरीर चलता है, तो वहाँ शरीर को शक्तिहीन माना। इस प्रकार अज्ञानी को कुछ खबर नहीं

पड़ती। कर्मों को देखा नहीं, तथापि उसकी शक्ति मानता है। परन्तु जो यह शरीर दिखता है, उसकी शक्ति नहीं मानता। इस प्रकार वह भ्रमणा में वर्तता है।

जीव मुक्ति को चाहते हैं। मुक्ति अर्थात् पर से सम्पूर्ण पृथक् पड़ने की क्रिया। अब जो जीव शरीर की क्रिया में धर्म मानता है, उसे अभी पर से भिन्न हूँ, ऐसी श्रद्धा नहीं हुई तो फिर विकार से सर्वथा पृथक् होनेरूप मोक्षक्रिया उसे कहाँ से प्रगट होगी? पर से (पर के बिना) नहीं चलता, ऐसी एकत्वबुद्धि वही मिथ्या मान्यता है, ऐसे जीव को अपने में एकत्व होकर निराकुल शान्ति और एकाग्रता की क्रिया कभी प्रगट नहीं हो सकती। अज्ञानी अपने माने हुए उपधान करे, वर्षीतप करे, उसकी शोभायात्रा निकाले, दूसरों की सेवा करे, विधवा के आँसू पोंछे। हरितकाय न खाये, परन्तु उसमें कहीं धर्म नहीं है। अज्ञानी धर्म के नाम से गप्प-गोला चलाकर अन्दर में अज्ञानरूपी अन्धकार का सेवन कर रहा है।

जड़ और चेतन दोनों भिन्न हैं। दोनों शक्तिवाले तत्त्व हैं। धर्म करनेवाले को उसका ज्ञान होना चाहिए। जो तत्त्व हो, वह शक्ति बिना नहीं होता। स्वभाव बिना स्वभाववान नहीं होता, शक्ति बिना शक्तिवान नहीं होता। गुण बिना गुणी नहीं होता। दाल, भात, रोटी शरीर इत्यादि जड़पदार्थ हैं, वे स्वयं जड़ेश्वर हैं, उनकी क्रिया उनसे हो रही है। इस प्रकार पर से भिन्नता का ज्ञान करके मैं त्रिकाली शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी अन्तर भिन्नता, वह ज्ञान की अथवा धार्मिक क्रिया है, उसके फल में मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही पूर्ण सुख का उपाय है।

परमाणु, वह द्रव्य है, वह शक्तिवान है। शक्तिवान शक्ति अथवा गुण बिना नहीं होता, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण की शक्ति अथवा गुण है। इन चारों गुण से परमाणु को मूर्तिक कहा जाता है। परमाणु निर्विभाग है, वह अन्तिम अंश है। अभी जो एटमबम (अणुबम) कहते हैं, वह तो अनन्त स्कन्धों का बना हुआ है। परमाणु तो अन्तिम अविभागी अंश है और अभी के विज्ञानवाले कहते हैं कि 'परमाणु अर्थात् अन्तिम बिन्दु में कद नहीं, लाईन करें तो कद होता है।' परन्तु यह बात खोटी है। जो मूल परमाणु में कद न हो तो लाईन में कद नहीं आता। जो चीज़ हो, वह जगह रोकती है, जो जगह नहीं

रोकती, वह चीज़ नहीं कहलाती है। परमाणु एक द्रव्य है, वह जगह रोकता है। उसका कद है तो लाईन में कद आता है। वह परमाणु अकेला है, उसका जो प्रदेश आदि में है, वही मध्य में है और वही अन्त में है। तीन परमाणु हों तो पहला-पश्चात् कहलाये परन्तु परमाणु एक ही है, वह आदि-मध्य-अन्त में एक ही है। इस कारण से परमाणु के दो भाग नहीं होते और परमाणु के द्रव्य-गुण में प्रदेशभेद नहीं है। चीनी और मिठास का क्षेत्र पृथक् नहीं है। जो क्षेत्र चीनी का है, वही मिठास का है। इसी प्रकार परमाणु के गुण-गुणी में प्रदेशभेद नहीं है, इसलिए जो प्रदेश परमाणु का है, वही प्रदेश स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण का जानना। यह स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चारों गुण परमाणु में सदा काल देखने में आते हैं। परन्तु गौण-मुख्य के भेद से न्यूनाधिक रीति से इन गुणों का कथन किया जाता है। पृथ्वी, अग्नि, वायु इत्यादि अलग-अलग पुद्गल के परमाणु नहीं हैं, परन्तु परमाणु अलग-अलग अवस्था धारण करते हैं। कोई पृथ्वीरूप परिणमता है, कोई वाणीरूप परिणमता है। उसमें गुणों की पर्याय की न्यूनाधिकता से कथन करते हैं। पृथ्वी जाति के परमाणुओं में स्पर्शादि चारों गुणों की मुख्यता है, पानी में गन्धगुण की गौणता है और बाकी के तीन गुणों की मुख्यता है। इसलिए पानी में गन्ध है ही नहीं, ऐसा नहीं समझना परन्तु गन्ध की इन्द्रियग्राह्य व्यक्तता नहीं है, इसलिए गन्ध की गौणता कही है।

यह पुद्गल का विज्ञान है, यह पुद्गल का स्वभाव बतलाते हैं, उसका परिणमन उसके कारण से हो रहा है। आत्मा उसका कर्ता नहीं, आत्मा उसका ज्ञातादृष्टा है, ऐसा कहने का सार है।

गाथा - ७८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १३, मंगलवार)

यह पुद्गल अस्तिकाय का वर्णन है। पाँच अस्तिकाय और काल का स्वरूप भगवान ने जैसा देखा, वैसा वाणी द्वारा आया और जिसकी जैसी योग्यता थी, तद्नुसार समझे। भगवान, वाणी दूसरे की दशा का कर्ता नहीं है।

आज भगवान महावीर का जन्मकल्याणक दिन है। बहुत लोग भाषण करेंगे कि भगवान ने कितनों को मोक्ष दिलाया, अज्ञान टाला। परन्तु वे सब कथन निमित्त से है।

भगवान किसी का अज्ञान टालते नहीं और किसी को ज्ञान देते नहीं। वाणी, वाणी के कारण से निकलती है, तब भगवान के कारण से वाणी निकली, ऐसा कहा जाता है और सब अपने-अपने कारण से ज्ञान करते हैं तो भगवान की वाणी को निमित्त कहा जाता है। तो फिर भगवान के गुण किसलिए गाना चाहिए? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान यह है कि जिसे जो रुचता है, उसके गीत वह गाता है। पर के गीत गाता है, ऐसा कहना, वह निमित्त से है। भगवान तीर्थ के कर्ता हों तो भगवान और सामनेवाले जीव दोनों स्वतन्त्र नहीं रहते। भगवान ने तो प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा पीटा है। भगवान ने तो अपने में केवलज्ञान दशा प्रगट की है, पर का कुछ नहीं किया।

उन भगवान के ज्ञान में परमाणु का स्वरूप क्या आया, वह बताते हैं। कितने ही लोग पृथ्वी, वाणी, अग्नि के परमाणु को भिन्न-भिन्न प्रकार के कहते हैं, परन्तु वह बात सत्य नहीं है। जिस प्रकार निगोद से लेकर सिद्ध तक के जीव एक ही प्रकार के हैं, जाति में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु पर्याय में अन्तर है; उसी प्रकार पृथ्वी, जल इत्यादि के परमाणु की जाति एक है, जाति अलग नहीं परन्तु पर्याय में अन्तर है। पर्यायभेद से भेद पड़ता है। पृथ्वी के परमाणु में चार गुणों की पर्याय की मुख्यता है। जल में गन्ध की गौणता है और दूसरे तीन गुणों की मुख्यता है। अग्नि में गन्ध और रस की गौणता है, और स्पर्श, वर्ण की मुख्यता है। वायु में तीन गुणों की गौणता है और स्पर्शगुण की मुख्यता है।

परमाणु अनेक प्रकाररूप पलटते हैं, वे अपने पर्यायस्वभाव के कारण पलटते हैं। जीव के कारण वे नहीं परिणमते। नमक का पृथ्वीकाय जीव है, इसलिए नमकरूप शरीर की अवस्था होती है, ऐसा नहीं है, पानी का जीव अन्दर है, इसलिए पानीरूप शरीर होता है, ऐसा नहीं है। अग्नि का जीव अन्दर है, इसलिए उष्णरूप शरीर हुआ है, ऐसा नहीं है। जड़ परमाणुओं की पर्यायों के कारण से शरीर हो रहा है, जीव उस शरीर की पर्याय का कर्ता नहीं है।

दूसरे शास्त्र में ऐसा कथन आता है कि शुभभाव के कारण द्रव्यकर्म बँधते हैं और द्रव्यकर्म के कारण शरीर मिलता है, वह कथन निमित्त का है। शरीर, शरीर के

कारण से मिलता है तो कर्म को निमित्त कहा जाता है और कर्म को शुभभाव निमित्त कहा जाता है। यहाँ कर्म की और जीव की बात नहीं ली है। प्रत्येक पुद्गल की पर्याय स्वयं के कारण से है।

प्रश्न - दो में से कौन सी बात मानना?

समाधान - दोनों समझना। कर्म, कर्म के कारण से है, उसमें शुभभाव निमित्त है और शरीर, शरीर के कारण से होता है, उसमें कर्म निमित्त है। निमित्त का ज्ञान करना परन्तु समझना कि पृथ्वी के परमाणु की दशा स्वतन्त्र हुई है। यहाँ तो जो जीव पृथ्वी आदि के परमाणु अलग जाति के कहते हैं, उन्हें समझाते हैं कि वे अलग जाति के नहीं हैं। परमाणु की जाति एक है, परन्तु उसकी पर्याय बदलती है। और कोई कहता है कि 'हम पंच महाभूत कहते हैं और तुम पुद्गल कहते हो, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, एक ही है।' तो कहते हैं कि दोनों में बहुत अन्तर-भेद है। पंच महाभूत में तो परमाणु अलग-अलग जाति के मानते हैं, वह मान्यता सच्ची नहीं है। परमाणु की जाति एक है परन्तु पर्याय में अन्तर है। किसी समय एक गुण की मुख्यता अथवा गौणता से अनेक प्रकार के परिणाम पर्याय में अलग-अलग दिखते हैं, परन्तु परमाणु की जाति एक है।

प्रश्न - जिस प्रकार परमाणु अवस्था धारण करते-करते पृथ्वी, पानीरूप होते हैं, उसी प्रकार एक परमाणु शब्द करता होगा? - ऐसी शंका कोई करे तो उसका **समाधान—**

परमाणु एक प्रदेशी है। उसमें शब्द व्यक्त करने की ताकत नहीं है। अनेक परमाणु के स्कन्ध में से शब्द परिणमते हैं, इसलिए परमाणु अशब्दमय है अर्थात् कि एक परमाणु में शब्द व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है।

भगवान ने वाणी निकाली, ऐसा जो कहा जाता है, वह निमित्त का कथन है। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि मैं वाणी कर नहीं सकता। वाणी, वाणी के कारण से निकलती है और वाणी निकलती है, इसलिए तुम समझोगे, ऐसा नहीं है। तुम तुम्हारे कारण से समझते हो। छहों द्रव्य स्वतन्त्र है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा भगवान की वाणी में आता है। भव्य जीव वह वाणी समझते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। कोई किसी को तिरा नहीं देता, तथापि अपूर्ण दशा में भगवान के प्रति शुभराग आये

बिना नहीं रहता। नन्दीश्वर द्वीप में भगवान की शाश्वत् प्रतिमायें हैं और वहाँ इन्द्र जाकर महोत्सव करते हैं और नृत्य करते हैं, तथापि भान है कि शरीर की क्रिया और पुण्य, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। हम तो शुद्ध आत्मा हैं। भगवान की वाणी में ऐसा आया और इन्द्र भी ऐसा ही समझते हैं।

आज भगवान महावीर का जन्मकल्याणक दिन है। लोग जन्मजयन्ती कहते हैं, वह बराबर नहीं है। साधारण लौकिक लोगों की जन्मतिथि को जयन्ती कहते हैं। जयन्ती और जन्मकल्याणक में बहुत अन्तर है। जन्मकल्याणक तो अलौकिक पुरुष के होते हैं। साधारण लोगों के जन्मकल्याणक नहीं मनाये जाते। साधारण लोग माता के गर्भ में आवें, जन्म लें, दीक्षा लें तो उनके कल्याणक नहीं मनाये जाते। तीर्थंकर के ही पाँच कल्याणक मनाये जाते हैं। चौदह पूर्व में कल्याणवाद नाम का ग्यारहवाँ पूर्व है, उसमें भगवान के गर्भ आदि कल्याणक का वर्णन आता है। तीर्थंकर भगवान जन्म से तीन ज्ञान लेकर अवतरित होते हैं। आत्मा का भान है और मुनिपना लेकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, तब दिव्यध्वनि खिरेगी। वे भगवान पवित्रता में और पुण्य में पूरे हैं और उनकी अलौकिक वाणी निकलेगी। इन्द्र को भान है कि इन भगवान का जन्म हुआ है और भगवान पूर्ण दशा को प्राप्त करेंगे, तब सहज वाणी खिरेगी। उस वाणी में ऐसा आयेगा कि 'तेरी प्रभुता से तू मोक्ष प्राप्त करेगा, तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों की प्रभुता है। तू तुझे समझेगा तो प्रभु होगा। हमारे से तू तिरेगा नहीं, तथा इस वाणी के हम कर्ता नहीं। ऐसी स्वतन्त्र बात आयेगी।'—ऐसा इन्द्र जानते हैं, इसलिए वैसे पुरुष के प्रति बहुमान और भक्ति आती है और उनके कल्याणक मनाते हैं और स्वयं स्वयं से समझा है, ऐसा भान है, उसका आरोप और बहुमान भगवान के ऊपर करते हैं।

परन्तु जो अज्ञानी प्ररूपक ऐसा कहते हैं कि 'हमारी वाणी से तुम तिरोगे, तुम्हारी पामरता होने पर भी हमारी प्रभुता की मदद से तुमको तारूँगा'—ऐसे एक के कारण दूसरे में कार्य होता है, ऐसा माननेवाले अपने को पराधीन मानते हैं। वे सुननेवाले जीवों को भी पामर मानते हैं, इसलिए उनके अभिप्राय में पूरे जगत के जीव पामर हैं। ऐसे अज्ञानी जीव की वाणी धर्मी जीव नहीं सुनता और उसके कल्याणक नहीं मनाये जाते।

धर्मी समझता है कि यह जीव मुझे पामर बनाता है और दूसरे की प्रभुता में आक्षेप करता है। दूसरे जीव के राग-द्वेष टाल सकेगा, ऐसा कहनेवाला राग-द्वेष की प्रभुता को भी नहीं समझता, क्योंकि सामने जीव राग-द्वेष करने में भी स्वतन्त्र है। स्वयं विकार करे तो होता है और स्वभावसन्मुख हो तो राग-द्वेष नहीं होते। अज्ञानी के वाक्य निर्बल हैं। किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो और किसी के श्राप से अकल्याण हो, ऐसा कहनेवाला वस्तु की स्वतन्त्रता को नहीं समझता। जो तत्त्व को पराधीन मानता है, उसका ज्ञान दोषवाला और रागवाला है। जो तत्त्व को स्वाधीन मानता है, उसका ज्ञान निर्दोषतावाला और वीतरागता सहित है। निर्दोषता और वीतरागता पूज्य हो सकती है, दोष और राग पूज्य नहीं होते। ज्ञानी को अपने स्वभाव का भान है, वह स्वतन्त्रता समझता है, इसलिए निश्चय से अपने निर्दोष सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान को पूजता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि 'निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द लो जहाँ भी प्राप्त हो, वह दिव्य अन्त:तत्त्व जिससे बन्धनों से मुक्त हो।' लो, चाहे जहाँ से अर्थात् पर में से लेने का नहीं है परन्तु अपने शुद्ध स्वभाव में से लेने को कहते हैं। स्वयं चिदानन्द आत्मा है, ऐसा भान करे तो पर्याय में से परतन्त्रता का नाश होकर स्वतन्त्रता प्रगट होती है और निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्द प्रगट होता है। अपने अपराध के कारण से पर्याय में जंजीरों से बँधता है, ऐसा भान करे तो पृथक् होता है।

और कोई कहता है कि 'अनन्त उपकारी जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि जीव कर्मों से भटकता है' परन्तु यह बात एकदम मिथ्या है। भगवान कहते हैं कि तू तेरी भूल से भटका, ऐसा अनारोप कथन समझे, तब कर्म से भटका, ऐसा आरोपित-उपचार कथन आता है। और भक्ति में कथन आवे कि 'हे भगवान! तुझसे संसार टला', उसका अर्थ ऐसा है कि 'हे आत्मा! तेरे स्वभाव में संसार नहीं, संसार एक समय की पर्याय में है, स्वभाव में नहीं।' स्वभाव का भान होने पर संसार टल जाता है, उसका आरोप भगवान पर आता है। अभी तो अज्ञान बहुत चल रहा है। दुष्काल के समय किसी ने रुपये ५०० की मदद दी तो मदद लेनेवाला कहता है कि सेठ के कारण दुष्काल की कठिनता व्यतीत हो गयी। देनेवाला सेठ भी ऐसा मानता है कि मेरे कारण पर की

अवस्था हुई। ऐसे दोनों रंक इकट्ठे हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि किसी का लिया लिया नहीं जाता, किसी का दिया दिया नहीं जाता। अज्ञानी जीव व्यर्थ में उल्टा मान रहा है।

यह सब बात शब्दसमय में से निकली है। शब्द अथवा वाणी स्वतन्त्र है। आज भगवान का जन्मदिवस है, इसलिए गाँव-गाँव में भाषण होंगे कि 'भगवान ने यज्ञ में से बकरों को बचाया, स्त्री को हक दिलाया इत्यादि', ऐसा कहनेवाले भगवान की वाणी को नहीं समझते। ऐसी भगवान की वाणी नहीं हो सकती। स्त्री को साधुपद नहीं होता, स्त्री और पुरुष का आत्मा समान होने पर भी पर्याय में अन्तर है। साधुपद अंगीकार करने के लिये जितनी वीतरागता चाहिए, उतनी स्त्री की पर्याय में प्रगट नहीं हो सकती। समकिती स्त्रियाँ समझती हैं कि हमारा आत्मा द्रव्य और गुण से समान होने पर भी, पर्याय की हद इतनी ही है कि पाँचवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ते। और मुनिपने में वस्त्र का राग रह जाये, ऐसा नहीं हो सकता। मुनिपने में वस्त्र के प्रति राग नहीं होता। मुनि निर्ग्रन्थ—दिगम्बर ही होते हैं। ऐसी जिस-जिस भूमिका की जितनी-जितनी हद है, तत्प्रमाण बतलावे, वह वाणी सच्ची है। वस्त्रसहित मुनिपना बतलावे, स्त्री को मुनिपना और मोक्ष माने, वह वाणी और शास्त्र सच्चे नहीं हैं। सूत्रपाहुड़ में आचार्य कहते हैं कि जो कोई जीव सूत्र से एक शब्द आड़ा-टेढ़ा करे, वह अनन्त संसारी है, वैसा जीव पूजनीय नहीं है। जिसने सर्वज्ञ की परम्परा से चले आ रहे सूत्रों में फेरफार करके मिथ्याशास्त्र रचे हैं, उसमें मिथ्यादृष्टि निमित्त है, समकिती निमित्त नहीं।

और कोई ऐसा **कहता** है कि भाषा मिथ्यारूप से निकले, उसके कहाँ हम कर्ता हैं ? हम भाषा के या शब्द के कर्ता नहीं हैं।

समाधान - भाषा के कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं है, यह बात बराबर है। परन्तु भाषा हुई, उस समय किस जीव का निमित्त था, वह वाणी द्वारा निश्चित किया जा सकता है। शास्त्र के शब्दों के कर्ता तो पुद्गल परमाणु हैं, परन्तु वे शास्त्र उल्टे और विरुद्ध लिखने के भाव का कर्ता अज्ञानी जीव है, इसलिए उसमें अज्ञानी जीव निमित्त है, ऐसा कहा जा सकता है। जैसे कि एक जगह पाँच श्रीफल पड़े हैं, तथापि कोई जीव

कहे कि वहाँ तीन श्रीफल पड़े हैं तो 'तीन श्रीफल पड़े हैं' ऐसे शब्द तो शब्दों के कारण से निकलते हैं परन्तु पीछे उसका ज्ञान खोटा है, ऐसा सिद्ध होता है। वाणी के कारण से नहीं परन्तु वाणी के पीछे रहा हुआ (बोलनेवाले का) ज्ञान खोटा है, ऐसा सामनेवाला जीव अपने ज्ञान से निर्णय करता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के शास्त्र के कथन में आवे कि मुनि को वस्त्र होता है, स्त्री को मुनिपना होता है, तो वहाँ उन शब्दों का तो पुद्गल के कारण से परिणमन हुआ है, आत्मा उनका कर्ता नहीं है, परन्तु उन शब्दों में निमित्तरूप से अज्ञानी जीव है, ऐसा निश्चित होता है और वीतराग की वाणी में ऐसा आता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, मुनिपने में वस्त्र नहीं होते, स्त्री को पाँचवें गुणस्थान से अधिक नहीं होता। वहाँ वाणी तो वाणी के कारण से है, परन्तु वाणी के पीछे रहा हुआ ज्ञान सम्यग्ज्ञानी का अथवा केवलज्ञानी का है अथवा लेखन के ऊपर से शास्त्र का लिखनेवाला ज्ञानी है, ऐसा निश्चित होता है। भगवान की वाणी को भी सत् कहा है और उसे पूजनीक कहा है। जिस प्रकार के शब्द होते हैं, उसके पीछे अज्ञान काम करता है या ज्ञान काम करता है, उसका ख्याल ज्ञानी को आ जाता है।

सत्तास्वरूप में दृष्टान्त दिया है कि एक बन्द कमरे में एक कलाबाज सितार बजा रहा है और बहुत सरस बजाता है। दूसरा होशियार व्यक्ति दूर खेत में बैठे-बैठे सुनता है। सुननेवाले ने संगीत बजानेवाले को देखा नहीं, कमरा भी बन्द है, तथापि उसका सितार बजाने का ढंग और सुर कान में पड़ने पर सुननेवाला होशियार व्यक्ति उस सुर के आधार से निर्णय करता है कि यह बजानेवाला होशियार होना चाहिए। ऐसा सुर के आधार से उसकी उस जाति की ज्ञानकला का ख्याल करता है। सुर तो पुद्गल की पर्याय है और ज्ञानकला तो आत्मा की है, तथापि ऐसे सुन्दर सुर और ज्ञानकला को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, इसके आधार से निर्णय करता है।

इसी प्रकार तीर्थंकर, केवली मुनि धर्मात्मा ज्ञानी ज्ञानकला से भरपूर हैं, उनका आत्मा तो अन्दर शरीर में है। ज्ञानी का आत्मा दिखता नहीं, परन्तु उनके ज्ञान के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध धराती वाणी निकलती है, उसमें छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं, इत्यादि प्रकार से यथार्थ बतलाते हैं, इस आधार से सुननेवाला निर्णय करता है कि पीछे रहा

हुआ आत्मा ज्ञानी है। इससे उल्टा, जो वाणी पराधीनता बतलावे, आत्मा को वाणी का कर्ता बतलावे, उस वाणी के आधार से सुननेवाला निर्णय करता है कि पीछे रहा हुआ आत्मा मिथ्यादृष्टि है। शब्द तो शब्द के कारण से परिणमते हैं परन्तु पीछे रहा हुआ आत्मा निमित्तरूप कैसा है, वह यथार्थ जाना जा सकता है, तथापि आत्मा के कारण वाणी का परिणमन नहीं हुआ है। और जैसे संगीत सुननेवाला होशियार व्यक्ति हो, वह परख सकता है परन्तु अज्ञानी संगीत सुने तो नहीं परख सकता; उसी प्रकार यहाँ भी वाणी का सुननेवाला होशियार होगा तो परख सकेगा कि यह ज्ञानी की वाणी है और यह अज्ञानी की है। अज्ञानी भेद नहीं कर सकेगा। इसलिए जिसकी योग्यता है, वह समझेगा। वाणी के कारण कोई समझता नहीं। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यादृष्टि की वाणी अच्छी लगेगी; धर्मी जीव को ज्ञानी की वाणी अच्छी लगेगी। तथापि ज्ञानी वाणी का कर्ता नहीं और वाणी के कारण सुननेवाला जीव समझता नहीं। सब स्वतन्त्र हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं, और जिनकी उल्टी प्ररूपणा है, उनके कल्याणक नहीं मनाये जाते परन्तु जो सर्वज्ञ हैं, पवित्रता में और पुण्य में पूरे हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान के जन्मकल्याणकादि प्रसंग मनाये जाते हैं।

एक परमाणु जो रूपी है, उसमें शब्द व्यक्त करने की ताकत नहीं है तो फिर आत्मा जो अरूपी है, वह शब्द का कर्ता हो ही नहीं सकता, तथापि शब्द के पीछे निमित्त भी कौन है, उसका ख्याल आ सकता है।

यहाँ गाथा में ऐसा कहा है कि अनेक परमाणु के स्कन्ध से शब्द उत्पन्न होता है परन्तु एक परमाणु में शब्द करने की ताकत नहीं है, इसलिए परमाणु अशब्दमय है।

●●

गाथा - ७९

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो।।७९।।

शब्दः स्कंधप्रभवः स्कंधः परमाणुसङ्गसङ्घातः।
स्पृष्टेषु तेषु जायते शब्द उत्पादिको नियतः ।।७९।।

समयव्याख्या : शब्दस्य पुद्गलस्कंधपर्यायत्वख्यापनमेतत्। इह हि बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनिः शब्दः। स खलु स्वरूपेणानंतपरमाणूनामेकस्कंधो नाम पर्यायः। बहिरङ्गसाधनीभूतमहास्कंधेभ्यः तथाविधपरिणामेन समुत्पद्यमानत्वात् स्कंधप्रभवः, यतो हि परस्पराभिहतेषु महास्कंधेषु शब्दः समुपजायते। किं च स्वभावनिर्वृत्ताभिरेवानंतपरमाणुमयीभिः शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समंततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र यत्र बहिरङ्गकारणसामग्री समुदेति तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं व्यपरिणमंत इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कंधप्रभत्वमिति ।।७९।।

स्कन्धों के टकराव से शब्द उपजें नियम से।
शब्द स्कन्धोत्पन्न है अर स्कन्ध अणु संघात है।।७९।।

अन्वयार्थ :- [शब्दः स्कंधप्रभवः] शब्द स्कन्धजन्य है। [स्कंधः परमाणुसंगसंघातः] स्कन्ध परमाणुदल का संघात है, [तेषु स्पृष्टेषु] और वे स्कन्ध स्पर्शित होने से-टकराने से [शब्दः जायते] शब्द उत्पन्न होता है; [नियतः उत्पादिकः] इस प्रकार वह (शब्द) नियतरूप से उत्पाद्य हैं।

टीकाः-शब्द पुद्गलस्कन्धपर्याय है, ऐसा यहाँ दर्शाया है।

इस लोक में, बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा [१]अवलम्बित भावेन्द्रिय द्वारा जाननेयोग्य ऐसी जो ध्वनि, वह शब्द है। वह (शब्द) वास्तव में स्वरूप से अनन्त परमाणुओं के एक

---

१. शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय है, इसलिए वह मूर्त है। कुछ लोग मानते हैं तद्नुसार शब्द आकाश का गुण नहीं है, क्योंकि अमूर्त आकाश का अमूर्त गुण इन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता।

स्कन्धरूप पर्याय है। बहिरंग साधनभूत (–बाह्य कारणभूत) महास्कन्धों द्वारा तथाविध परिणामरूप (शब्दपरिणामरूप) उत्पन्न होने से वह स्कन्धजन्य हैं, क्योंकि महास्कन्ध परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। पुनश्च यह बात विशेष समझाई जाती है:–एक–दूसरे में प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित ऐसा जो स्वभावनिष्पन्न ही (–अपने स्वभाव से ही निर्मित), अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य–वर्गणाओं से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ–जहाँ बहिरंगकारण सामग्री उदित होती है, वहाँ–वहाँ वे वर्गणाएँ [२]शब्दरूप से स्वयं परिणमित होती हैं; इस प्रकार शब्द नित्यतरूप से (अवश्य) [३]उत्पाद्य है; इसलिए वह [४]स्कन्धजन्य है।।७९।।

---

२. शब्द के दो प्रकार हैं:–(१) प्रायोगिक और (२) वैश्रसिक। पुरुषादि के प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले शब्द, वह प्रायोगिक हैं और मेघादि से उत्पन्न होनेवाले शब्द वैश्रसिक हैं। अथवा निम्नोक्तानुसार भी शब्द के दो प्रकार हैं:–(१) भाषात्मक और (२) अभाषात्मक। उनमें भाषात्मक शब्द द्विविध हैं–अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। संस्कृत प्राकृतादिभाषारूप से वह अक्षरात्मक हैं और द्वीन्द्रियादिक जीवों के शब्दरूप तथा (केवली भगवान की) दिव्यध्वनिरूप से वह अनक्षरात्मक हैं। अभाषात्मक शब्द भी द्विविध हैं–प्रायोगिक और वैश्रिसिक। वीणा, ढोल, झांझ, बंसरी आदि से उत्पन्न होता हुआ प्रायोगिक है और मेघादि से उत्पन्न होता हुआ वैश्रसिक है।

किसी भी प्रकार का शब्द हो किन्तु सर्व शब्दों का उपादानकारण लोक में सर्वत्र व्याप्त शब्दयोग्य वर्गणाएँ ही है; वे वर्गणाएँ ही स्वयमेव शब्दरूप से परिणमित होती हैं, जीभ–ढोल–मेध आदि मात्र निमित्तभूत हैं।

३. उत्पाद्य=उत्पन्न करानेयोग्य; जिसकी उत्पत्ति में अन्य कोई निमित्त होता है ऐसा।

४. स्कन्धजन्य=स्कन्धों द्वारा उत्पन्न हो ऐसा; जिसकी उत्पत्ति में स्कन्ध निमित्त होते हैं ऐसा। (समस्त लोक में सर्वत्र व्याप्त अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणाएँ स्वयमेव शब्दरूप परिणमित होने पर भी वायु–गला–तालुं–जिह्वा–ओष्ठ, घंटा–मोगरी आदि महास्कन्धों का टकराना, वह बहिरंगकारण सामग्री हैं अर्थात् शब्दरूप परिणमन में वे महास्कन्ध निमित्तभूत हैं; इसलिए उस अपेक्षा से (निमित्त–अपेक्षा से) शब्द को व्यवहार से स्कन्धजन्य कहा जाता है।)

गाथा - ७९ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १४, बुधवार)

आत्मा और शब्द दोनों भिन्न चीज़ है। शब्द आत्मा से नहीं बोला जाता। शब्द पुद्गल की पर्याय है और आत्मा से भिन्न है। जिसे धर्म प्रगट करना है, उसे परपदार्थ के कर्तृत्व का अभिमान छोड़ना चाहिए। अभिमान कब टलता है ? मैं और भाषा दोनों भिन्न हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूपी हूँ, ऐसा भान करे तो धर्म होता है। परन्तु ऐसा भान न करे और कहे कि इस प्रकार से उपदेश देना चाहिए, दूसरे की दया पालना चाहिए, इत्यादि प्रकार से मानना, वह भ्रान्ति है।

शब्द पुद्गल की पर्याय है, यह बताते हैं।

शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। कोई भाववाली चीज़ है तो पर्याय पलटकर शब्द होता है। आत्मा है, इसलिए शब्द होता है, ऐसा नहीं है। शब्द स्कन्ध से होता है और वह अनन्त परमाणु के मिलाप से स्कन्ध होता है। उन स्कन्धों का परस्पर संघठन (घर्षण) होता है, तब भाषावर्गणा के परमाणु शब्दरूप परिणमते हैं, आत्मा के कारण शब्द नहीं होता।

इसमें धर्म क्या आया ? जो चीज़ तेरे स्वभाव को धार रखे, वह तेरी चीज़ है। जो जड़ स्वभाव को धार रखे, वह जड़ है, वह तेरी चीज़ नहीं। तू ज्ञानस्वरूपी है, तेरा धर्म जड़ से नहीं होता और जड़ का धर्म तुझसे नहीं होता, ऐसा समझे तो धर्म होता है। सामायिक के पाठ में बोले कि 'तावकायम ठाणेणं मोणेणं' परन्तु अर्थ की खबर नहीं होती, शरीर को स्थिर रखूँ और मौन रहूँ - यह सब कथन निमित्त से है। काया को कौन स्थिर रखे ? वाणी को मौन कौन रख सकता है या बोल सकता है ? मन को कौन दबावे ? मन-वचन-काया पुद्गलस्कन्धरूप अवस्था है, आत्मा उसे नहीं कर सकता। ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

भावार्थ - द्रव्य कर्णेन्द्रिय के निमित्त से भाव कर्णेन्द्रिय द्वारा जो आवाज जानने में आती है, उसे शब्द कहते हैं। यह कान तो जड़ है परन्तु कान के विकास द्वारा और कान के निमित्त से यह शब्द है, ऐसा ज्ञात होता है। शब्द ज्ञान नहीं है और ज्ञान शब्द

नहीं है। वीतराग का उपदेश परमाणु की पर्याय है, उससे आत्मा को ज्ञान नहीं होता। ज्ञान पर्याय क्षण-क्षण में शब्द को जानती है, उसमें कान निमित्त है। वे शब्द अनन्त परमाणु के स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं। परस्पर महास्कन्धों का संघर्षण होता है, तब शब्द होते हैं। भाषा होने के योग्य भाषावर्गणा तीन लोक में भरी पड़ी है।

और जैसे चने के मोटे आटे में से मगज होता है और बारीक आटे में से मैसूर होता है, उसी प्रकार बहुत स्थूल परमाणु में से औदारिकशरीर होता है और सूक्ष्म परमाणु में से भाषा होती है। यह होंठ और दाँत स्थूल परमाणु के बने हुए हैं, उनमें से भी भाषा नहीं होती तो फिर आत्मा से भाषा हो, ऐसा कभी नहीं होता।

जहाँ-जहाँ शब्द उत्पन्न करने के लिये बाह्य सामग्री का संयोग मिलता है, वहाँ-वहाँ शब्द योग्य वर्गणा स्वयमेव शब्दरूप परिणमती है। उसका अर्थ ऐसा है कि भाषा के योग्य परमाणु भाषारूप परिणमते हैं, तब बाह्य सामग्री को निमित्त कहा जाता है परन्तु बाह्य सामग्री के कारण भाषा होती है, ऐसा नहीं है। जैसे घर में अलग-अलग प्रकार का आटा होता है, उसकी अलग-अलग चीज़ें—लापसी, मैसूर आदि बनते हैं, वहाँ वे-वे परमाणु स्वयमेव उसरूप परिणमते हैं तो बाई की इच्छा को निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी कहता है कि मुझसे होता है, यही भ्रमणा है। बाजार में से चावल, बाजरा, सब्जी इत्यादि लेकर आवे तो अज्ञानी कहता है कि जैसी मेरी इच्छा हुई, वैसी चीज़ ले आया। यही भ्रमणा है। वे सत्तावाले पदार्थ स्वयं से हैं या तेरे कारण से हैं ? वे जड़तत्त्व स्वयं से हैं, स्वयं से रूपान्तर होकर क्षेत्रान्तर पाते हैं। उसी प्रकार भाषावर्गणा के परमाणु अपने आप ही शब्दरूप परिणमते हैं तो बाह्य सामग्री को निमित्त कहा जाता है। यह उपदेश इच्छा से नहीं निकलता। अपने आप परिणम जाता है। निमित्त आता है, इसलिए परिणमता है, ऐसा नहीं है। भाषा, भाषा के कारण से है, इच्छा निर्बलता से होती है। आत्मा उस इच्छारहित ज्ञाता है, ऐसा निर्णय करे तो धर्म होता है।

कोई मतवाला शब्द को आकाश का गुण कहता है, परन्तु वह आकाश का गुण कदापि नहीं है। आकाश अरूपी है। अरूपी के द्रव्य-गुण और पर्याय अरूपी होते हैं। शब्द आकाश का गुण हो तो शब्द अरूपी सिद्ध होने से कान द्वारा ग्राह्य नहीं होना चाहिए।

इन्द्रियाँ मूर्तिक हैं और इन्द्रियों द्वारा जो ग्रहण होता है, वह भी मूर्तिक है। शब्द तो इन्द्रिय से ग्राह्य होता है, इसलिए शब्द मूर्तिक है। वह अमूर्तिक आकाश का गुण नहीं है।

शब्द दो प्रकार के हैं—एक प्रायोगिक और दूसरा वैसर्सिक।

प्रायोगिक - जो पुरुषादिक के सम्बन्ध से होता है, उसे प्रायोगिक कहते हैं। भाषा में आत्मा के भाव का निमित्त है। इसलिए प्रायोगिक कहते हैं। जीव की इच्छा के कारण भाषा परिणमती है, ऐसा नहीं है और उस परमाणु की भाषारूप परिणमने की योग्यता नहीं थी और पुरुष की इच्छा हुई, इसलिए भाषा होती है, ऐसा प्रायोगिक का अर्थ नहीं है। भाषावर्गणा अपने कारण से शब्दरूप परिणमती है, उसमें जीव का प्रयत्न आदि कारण निमित्त है, इसलिए उसे प्रायोगिक कहते हैं।

वैसर्सिक - जो मेघादि से उत्पन्न होते हैं, वे वैसर्सिक हैं। उसमें जीव का निमित्तपना नहीं है, ऐसा बतलाना है और प्रायोगिक में जीव का निमित्तपना बतलाना है। बाकी तो दोनों प्रकारों में स्वयं के कारण से ही परिणमन होता है।

और शब्द भाषा-अभाषा दो प्रकार से है। उसमें से भाषात्मक शब्द अक्षर-अनक्षर के भेद से दो प्रकार के हैं। संस्कृत, प्राकृत, आर्य, म्लेच्छ आदि से भाषारूप जो शब्द हैं, वे अक्षरात्मक हैं। वह जड़ का परिणमन है। जड़ की पर्याय का अभिमान करे, वह अज्ञानी है। जो जीव जड़ की पर्याय से पृथक् नहीं पड़ता, वह विकार से तो कभी पृथक् नहीं पड़ सकता। दो इन्द्रियादि जीवों की तथा मक्खी, मच्छर इत्यादि की भाषा अनक्षरात्मक है और भगवान की दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक है। भगवान की वाणी में शब्द क्रमपूर्वक नहीं बोले जाते। जो ऐसा कहते हैं कि भगवान गौतम गणधर तथा दूसरे अलग-अलग व्यक्तियों को सम्बोधन कर क्रमपूर्वक बोलते हैं, वह भगवान की वाणी को भी नहीं समझते। भगवान को तो असंख्य प्रदेश से अनक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है। छद्मस्थदशा में कषाय होती है, वहाँ तक उसके निमित्त से वाणी क्रमवाली होती है और अकषायदशा प्रगट करके सर्वज्ञपद प्राप्त होने पर वाणी अक्रम से निकलती है। उस वाणी को बारह सभा में देव, मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं और प्रत्येक सुननेवाले को ऐसा लगता है कि मेरी भाषा में भगवान बोलते हैं। परन्तु

वहाँ तो अक्रम अनक्षरात्मक वाणी है।

और कोई **कहता** है कि दो इन्द्रियादि जीवों की अनक्षरात्मक वाणी और भगवान की अनक्षरात्मक वाणी में क्या अन्तर हैं?

समाधान - एक हरिजन और एक चक्रवर्ती मनुष्यपने की अपेक्षा से समान हैं, तथापि पर्याय अपेक्षा से और पुण्य अपेक्षा से बड़ा अन्तर है; उसी प्रकार दोनों को अनक्षरात्मक होने पर भी बड़ा अन्तर है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि मक्खी जो भाषा बोलती है, उसकी कर्ता मक्खी नहीं, उसी प्रकार दिव्यध्वनि के कर्ता भगवान नहीं परन्तु भाषा के परमाणु स्वतन्त्ररूप से भाषारूप परिणमित हो जाते हैं।

और अभाषात्मक शब्दों के दो भेद हैं — एक प्रायोगिक और एक वैसर्सिक। पुरुष के सम्बन्ध से हों, वह प्रायोगिक है। प्रायोगिक में तत्, वितत्, घन, सुषिरादि रूप जानना। वाणी और वाजिन्त्र से जो आवाज हो, वह तत् कहलाती है, उसमें पुरुष की अँगुली का निमित्त है। ढोल आदि से उत्पन्न हो, वह वितत् शब्द कहलाते हैं। वह अभाषात्मक शब्द है। झांझ, करताल से शब्द उत्पन्न हो, उसे घन कहते हैं। बांसुरी के निमित्त से जो शब्द उत्पन्न हो, उसे सुषिर कहते हैं। इस प्रकार प्रायोगिक अभाषात्मक शब्द के चार भेद जानना। उसमें पुरुषादि का निमित्त है, इसलिए उसे प्रयोगिक कहते हैं। परन्तु जीव के कारण वह स्वर आदि का परिणमन नहीं होता। अज्ञानी जीव अभिमान करता है कि हमें बांसुरी बजाना आता है, इसलिए बजा सकते हैं। जिसे नहीं आता हो, उसे बांसुरी दो तो क्या वह बजा सकेगा? इस प्रकार अज्ञानी जीव जड़ का स्वामी होकर अभिमान करता है।

जो मेघादि से उत्पन्न होता है, उसे वैसर्सिक अभाषात्मक शब्द कहते हैं। इस प्रकार समस्त प्रकार के शब्द पुद्गल स्कन्धों से उत्पन्न होते हैं। जीव के कारण वे नहीं होते।

कोई कहता है कि 'केवली भगवान को इच्छा नहीं है तो भी वाणी निकलती है, यह तो बराबर है परन्तु छद्मस्थ जीव को तो इच्छा के कारण वाणी निकलती है?'— परन्तु यह तर्क मिथ्या है। छद्मस्थ की वाणी हो या केवली की अनक्षरात्मक ध्वनि हो—

दोनों स्वतन्त्र हैं। जीव के कारण वह नहीं होती। प्रत्येक शब्द स्वयं से होता है, निमित्त के कारण नहीं। भाषा के स्वरूप से तेरा स्वरूप सदा काल भिन्न है, ऐसा निर्णय कराते हैं।

कोई कहता है कि भाषण जोरदार करना चाहिए कि जिससे श्रोता के ऊपर प्रभाव पड़े। धीरे-धीरे बोलें तो प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा माननेवाले मूढ़ हैं। वह भाषा का अधिपति होता है। धीरे से या जोर से बोलना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। ऐसे जड़ के अभिमानी को सच्चा प्रतिक्रमण नहीं होता। जड़ मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा भेदज्ञान करके राग से विमुख होना, वह प्रतिक्रमण है। ऐसी जिसे खबर नहीं और भाषा के साथ एकत्वबुद्धि करता है, वह जीव स्वभाव में से विमुख हुआ है अर्थात् वह मिथ्यात्व सेवन करता है।

और भगवान की वाणी अनक्षरी कही, उसमें देव के स्वरूप की भी बात आयी। जो जीव ऐसा मानता है कि साधारण लोग समवसरण में भगवान को प्रश्न पूछते हैं और भगवान व्यक्ति को उत्तर देते हैं, वह भगवान को नहीं समझता। तीर्थंकर की सभा में चक्रवर्ती, इन्द्र, गणधरादि पुण्यवन्त पूछ सके, ऐसा वाणी का तथा पुण्यवन्त पुरुष का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई साधारण जीव प्रश्न नहीं कर सकता। जैसे राजा को अर्जी करनी हो तो उसके यथायोग्य अनुचर द्वारा अर्जी पहुँचती है, उसी प्रकार तीन लोक के नाथ को पुण्यवन्त पुरुष पूछते हैं और जवाब ॐध्वनि में आता है और सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। इसीलिए यहाँ अनक्षरी वाणी कहकर देव के स्वरूप की पहिचान दी है। भगवान को ॐ अनक्षरी अभेद वाणी निकलती है।

यहाँ कहने का भावार्थ ऐसा है कि एक परमाणु में शब्दरूप होने की सामर्थ्य नहीं। बहुत परमाणु इकट्ठे होते हैं तो शब्द होता है। परमाणु में शक्ति है परन्तु व्यक्ति नहीं। आत्मा में तो शब्द की शक्ति नहीं तथा व्यक्ति भी नहीं। यह सब शब्दों के भेद बताये, वे पुद्गल के कार्य हैं। आत्मा उनसे भिन्न है, ऐसा भान करके ज्ञाता रहे, तो धर्म होता है।

वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १५, गुरुवार

पुद्गल आत्मा से भिन्न है, ऐसा जानकर पुद्गल को हेय बताते हैं और आत्मा अंगीकार करनेयोग्य है, ऐसा कहते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह स्वयं से पृथक् ऐसे शब्द को करता नहीं, तथा अपने से पृथक् ऐसे शब्द से आत्मा को ज्ञान होता नहीं। एक परमाणु जड़ है, उसमें शब्द करने की ताकत नहीं तो फिर अरूपी आत्मा शब्द को करे, यह असम्भवित है और शब्द से ज्ञान हो, यह असम्भवित है।

प्रश्न - घर में थे, तब यह ज्ञान नहीं था परन्तु यहाँ आकर यह सुना तो ज्ञान हुआ न?

समाधान - भाई! श्रवण से ज्ञान नहीं होता। शब्द जड़ हैं, आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, शब्द से ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न - निश्चय से नहीं होता परन्तु व्यवहार से तो होता है न? भगवान ने दो नय कहे हैं न?

समाधान - अपने में अपने कारण से ज्ञान होता है, यह निश्चय है, तब दूसरी चीज़ का ज्ञान व्यवहारनय कराता है, परन्तु दूसरी चीज़ से ज्ञान नहीं होता। निश्चयनय आदरने के लिये है, व्यवहारनय ज्ञान करने के लिये है, आदरने के लिये नहीं। आत्मा त्रिकाली ज्ञाता है, उसमें शब्द करने की ताकत नहीं और आत्मा कारण होकर शब्द बनावे, ऐसी शब्द में ताकत नहीं है। शब्द भाषा के परमाणु के कारण से बनता है।

लौकिक में कोहिनूर हीरा बहुत तेजवाला कहलाता है। प्रकाश का पर्वत कहलाता है, तथापि वह इतना प्रकाशवाला है, ऐसी हीरा को खबर नहीं है। हीरा अपने को तथा पर को नहीं जानता। हीरा को जाननेवाला आत्मा अपने को तथा पर को जानता है। ऐसा ज्ञान का पर्वत प्रत्येक आत्मा प्रत्येक देह में विराजमान है। उसके ज्ञान की वर्तमान अवस्था और सत्ता है या नहीं? और वर्तमान ज्ञान का कार्य पर के कारण हो तो अपना वर्तमान क्या? कोई किसी के कारण नहीं है। अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि मेरा ज्ञान वक्ता में से आता है, यही भ्रम है।

कोई **प्रश्न** करे कि —तो फिर वक्ता का और सुननेवाले का अभिप्राय एक कैसे होता है ?

समाधान - दोनों का अभिप्राय समान होता है, वह स्वयं के कारण से होता है। वक्ता का आशय उसके आत्मा में से पृथक् पड़कर श्रोता के आत्मा में आ नहीं जाता, परन्तु अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि वाणी का प्रवाह चलता है, तब उसके कारण मुझे ज्ञान होता है। तू भाववाला पदार्थ है या भाव बिना का ? जो पदार्थ होता है, वह भाव बिना नहीं होता। और उसका वर्तमान उससे काम करता है या पर से ? यदि एक समय पर से ज्ञान का काम होता हो तो त्रिकाली द्रव्य भी पराधीन हो जाये। यहाँ कहते हैं कि शब्द से तुझे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तुझसे होता है। ●●

गाथा - ८०

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेदा।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ।।८०।।

नित्यो नानवकाशो न सावकाशः प्रदेशतो भेत्ता।
स्कंधानामपि च कर्ता प्रविभक्ता कालसंख्यायाः।।८०।।

समयव्याख्या : परमाणोरेकप्रदेशत्वख्यापनमेतत्। परमाणुः स खल्वेकेन प्रदेशेन रूपादिगुणसामान्यभाजा सर्वदैवाविनश्वरत्वान्नित्यः। एकेन प्रदेशेन तदविभक्तवृत्तीनां स्पर्शादिगुणानामवकाशदानान्नानवकाशः। एकेन प्रदेशेन द्व्यादिप्रदेशाभावादात्मादिनात्ममध्येनात्मांतेन न सावकाशः। एकेन प्रदेशेन स्कंधानां भेदनिमित्तत्वात् स्कंधानां भेत्ता। एकेन प्रदेशेन स्कंधसंघातनिमित्तत्वात्स्कंधानां कर्ता। एकेन प्रदेशेनैकाकाशप्रदेशातिवर्तितद्गतिपरिणामापन्नेन समयलक्षणकालविभागकरणात् कालस्य प्रविभक्ता। एकेन प्रदेशेन तत्सूत्रितद्व्यादिभेदपूर्विकायाः स्कंधेषु द्रव्यसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेन तदवच्छिन्नैकाकाशप्रदेशपूर्विकायाः क्षेत्रसंख्यायाः एकेन प्रदेशेनैकाकाशप्रदेशातिवर्तितद्गतिपरिणामावच्छिन्नसमयपूर्विकायाः कालसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेन तद्विवर्तिजघन्यवर्णादिभावावबोधपूर्विकाया भावसंख्यायाः प्रविभागकरणात् प्रविभक्ता संख्याया अपीति।।८०।।

अवकाश नहिं सावकाश नहिं अणु अप्रेशी नित्य है।
भेदक–संघातक स्कन्ध का अर विभाग कर्ता काल का ।।८०।।

अन्वयार्थ :- [प्रदेशतः] प्रदेश द्वारा [नित्यः] परमाणु नित्य है, [न अनवकाशः] अनवकाश नहीं है, [न सावकाशः] सावकाश नहीं है, [स्कंधानाम् भेत्ता] स्कन्धों का भेदन करनेवाला [अपि च कर्ता] तथा करनेवाला है और [कालसंख्यायाः प्रविभक्ता] काल तथा संख्या को विभाजित करनेवाला है (अर्थात् काल का विभाजन करता है और संख्या का माप करता है)।

टीका:–यह, परमाणु के एकप्रदेशीपने का कथन है।

जो परमाणु है, वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा–जो कि रूपादिगुण सामान्यवाला है, उसके द्वारा–सदैव अविनाशी होने से नित्य है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा उससे

(–प्रदेश से) अभिन्न अस्तित्ववाले स्पर्शादिगुणों को अवकाश देता है, इसलिए अनवकाश नहीं है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा (उसमें) द्वि–आदि प्रदेशों का अभाव होने से, स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त होने के कारण (अर्थात् निरंश होने के कारण), सावकाश नहीं है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्धों के भेद का निमित्त होने से (अर्थात् स्कन्ध के बिखरने–टूटने का निमित्त होने से) स्कन्धों का भेदन करनेवाला है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा स्कन्ध के संघात का निमित्त होने से (अर्थात् स्कन्ध के मिलने का–रचना का निमित्त होने से) स्कन्धों का कर्ता है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा–जो कि एक आकाश प्रदेश का अतिक्रमण करनेवाले (लाँघनेवाले) अपने गतिपरिणाम को प्राप्त होता है, उसके द्वारा–'समय' नामक काल का विभाग करता है, इसलिए काल का विभाजक है; वह वास्तव में एक प्रदेश द्वारा संख्या का भी [१]विभाजक है क्योंकि (१) वह एक प्रदेश द्वारा उसके रचे जानेवाले दो आदि भेदों से लेकर (तीन अणु, चार अणु, असंख्य अणु इत्यादि) द्रव्यसंख्या के विभाग स्कन्धों में करता है, (२) वह एक प्रदेश द्वारा उसकी जितनी मर्यादावाले एक [२]'आकाशप्रदेश' से लेकर (दो आकाशप्रदेश, तीन आकाशप्रदेश, असंख्य आकाशप्रदेश इत्यादि) क्षेत्रसंख्या के विभाग करता है, (३) वह एक प्रदेश द्वारा, एक आकाशप्रदेश का अतिक्रम करनेवाले उसके

---

१. विभाजक=विभाग करनेवाला; मापनेवाला। [स्कन्धों में द्रव्यसंख्या का माप अर्थात् वे कितने अणुओं–परमाणुओं से बने हैं, ऐसा माप) करने में अणुओं की–परमाणुओं की–अपेक्षा आती है, अर्थात् वैसा माप परमाणु द्वारा होता है। क्षेत्र का माप का एक 'आकाशप्रदेश' है और आकाशप्रदेश की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आती है; इसलिए क्षेत्र का माप भी परमाणु द्वारा होता है। काल के माप एक 'समय' है और समय की व्याख्या में परमाणु की अपेक्षा आती है; इसलिए काल का माप भी परमाणु द्वारा होता है। ज्ञानभाव के (ज्ञानपर्याय के) माप का एकक 'परमाणु में परिणमित जघन्य वर्णादिभाव को जाने उतना ज्ञान' है और उसमें परमाणु की अपेक्षा आती है; इसलिए भाव का (ज्ञानभाव का) माप भी परमाणु द्वारा होता है। इस प्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव माप करने के लिये गज समान है।]

२. एक परमाणुप्रदेश जितने आकाश के भाग को (क्षेत्र को) 'आकाशप्रदेश' कहा जाता है। वह 'आकाशप्रदेश' क्षेत्र का 'एकक' है। (गिनती के लिये, किसी वस्तु के जितने परिमाण को 'एक माप' माना जाये, उतने परिमाण को उस वस्तु का 'एकक' कहा जाता है।)

गतिपरिणाम जितनी मर्यादावाले [३]'समय' से लेकर (दो समय, तीन समय, असंख्य समय इत्यादि) कालसंख्या के विभाग करता है, और (४) वह एक प्रदेश द्वारा उसमें विवर्तन पानेवाले (–परिवर्तित, परिणमित) जघन्य वर्णादिभाव को जाननेवाले ज्ञान से लेकर भावसंख्या के विभाग करता है।।८०।।

गाथा - ८० पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र शुक्ल १५, गुरुवार)

अब, परमाणु एक प्रदेशी है—ऐसा बताते हैं। यह पुद्गल स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग कि जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते, उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु सदा अविनाशी है, नित्य है। यह शरीर दिखता है, वह मूल तत्त्व नहीं है। परन्तु उसका छोटे में छोटा भाग परमाणु है। वह परमाणु अविनाशी है, ऐसा ज्ञान जानता है। परमाणु को अपनी खबर नहीं तथा दूसरे की भी खबर नहीं। आत्मा अपने को तथा परमाणु आदि पर को जानता है। पर से भिन्न हूँ, ऐसा यथार्थ भान करनेवाले धर्मी जीव को ख्याल आता है कि अहो! मैं ज्ञानस्वभावी अविनाशी हूँ और परमाणु जड़स्वभावी अविनाशी है। अनेक परमाणु के स्कन्ध में से शब्द होता है, कोई ईश्वर या आत्मा शब्द का कर्ता नहीं है।

और एक परमाणु एक प्रदेश में है और उसके रूपादि गुणों से कभी भी पृथक् नहीं होता, ऐसा आत्मा जानता है। इसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान–दर्शनादि गुणों से कभी भी पृथक् नहीं होता। शुभाशुभभाव होते हैं, वे पर्याय में होते हैं, वे पलटकर नाश को प्राप्त होते हैं। ज्ञान–दर्शनादि शक्तियाँ कायम रहती हैं। किसी समय आत्मा में गुण न हो, ऐसा नहीं होता। अज्ञानी मानता है कि शब्द से, पुस्तक से, प्रतिमा से ज्ञान होता है परन्तु उसे अपने ज्ञानस्वभाव का विश्वास नहीं आता। जो वस्तु होती है, वह अपने स्वभाव बिना की होगी ? नहीं होगी। स्वभाव बिना की हो, उसे वस्तु नहीं कहा जाता। परमाणु एक प्रदेशी होने पर भी उसके गुणों से रहित नहीं; उसी प्रकार चैतन्यप्रकाश का पर्वत भी अपने ज्ञान–दर्शनादि गुणों से कभी रहित नहीं है।

३. परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेश में (मन्दगति से) जाते हुए जो काल लगता है, उसे 'समय' कहा जाता है।

और परमाणु अविनाशी है और उसके गुणों से रहित नहीं है—ऐसा निर्णय किसने किया और किसमें किया? परमाणु को खबर नहीं। जीवद्रव्य तो निर्णय करता है परन्तु निर्णय करने का कार्य पर्याय में है, द्रव्य-गुण में कार्य नहीं। पर्याय निर्णय करती है कि जैसे परमाणु अविनाशी है और उसके गुण से रहित नहीं है; उसी प्रकार आत्मा अविनाशी है और उसके ज्ञानादि गुण से रहित नहीं है। मेरा कार्य मेरे गुण के धारक आत्मद्रव्य के आधार से होता है। इस प्रकार स्वयं अविनाशी है और गुणसहित है—ऐसा भरोसा जिसे आया, वह जीव परमाणु का निर्णय करता है। निचलीदशा में परमाणु तो प्रत्यक्ष दिखता नहीं। परमाणु प्रत्यक्ष तो केवली को होता है, तथापि निचलीदशावाला जीव कि जिसे अपने द्रव्य-गुण की एकता का भरोसा आया है और स्वभाव का आश्रय लेकर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुआ है, उसके ज्ञान में भले परमाणु प्रत्यक्ष दिखता नहीं, तथापि ज्ञान अनुमान करता है कि यह स्कन्ध दिखता है, वह बहुत परमाणुओं का पिण्ड है, उसमें से टुकड़े होते-होते अन्तिम अंश रहे, वह परमाणु है। ऐसे प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान से निर्णय करता है कि परमाणु स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग है, एक प्रदेशी है और उसके गुणसहित है।

यह चापड़ी (लकड़ी की पट्टी) दिखती है, वह किससे हुई है, ऐसा एक पण्डित को प्रश्न पूछे जाने पर उसने जवाब दिया कि 'चापड़ी बाँस से हुई है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है।' किसे प्रत्यक्ष कहते हो? प्रत्यक्षपना ज्ञान को लागू पड़ता है या जड़ को लागू पड़ता है? जड़ में ज्ञान नहीं, इसलिए जड़ को प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ है ही नहीं और अपने में स्वसंवेदनज्ञान-राग बिना का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुए बिना स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग सूक्ष्म परमाणु है, ऐसा अनुमान कौन करेगा? मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, स्वत:सिद्ध वस्तु हूँ, शरीर, मन, वाणी आदि पर है, उनसे मैं ज्ञात होऊँ—ऐसा नहीं तथा राग से भी ज्ञात होऊँ, ऐसा नहीं। मैं तो सदा मेरे ज्ञान-दर्शनादि से सहित हूँ—ऐसे भानपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करके साधक को जो ज्ञान प्रगट होता है, वह प्रत्यक्ष है। परन्तु सर्वज्ञदशा नहीं, तब तक वह पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, इसीलिए एक परमाणु को वह प्रत्यक्ष नहीं देख सकता।

साधक को प्रत्यक्ष ज्ञान अधूरा है और विकल्प भी वर्तता है। वह अनुमान करता

है कि इस स्कन्ध के टुकड़े होते हैं, इसलिए यह मूल चीज़ नहीं है। मूल चीज़ हो, उसके टुकड़े नहीं होते, इसलिए स्कन्ध की मूल चीज़ का अनुमान करता है कि स्कन्ध का टुकड़ा होते-होते छोटा भाग रहता है, वह परमाणु है। इस प्रकार जिस साधक जीव ने अपने में आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट किया है, उसका अनुमान सच्चा है।

अनुमान=अपने को+अनुसरकर ज्ञान के माप में आना, वह अनुमान है। राग, द्वेष, पुण्य-पाप दोष है। ज्ञानस्वभाव तो निर्दोष है। निर्दोष स्वभाव दोष से ज्ञात नहीं होता है। निर्दोष ज्ञानस्वभाव का ख्याल आये बिना स्कन्ध का छोटे में छोटा भाग परमाणु है, उसका ख्याल कौन करेगा? परमाणु की बात चलती है। परमाणु अर्थसमय है, परन्तु उस अर्थसमय को जाननेवाला तो ज्ञानसमय है और उसे कहनेवाला शब्दसमय है। जो शब्द रागरहित शुद्ध चैतन्य के बिना राग-द्वेष इत्यादि पर्याय का अकेले का ज्ञान बतावे और शुभ से विकास होगा, ऐसा बतावे, वह द्रव्यश्रुत नहीं है और जिसका ज्ञान ऐसा जाने कि पुद्गल का कार्य हमारे से होता है, उसका ज्ञान भी मिथ्या है और उसने भगवान की वाणी भी नहीं जानी है।

यहाँ परमाणु की बात की है, परन्तु परमाणु को जाननेवाला कौन है। जाननेवाला तो आत्मा है। परमाणु मुझमें नहीं, ऐसा जानकर उसे हेय कहा है। वह चीज़ मुझमें नहीं है और मैं उसमें नहीं हूँ। वह उसमें है और मैं मुझमें हूँ, ऐसा ज्ञान भी अपने में रहकर करता है। पर में रहकर ज्ञान नहीं करता।

यहाँ कहा है कि एक परमाणु उसके गुण के विरह बिना का है। वस्तु कहो और उसे गुण न हो, ऐसा नहीं होता। स्वभाव और स्वभाववान विरह बिना के हैं। ज्ञान ने निर्णय किया कि अहो! एक परमाणु अविनाशी है और उसके गुणों के विरह बिना का है। परन्तु परमाणु को अपनी खबर नहीं। मैं उसका जाननेवाला हूँ परन्तु बनानेवाला नहीं। और राग-द्वेष का ग्रहण-त्याग करनेवाला भी मैं नहीं। मैं तो परमाणु का तथा रागादि का जाननेवाला हूँ। वह भी व्यवहार से जाननेवाला हूँ। परमाणु का, स्व में रहकर जाननेवाला हूँ। ज्ञान परमाणु का नहीं, ज्ञान स्व का है। अपनी सामर्थ्य से जानता हूँ, मैं स्वयंसिद्ध ज्ञान ही हूँ। ज्ञानप्रकाश का पिण्ड हूँ, ध्रुव हूँ, ऐसा जिस ज्ञान ने निर्णय

किया, वह ज्ञान निर्णय करता है कि यह चीज़ें टूटती हैं, वह मूलतत्त्व नहीं है। मूलतत्त्व टूटता नहीं। मूलतत्त्व तो परमाणु है। जैसे मैं अविनाशी और मेरे गुणों से सहित हूँ, वैसे परमाणु भी नित्य अविनाशी है और अपने गुणों से सहित है।

आत्मा के ज्ञान बिना मात्र शास्त्र का ज्ञान वृथा है। अन्धा व्यक्ति दले और दूसरी ओर से कुत्ता चाट जाये, वह देखे नहीं, जिससे उसकी मेहनत व्यर्थ जाती है। उसे किसी दिन आटा इकट्ठा नहीं होता; उसी प्रकार शास्त्र बहुत पढ़ा, पुद्गल के भेद याद रखे परन्तु मैं चिदानन्द कौन हूँ? विकार या संयोग, वह मेरा स्वभाव नहीं—ऐसे भान बिना पुद्गल स्कन्ध का सूक्ष्म भाग, वह परमाणु है—ऐसा अनुमान कौन करेगा? जिसे आत्मा का भान है और आंशिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट हुआ है, वह अनुमान करता है कि स्कन्ध मूल वस्तु नहीं है। परन्तु उसका छोटे में छोटा भाग, वह परमाणु है, वह सदा अविनाशी है। इस प्रकार नित्य का बोल हुआ।

और वह परमाणु कैसा है? एक प्रदेशी है, तथापि अपने प्रदेशों से पृथक् नहीं, ऐसे अपने स्पर्शादि गुणों को अवकाश देने में समर्थ है। परमाणु द्रव्य और उसके स्पर्शादि गुणों को नामभेद होने पर भी और अनेक गुण होने पर भी परमाणु उसके गुणों को अवकाश देता है। एक में अनेक किस प्रकार समाते होंगे? एक भी अनेक का बना हुआ है। गुण-गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं, इसलिए गुणी गुणों को अवकाश देता है। परमाणु एक प्रदेशी है, इसलिए अनेक गुणों को अवकाश न दे, ऐसा है ही नहीं। अपने गुणों को अवकाश न दे, वह वस्तु द्रव्य नहीं होता। अनन्त गुणोंसहित का वह एक द्रव्य है।

उसे जाननेवाला आत्मद्रव्य कैसा है? जैसे परमाणु अपने गुण को अवकाश देता है, वैसे आत्मद्रव्य अपने असंख्य प्रदेश में अपने अनन्त गुणों को अवकाश देता है। और जैसे स्कन्ध में एक परमाणु दूसरे परमाणु से अन्य है, तीसरे से अन्य है और स्कन्ध में रहने पर भी अपना द्रव्यपना टिका रखता है, उसी प्रकार एक आत्मा दूसरे अनन्त आत्माओं से तथा दूसरे अनन्त जड़द्रव्यों से अन्यपने है। एक आत्मा दूसरे से पृथक् न हो तो दोपना नहीं रहता। ऐसे अनन्त परपदार्थों से अन्यरूप से आत्मा टिक रहा है। इस प्रकार अन्यत्वादि अनन्त गुणों को आत्मा अवकाश देता है।

यहाँ पुद्गल का स्वरूप अर्थात् अर्थसमय बतलाते हैं, परन्तु उस अर्थसमय का ज्ञान करनेवाला आत्मा है। अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का सामर्थ्य समझाते हैं।

इस ज्ञानस्वभाव को समझे बिना, भगवान की प्रतिमा तथा क्षेत्र के कारण शुभभाव होते हैं और उसे ज्ञान होता है—ऐसा अज्ञानी मानता है। अपनी पराधीनवृत्ति के कारण यात्रा करने जाता है, वह पर्वत से उतर आयेगा तो मिथ्यात्व को दृढ़ करके पर्वत से नीचे उतरेगा, क्योंकि अपना ज्ञानस्वभाव पराधीन मानता है। ज्ञानी को यात्रा का भाव आता है, परन्तु वह समझता है कि मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, पर के कारण शुभभाव नहीं तथा ज्ञान भी नहीं, राग आता है, वह निर्बलता से आता है। ज्ञानस्वभाव का भान है, तथापि उस प्रकार का राग आनेवाला है, वह आनेवाला है। भेदज्ञान वर्तता है; इसलिए यात्रा करके वापस मुड़ता है, उस समय भी ज्ञान दृढ़ करके वापस मुड़ता है। इसलिए ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा यहाँ बताते हैं। जैसे पुद्गल में उसके गुणों का क्षेत्र भिन्न नहीं है, वैसे आत्मा और उसके ज्ञान-दर्शनादि गुणों का क्षेत्र भिन्न नहीं है।

और परमाणु कैसा है ? परमाणु जैसे अपने गुणों को अवकाश देता है, वैसे दूसरे परमाणु को जगह नहीं देता। परमाणु अपनी विशिष्ट अवगाहनशक्ति के कारण आकाश के एक क्षेत्र में है, वह अलग बात है, परन्तु एक परमाणु दूसरे परमाणु के अस्तित्व में प्रवेश कर जाये, ऐसा नहीं होता। क्योंकि परमाणु निर्विभाग अंश है। एक प्रदेशी है। आदि-मध्य-अन्त में अकेला है। वह दूसरे परमाणु को अवकाश देने में असमर्थ है।

इसी प्रकार आत्मा भी कर्म, शरीर, देव, गुरु, शास्त्र, किसी को भी अपने असंख्य प्रदेश में स्थान नहीं देता। धर्मी कहते हैं कि भगवान, भगवान में हैं और हम, हमारे में हैं। कोई कहे कि तो फिर आत्मा स्वार्थी हो गया। हाँ, प्रत्येक पदार्थ स्वार्थी है। स्वप्रयोजन सिद्ध करके अपने में टिका रहे, वह स्वार्थी है। पर का प्रयोजन कोई नहीं साधता, पर को कोई मदद नहीं देता, इसलिए प्रत्येक स्वार्थी है। आत्मा किसी भी परपदार्थ को अवकाश देने में असमर्थ है।

और वह परमाणु कैसा है ? स्वयं एक प्रदेशी रहकर स्कन्धों का भेद व्यवहार से

करता है। जब स्कन्धों में से पृथक् पड़ने की उसकी योग्यता होती है, तब परमाणु पृथक् पड़ता है, इसलिए वह स्कन्धों का व्यवहार से भेद करनेवाला कहलाता है। परन्तु परमाणु को खबर नहीं कि मैं स्कन्ध का भेद करनेवाला हूँ। परमाणु पृथक् पड़कर स्कन्धों का भेद करता है, ऐसा जाननेवाला तो आत्मा है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ। शरीर, कर्म और राग स्वभावी मैं नहीं, मैं तो ज्ञान ही हूँ - ऐसा भेदज्ञान और वीतरागता होने पर कर्म से पृथक् पड़ जाता है। अज्ञान से जो कर्म इकट्ठे होते थे, वे ज्ञान होने पर पृथक् पड़ जाते हैं। आत्मा कर्मों को पृथक् करनेवाला है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

और वह परमाणु कैसा है? परमाणु अपने स्वकाल में अपनी योग्यता अनुसार स्कन्धों के साथ मिल जाता है, इसलिए व्यवहार से स्कन्धों का कर्ता कहलाता है, उसी प्रकार अज्ञानी आत्मा मिथ्यात्व, राग, द्वेष करे और कर्म बँधे तो कर्मों का कर्ता व्यवहार से कहलाता है।

परमाणु अविनाशी है, अपने स्पर्शादि गुणों से रहित नहीं, अपने गुणों को अवकाश देता है। दूसरे परमाणु को अवकाश नहीं देता। स्कन्ध में से पृथक् पड़ने पर स्कन्ध का भेद करनेवाला है तथा स्कन्ध के साथ मिले, तब स्कन्ध का कर्ता है। परमाणु को इन सबकी कुछ खबर नहीं परन्तु इन सबका जाननेवाला आत्मा है। आत्मा पुद्गल से पृथक् है, ऐसा अपने में रहकर स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट करना, वह धर्म है।

(वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १, शुक्रवार)

केवलज्ञानी भगवान ने परमाणु को जड़ देखा है। उसका स्वरूप कहते हैं, परमाणु अपने कारण से है। आत्मा के कारण से नहीं। उस परमाणु को ज्ञान जानता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, एक परमाणु को जो ज्ञान जाने, वह कितना सूक्ष्म होगा? परमाणु जगत की अस्ति चीज़ है। जो वस्तु हो, उसे ज्ञान न जाने, ऐसा होता ही नहीं। न जाने तो वह ज्ञान ही नहीं कहलाता और पदार्थ न ज्ञात हो तो वह पदार्थ सत् नहीं कहलाता। यहाँ परमाणु जो पुद्गल का अन्तिम अंश है, उसकी व्याख्या चलती है। उसे जाननेवाले ज्ञान की सूक्ष्मता कितनी है? और परमाणु कितना सूक्ष्म है, ऐसी प्रतीति करने से ज्ञान

की सूक्ष्मता कितनी बढ़ती है ? परन्तु वह ज्ञान किस प्रकार प्रगट हो ? मैं मुझे अपने को जाननेवाला हूँ, दया-दानादि भाव का तथा परमाणु का करनेवाला नहीं, परन्तु मुझमें रहकर उसका जाननेवाला हूँ, ऐसा स्व का ज्ञान हो, उसका परप्रकाशक ज्ञान सच्चा कहलाता है।

परमाणु अपनी मिलनशक्ति से स्कन्धों में जाकर मिल जाता है, इसलिए स्कन्धों का कर्ता कहलाता है। और कैसा है परमाणु ?

परमाणु काल की संख्या का भेद करता है। आकाश के एक प्रदेश में रहा हुआ परमाणु दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को एक समय कहते हैं। इससे समयरूप काल प्रगट होता है - ज्ञात होता है, इस कारण से परमाणु को काल के अंश का कर्ता कहा जाता है। परमाणु को अपनी खबर नहीं तथा स्वयं एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को एक समय कहते हैं, ऐसी भी उसे खबर नहीं, प्रदेश को खबर नहीं तथा काल को खबर नहीं। उन सबका जाननेवाला तो आत्मा है।

असंख्यप्रदेशी आत्मा—उसमें एक-एक प्रदेश में रहा हुआ ज्ञान सूक्ष्म काल को भी जान लेता है। ऐसा उसका धर्म है। एक समय का ज्ञान स्व-परप्रकाशक है, वह इतनी ताकतवाला है। आत्मा ज्ञान से भरपूर है, उसमें राग-द्वेष होते हैं, वह उसका धर्म नहीं है। उसका धर्म तो सबको जानने का है। इसमें अरहन्त का केवलज्ञान कैसा होता है, उसकी बात आ जाती है। केवलज्ञान की प्रतीति में आत्मा की प्रतीति और परमाणु की प्रतीति आ जाती है। केवलज्ञानी का आत्मा असंख्य प्रदेशी चौड़ा है, उनका एक समय का ज्ञान तीनों काल के समयों में से एक-एक समय को पृथक् पाड़कर जानने की सामर्थ्यवाला है। एक-एक समय को न जाने तो त्रिकाल को किस प्रकार जाने ?

भगवान को तीनों काल का ज्ञान है और एक-एक समय को भिन्न करके भी वे जानते हैं। असंख्य प्रदेश में प्रत्येक प्रदेश में रहा हुआ केवलज्ञान एक समय को भिन्न करके जानता है। एक-एक परमाणु को भिन्न-भिन्न जानता है। एक-एक प्रदेश को भिन्न-भिन्न जानता है तथा एक परमाणु के भाव को जानता है। परमाणु, क्षेत्र और काल तो ज्ञेय है। उन्हें केवलज्ञानी जाननेवाले हैं। वह केवलज्ञानदशा कहाँ से प्रगट हुई ?

सर्वज्ञ भगवान भी मेरे जैसे आत्मा थे, मैं भी वैसा आत्मा हूँ, मैं भी परपदार्थ में प्रविष्ट हुए बिना सभी पदार्थों के सूक्ष्म परिणमन को जान सकूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है। पर का करने का या राग करने का मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होना, अरिहन्तदशा की प्रतीति होना, वह धर्म है।

देखो, यह पुद्गल परमाणु जो ज्ञेय है, उसकी बात चलती है। परन्तु उसे खबर नहीं। उसे जाननेवाला तो आत्मा है। एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये और एक समय लगे, उसकी परमाणु को खबर नहीं है, प्रदेश को खबर नहीं है, काल को खबर नहीं है। परन्तु उसे जाननेवाला ज्ञान है। वर्तमान में साधक जीव का ज्ञान परमाणु, प्रदेश या समय को प्रत्यक्ष जान सकता नहीं, क्योंकि ज्ञान अधूरा है। तथापि साधक विचारता है कि परमाणु, क्षेत्र, काल और भाव को एक समय में जान ले, ऐसी मेरी ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य है। परमाणु अतीन्द्रिय है। प्रदेश अतीन्द्रिय है, समय अतीन्द्रिय है और उन सबको जाननेवाला ज्ञान भी अतीन्द्रिय है।

सर्वज्ञ भगवान अपने प्रत्येक प्रदेश से एक-एक प्रदेश को भिन्न-भिन्न एक समय में जानते हैं। छद्मस्थ जीव वर्तमान में पदार्थ को असंख्य समय में जानता है, तथापि असंख्य समय में से एक-एक समय को भिन्न-भिन्न जाने, ऐसा स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा करे तो धर्म होता है। आत्मा वस्तु है, उसका स्वभाव ज्ञान है। उस एक समय की दशा में परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जान ले ऐसा है। परमाणु के कारण नहीं, परन्तु स्व की सामर्थ्य के कारण जाने, ऐसा है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, वह केवलदशा प्राप्त करने का उपाय है।

तू कौन है? दूसरा सब भूल जा। देह, मन, वाणी पर है, उनके कारण तू नहीं है अर्थात् कि उनके कारण तेरा ज्ञान नहीं है। तू तेरे कारण है, तू ज्ञानस्वभावी है, ऐसा निर्णय करने में शान्ति है। परमाणु का विचार करने से अतीन्द्रिय ज्ञान का ख्याल आता है। अतीन्द्रिय परमाणु का ख्याल प्रथम नहीं आता, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव का ख्याल प्रथम आता है। जो ज्ञानस्वभाव छोटे में छोटे काल को न जाने, वह स्वभाव नहीं कहलाता। ज्ञान स्व-पर सबको भिन्न-भिन्न एक समय में जानने की सामर्थ्यवाला है।

ऐसा निर्णय करनेवाले को स्वभाव की ओर उन्मुखता हुए बिना नहीं रहती। ज्ञानस्वभावी आत्मा है, ऐसे निश्चय के ज्ञान बिना निमित्त और व्यवहार का ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। ज्ञानसमय, अर्थसमय को जानता है। जानने का स्वभाव अर्थसमय में है या चैतन्य में है? पुद्गल पदार्थ में जानने का स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव एक समय को जान ले, वैसा है, परन्तु वर्तमान में मेरा जानना कहीं अटका है, इसलिए एक समय को पृथक् पाड़कर नहीं जानता। यदि एक समय को पृथक् पाड़कर जाने तो राग रहता नहीं। वर्तमान में राग होने पर भी, एक समय को पृथक् पाड़कर जानने की अपनी शक्ति है या नहीं? राग और अधूरी दशा होने पर भी एक समय को पृथक् पाड़कर जानने की सामर्थ्य अपने में है। ऐसे अपने स्वभाव की श्रद्धा करके द्रव्यबुद्धि करना और पर्यायबुद्धि उड़ाना, यही धर्म का उपाय है।

जिसे धर्म करना है और जिसमें धर्म करना है, वह आत्मपदार्थ कौन है - यह प्रथम जानना चाहिए। पहले घर पूछकर फिर पानी पीते हैं। उसी प्रकार धर्म करनेवाले को धर्म कहाँ होता है, यह प्रथम पूछना चाहिए। आत्मा कौन है? जाननेवाला कितना है? एक-एक परमाणु, एक-एक प्रदेश, एक-एक समय को भिन्न-भिन्न जानने की सामर्थ्यवाला है। एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को समय कहते हैं। इस बात का ज्ञान कहाँ से आयेगा? मैं विकार स्वभावी हूँ, ऐसा माननेवाले को वैसा ज्ञान होगा? नहीं; मैं रागरहित प्रत्यक्ष ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, ऐसा आत्मा का ज्ञान हुए बिना परमाणु, प्रदेश या समय का ज्ञान होगा नहीं।

एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाये, उतने काल को समय कहते हैं। इसलिए परमाणु काल के छोटे में छोटे अंश का कर्ता है, उसे कौन जानता है? अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा है, ऐसा जिसे विश्वास बैठा है, उसे यह प्रतीति होती है। एक परमाणु की प्रतीति होने पर अनन्त परमाणु की प्रतीति होती है, एक प्रदेश की प्रतीति होने पर अनन्त समयों की प्रतीति होती है, एक समय की प्रतीति होने पर ऐसे अनन्त प्रदेशों की प्रतीति होती है। इन्द्रियों के लक्ष्य से होते ज्ञान में अथवा निमित्त के झुकाव से हुए ज्ञान में ऐसी प्रतीति नहीं आती। अतीन्द्रिय स्वभाव के भान बिना अतीन्द्रिय

परमाणु ज्ञात नहीं होता। इसलिए यहाँ कहते हैं कि परमाणु काल के भेद का कर्ता है, उसे अतीन्द्रिय ज्ञानवाला जान सकता है, इसलिए तेरे आत्मा के आश्रय से स्वसंवेदनज्ञान प्रगट कर तो स्व को जानने से परमाणु, प्रदेश और काल को यथार्थ जान सकेगा। और वही धर्मदशा है।

(१) और वह परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की संख्या के भेद का कर्ता है, यह बतलाते हैं। एक परमाणु मूल वस्तु है, वह अपने एक प्रदेश परिणाम से संख्या को बतलाता है। एक, दो, तीन, चार, पाँच, असंख्य, अनन्त - ऐसे परमाणु की संख्या को परमाणु बतलाता है। अर्थात् कि द्रव्य की संख्या बतलाने में परमाणु निमित्त है। उसे जाननेवाला तो आत्मद्रव्य है। स्कन्ध को या परमाणु को खबर नहीं है। निर्णय करनेवाला तो ज्ञान है। वह परमाणु की संख्या संख्यात, असंख्य या अनन्त का निर्णय करता है, उसमें परमाणु निमित्त है। द्रव्य की अनेकता का ख्याल ज्ञान करता है, उसमें परमाणु निमित्त है, इसीलिए परमाणु स्कन्धों की द्रव्यसंख्या का भेद कर्ता कहलाता है।

(२) और एक परमाणु एक प्रदेशी है। एक प्रदेश एक परमाणु जितना है, वह परमाणु के माप से अलग-अलग वस्तु का क्षेत्र निश्चित होता है। इसलिए परमाणु संख्यात, असंख्य या अनन्त प्रदेश को मापनेवाला है। परमाणु एक प्रदेशी है, स्कन्ध दो प्रदेश से लेकर संख्यात, असंख्य और अनन्त प्रदेशी है। जीव, धर्म, अधर्म असंख्य प्रदेशी हैं और आकाश अनन्त प्रदेशी है, उन सबको परमाणु बतलाता है। क्षेत्र का माप करने में परमाणु निमित्त है, इसलिए परमाणु क्षेत्र संख्या का भेद करता है। परमाणु सबके क्षेत्र का माप करता है। परन्तु उसका प्रमाण करनेवाला कौन है? प्रमाण करनेवाला तो आत्मा है, वह निश्चित करता है।

द्रव्य में अनेकता है। परमाणु उस द्रव्य की अनेकता का भेद करता है और क्षेत्र में अनेकता है, परमाणु उस क्षेत्र की अनेकता का भेद करता है। उस अनेकता का भेद कर्ता परमाणु है। परमाणु को उसकी खबर नहीं। उस अनेकता को जाननेवाला आत्मा है, यह भी व्यवहार से जाननेवाला है। अपने अतीन्द्रिय स्वभाव को जानते हुए परमाणु क्षेत्र की अनेकता का भेद करता है। ऐसा व्यवहार से जान लेता है।

(३) और वह परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उतने काल को समय कहते हैं। इस प्रकार एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार प्रदेशान्तररूप गति परिणाम से दो समय से अनन्त समय तक की काल की संख्या बतलाता है। अनन्त समय का माप आया, इसलिए परमाणु को काल की संख्या का भेद करता कहते हैं। इन सबका जाननेवाला आत्मा है। ज्ञानस्वभाव की महिमा बिना सब वृथा है।

ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा के भान बिना सामायिक, व्रत, तपादि अपने माने हुए करे, वे सब वृथा हैं। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, परमाणु को प्रदेश को तथा काल को मुझमें रहकर जाननेवाला हूँ। पर का करनेवाला नहीं तथा राग-द्वेष का करनेवाला नहीं। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वभाव के भान बिना समता अथवा सामायिक कहाँ से होगी? और बोधि बीज बोये बिना आत्मा को प्रौषधरूपी क्रिया होगी नहीं। प्रथम बोधि बीज बोवे, फिर प्रतिमा होती है। आँकडा बोवे तो आम नहीं उगता। उसी प्रकार मिथ्यादर्शनरूपी आँकड़ा बो कर सामायिक और प्रौषधरूप आम नहीं उगते। चैतन्यस्वभाव का बीज बोवे तो आत्मा को पोषण मिलता है और तब प्रौषध होता है।

प्रश्न - यह ज्ञेय अधिकार है या ज्ञान अधिकार है?

समाधान - यह पुद्गल का—ज्ञेय का अधिकार है, ऐसा जाना किसने? ज्ञान को स्वज्ञेय है या नहीं? स्वज्ञेय को जाने बिना परज्ञेय को व्यवहार से कौन जानेगा? स्वज्ञान की महिमा बिना परज्ञेय निश्चित नहीं होगा। इस परमाणु को भी जाननेवाला तू है, ऐसा बतलाते हैं। एक परमाणु संख्या को, क्षेत्र को, समय को बतलाते हैं। यह तो व्यवहार से कथन है। परमाणु क्षेत्र या समय निश्चित करनेवाला नहीं है; निश्चित करनेवाला तो आत्मा है।

(४) और, स्कन्ध के स्पर्शादि गुणों में तो फेरफार होता है, परन्तु अकेले परमाणु में भी स्वभावभावों में फेरफार होता है। स्कन्ध, वह व्यवहार पुद्गल है। निश्चय पुद्गल तो परमाणु है। एक परमाणु एक गुण स्निग्ध हो तो छह गुणा हो जाता है। अनन्त गुणा भी हो जाता है। जघन्य एक गुण से लेकर उत्कृष्ण अनन्त गुणा हो जाता है, इसी प्रकार एक परमाणु के अपने भाव में फेरफार होता है, इसलिए परमाणु भावभेद का कर्ता कहा जाता है।

अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि भावों की जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक तारतम्यता होती है, उसमें एक परमाणु निमित्त है, इसलिए भावभेद का कर्ता कहा जाता है।

कोई कहे कि काल के कारण भाव में फेरफार होता है, तो यह बात मिथ्या है। एक परमाणु एक गुण स्निग्धता में से दस गुण स्निग्ध होता है, दूसरा परमाणु छह गुण होता है। काल तो दोनों को निमित्त है। काल के कारण होता हो तो समान परिणमन होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। स्वयं अपने कारण से जघन्यभाव से उत्कृष्टरूप और उत्कृष्ट में से जघन्यभावरूप होता है। गाथा ७६ में कहा था कि एक परमाणु अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के गुण भेदों में षट्गुण हानिवृद्धि से पुद्गल नाम पाता है। वह षट्गुण हानिवृद्धि यह समझना।

परन्तु ऐसे परिणाम को जानता कौन है? आत्मा जानता है कि पुद्गल के स्पर्शादि गुणों में ऐसी तारतम्यता होने का स्वभाव है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टरूप होने की योग्यता परमाणु में है, ऐसी परमाणु को खबर नहीं। अपने ज्ञान के कारण ज्ञेयों का सूक्ष्मस्वरूप निश्चित होता है।

● एक परमाणु एक द्रव्य है, ऐसे अनन्त परमाणु हैं, अर्थात् द्रव्य की संख्या बताता है।

● एक परमाणु एक प्रदेशी है, इस माप से एक से अनन्त प्रदेशों की संख्या बताता है,

● एक परमाणु एक समय को बताता है, ऐसे अनन्त समयों की संख्या बताता है,

● एक परमाणु में वर्णादि में जघन्य से उत्कृष्ट गुने फेरफार होते हैं, वैसे भाव के भेद को बताता है।

इस प्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भेद को बताता है। परमाणु अनादि से यह बता रहा है। परन्तु अभी तक क्यों ख्याल नहीं आया? अपना ख्याल आवे तो पर का ख्याल आवे। ख्याल करनेवाला आत्मा है, ऐसे आत्मा के सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव की महिमा आवे तो स्व को जानते हुए परज्ञेयों की सूक्ष्मता को जाने। परमाणु के माहात्म्य

के कारण अपना माहात्म्य नहीं। मैं मेरे कारण से बड़ा हूँ, ऐसे अपने स्वभाव की जिसे महिमा आती है, उसे निमित्त और विकार की महिमा उड़ जाती है और अपने सूक्ष्म स्वभाव को जानने पर ज्ञेयों का स्वभाव ऐसा सूक्ष्म है, ऐसा वह जान लेता है।

और परमाणु के भावों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ऐसा फेरफार होता है और उत्कृष्ट स्निग्धता अथवा रूक्षता रूप होने के पश्चात् वापस मध्यम और जघन्यरूप वह हो जाता है, परन्तु जो आत्मा अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान करके उत्कृष्ट दशा—केवलज्ञानदशा प्राप्त करे, उसे फिर से मध्यम या जघन्यदशा अर्थात् संसारदशा नहीं होती। इतना परमाणु में और आत्मा में अन्तर है।

आत्मा का स्वभाव ही सर्वज्ञपना है। केवलज्ञान से कम हो, वैसा स्वभाव ही नहीं है। ऐसा जिसने निर्णय किया है, वह परमाणु के सूक्ष्म स्वभाव को व्यवहार से जानता है। परमाणु को खबर नहीं कि मैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भेद करनेवाला हूँ, परन्तु ज्ञान उन सबको व्यवहार से जानता है। ज्ञान उनमें तन्मय हुए बिना जानता है।

जिस जीव का झुकाव निमित्तों की ओर, ज्ञेयों की ओर, राग तथा अल्पज्ञता की ओर रहा करता है, उसने ज्ञानस्वभाव को जाना नहीं और सम्यग्ज्ञानरूपी बोधि बीज बोये बिना आत्मा को पोषण नहीं मिल सकता।

एक परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इत्यादि की संख्या को तारतम्यता बतलाने में निमित्त है, इसलिए परमाणु को उसका कर्ता कहा जाता है। उसका जाननेवाला आत्मा है। उन सब भेदों को एक समय में जानने की सामर्थ्य मेरे आत्मा में है, ऐसी सामर्थ्य स्वीकार करे, उसे धर्म होता है। जिसे ऐसी सामर्थ्य की खबर नहीं, उसे आत्मा की खबर नहीं और इसलिए उसे धर्म नहीं होता। ज्ञेयों की सूक्ष्मता से ज्ञान की सूक्ष्मता नहीं है; अपने महिमावन्त ज्ञान की सूक्ष्मता से ज्ञेयों की सूक्ष्मता का व्यवहार से ख्याल आ जाता है। ●●

गाथा - ८१

एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ।।८१।।

एकरसवर्णगंधं द्विस्पर्शं शब्दकारणमशब्दम्।
स्कंधांतरितं द्रव्यं परमाणुं तं विजानीहि ।।८१।।

समयव्याख्या : परमाणुद्रव्ये गुणपर्यायवृत्तिप्ररूपणमेतत्। सर्वत्रापि परमाणौ रसवर्णगंधस्पर्शाः सहभुवो गुणाः। ते च क्रमप्रवृत्तैस्तत्र स्वपर्यायैर्वर्तन्ते। तथा हि - पञ्चानां रसपर्यायाणामन्यतमेनैकेनैकदा रसो वर्तते। पञ्चानां वर्णपर्यायाणामन्यतमेनैकेनैकदा वर्णो वर्तते। उभयोर्गंधपर्याययोरन्यतरेणैकेनैकदा गंधो वर्तते। चतुर्णां शीतस्निग्धशीतरूक्षोष्णस्निग्धोष्णरूक्षरूपाणां स्पर्शपर्यायद्वंद्वानामन्यतमेनैकेनैकदा स्पर्शो वर्तते। एवमयमुक्तगुणवृत्तिः परमाणुः शब्दस्कंधपरिणतिशक्तिस्वभावात् शब्दकारणम्। एकप्रदेशत्वेन शब्दपर्यायपरिणतिवृत्त्यभावादशब्दः। स्निग्धरूक्षत्वप्रत्ययबंधवशादनेकपरमाण्वेकत्वपरिणतिरूपस्कंधांतरितोऽपि स्वभावमपरित्यजन्नुपात्तसंख्यत्वादेक एव द्रव्यमिति ।।८१।

एक वरण-रस गंध युत अर दो स्पर्श युत परमाणु है।
वह शब्द हेतु अशब्द है, स्कन्ध में भी द्रव्याणु है।।८१।।

अन्वयार्थ :- [तं परमाणुं] वह परमाणु [एकरसवर्णगंध] एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गन्धवाला तथा [द्विस्पर्शे] दो स्पर्शवाला है, [शब्दकारणम्] शब्द का कारण है, [स्कंधांतरितं] स्कन्ध के भीतर हो, तथापि [द्रव्यं] (परिपूर्ण स्वतन्त्र) द्रव्य है, ऐसा [विजानीहि] जानो।

टीका:-यह परमाणुद्रव्य में गुण-पर्याय वर्तने का (गुण और पर्याय होने का) कथन है।

सर्वत्र परमाणु में रस-वर्ण-गंध-स्पर्श सहभावी गुण होते हैं और वे गुण उसमें क्रमवर्ती निज पर्यायोंसहित वर्तते हैं। वह इस प्रकार:-पाँच रसपर्यायों में से एक समय कोई एक (रसपर्याय) सहित रस वर्तता है; पाँच वर्णपर्यायों में से एक समय किसी एक

(वर्णपर्याय) सहित वर्ण वर्तता है; दो गन्धपर्यायों में से एक समय किसी एक (गन्धपर्याय) -सहित गन्ध वर्तता है; शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध और उष्ण-रूक्ष इन चार स्पर्शपर्यायों के युगल में से एक समय किसी एक युगक सहित स्पर्श वर्तता है। इस प्रकार जिसमें गुणों का वर्तन (अस्तित्व) कहा गया है, ऐसा यह परमाणु शब्दस्कन्धरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से शब्द का कारण है; एक प्रदेशी होने के कारण शब्दपर्यायरूप परिणति नहीं वर्तती होने से अशब्द है; और [१]स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण बन्ध होने से अनेक परमाणुओं की एकत्वपरिणतिरूप स्कन्ध के भीतर रहा हो, तथापि स्वभाव को नहीं छोड़ता हुआ, संख्या को प्राप्त होने से (अर्थात् परिपूर्ण एक के रूप में पृथक् गिनती में आने से) [२]अकेला ही द्रव्य है।।८१।।

गाथा - ८१ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १, शुक्रवार)

अब परमाणु द्रव्य में गुण-पर्याय के स्वरूप का कथन करते हैं।

एक पुद्गल में एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श है, शब्द की उत्पत्ति का कारण है। परन्तु स्वयं एक प्रदेशी अकेला है, इसलिए शब्द की व्यक्तता रहित है तथा पुद्गल स्कन्ध से पृथक् है, उसे परमाणु जानना।

स्कन्ध में रहने पर भी परमाणु अपनेरूप से है, पर का अभाव रखकर रहा है। अपने दो स्पर्श, एक गन्ध, रस, वर्ण के भाव में रहा है। कभी भी दूसरे के साथ एकरूप नहीं होता। दूसरे स्कन्धों के साथ मिले और स्थूलपना धारण करे तो दूसरे स्थूल स्कन्ध के कारण स्थूलपना धारण नहीं करता, परन्तु स्वयं के कारण से स्थूलपना धारण करके अकेला रहा हुआ है।

परमाणु स्कन्ध में रहने पर भी अकेला अपने में काम कर रहा है। ऐसी जड़ परमाणु को खबर नहीं है, तथापि अकेला अपनी अस्ति टिका रहा है। तो फिर यह

---

१. स्निग्ध-रूक्षत्व=चिकनाई और रूक्षता।

२. यहाँ ऐसा बतलाया है कि स्कन्ध में भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण है, स्वतन्त्र है, पर की सहायता से रहित और अपने से ही अपने गुणपर्याय में स्थित है।

चैतन्य बादशाह जो अपने को तथा पर को जाने, ऐसे स्वभाववाला है, वह शरीर कर्म और राग इत्यादि पर के साथ एकमेक होता है, ऐसा मानने से तेरी शोभा लुटती है। तू शरीर, कर्म इत्यादि के साथ एक क्षेत्र में रहा होने पर भी कभी भी उनके साथ एकमेक नहीं हुआ। तू सदा ज्ञानस्वभावी है। घर में पागल व्यक्ति कमाकर रुपया लावे और बैरिस्टर होकर कुछ भी कमाये नहीं, वह तो बैरिस्टर के लिये शर्मजनक है। उसी प्रकार अचेतन परमाणु कभी पर के साथ एकमेक नहीं होता और तू चैतन्य बादशाह होकर शरीर, कर्म और राग के साथ एकमेक हुआ, ऐसा माने तो तेरे लिये वह शर्मजनक है। अज्ञानी मानता है भले, परन्तु वह कभी पर के साथ एकमेक नहीं होता, सदा ज्ञानस्वभावी है। इस प्रकार पर से भेदज्ञान करके अपने अभेद ज्ञानस्वभाव की महिमा लाना, वह धर्म है।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार

यह अधिकार पुद्गल का है। पुद्गल से आत्मा भिन्न है, ऐसा ज्ञान न करे तो पुद्गलादि परपदार्थ के संयोग से पृथक् नहीं पड़ता। धर्म पृथक् पड़ने के लिये अर्थात् कि मुक्ति के लिये है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, परमाणु पर है, राग-द्वेष क्षणिक है, ज्ञान और आनन्द मेरी चीज़ है और वह नित्य ध्रुव है—ऐसी जिसे खबर नहीं, उसे धर्म नहीं होता।

भावार्थ - स्कन्ध के टुकड़े होते-होते एक छोटे में छोटा अंश रहे, उसे परमाणु कहते हैं। भगवान ने अपने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा उस परमाणु में पुद्गल के पाँच रस में से एक रस; पाँच वर्ण में से एक वर्ण; दो प्रकार की गन्ध में से एक गन्ध तथा शीत स्निग्ध, शीत रूक्ष, उष्ण स्निग्ध अथवा उष्ण रूक्ष ऐसे चार स्पर्श के जोड़े में से एक युगल देखा है। इस प्रकार एक परमाणु में स्पर्श दो, रस एक, गन्ध एक, वर्ण एक, ऐसे पाँच गुण समझना।

वह परमाणु स्कन्ध के साथ मिल जाता है, तब शब्द पर्याय का कारण बनता है और स्कन्ध से पृथक् पड़े और पृथक् रहे, तब अकेले परमाणु से शब्द नहीं होता।

और वह परमाणु अपनी रूक्षता-स्निग्धता के कारण अनेक परमाणु के स्कन्ध में जुड़ जाता है, तथापि अपने एकरूप स्वभाव को नहीं छोड़ता, एक द्रव्यरूप कभी नहीं छोड़ता।

देखो, परमाणु तो जड़ है। परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिल जाये, तब उसमें दो स्पर्श रहते नहीं, तथापि दो स्पर्शादि गुणों का मूल स्वभाव कभी छोड़ता नहीं। परमाणु जड़ है, खबर (ज्ञान) बिना का तत्त्व है, तथापि अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता है, उसी प्रकार यह आत्मा शरीर, कर्म इत्यादि के संयोगों में रहने पर भी अपनापन कभी नहीं छोड़ता। अज्ञानी को उसका भान नहीं, इसलिए शरीर, मन, वाणी को मेरा मानता है, शरीर और कर्म की क्रिया मुझसे होती है और उस क्रिया से मुझे शान्ति और सुख मिलता है—ऐसी मान्यता होने के कारण शरीरादि से अपने को भिन्न नहीं मानता। परमाणु स्कन्ध में मिले, तब पर्यायदृष्टि से परमाणु में स्थूलपने की तथा स्थूल स्कन्ध में मिले, तब चार स्पर्श की योग्यता होती है, तथापि द्रव्यदृष्टि से तो परमाणु सूक्ष्म अतीन्द्रिय है और दो स्पर्श की योग्यतावाला है। ऐसे बेखबरवाला तत्त्व अतीन्द्रिय परमाणु अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखता है, ऐसा भगवान ने देखा है। तो यहाँ कहते हैं कि भाई! तू तो ज्ञानस्वभावी है, चेतन बादशाह है, तू पर्यायदृष्टि से शरीर और कर्म के संयोगवाला है, पुण्य-पाप के विकारी भाववाला है; तथापि स्वभावदृष्टि से तो तू शरीर और कर्मरहित है। पुण्य-पाप तेरे स्वभाव में कभी प्रविष्ट नहीं हुए हैं, तू तो ज्ञानस्वभावी ऐसा का ऐसा है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य की दृष्टि करना, वह धर्म है।

अचेतन परमाणु अपने गुण-पर्याय को पृथक् बनाये रखता है, ऐसी उसे खबर नहीं है। उसे जाननेवाला तो आत्मा है। आत्मा जानता है कि परमाणु अपने गुणपर्याय को स्वतन्त्र बनाये रखता है। परमाणु की स्वतन्त्रता बताकर, वह मात्र परमाणु का ज्ञान कराने के लिये नहीं परन्तु आत्मा का ज्ञान कराने के लिये है।

शरीर, कर्म का संयोग होने पर भी वह मेरी चीज़ नहीं है, विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ। जानना, वही एक मेरा स्वरूप है, ऐसा एकरूप ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आदर करना, वह धर्म है।

तिल के लड्डूओं में एक तिल दूसरे तिलरूप नहीं होता। उसी प्रकार परमाणु भी एक स्कन्ध में होने पर भी दूसरे परमाणुरूप नहीं होता तथा आत्मा शरीर और कर्म के परमाणुओं के साथ एक क्षेत्र में दिखता है, तथापि उनके साथ एकरूप नहीं होता, पर से त्रिकाल भिन्न है—ऐसा भेदज्ञान यहाँ कराते हैं। धर्म करनेवाला आत्मा है, इसलिए उसका स्वरूप यथार्थ जानना चाहिए। आत्मा को निमित्तरूप से शरीर और कर्म का संयोग होने पर भी और पर्याय में विकार होने पर भी अन्दर आत्मा शुद्धरूप स्थित है, ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ८२

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ।।८२।।

उपभोग्यमिन्द्रियैश्चेन्द्रियकाया मनश्च कर्माणि।
यद्भवति मूर्तमन्यत् तत्सर्वं पुद्गलं जानीयात्।।८२।।

समयव्याख्या : सकलपुद्गलविकल्पोपसंहारोऽयम्। इन्द्रियविषयाः स्पर्शरसगंध-वर्णशब्दाश्च, द्रव्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनध्राणचक्षुःश्रोत्राणि, कायाः औदारिकवैक्रियिका-हारकतैजसकार्मणानि, द्रव्यमनः, द्रव्यकर्माणि, नोकर्माणि, विचित्रपर्यायो-त्पत्तिहेतवोऽनंता अनंताणुवर्गणाः, अनंता असंख्येयाणुवर्गणाः, अनंताः संख्येयाणुवर्गणाः द्व्यणुकस्कंधपर्यंताः, परमाणवश्च, यदन्यदपि मूर्तं तत्सर्वं पुद्गलविकल्पत्वेनोपसंहर्तव्यमिति ।।८२।।

- इति पुद्गलद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

जो इन्द्रियों से भोग्य हैं अर काय-मन के कर्म जो।
अर अन्य जो कुछ मूर्त हैं वे सभी पुद्गल द्रव्य हैं।।८२।।

अन्वयार्थ :- [इन्द्रियैः उपभोग्यम् च] इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, [इन्द्रियकायाः]इन्द्रियाँ, शरीर, [मनः]मन, [कर्माणि]कर्म [च]और [अन्यत् यत्] अन्य जो कुछ [मूर्त्तं भवति]मूर्त हो, [तत् सर्वं]वह सब [पुद्गलं जानीयात्]पुद्गल जानो।

टीकाः-यह सर्व पुद्गलभेदों का उपसंहार है।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दरूप (पाँच) इन्द्रियविषय, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप (पाँच) द्रव्येन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मणरूप (पाँच) काया, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र पर्यायों की उत्पत्ति के हेतुभूत (अर्थात् अनेक प्रकार की पर्यायें उत्पन्न होने के कारणभूत) *अनन्त अनन्ताणुक

---

* लोक में अनन्त परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ अनन्त हैं, असंख्यात परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं और (द्वि-अणुक स्कन्ध, त्रि-अणुक स्कन्ध इत्यादि) संख्यात परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं। (अविभागी परमाणु भी अनन्त हैं।)

वर्गणाएँ, अनन्त असंख्याताणुक वर्गणाएँ और द्वि-अणुक स्कन्ध तक की अनन्त संख्याताणुक वर्गणाएँ तथा परमाणु, तथा अन्य भी जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल के भेदरूप से समेटना।

भावार्थः-वीतराग अतीन्द्रिय सुख के स्वाद से रहित जीवों को उपभोग्य पंचेन्द्रिय विषय, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप से विपरीत पाँच इन्द्रियाँ, अशरीर आत्मपदार्थ से प्रतिपक्षभूत पाँच शरीर, मनोगत-विकल्पजालरहित शुद्धजीवास्तिकाय से विपरीत मन, कर्मरहित आत्मद्रव्य से प्रतिकूल आठ कर्म और अमूर्त आत्मस्वभाव से प्रतिपक्षभूत अन्य भी जो कुछ मूर्त हो, वह सब पुद्गल जानो।।८२।।

इस प्रकार पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है।

गाथा - ८२ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार)

अब समस्त पुद्गलों का भेद संक्षेप से बतलाते हैं।

पाँच इन्द्रियों द्वारा पाँच प्रकार के विषय भोगने में आते हैं, वे जड़ हैं-मूर्तिक हैं। गद्दे को स्पर्श करने से कोमल मक्खन जैसा लगे; रस खट्टा-मीठा लगे; गन्ध सुगन्ध या दुर्गन्ध लगे; रंग काला, सफेद लगे, वह तथा शब्द, ये सब जड़ हैं, जड़ की दशा है, उसमें सुख नहीं है। अज्ञानी मानता है कि गर्मी के समय में आईसक्रीम खाते हों, पंखा घूमता हो, शरबती मलमल पहना हो तो बहुत मजा आता है। परन्तु यह मान्यता भूलभरी है। आत्मा का सुख आत्मा में है। जड़ में आत्मा का सुख नहीं है, जो जीव जड़ से सुख मानता है, उसे कभी धर्म और शान्ति नहीं होती।

और स्पर्श, जीभ, नाक, कान और नेत्र, ऐसी पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ भी जड़ हैं, उनमें भी सुख नहीं है। कोई कहता है कि अनाज सड़ता हो तो नाक से खबर पड़ती है और जीव की रक्षा होती है। अनाज में जीवांत पड़ी है या नहीं, वह आँख से ख्याल आवे तो उसकी दया पालन की जा सकती है, इन्द्रियों ने दयाधर्म में इतनी तो मदद की न?

समाधान - भाई! जाननेवाला तो आत्मा है। इन्द्रियाँ तो जड़ है। आत्मा परपदार्थ को इन्द्रियों से नहीं जानता, अपने से जानता है। और जिसे आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के स्वाद की खबर नहीं और अनुभव नहीं, ऐसा अज्ञानी जीव पाँच इन्द्रिय के विषय भोगकर सुख मानता है। और अतीन्द्रिय आत्मस्वरूप की खबर नहीं, वह जीव पाँच प्रकार की द्रव्य इन्द्रिय में सुख मानता है।

और मनुष्य तथा तिर्यंच के औदारिकशरीर, देव तथा नारकी के वैक्रियकशरीर, कोई मुनि को मस्तक में से सफेद पुतला निकले, वह आहारकशरीर, हाथ घिसने से जो गर्मी दिखे, वह तैजसशरीर और आठ कर्मों का शरीर, वह कार्मण (शरीर), ऐसे पाँच प्रकार के शरीर जड़ हैं - पुद्गल हैं। अज्ञानी जीव शरीर को मेरा मानकर संसार में भटक रहा है। जड़ और आत्मा भिन्न माने बिना धर्म नहीं होता। आत्मा अशरीरी है, चैतन्यस्वभावी है और शरीर प्रतिपक्षी है, जड़ स्वभावी है। शरीर जो भिन्न चीज़ है, उससे आत्मा को कल्याण नहीं है, इस प्रकार पर से भेदज्ञान करे तो धर्म होता है।

हृदय में आठ पंखुड़ी के कमल के आकार द्रव्य मन संज्ञी जीवों को होता है, वह जड़ है, आत्मा उससे भिन्न है। दया, दानादि शुभविकल्पों से तथा दूसरे मनोगत विकल्पों से तथा द्रव्यमन से आत्मा भिन्न है। इस प्रकार पर से भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

'**ज्ञानक्रियाभ्यं मोक्षः**' आत्मा का ज्ञान और उसमें स्थिरता, वह मोक्ष का उपाय है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्म तथा शरीर, वाणी इत्यादि नोकर्म पुद्गल है, आत्मा से भिन्न है। आत्मा तो कर्म से रहित है तथा अमूर्तिक है, कर्म तथा नोकर्म मूर्तिक है, इसलिए उन सबको तथा लक्ष्मी, मकान इत्यादि समस्त मूर्तिक पदार्थ जो दिखते हैं, उन सबको पुद्गलद्रव्य जान। यहाँ जान, ऐसा कहा है, वह पुद्गल का स्वरूप तेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जान और भेदज्ञान कर, ऐसा कहते हैं।

भावार्थ - पाँच प्रकार के विषय—पदार्थ पुद्गल हैं, उनमें वाणी, पुस्तक इत्यादि पाँच इन्द्रियों के शुभ विषयों में आता है, धर्मी जीव को निर्बलता के कारण शुभराग आता है, तब मूर्ति के ऊपर लक्ष्य जाता है, परन्तु मूर्ति आदि पदार्थों में आत्मा नहीं है, उसके कारण धर्म या ज्ञान नहीं होता।

और इन्द्रियों के अशुभ विषय भी उसके कारण से आते हैं, आत्मा के कारण आते नहीं। मोटर, दूधपाक इत्यादि पुद्गल हैं, उन्हें मेरा मानना, वह कुजाति को जाति मानने बराबर है। हीन कुल के लड़के को ब्राह्मण का लड़का माने, वह मूर्ख है; उसी प्रकार शरीर, मोटर इत्यादि पुद्गल को ब्रह्म कहने से आत्मा के मानना, वह आत्मा का खून करने के बराबर है।

पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ अचेतन है। द्रव्यमन, आठ प्रकार के द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म पुद्गल है तथा इसके अतिरिक्त अनेक पर्याय की उत्पत्ति का कारण ऐसी अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणा है, अनन्त असंख्याणु वर्गणा है तथा अनन्त संख्याणु वर्गणा है तथा एक अविभागी परमाणु (अनन्त) है, उन सबको पुद्गल जानना।

अज्ञानी जीव को दो-पाँच लाख रुपये इकट्ठे हों, वहाँ तो हर्षित हो जाता है परन्तु वह तो धूल का ढ़ेर है, उसमें सुख नहीं है। किसी हरिजन को धक्का लगे और किसी के पाखाने की विष्टा का डिब्बा अपनी बरामदे में ढुल जाये तो घर का मालिक हरिजन पर गुस्सा करता है परन्तु विष्टा को अपनी मालिकी की चीज़ नहीं मानता। उसी प्रकार पाँच लाख रुपये पुण्यकर्म के निमित्त से तेरे घर में आ पड़े, वह विष्टा समान हैं। दोनों पुद्गल हैं, उन्हें तेरा स्वरूप मानना नहीं।

कोई कहे कि शरीर अच्छा हो तो धर्म होता है, परन्तु यह मान्यता भूल भरी है। शरीर अपनी जाति से भिन्न जाति का है, कुजाति को अपनी जाति मानना, वह अधर्म है। इस जगत में जो-जो दृश्यमान पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल हैं। उनके अतिरिक्त अदृश्यमान पुद्गल भी हैं। वे सब अचेतन हैं और आत्मा से भिन्न हैं। चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान का ही पिण्ड है, जिस-जिस प्रकार के पुद्गल हैं, उन्हें वह जान लेता है, परन्तु पुद्गल पुद्गल में हैं, आत्मा में नहीं; आत्मा आत्मा में है, पुद्गल में नहीं—ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

कोई कहे कि : जिसके माता-पिता अच्छे हों, किसी प्रकार का लांछन न हो, ऐसे खानदानी माँ-बाप के गर्भ से जन्मे हुए लड़के का शरीर सजात गिना जाये, ऐसे को धर्म होता है, ऐसी अज्ञानी जीव दलील करते हैं। उन्हें कहा जाता है कि भाई! ऐसे शरीर

अनन्त बार मिले हैं, तथापि धर्म क्यों नहीं हुआ ? तो उसकी दलील करते हैं कि धर्म के समय सजाति शरीर न हो, ऐसा दृष्टान्त बताओ, तो उनसे कहा जाता है कि भाई ! तुझे शरीर का निर्णय करना है या आत्मा का ? जिसकी दृष्टि शरीर के ऊपर है, उसकी दृष्टि शरीर से रहित ऐसे आत्मा के ऊपर नहीं है। तिर्यंच को ऐसा कहाँ मेल है। तथापि वह धर्म प्राप्त करता है, नारकी भी धर्म प्राप्त करता है; इसलिए शरीर के ऊपर की दृष्टि छोड़, वह सब पुद्गल की पर्याय है। तू आत्मा है, उससे भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ८३

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढं पुट्ढं पिहुलमसंखादियपदेसं ।।८३।।

धर्मास्तिकायोऽरसोऽवर्णगंधोऽशब्दोऽस्पर्शः।
लोकावगाढः स्पृष्टः पृथुलोऽसंख्यातप्रदेशः।।८३।।

समयव्याख्या : अथ धर्माधर्मद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम्। धर्मस्वरूपाख्यानमेतत्। धर्मो हि स्पर्शरसगंधवर्णानामत्यंताभावादमूर्तस्वभावः। तत एव चाशब्दः। सकललोकाकाशाभिव्याप्यावस्थितत्वाल्लोकावगाढः। अयुतसिद्धप्रदेशत्वात् स्पृष्टः। स्वभावादेव सर्वतो विस्तृतत्वात्पृथुलः। निश्चयनयेनैकप्रदेशोऽपि व्यवहारनयेनासंख्यातप्रदेश इति।।८३।।

धर्मास्तिकाय अवर्ण अरस अगंध अशब्द अस्पर्श है।
लोकव्यापक पृथुल अर अखण्ड असंख्य प्रदेश है।।८३।।

अन्वयार्थ :- [धर्मास्तिकायः] धर्मास्तिकाय [अस्पर्शः] अस्पर्श, [अरसः] अरस, [अवर्णगंधः] अगन्ध, अवर्ण और [अशब्दः] अशब्द है; [लोकावगाढः] लोकव्यापक है; [स्पृष्टः] अखण्ड, [पृथुलः] विशाल और [असंख्यातप्रदेशः] असंख्यातप्रदेशी है।

टीका:-यह धर्म के (धर्मास्तिकाय के) स्वरूप का कथन है।

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण का अत्यन्त अभाव होने से धर्म (धर्मास्तिकाय) वास्तव में अमूर्तस्वभाववाला है; और इसीलिए अशब्द है; समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोकव्यापक है; [१]अयुतसिद्ध प्रदेशवाला होने से अखण्ड है; स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है; निश्चयनय से [२]'एकप्रदेशी' होने पर भी व्यवहारनय से असंख्यातप्रदेशी है।।८३।।

---

१. युतसिद्ध=जुड़े हुए; संयोगसिद्ध। (धर्मास्तिकाय में भिन्न-भिन्न प्रदेशों का संयोग हुआ है ऐसा नहीं है, इसलिए उसमें बीच में व्यवधान-अन्तर-अवकाश नहीं है; इसलिए धर्मास्तिकाय अखण्ड है।)

२. एकप्रदेशी=अविभाज्य-एकक्षेत्रवाला। (निश्चयनय से धर्मास्तिकाय अविभाज्य-एकपदार्थ होने से अविभाज्य-एकक्षेत्रवाला है।)

गाथा - ८३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार)

इस जगत में केवली भगवान ने धर्म और अधर्म दो अरूपी पदार्थ देखे हैं, उनसे आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करने की सामर्थ्य आत्मा में है। आत्मा का ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। अपने को जानते हुए छह द्रव्यों को जान लेता है। छह द्रव्यसहित आत्मा की प्रतीति करे, ऐसा चैतन्य का स्वभाव है।

प्रथम, धर्मद्रव्य का स्वरूप कहते हैं।

धर्मद्रव्य असंख्य प्रदेशी है। आत्मा असंख्य प्रदेशी, अरूपी चेतनकायवन्त है और धर्मदव्य असंख्य प्रदेशी, अरूपी, अचेतनकायवन्त है। दोनों के प्रदेश समान हैं। प्रत्येक आत्मा के प्रदेश समान हैं, परन्तु उसमें प्रदेश संकोच-विस्तार पाते हैं, तथापि प्रदेश का क्षेत्र छोटा-बड़ा नहीं है। यहाँ धर्मद्रव्य की बात है, उसे असंख्य प्रदेश हैं। पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्शरहित है और शब्द पर्यायरहित है। समस्त लोक में व्याप्त है। जड़-चेतन (जीव पुद्गल) गति करे, उसे निमित्त होता है। अपने प्रदेशों के स्पर्श से असंख्यात हैं और स्वभाव से ही पूरे लोक में व्याप्त है। यद्यपि धर्मद्रव्य निश्चय से अखण्डित है, तथापि व्यवहार से असंख्य प्रदेशी है।

कितनों को धर्मद्रव्य की भी खबर नहीं, नाम भी सुना न हो।

मुमुक्षु - धर्मद्रव्य की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री - यह कल्पना नहीं है। धर्मद्रव्य अनादि-अनन्त अरूपी वस्तु है। वह जीव-पुद्गल को गति में निमित्त होता है। भगवान ने देखा है और उसका जाननेवाला भी आत्मा है। छह द्रव्यों में एक द्रव्य को भी कम जाने तो ज्ञान परिपूर्ण सिद्ध नहीं होता। केवली भगवान प्रत्यक्ष जानते हैं और छद्मस्थ जीव को रागरहित ज्ञानस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान अनुमान द्वारा धर्मद्रव्य का निर्णय करता है। यह कल्पना नहीं, यथार्थ वस्तु है।

अन्यमतों में जीव, पुद्गल, आकाश, काल ऐसे नाम आते हैं, परन्तु धर्म-अधर्मद्रव्य का नाम नहीं है। अथवा छह द्रव्य का यथार्थ स्वरूप सर्वज्ञ के अतिरिक्त

अन्यत्र कहीं नहीं है। सर्वज्ञ के सिवाय परिपूर्ण जानने की सामर्थ्य किसी को नहीं होती। सर्वज्ञ को माननेवाले अल्पज्ञ जीव भी अपने स्वसंवेदन ज्ञान की सामर्थ्य से और अनुमान से धर्मद्रव्य को जान लेते हैं।

जिस प्रकार तिल में तेल व्याप्त है, आत्मा में ज्ञान व्याप्त है, सिद्धक्षेत्र में सिद्ध व्याप्त हैं, अभव्य जीवों में राग और मिथ्यात्व व्याप्त है; उसी प्रकार पूरे लोक में अचेतन अरूपी धर्मद्रव्य व्याप्त है। वह आत्मा से भिन्न है, आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। आत्मा का ज्ञान होने पर उसका ज्ञान होता है।

और धर्मद्रव्य का स्वरूप थोड़ी सी विशेषता से बताते हैं। ●●

गाथा - ८४

अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ।।८४।।

अगुरुकलघुकैः सदा तैः अनंतैः परिणतः नित्यः।
गतिक्रियायुक्तानां कारणभूतः स्वयमकार्यः ।।८४।।

समयव्याख्या : धर्मस्यैवावशिष्टस्वरूपाख्यानमेतत्। अपि च धर्मः अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबंधनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदैः प्रतिसमयसंभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिरनंतैः सदा परिणतत्वादुत्पादव्ययवत्त्वेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनान्नित्यः गतिक्रियापरिणतानामुदासीनाविनाभूतसहायमात्रत्वात्कारणभूतः। स्वास्तित्वमात्रनिर्वृत्तत्वात् स्वयमकार्य इति ।।८४।।

अगुरुलघु अंशों से परिणत उत्पाद-व्यय-ध्रुव नित्य है।
क्रिया गति में हेतु है वह पर स्वयं ही अकार्य है।।८४।।

अन्वयार्थ :- [अनंतः तैः अगुरुकलघुकैः] वह (धर्मास्तिकाय) अनन्त ऐसे जो अगुरुलघु (गुण, अंश) उन-रूप [सदा परिणतः] सदैव परिणमित होता है, [नित्यः] नित्य है, [गतिक्रियायुक्तानां] गतिक्रियायुक्त को [कारणभूतः] कारणभूत (निमित्तरूप) है और [स्वयम् अकार्यः] स्वयं अकार्य है।

टीका:-यह धर्म के ही शेष स्वरूप का कथन है।

पुनश्च, धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघु [१]गुणोंरूप से अर्थात् अगुरुलघुत्व नाम का जो स्वरूपप्रतिष्ठत्व के कारणभूत स्वभाव उसके अविभाग परिच्छेदोंरूप से-जो कि प्रतिसमय होनेवाली [२]षट्स्थानपतित वृद्धिहानिवाले अनन्त हैं, उनके रूप से-सदा

---

१. गुण=अंश; अविभाग परिच्छेद [सर्व द्रव्यों की भाँति धर्मास्तिकाय में अगुरुलघुत्व नाम का स्वभाव है। वह स्वभाव धर्मास्तिकाय को स्वरूपप्रतिष्ठत्व के (अर्थात् स्वरूप में रहने के) कारणभूत है। उसके अविभाग परिच्छेदों को यहाँ अगुरुलघुगुण (अंश) कहे हैं।]

परिणमित होने से उत्पादव्ययवाला है, तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता; इसलिए नित्य है; गतिक्रियापरिणत को (गतिक्रियारूप से परिणमित होने में जीव-पुद्गलों को) [३]उदासीन [४]अविनाभावी सहायमात्र होने से (गतिक्रियापरिणत को) कारणभूत है; अपने अस्तित्वमात्र से निष्पन्न होने के कारण स्वयं अकार्य है (अर्थात् स्वयंसिद्ध होने के कारण किसी अन्य से उत्पन्न नहीं हुआ है; इसलिए किसी अन्य कारण के कार्यरूप नहीं है)।।८४।।

गाथा - ८४ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण २, शनिवार)

प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु नाम का गुण है, वह धर्मद्रव्य में भी है, इसलिए धर्मद्रव्य में समय-समय में अपनी पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेदरूप परिणमन हुआ करता है और वह टंकोत्कीर्ण अविनाशी है। तथा जीव-पुद्गल गमन करें, उन्हें निमित्तकारण है। स्वयं का गतिहेतुत्व गुण है। जीव-पुद्गल में निमित्त है। किसी ईश्वर ने धर्मद्रव्य को उत्पन्न नहीं किया परन्तु वह अनादि-अनन्त है। भगवान सिद्ध जगत से उदासीन हैं। वे किसी जीव को अपना स्मरण करने को नहीं कहते, तथा मदद नहीं करते, परन्तु जो जीव स्मरण करता है, उसे सिद्ध भगवान स्मरण में निमित्त हैं। उसी प्रकार धर्मद्रव्य

---

२. **षट्स्थानपतित वृद्धिहानि=छह स्थान में समावेश पानेवाली वृद्धिहानि; षट्गुण वृद्धिहानि। (अगुरुलघुत्वसवभाव के अनन्त अंशों में स्वभाव से ही प्रतिसमय षट्गुण वृद्धिहानि होती रहती हैं।)**

३. **जिस प्रकार सिद्धभगवान, उदासीन होने पर भी, सिद्धगुणों के अनुरागरूप से परिणमत भव्य जीवों को सिद्धगति के सहकारी कारणभूत हैं, उसी प्रकार धर्म भी, उदासीन होने पर भी, अपने-अपने भावों से ही गतिरूप परिणमित जीव-पुद्गलों को गति का सहकारी कारण है।**

४. **यदि कोई एक, किसी दूसरे के बिना न हो, तो पहले को दूसरे का अविनाभावी कहा जाता है। यहाँ धर्मद्रव्य को 'गतिक्रियापरिणत का अविनाभावी सहायमात्र' कहा है। उसका अर्थ है कि - गतिक्रियापरिणत जीव-पुद्गल न हो तो वहाँ धर्मद्रव्य उन्हें सहायमात्ररूप भी नहीं है; जीव-पुद्गल स्वयं गतिक्रियारूप से परिणमित होते हों तभी धर्मद्रव्य उन्हें उदासीन सहायमात्ररूप (निमित्तमात्ररूप) है, अन्यथा नहीं।**

उदासीन है, वह कोई जीव—पुद्गल को बलजोरी से गमन नहीं कराता, परन्तु जो गति करे, उन्हें वह निमित्त कहलाता है। धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व, अरूपीपना, अचेतनपना, अस्तित्व, वस्तुत्व, इत्यादि अनन्त गुण हैं।

भावार्थ - धर्मद्रव्य सदा अविनाशी टंकोत्कीर्ण वस्तु है। आत्मा भी टंकोत्कीर्ण अविनाशी है, परन्तु आत्मा चेतन है, धर्मद्रव्य अचेतन है। जड़ होने पर भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित है। अगुरुलघुगुण से षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणमन हुआ करता है।

धर्मद्रव्य अपनी अवस्थासहित अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा है, इसलिए धर्मद्रव्य कार्यरूप नहीं है। किसी से उपजा हो तो कार्य कहलाये, परन्तु धर्मद्रव्य अनादि से है, किसी से उपजा नहीं है, इसलिए कार्यरूप नहीं है। धर्मद्रव्य गति में निमित्त होता है, इसलिए कारणरूप है परन्तु कार्यरूप नहीं।

यह धर्मास्तिकाय जैसे अनादि-अनन्त है, वैसे तू भी अनादि-अनन्त है—ऐसा निर्णय कर। अज्ञानी कहता है कि मेरा ज्ञान पर से होता है। यहाँ जड़ पदार्थ कहते हैं कि हमारा अस्तित्व तू निर्णय करता है, हमें हमारी खबर नहीं। हमारे कारण तू नहीं, तेरे कारण हम नहीं। इस प्रकार जड़ पदार्थ से आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

और जिस प्रकार सिद्ध अक्रिय है, उन्हें राग नहीं होता। किसी का भला-बुरा नहीं करते, उसी प्रकार तेरा स्वभाव भी ऐसा अक्रिय है। ऐसी बात आने पर अज्ञानी कहता है कि ऐसे सिद्ध हमें नहीं चाहिए, हमें तो दूसरे का भला करे, ऐसे सिद्ध चाहिए। इस प्रकार भला-बुरा करने के अभिमानी जीव सिद्ध के तथा अपने स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। अज्ञानी जीव राग-द्वेष करता है परन्तु पर का भला-बुरा करने की ताकत किसी जीव में नहीं है। अपना स्वभाव तो ज्ञान ही है। उस ज्ञान में स्व को जानते हुए, पर ऐसे धर्मास्तिकाय पदार्थ को जैसा है, वैसा जान लेना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ८५

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि ।।८५।।

उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलानां धर्मद्रव्यं विजानीहि ।।८५।।

समयव्याख्या : धर्मस्य गतिहेतुत्वे दृष्टांतोऽयम्। यथोदकं स्वयमगच्छदगमयच्च स्वयमेव गच्छतां मत्स्यानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमनमनुगृह्णाति, तथा धर्मोऽपि स्वयमगच्छन् अगमयंश्च स्वयमेव गच्छतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविना-भूतसहायकारणमात्रत्वेन गमनमनुगृह्णति इति ।।८५।।

गमन हेतुभूत है ज्यों जगत में जल मीन को।
त्यों धर्म द्रव्य है गमन हेतु जीव पुद्गल द्रव्य को।।८५।।

अन्वयार्थ :- [यथा] जिस प्रकार [लोके] जगत में [उदकं] पानी [मत्स्यानां] मछलियों को [गमनानुग्रहकरं भवति] गमन में अनुग्रह करता है, (तथा) उसी प्रकार [धर्मद्रव्यं] धर्मद्रव्य [जीवपुद्गलानां] जीव-पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है (-निमित्तभूत होता है) ऐसा [विजानीहि] जानो।

टीका:-यह धर्म के गतिहेतुत्व का दृष्टान्त है।

जिस प्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करती हुई मछलियों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्म (धर्मास्तिकाय) भी स्वयं गमन न करता हुआ और (पर को) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में *अनुग्रह करता है।।८५।।

---

* गमन में अनुग्रह करना अर्थात् गमन में उदासीन अविनाभावी सहायरूप (निमित्तरूप) कारणमात्र होना।

गाथा - ८५ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ३, रविवार)

भगवान सर्वज्ञ ने देखे हुए पदार्थों में धर्मास्तिकाय नाम से एक पदार्थ है। यह अध्यात्म ग्रन्थ होने से विशेष युक्ति से सिद्ध नहीं किया है। चेतन और पुद्गलपदार्थ अपने कारण से गमन करते हैं, तब उसमें दूसरा निमित्तकारण होना चाहिए। दो प्रकार के कारण हैं, एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। अपने कारण से क्षेत्रान्तर होना, वह उपादान है और उसमें धर्मद्रव्य निमित्त है। जैसे निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार होता है; उसी प्रकार उपादानकारण है, वहाँ निमित्तकारण है।

धर्मद्रव्य गति में निमित्तकारण है, यह दृष्टान्त से बतलाते हैं।

आत्मा स्व में रहकर सबको जान सके, इतनी सामर्थ्यवाला है। एक दर्पण स्पष्ट हो, उसके सामने जितनी चीज़ पड़ी हो, उन सबको वह दर्पण दिखाता है; उसी प्रकार चैतन्यदर्पण जगत में सब द्रव्यों को पूर्ण रीति से प्रकाशित करे, इतना है, ऐसा यदि अपने आत्मा को माने तो आत्मा को यथार्थ माना कहलाये।

यहाँ धर्मद्रव्य का ज्ञान कराते हैं। उसे जान लेने का आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार मछलियों को गति करने में पानी निमित्तमात्र है। पानी मछली को बलजोरी से चलाता नहीं है परन्तु जो मछली चलती है, उसे पानी निमित्त कहलाता है। उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल को धर्मद्रव्य बलजोरी से चलाता नहीं, परन्तु जीव-पुद्गल चलते हैं, उन्हें धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। मूल पाठ में शब्द '**अनुग्रहक्रम भवति**' है। इसका अर्थ उपकार करते हैं। अर्थात् कि निमित्तरूप सहकारी कारण होता है, ऐसा इसका अर्थ समझना।

भावार्थ - मछलियाँ गमन करती हैं, उस समय पानी उसके साथ चलता नहीं तथा वह मछलियों को चलाता नहीं। परन्तु मछली के गमन में निमित्तमात्र सहायभूत है, ऐसा पानी का स्वभाव है। सहायक अर्थात् उपस्थितरूप से होता है। मछली पानी के बिना चलने को असमर्थ है, इसलिए पानी निमित्तमात्र है। यहाँ पानी का निमित्तपना बतलाना है। परन्तु इससे मछली गति में पराधीन है, ऐसा नहीं है। मछली अपने कारण से चलती है। तब पानी निमित्त है। उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल धर्मद्रव्य के बिना गमन करने में असमर्थ है अर्थात् कि वे गति करते हैं, तब धर्मद्रव्य है, ऐसा निमित्त

साबित करना है। जीव और पुद्गल चलते हैं, तब धर्मद्रव्य चलता नहीं तथा धर्मद्रव्य प्रेरणा करके जीव-पुद्गल को चलाता नहीं। स्वयं उदासीन है, परन्तु उसका अनादिनिधन ऐसा स्वभाव है कि जो जीव और पुद्गल अपने कारण से क्षेत्रान्तर करे, उन्हें धर्मद्रव्य निमित्तमात्र होता है।

अब जयसेन आचार्य की संस्कृत टीका से स्पष्टीकरण पृष्ठ ३७६, संस्कृत टीका, लाईन १३। '**अथवा भव्यानाम सिद्धगतेः**' से शुरु करके छठवीं लाईन '**सहकारी कारणं भवति**' तक। पहले लोकोत्तर दृष्टान्त (उपादान और निमित्तकारण बतलाता हुआ)-भव्य जीव अपने आत्मा का भान करके कि मैं एक शुद्ध आत्मा हूँ। देह, मन, वाणी की क्रिया मेरी नहीं है, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। मैं निश्चय से रागादि रहित हूँ, ऐसा भान करके सिद्धदशा को प्राप्त करे तो रागादि दोषरहित शुद्ध आत्मा की अनुभूति सिद्धदशारूपी कार्य का उपादानकारण है। शरीर की क्रिया पर है और पुण्य-पाप तो अपराध है। अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में अन्तर रमणता करना, वह मोक्ष का निश्चयकारण है। अब उसे निमित्तकारण कौन है, यह बतलाते हैं। किसी भी प्रकार के निदान बिना बाँधी हुई तीर्थंकरनामकर्म की प्रकृति, उत्तम संहनन, बादरपना, मनुष्यपना, इत्यादि सहकारी काररण अथवा निमित्तकारण कहे जाते हैं। किसी धर्मी जीव को आत्मा का भान होने के पश्चात् शुभराग की भूमिका में तीर्थंकर पुण्य प्रकृति बँध जाती है। उसे बाँधने की भावना नहीं तथा वह उसका स्वामी नहीं। मिथ्यादृष्टि को तो बँधती नहीं। वह प्रकृति, मजबूत संहनन या मनुष्यपना सिद्धदशा नहीं कराते। सिद्धदशा को और प्रकृति आदि जड़ को अत्यन्त अभाव है। परन्तु स्वयं सिद्धदशा प्रगट करता है तो प्रकृति आदि जो-जो हो, वह निमित्त कहलाते हैं।

इष्टोपदेश में कहा है कि निश्चय से आत्मा ही स्वयं अपना निश्चयगुरु है, तो व्यवहार से पर को गुरु कहा जाता है। गुरु पर में कुछ करते नहीं। अभी निमित्त के नाम से बहुत गड़बड़ चलती है। प्रेरक का अर्थ ऐसा नहीं कि उसने परपदार्थ में कुछ प्रेरणा की। अपने में गति करता पदार्थ अथवा संकल्प-विकल्प करता जीव हो, उसे प्रेरक कहते हैं और स्थिर पदार्थ को उदासीन कहते हैं। चलते हुए घोड़े पर मनुष्य बैठा है, वहाँ मनुष्य अपने कारण से गति करता है, उसमें घोड़ा प्रेरक निमित्त है, क्योंकि घोड़ा

स्वयं गति करता है और वहाँ रहा हुआ धर्मद्रव्य गति नहीं करता, इसलिए धर्म को उदासीन निमित्त कहते हैं। प्रेरक अर्थात् अपने में सक्रियपना और उदासीन अर्थात् अपने में अक्रियपना अर्थात् गतिरूप नहीं होना।

यहाँ दृष्टान्त में कहा कि सिद्धदशा प्राप्त करने में भव्यजीव की योग्यता अर्थात् कि शुद्धात्मा की अनुभूति, वह उपादानकारण है। (यह वर्तमान पर्याय को उपादानकारण लिया है, गुण तो त्रिकाल हैं।) तो मनुष्यदेह, संहनन, तीर्थंकरप्रकृति निमित्तकारण है। परन्तु जिसे राग का आदर है, कर्म के साथ एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे तीर्थंकरप्रकृति नहीं बँधती। जिसे आत्मा का अनुभव नहीं, उसे मनुष्य देहादि निमित्त नहीं कहलाते। यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल अपने कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, वह उपादानकारण है और धर्मास्तिकाय को सहकारीकारण-निमित्तकारण कहा जाता है।

दूसरा लोकोत्तर दृष्टान्त 'संस्कृत टीका' पृष्ठ ३७६, लाईन १७, '**अथवा भव्यानाम**' से '**भवतीति भावार्थः**' भव्य और अभव्य चार गति में परिभ्रमण करते हैं, उसमें अपने-अपने शुभाशुभभाव उपादानकारण हैं। देवगति में शुभपरिणाम, मनुष्यगति में मध्यम परिणाम, तिर्यंचगति में माया के परिणाम, नरक में अशुभपरिणाम उपादानकारण है, तब शरीर का बाह्यलिंग, दान-पूजा के समय होनेवाली शरीरादि की क्रिया तथा बाहर के शुभ अनुष्ठान, मन्दिर, समवसरण, मानस्तम्भ आदि को बहिरंग सहकारीकारण कहा जाता है।

दो दृष्टान्त दिये—(१) सिद्धगति में शुद्ध आत्मा का अनुभव, वह उपादानकारण और तीर्थंकरप्रकृति आदि निमित्तकारण। (२) शुभाशुभभाव चार गति में उपादानकारण और बाह्यलिंग और शरीर की क्रिया, वह निमित्तकारण। इस प्रकार जीव और पुद्गल अपने कारण से चलते हैं। वह उपादानकारण और धर्मद्रव्य निमित्तकारण है। बावड़ी का स्थिर पानी मछली को गति में निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को गमन में धर्मद्रव्य निमित्त है।

पण्डित बनारसीदासजी ने कहा है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का प्रेरक नहीं है।

इस प्रकार जीव और पुद्गल के क्षेत्रान्तर में धर्मास्तिकाय का निमित्तपना दृष्टान्तों द्वारा बतलाया। ●●

गाथा - ८६

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ।।८६।।

यथा भवति धर्मद्रव्यं तथा तज्जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम्।
स्थितिक्रियायुक्तानां कारणभूतं तु पृथिवीव ।।८६।।

समयव्याख्या : अधर्मस्वरूपाख्यानमेतत्। यथा धर्मः प्रज्ञापितस्तथाधर्मोपि प्रज्ञापनीयः। अयं तु विशेषः। स गतिक्रियायुक्तानामुदकवत्कारणभूतः एषः पुनः स्थितिक्रियायुक्तानां पृथिवीवत्कारणभूतः। यथा पृथिवी स्वयं पूर्वमेव तिष्ठंती परम-स्थापयंती च स्वयमेव तिष्ठतामश्वादीनामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनु-गृह्णातीति तथाऽधर्मोऽपि स्वयं पूर्वमेव तिष्ठन् परमस्थापयंश्च स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविना-भूतसहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुगृह्णातीति ।।८६।।

धरम नामक द्रव्यवत ही अधर्म नामक द्रव्य है।
स्थिति क्रिया से युक्त को यह स्थितिकरण में निमित्त है।।८६।।

अन्वयार्थ :- [यथा] जिस प्रकार [धर्मद्रव्यं भवति] धर्मद्रव्य है (तथा) उसी प्रकार [अधर्माख्यम् द्रव्यम्] अधर्म नाम का द्रव्य भी [जानीहि] जानो; [तत् तु] परन्तु वह (गतिक्रियायुक्त को कारणभूत होने के बदले) [स्थितिक्रियायुक्तानाम्] स्थितिक्रियायुक्त को [पृथिवी इव] पृथ्वी की भाँति [कारणभूतम्] कारणभूत है (अर्थात् स्थितिक्रियापरिणत जीव-पुद्गलों को निमित्तभूत है)।

टीका:-यह अधर्म के स्वरूप का कथन है।

जिस प्रकार धर्म का प्रज्ञापन किया गया, उसी प्रकार अधर्म का भी प्रज्ञापन करने योग्य है। परन्तु यह (निम्नोक्तानुसार) अन्तर है। वह (-धर्मास्तिकाय) गतिक्रियायुक्त को पानी की भाँति कारणभूत है और यह (अधर्मास्तिकाय) स्थितिक्रियायुक्त को पृथ्वी की भाँति कारणभूत है। जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप (-स्थिर) वर्तती हुई तथा पर को स्थिति (-स्थिरता) नहीं कराती हुई, स्वयमेव स्थितिरूप से परिणमित होते हुए अश्वादिक को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप में स्थिति में अनुग्रह

करती है, उसी प्रकार अधर्म (अधर्मास्तिकाय) भी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप से वर्तता हुआ और पर को स्थिति नहीं कराता हुआ, स्वयमेव स्थितिरूप परिणमित होते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र के रूप में स्थिति में अनुग्रह करता है।।८६।।

गाथा - ८६ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ३, रविवार)

अब अधर्मद्रव्य का स्वरूप बतलाते हैं।

जीव और पुद्गल गतिपूर्वक स्थिर हों, उन्हें अधर्मद्रव्य निमित्त है। जिस प्रकार पृथ्वी किसी को खड़े रहो, ऐसा नहीं कहती है, परन्तु जो खड़ा रहता है, उसे वह निमित्त कहलाती है, यह दृष्टान्त अधर्मद्रव्य का समझना।

भावार्थ - पृथ्वी अपने स्वभाव से अपनी अवस्था में स्थिर है। घोड़ा इत्यादि को बलजोरी से खड़े नहीं रखाती। घोड़े इत्यादि बाह्य पदार्थ स्वयं के कारण से स्थिर होते हैं, उन्हें पृथ्वी सहज उदासीन अवस्थारूप से निमित्तमात्र होती है। इस दृष्टान्तानुसार अधर्मद्रव्य भी अपनी सहज अवस्थारूप से लोकाकाश के असंख्य प्रदेशों के प्रमाणरूप अनादि काल से है, उसके असंख्य प्रदेश लोकप्रमाण सहज हैं। कोई जीव केवली -समुद्घात करे, तब उनके प्रदेश विस्तार पाकर लोकप्रमाण होते हैं। अथवा कपड़ा पहले संकोचरूप और बाद में विस्तृत होता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य दोनों के प्रदेश पहले संकोचरूप थे और बाद में पूरे लोकप्रमाण हुए, ऐसा नहीं है। अनादि से ही पूरे लोकप्रमाण अखण्ड असंख्यप्रदेशी हैं, वह अधर्मद्रव्य स्वभाव से जीव-पुद्गल की स्थिरता में निमित्तकारण है, परन्तु उस द्रव्य को बलजोरी से वह स्थिर नहीं कराता। गतिमान जीव-पुद्गल अपने से स्थिर अवस्थारूप परिणाम करे तो अधर्मद्रव्य अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्थारूप निमित्तमात्र सहाय होता है।

अब जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका, पृष्ठ ३७९, लाईन १७ '**शुद्धात्मस्वरूपे**' से '**चेति सूत्रार्थः**' तक।

मैं आत्मा शुद्धस्वरूपी हूँ, ऐसा भान होने पर, स्वभाव में स्थिरता होती है, इस

प्रकार शुद्ध आत्मा में स्थिरता का निश्चयकारण वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन है। शुभराग या पुण्य उसमें कारण नहीं है। जीव अपनी पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष की अस्थिरता छोड़कर शुद्ध चिदानन्दस्वभाव में स्थिरता करता है, उसमें स्वसंवेदन निश्चयकारण है। तो अरिहन्त-सिद्ध के स्मरण का विकल्प, अरिहन्त-सिद्ध भगवन्तों की प्रतिमा इत्यादि को निमित्तकारण कहा जाता है। परन्तु वे निमित्त स्थिर नहीं कराते। स्वयं शुद्धचिदानन्द आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करे तो बाह्य को निमित्तकारण कहा जाता है, नहीं तो वह निमित्त भी नहीं कहलाते।

जो आत्मा दया, दानादि के भावों में धर्म मानकर वैसे परिणाम में फिरा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे भगवान निमित्त नहीं कहलाते। पुण्य-पाप के परिणाम शुद्ध आत्मा नहीं; त्रिकाली स्वभाव, वह शुद्ध आत्मा है, वह मैं हूँ - इस प्रकार ज्ञान की पर्याय ध्रुवस्वभाव को पकड़े और स्थिर हो, उसे धर्म की क्रिया कहा जाता है और ऐसी स्थिरता में स्वसंवेदनज्ञान निश्चयकारण है तो भगवान के स्मरण को निमित्त कहा जाता है। इस दृष्टान्त से पुद्गल और चेतनपदार्थ अपने कारण से स्थिर होते हैं, वह उपादानकारण है। उसमें अधर्मद्रव्य निमित्तकारण कहलाता है। ●●

गाथा - ८७

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ।।८७।।

जातमलोकलोकं ययोः सद्भावतश्च गमनस्थिति।
द्वावपि च मतौ विभक्तावविभक्तौ लोकमात्रौ च।।८७।।

समयव्याख्याः धर्माधर्मसद्भावे हेतूपन्यासोऽयम्। धर्माधर्मौ विद्येते। लोकालोक-विभागान्यथानुपपत्तेः। जीवादिसर्वपदार्थानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः। शुद्धैकाकाशवृत्तिरूपोऽलोकः। तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थिति-परिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थिति-परिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत। ततो न लोकालोकविभागः सिध्येत। धर्माधर्मयोस्तु जीवपुद्गलयोर्गतितत्पूर्वस्थित्योर्बहिरङ्गहेतुत्वेन सद्भावोऽभ्युपगम्यमाने लोकालोकविभागो जायत इति। किञ्च धर्माधर्मौ द्वावपि परस्परं पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वाद्विभक्तौ। एकक्षेत्रावगाढत्वादविभक्तौ। निष्क्रियत्वेन सकललोकवर्तिनोर्जीवपुद्गलयोर्गतिस्थित्युपग्रहकरणाल्लोकमात्राविति ।।८७।।

धरम अर अधरम से ही लोकालोक गति-स्थिति बने।
वे उभय भिन्न-अभिन्न भी अर सकल लोक प्रमाण है।।८७।।

अन्वयार्थ :- [गमनस्थिती] (जीव-पुद्गल की) गति-स्थिति [च] तथा [अलोकलोकं] अलोक और लोक का विभाग, [ययोः सद्भावतः] उन दो द्रव्यों के सद्भाव से [जातम्] होता है। [च] और [द्वौ अपि] वे दोनों [विभक्तौ] विभक्त, [अविभक्तौ] अविभक्त [च] और [लोकमात्रौ] लोकप्रमाण [मतौ] कहे गये हैं।

टीका:-यह धर्म और अधर्म के सद्भाव की सिद्धि के लिये हेतु दर्शाया गया है।

धर्म और अधर्म विद्यमान है, क्योंकि लोक और अलोक का विभाग अन्यथा नहीं बन सकता। जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र-अस्तित्वरूप लोक है; शुद्ध एक आकाश के अस्तित्वरूप अलोक है। वहाँ, जीव और पुद्गल स्वरस से ही (स्वभाव से ही) गतिपरिणाम को तथा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त होते हैं। यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव-पुद्गल को बहिरंग हेतु धर्म और अधर्म न हो, तो जीव-पुद्गल के *निरर्गल गतिपरिणाम और स्थितिपरिणाम

---

* निरर्गल=निरंकुश; अमर्यादित।

होने से अलोक में भी उनका (जीव-पुद्गल का) होना किससे निवारा जा सकता है? (किसी से नहीं निवारा जा सकता।) इसलिए लोक और अलोक का विभाग सिद्ध नहीं होता। परन्तु यदि जीव-पुद्गल की गति के और गतिपूर्वक स्थिति के बहिरंग हेतुओं के रूप में धर्म और अधर्म का सद्भाव स्वीकार किया जाये तो लोक और अलोक का विभाग (सिद्ध) होता है। (इसलिए धर्म और अधर्म विद्यमान है।) और (उनके सम्बन्ध में विशेष विवरण यह है कि), धर्म और अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत अस्तित्व से निष्पन्न होने से विभक्त (भिन्न) है; एकक्षेत्रावगाही होने से अविभक्त (अभिन्न) हैं; समस्त लोक में विद्यमान जीव-पुद्गलों को गतिस्थिति में निष्क्रियरूप से अनुग्रह करते हैं, इसलिए (-निमित्तरूप होते हैं इसलिए) लोकप्रमाण हैं।।८७।।

गाथा - ८७ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ३, रविवार)

धर्म-अधर्मद्रव्य से लोक-अलोक के विभाग पड़ते हैं। धर्म-अधर्मद्रव्य न मानो तो लोक-अलोक सिद्ध नहीं होते। लोक-अलोक को तथा धर्म-अधर्म को न जाने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। धर्म-अधर्म दोनों पूरे लोक में एक क्षेत्र में है, परन्तु दोनों स्वभाव से भिन्न हैं। जो धर्म-अधर्म मानते नहीं, उसके समाधान के लिये आचार्य कहते हैं कि—

जिस धर्म-अधर्मद्रव्य के अस्तित्व से लोक और अलोक हुए हैं और जो गति-स्थिति में निमित्त है, वे दोनों अपने-अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु एक क्षेत्रावगाह से भिन्न-भिन्न नहीं और असंख्यप्रदेशी लोकमात्र है।

भावार्थ - यहाँ जो **प्रश्न** किया गया है कि धर्म-अधर्म है ही नहीं और आकाश गति और स्थिति में सहायक है, ऐसा माना जाये तो?

उसका **समाधान**—जगत अथवा लोक सर्वत्र व्यापक नहीं है। यह लोक मर्यादावाला है और बाकी भाग को अलोक कहते हैं। कोई कहे कि यह जगत दिखता है, ऐसा का ऐसा सर्वत्र हो तो? ऐसा का ऐसा कहाँ तक? पश्चात् क्या? पश्चात् क्या? दो भाग माने बिना यथार्थ वस्तुस्थिति निश्चित नहीं होती। जैसे जड़ और चेतन दो भिन्न

हैं, वैसे लोक और अलोक भिन्न हैं। लोक-अलोक अपने कारण से है, उसमें धर्म-अधर्म को निमित्तरूप से सिद्ध किया है। धर्म-अधर्म द्रव्य अवश्य है। यदि दो द्रव्य न हो तो लोक-अलोक का भेद सिद्ध नहीं होता। जहाँ जीवादिक समस्त पदार्थ हैं। उसे लोक कहते हैं। जीवादि पदार्थ भाव से अनन्त हों, परन्तु क्षेत्र से अनन्त नहीं होते। आकाश का क्षेत्र अनन्त है। उसमें असंख्य योजन तक लोक है, पश्चात् जहाँ अकेला आकाश है, उसे अलोक कहते हैं। इसलिए जीव-पुद्गल की गति-स्थिति लोकाकाश में है, अलोकाकाश में नहीं। यदि धर्म-अधर्म में गति-स्थिति में निमित्तपने का गुण नहीं होता तो लोक-अलोक का भेद दूर हो जाता। जीव और पुद्गल दोनों अपने कारण से गति अथवा स्थितिरूप अवस्था धारण करते हैं। उसमें गति को बहिरंग निमित्त धर्मद्रव्य और स्थिति को बहिरंग निमित्त अधर्मद्रव्य है। वे दोनों लोक में हैं। यदि धर्म-अधर्मद्रव्य लोक में न हो तो लोक-अलोक, ऐसा भेद नहीं होता और सब जगह लोक होता है, इस कारण से धर्म-अधर्मद्रव्य अवश्य है।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ४, सोमवार

यह अधर्मास्तिकाय की व्याख्या चलती है। सर्वज्ञ भगवान ने अधर्मद्रव्य और धर्मद्रव्य, ऐसे दो द्रव्य देखे हैं। जिसे किसी पदार्थ को लक्ष्यभेद करना हो, उसे किस पदार्थ को लक्ष्यभेद करना है और बाण की लक्ष्यभेद की ताकत कितनी है, यह जानना चाहिए। किस पदार्थ को लक्ष्यभेद करना है, उसकी खबर बिना लक्ष्यभेद नहीं किया जा सकता। तथा बाण थोथा-ताकतरहित हो तो भी लक्ष्यभेद नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार यहाँ आत्मा को जानना चाहिए। ज्ञान आत्मा को निशान बनाकर आत्मा को लक्ष्यभेद करता है अर्थात् कि जानता है। आत्मा लक्ष्य है और ज्ञान उसका लक्षण है, इसलिए आत्मपदार्थ कितना है और आत्मपदार्थ को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान की सामर्थ्य कितनी है, यह भी जानना चाहिए। यहाँ ज्ञान की ताकत की बात चलती है, ज्ञान की सामर्थ्य सर्वज्ञेयों को जानने की है। ज्ञान का ध्येय आत्मा है, उसका लक्ष्य करके जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सभी द्रव्यों को यथार्थ जान सकता है। जगत में जितने द्रव्य हैं। उतने

बराबर ज्ञान में न ले तो वह ज्ञान की ताकत को समझा नहीं। और जिसे ज्ञान की ताकत का ख्याल आया नहीं, वह आत्मा को लक्ष्य नहीं कर सकता।

यहाँ धर्म-अधर्मद्रव्य की बात चलती है, परन्तु वास्तव में तो उन्हें जाननेवाले जीव के ज्ञान के गीत चलते हैं, इन सब द्रव्यों को ज्ञान स्व में रहकर जानता है। यह बात कान में पड़ने पर भी जो निर्णय न करे, उसे धर्म नहीं होता। आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ है, उसकी पर्याय स्व और पर सब द्रव्यों को तथा उनके गुण-पर्यायों को भिन्न-भिन्न जानने की सामर्थ्यवाली है। यदि इतना न जाने तो उसने ज्ञानपर्याय की सामर्थ्य जानी नहीं। आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञेय में स्व-पर दोनों आ जाते हैं।

यहाँ धर्म-अधर्मद्रव्य का ज्ञान कराते हैं।

भावार्थ - जहाँ तक जीव-पुद्गल गति-स्थिति करते हैं, वहाँ तक लोक है। यह लोक की मर्यादा बाँधी। जहाँ तक जीव और पुद्गल गति या स्थिति कर सकते हैं, वहाँ तक के क्षेत्र को लोक कहना। लोक के पश्चात् खाली भाग को अलोक कहते हैं, वहाँ मात्र आकाश है। लोक-अलोक का भेद धर्म-अधर्मद्रव्य से जानना। लोक-अलोक की मर्यादा तो अनादि से। परन्तु धर्म-अधर्मद्रव्य को साबित करने के लिये ऐसा कहा है। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं, उनमें धर्म-अधर्म जिस क्षेत्र में रहते हैं, वहाँ तक लोक और बाकी के खाली भाग का अलोक जानना।

वह धर्म-अधर्म स्वयं अपने प्रदेशों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु एक लोकाकाश की अपेक्षा से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि लोकाकाश के जिन प्रदेशों में धर्मद्रव्य है, उन्हीं प्रदेशों में अधर्मद्रव्य है। दोनों हलन-चलनरूप क्रिया से रहित अर्थात् स्थिर हैं और सर्व लोकव्यापी हैं। जिस प्रकार लोकाग्र में सभी सिद्ध भगवान एक जगह हैं, तथापि सबकी सत्ता और अनुभव भिन्न-भिन्न हैं। भाव अपेक्षा से भिन्न हैं, परन्तु आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से अलग नहीं हैं। उसी प्रकार धर्म-अधर्म भाव-अपेक्षा से भिन्नता है परन्तु लोकाकाश में रहे हुए हैं। आकाश अपेक्षा से भिन्न नहीं हैं। धर्म-अधर्म समस्त लोकव्यापी जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में निमित्तकारण हैं। इसलिए दोनों द्रव्य लोक जितने असंख्यप्रदेशी हैं। ●●

गाथा - ८८

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्स प्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ।।८८।।

न च गच्छति धर्मास्तिको गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य।
भवति गतेः सः प्रसरो जीवानां पुद्गलानां च ।।८८।।

समयव्याख्या : धर्माधर्मयोर्गतिस्थितिहेतुत्वेऽप्यत्यंतौदासीन्याख्यापनमेतत्। यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयंतीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किंतु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रय-कारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति। अपि च यथा गतिपूर्वस्थितपरिणत-स्तुरङ्गोऽश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथाऽधर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपूर्वस्थितिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहस्थायित्वेन परेषां गतिपूर्वस्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम् किं तु पृथिवीवत्तुरङ्गस्य जीवपुद्गलानामाश्रय-कारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतिपूर्वस्थितेः गसरो भवतीति ।।८८।।

होती गति जिस द्रव्य की स्थिति भी हो उसी की।
वे सभी निज परिणाम से ठहरें या गति क्रिया करें।।८८।।

अन्वयार्थ :- [धर्मास्तिकः] धर्मास्तिकाय [न गच्छति] गमन नहीं करता [च] और [अन्यद्रव्यस्य] अन्य द्रव्य को [गमनं न करोति] गमन नहीं कराता; [सः] वह, [जीवानां पुद्गलानां च] जीवों तथा पुद्गलों को (गतिपरिणाम में आश्रयमात्ररूप होने से) [गतेः प्रसरः] गति का उदासीन प्रसारक (अर्थात् गतिप्रसार में उदासीन निमित्तभूत) [भवति] है।

टीका:-धर्म और अधर्म गति और स्थिति के हेतु होने पर भी वे अत्यन्त उदासीन हैं, ऐसा यहाँ कथन है।

जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओं के गतिपरिणाम का हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म (जीव-पुद्गलों के गतिपरिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (धर्म)

वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर उसे (पर के) [१]सहकारी के रूप में पर के गतिपरिणाम का हेतुकतृत्व कहाँ से होगा? (नहीं हो सकता।) किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियों का (गतिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक है; उसी प्रकार धर्म जीव-पुद्गलों को (गतिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण की भाँति गति का उदासीन ही प्रसारक (अर्थात् गतिप्रसार का उदासीन ही निमित्त) है।

और (अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में भी ऐसा है कि) -जिस प्रकार गतिपूर्वक-स्थितिपरिणत अश्व सवार के (गतिपूर्वक) स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार अधर्म (जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता) नहीं है। वह (अधर्म) वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर उसे (पर के) [२]सहस्थायी के रूप में गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकतृत्व कहाँ से होगा? (नहीं हो सकता।) किन्तु जिस प्रकार पृथ्वी अश्व को (गतिपूर्वक

---

१. सहकारी=साथ में कार्य करनेवाला अर्थात् साथ में गति करनेवाला। ध्वजा के साथ पवन भी गति करता है, इसलिए यहाँ पवन को (ध्वजा के) सहकारी के रूप में हेतुकर्ता कहा है; और जीव-पुद्गलों के साथ धर्मास्तिकाय गमन न करके (अर्थात् सहकारी न बनकर), मात्र उन्हें (गति में) आश्रयरूप कारण बनता है, इसलिए धर्मास्तिकाय को उदासीन निमित्त कहा है। पवन को हेतुकर्ता कहा, उसका यह अर्थ कभी नहीं समझना कि पवन ध्वजाओं को गतिपरिणाम कराता होगा। उदासीन निमित्त हो या हेतुकर्ता हो-दोनों पर में अकिंचित्कर हैं। उनमें मात्र उपरोक्तानुसार ही अन्तर है। अब अगली गाथा की टीका में आचार्यदेव स्वयं ही कहेंगे कि 'वास्तव में समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं।' इसलिए ध्वजा, सवार इत्यादि सब, अपने परिणामों से ही गतिस्थिति करते हैं, उसमें धर्म तथा पवन, और अधर्म तथा अश्व अविशेषरूप से अकिंचित्कर हैं, ऐसा निर्णय करना।)

२. सहस्थायी=साथ में स्थिति (स्थिरता) करनेवाला। (अश्व सवार के साथ स्थिति करता है, इसलिए यहाँ अश्व को सवार के सहस्थायी के रूप में सवार के स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता कहा है। अधर्मास्तिकाय तो गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्गलों के साथ स्थिति नहीं करता, पहले ही स्थित है; इस प्रकार वह सहस्थायी न होने से जीव-पुद्गलों के गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम का हेतुकर्ता नहीं है।)

स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गतिपूर्वक स्थिति की उदासीन ही प्रसारक है, उसी प्रकार अधर्म जीव-पुद्गलों को (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम में) मात्र आश्रयरूप कारण के रूप में गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक (अर्थात् गतिपूर्वक-स्थितिप्रसार का उदासीन ही निमित्त) है।।८८।।

गाथा - ८८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ४, सोमवार)

(१) इस गाथा में ज्ञान की महत्ता बतलाते हैं। सभी ज्ञेयों को जानने की ताकत बतलाते हैं।

(२) प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, उसमें अपने से कार्य होता है, वह उपादान है और तब दूसरी चीज़ साथ में हो, उसे निमित्तकारण कहा जाता है। निमित्त की राह नहीं देखनी पड़ती, ऐसा दो कारण का भी ज्ञान कराते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में समय-समय में कार्य हो रहा है, उस कार्य में दो कारण हैं - एक निश्चयकारण और एक व्यवहारकारण। इस लकड़ी के टुकड़े होते हैं, उसमें इस लकड़ी की इस समय की पर्याय की योग्यता, वह उपादानकारण है और करवत निमित्तकारण है। करवत के कारण से लकड़ी में टुकड़े नहीं होते। करवत के कारण से टुकड़े होते हों तो आकाश के टुकड़े होना चाहिए। परन्तु आकाश में टुकड़े होने की योग्यता नहीं है, इसलिए नहीं होते। और लकड़ी की योग्यता है तो टुकड़े होते हैं। शिष्य की समझने की योग्यता, वह उपादानकारण है और गुरु निमित्तकारण है। गुरु से शिष्य समझता नहीं। परन्तु शिष्य समझता है, तब गुरु निमित्तरूप से होते हैं।

रोटी होने की योग्यता उपादानकारण है और तवा, अग्नि, बाई निमित्तकारण है। प्रत्येक आत्मा और परमाणु स्वतन्त्ररूप से परिणम रहे हैं, तब दूसरी चीज़ को निमित्त कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ बताते हैं कि जीव और पुद्गल स्वयं के कारण से गति-स्थिति करते हैं, तो धर्म-अधर्म को निमित्तकारण कहा जाता है।

धर्मद्रव्य प्रेरक होकर गति-स्थिति का कारण नहीं परन्तु अत्यन्त उदासीन है, यह बताते हैं।

धर्मद्रव्य हिलता-चलता नहीं और अन्य जीव-पुद्गलों को प्रेरक बनकर हलन-चलन क्रिया को करता नहीं। धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलों की गति में निमित्त है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य स्थिति में मात्र निमित्तकारण है।

धर्म-अधर्मद्रव्य प्रेरक कारण नहीं है, यह बताते हैं। चलते हुए घोड़े पर मनुष्य बैठा हो तो मनुष्य को गति होने में घोड़ा प्रेरक निमित्त है क्योंकि घोड़ा स्वयं गति करता है और वापस वह स्थिर रहता है, परन्तु धर्म-अधर्मद्रव्य गति करके स्थिर रहे हैं, ऐसा नहीं है। इसलिए धर्म-अधर्म को उदासीन निमित्त जानना।

पूर्व में दृष्टान्त दिया था कि जीव अपने आत्मा के आश्रय से सिद्धदशा प्रगट करता है तो तीर्थंकरप्रकृति, संहनन इत्यादि निमित्त हैं, उसी प्रकार धर्मद्रव्य गति करते हुए जीव और पुद्गल को निमित्त है। और जो जीव शुद्ध आत्मा में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी का स्मरण निमित्त कहलाता है, परन्तु किसे? पाँच पद का विचार करते हुए विचार करे कि अहो! ये पाँचों पद आत्मा के हैं, जड़ के नहीं, अरिहन्त और सिद्ध पूर्णदशा प्राप्त हैं और आचार्य, उपाध्याय और साधु उस पूर्ण पद को साधनेवाले हैं, वह पद आत्मा में से होता है—ऐसा समझकर, मैं परिपूर्ण आत्मा हूँ, ऐसा भान करके स्वभाव में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी के स्मरण का विकल्प निमित्त कहलाता है।

जो जीव आत्मा की यथार्थ बात धारण नहीं कर सकता, वह किस प्रकार वाद करे? अन्धे को स्वप्न देखते हुए मनुष्य के अनुभव में न आवे, परन्तु अन्धे मनुष्य के जैसे आवे, उसी प्रकार जिसने पंच परमेष्ठीरूप होने के योग्य मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार से अपने आत्मा को धार नहीं रखा, उसे पंच परमेष्ठी का स्मरण निमित्त नहीं होता, परन्तु जो आत्मा विचार करे कि मैं आत्मा हूँ, पंच परमेष्ठी हुए, वे आत्मा में से हुए हैं, मैं भी वैसा ही आत्मा हूँ - ऐसे भानपूर्वक स्वभाव में स्थिरता करता है, उसे पंच परमेष्ठी का स्मरण निमित्त कहलाता है। इस दृष्टान्तानुसार जो जीव और पुद्गल स्वयं के कारण से गतिपूर्वक स्थिरता करते हैं, उन्हें अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है।

भावार्थ - यहाँ स्वतन्त्रता की बात करके प्रेरक और उदासीन निमित्त किसे कहना, यह बताते हैं। जिस प्रकार हवा अपने चंचल स्वभाव से ध्वजा की हलन-

चलनरूप क्रिया का कर्ता दिखाई देती है; उसी प्रकार धर्मद्रव्य प्रेरक निमित्त नहीं है। वहाँ हवा ध्वजा को चलाती है, ऐसा प्रेरक का अर्थ नहीं है परन्तु हवा की क्रिया हलन-चलनवाली है, इसलिए हवा को प्रेरक कहा जाता है। प्रेरक निमित्त दूसरे को मदद करता है और उदासीन निमित्त मदद नहीं करता, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। हवा अपने में सक्रिय है, इसलिए प्रेरक है और धर्म (द्रव्य) गतिमान नहीं परन्तु स्थिर है, इसलिए निष्क्रिय अथवा उदासीन है।—इस प्रकार निमित्त में अन्तर है परन्तु निमित्त के अन्तर से उपादान में अन्तर होता है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। लड्डू बनाते समय हाथ की क्रिया गति करती है, इसलिए हाथ को प्रेरक निमित्त कहा जाता है, परन्तु हाथ हिलता है, इसलिए लड्डू में क्रिया होती है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है और आँधी आती है, तब धूल और नलिया उड़ते हैं। वह अपनी योग्यता के कारण से है और हवा निमित्त है, परन्तु हवा गति करती है, इसलिए हवा को प्रेरक कारण कहा जाता है और धर्मद्रव्य कभी हलन-चलन नहीं करता, इसलिए वह उदासीन निमित्त कहा जाता है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में किस प्रकार निमित्त होता है, यह दृष्टान्त से समझाते हैं।

निष्कम्प सरोवर में जल मछलियों की गति में सहकारी कारण है। जल स्वयं प्रेरक होकर मछली को चलाता नहीं। जल स्वयं शान्त पड़ा है। जो मछली अपने उपादान कारण से चलती है, उसे जल निमित्त कहा जाता है। परन्तु जल बिना मछलियाँ चलती नहीं, इसलिए जल निमित्तमात्र कारण है। इस दृष्टान्तानुसार जीव और पुद्गल अपने कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, वह उपादान कारण है। वहाँ धर्मद्रव्य उन्हें चलाता नहीं तथा स्वयं चलता नहीं। परन्तु जो गति करता है, उसे शान्त जल की भाँति निमित्तमात्र है, इसलिए उसे उदासीन कारण कहा है।

इसी प्रकार अधर्मद्रव्य निमित्तमात्र है। घोड़ा चलता हो और खड़ा रह जाता है, तब ऊपर बैठा हुआ मनुष्य भी खड़ा रह जाता है। वहाँ उस मनुष्य का आत्मा और शरीर उसी जगह स्थिर रहने की योग्यतावाले हैं, तब घोड़ा स्थिर रहा, उसे निमित्त कहा जाता है, परन्तु घोड़ा स्थिर हुआ, इसलिए मनुष्य को स्थिर रहना पड़ा, ऐसी पराधीनता नहीं है। सब स्वतन्त्र है। परन्तु वह घोड़ा चलते हुए स्थिर हुआ, इसलिए निमित्तकारण हुआ;

उसी प्रकार अधर्मद्रव्य सक्रिय निमित्त नहीं, इतना बतलाना है। अमर्धद्रव्य पहले चलता था और फिर स्थिर होकर जीव-पुद्गल की स्थिति में निमित्त होता है, ऐसा नहीं है, परन्तु अधर्मद्रव्य गतिमान नहीं है; जहाँ है, वहीं पड़ा है; इसलिए गतिपूर्वक स्थिति के परिणाम की अवस्था उसमें नहीं होती। तो अधर्मद्रव्य किस प्रकार स्थितिक्रिया का सहकारी कारण होता है, यह बताते हैं।

चलता हुआ घोड़ा खड़ा रह जाता है, उसमें पृथ्वी घोड़े को स्थिर रहने में निमित्त कहलाती है। पृथ्वी प्रथम चलती थी और पश्चात् स्थिर हुई, ऐसा नहीं है। परन्तु अनादि से स्थिर है। यह गति करते हुए घोड़े को स्थिर होने में निमित्त कहलाती है, उसी प्रकार अधर्मद्रव्य जीव-पुद्गल की स्थिति में उदासीन निमित्त है। इस गाथा में उपादान-निमित्त की स्पष्ट बात बहुत सरस बतायी है और प्रेरक तथा उदासीन निमित्त की स्पष्टता हुई है। ●●

गाथा - ८९

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ।।८९।।

विद्यते येषां गमनं स्थानं पुनस्तेषामेव संभवति।
ते स्वकपरिणामैस्तु गमनं स्थानं च कुर्वन्ति ।।८९।।

समयव्याख्या : धर्माधर्मयोरौदासीन्ये हेतूपन्यासोऽयम्। धर्मः किल न जीवपुद्गलानां कदाचिद्गतिहेतुत्वमभ्यस्यति, न कदाचित्स्थितिहेतुत्वमधर्मः। तौ हि परेषां गतिस्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव न गतिः। तत एकेषामपि गतिस्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किं तु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ। कथमेवं गतिस्थितिमतां पदार्थानां गतिस्थिती भवत इति चेत्, सर्वे हि गतिस्थितिमंतः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गतिस्थिती कुर्वंतीति ।।८९।।

इति धर्माधर्मद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

जिनका होता गमन है होता उन्हीं का ठहरना।
तो सिद्ध होता है कि द्रव्य चलते-ठहरते स्वयं से ।।८९।।

अन्वयार्थ :- [येषां गमनं विद्यते] (धर्म-अधर्म गति-स्थिति के मुख्य हेतु नहीं है, क्योंकि) जिन्हें गति होती है [तेषाम् एव पुनः स्थानं संभवति] उन्हीं को फिर स्थिति होती है (और जिन्हें स्थिति होती है, उन्हीं को फिर गति होती है)। [ते तु] वे (गतिस्थितिमान पदार्थ) तो [स्वकपरिणामैः] अपने परिणामों से [गमनं स्थानं च] गति और स्थिति [कुर्वन्ति] करते हैं।

टीका:-यह, धर्म और अधर्म की उदासीनता के सम्बन्ध में हेतु कहा गया है।

वास्तव में (निश्चय से) धर्म जीव-पुद्गलों को कभी गतिहेतु नहीं होता, अधर्म कभी स्थितिहेतु नहीं होता; क्योंकि वे पर को गतिस्थिति के यदि मुख्य हेतु (निश्चयहेतु) हों, तो जिन्हें गति हो, उन्हें गति ही रहना चाहिए, स्थिति नहीं होना चाहिए और जिन्हें स्थिति हो, उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, गति नहीं होना चाहिए। किन्तु एक को

ही (–उसी एक पदार्थ को) गति और स्थिति देखने में आती है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि वे (धर्म–अधर्म) गति–स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, किन्तु व्यवहारनयस्थापित (व्यवहारनय द्वारा स्थापित–कथित) उदासीन हेतु हैं।

प्रश्न–ऐसा हो तो गतिस्थितिमान पदार्थों को गतिस्थिति किस प्रकार होती है?

उत्तर–वास्तव में समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामों से ही निश्चय से गतिस्थिति करते हैं।।८९।।

इस प्रकार धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त हुआ।

गाथा - ८९ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ४, सोमवार)

धर्मद्रव्य परद्रव्य को बलजोरी से गति नहीं कराता परन्तु जीव–पुद्गल स्वयं गति करते हैं तो धर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है। मूल पाठ में '**स्वकपरिणामैः**' शब्द है। अर्थात् कि जीव–पुद्गल अपने परिणाम से गति–स्थितिरूप होते हैं। जीव–पुद्गल स्वयं स्थिर होते हैं तो अधर्मद्रव्य निमित्त कहलाता है।

धर्मद्रव्य कभी भी गतिरूप अवस्था धारण नहीं करता तथा अधर्मद्रव्य स्वयं गतिपूर्वक स्थिति अवस्था धारण नहीं करता परन्तु जीव–पुद्गल की गति–स्थिति में निमित्त कारण है, परन्तु मुख्य कारण नहीं, यह बतलाते हैं।

यदि जीव और पुद्गल की गति–स्थिति में धर्म–अधर्मद्रव्य उपादान कारण हो और जबरदस्ती से उन्हें चलाते हों अथवा स्थिर करते हों तो जो पदार्थ गतिमान हैं, वे सदा गति किया करेंगे और जो स्थिर हों वे सदा स्थिर ही रहा करेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता। और धर्म–अधर्म पूरे लोक में हैं, वे मुख्य कारण हों तो धर्मद्रव्य कहे कि मैं इस पदार्थ को गति कराऊँगा और अधर्मद्रव्य कहे कि उसी पदार्थ को मैं स्थिर करूँगा, ऐसा होने पर '**परस्परं मत्सरो भवति**' धर्म–अधर्म को झगड़ा होगा। इस प्रकार जयसेन आचार्य ने तर्क दिया है, वह समझाने की पद्धति है। धर्म–अधर्म गति–स्थिति में मुख्य कारण नहीं है।

और जीव और पुद्गलपदार्थ अपने उपादान कारण से गति-स्थिति के परिणाम को प्राप्त करते हैं। कोई अन्य उन्हें चलाता नहीं या स्थिर नहीं करता, इसलिए निश्चित होता है कि धर्म-अधर्मद्रव्य मुख्य कारण नहीं है। व्यवहारनय की अपेक्षा से उदासीनरूप निमित्त कारण हैं।

यह लकड़ी ऊँची होती है, वह हाथ से ऊँची होती है या स्वयं से ? यदि हाथ से लकड़ी ऊँची होती हो तो लकड़ी का वर्तमान क्या ? वर्तमान पर्याय साबित नहीं होती और वर्तमान पर्याय साबित नहीं होने पर पर्याय बिना का द्रव्य हो जाता है।

हवा के कारण ध्वजा हिलती हो, घोड़ा के कारण मनुष्य चलता हो तो वर्तमान पर्याय बिना का द्रव्य होने से द्रव्य का नाश होता है।

जैसे कोर्ट में आमने-सामने के तर्क न्यायाधीश सुनता है, उसी प्रकार यहाँ वीतराग की कोर्ट है। आमने-सामने तर्क सुनकर स्वयं न्यायाधीश बनकर निर्णय करना पड़ेगा। निमित्त के पक्षवाले कहते हैं कि निमित्त से कार्य होता है, उपादानवाले कहते हैं कि निमित्त से कार्य मानने पर वर्तमान का नाश होने से द्रव्य का नाश होता है, इसलिए उपादान में अपने से कार्य होता है, तब परचीज़ निमित्तरूप उपस्थित होती है, इसलिए जीव को यथार्थ विचार करना चाहिए।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त धर्म-अधर्मद्रव्य की बात कहीं नहीं है। यहाँ तीन बात ध्यान में रखने की है।

(१) आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप सर्वज्ञ है।

(२) जगत के छह द्रव्य परिपूर्ण हैं, उन ज्ञेयों की सामर्थ्य भी परिपूर्ण है।

(३) अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञान प्रगट होता है, उस ज्ञानपर्याय की कितनी सामर्थ्य है, वह बतलाते हैं। स्व को जानते हुए परपदार्थ धर्म-अधर्म यथार्थरूप से ज्ञात हो जाते हैं।

यहाँ बताते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने कारण से गति या स्थितिरूप पर्याय स्वतन्त्र कर्ता है। ऐसी अनन्त स्वतन्त्र पर्याय का धारक प्रत्येक गुण स्वतन्त्र है और उसके अनन्त स्वतन्त्रगुण का धारक द्रव्य भी स्वतन्त्र है। ऐसी यहाँ स्वतन्त्रता बतलाते हैं।

यह लकड़ी अँगुली से चलती है, ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव लकड़ी के क्षेत्रान्तर होने के धर्म को या स्वभाव को नहीं देखता परन्तु अँगुली कि जो संयोगरूप है, उसे देखता है। लकड़ी, लकड़ी के कारण से क्षेत्रान्तर करती है, तब हाथ निमित्त कहलाता है।

उसी प्रकार जीव और पुद्गल अपने कारण से गमन करते हैं, तब धर्मास्तिकाय निमित्त है और स्थिर होते हैं, तब अधर्मास्तिकाय निमित्त है। धर्म-अधर्म दो अरूपी वस्तु है। ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य है। परन्तु ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं। और जितने ज्ञेय हैं, उन सबको जानने की सामर्थ्यवाला ज्ञान है, ऐसा न माने तो ज्ञान सच्चा नहीं होता। प्रमाण अर्थात् विशेष करके माप करनेवाला-ख्याल में लेनेवाला ज्ञान है। धर्म-अधर्म इत्यादि की बात की है, उसमें ज्ञान का माहात्म्य ज्ञात होता है कि ज्ञान सूक्ष्म अरूपी पदार्थ को भी जान सकता है, ऐसे ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य लाने पर सम्यक् ज्ञान प्रगट होकर अल्पकाल में सम्पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट होता है और तब सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञात होंगे। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के लिये यह बात है। ●●

गाथा - ९०

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं।।९०।।

सर्वेषां जीवानां शेषाणां तथैव पुद्गलानां च।
यद्ददाति विवरमखिलं तल्लोके भवत्याकाशम्।।९०।।

समयव्याख्या : अथ आकाशद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम्। आकाशस्वरूपाख्यानमेतत्। षड्द्रव्यात्मके लोके सर्वेषां शेषद्रव्याणां यत्समस्तावकाशनिमित्तं विशुद्धक्षेत्ररूपं तदाकाशमिति।।९०।।

अब आकाशद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है।

जीव पुद्गल धरम आदिक लोक में जो द्रव्य हैं।
अवकाश देता इन्हें जो आकाश नामक द्रव्य वह।।९०।।

अन्वयार्थ :- [लोके] लोक में [जीवानाम्] जीवों को [च] और [पुद्गलानाम्] पुद्गलों को [तथा एव] वैसे ही [सर्वेषाम् शेषाणाम्] शेष समस्त द्रव्यों को [यद्] जो [अखिलं विवरं] सम्पूर्ण अवकाश [ददाति] देता है, [तद्] वह [आकाशम् भवति] आकाश है।

टीका:-यह आकाश के स्वरूप का कथन है।

षट्द्रव्यात्मक लोक में [1]शेष सभी द्रव्यों को जो परिपूर्ण अवकाश का निमित्त है, वह आकाश है-जो कि (आकाश) विशुद्धक्षेत्ररूप है।।९०।।

---

१. निश्चयनय से नित्यनिरंजन-ज्ञानमय परमानन्द जिनका एक लक्षण है, ऐसे अनन्तानन्त जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्गल, असंख्य कालाणु और असंख्यप्रदेशी धर्म तथा अधर्म- यह सभी द्रव्य विशिष्ट अवगाहगुण द्वारा लोकाकाश में-यद्यपि वह लोकाकाश मात्र असंख्यप्रदेशी ही है, तथापि अवकाश प्राप्त करते हैं।

गाथा - ९० पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ६, मंगलवार)

अब आकाशद्रव्य का व्याख्यान करते हैं।

आकाश 'है', इसलिए अस्ति है और अनन्त प्रदेशी है, इसलिए काय, इस प्रकार आकाश अस्तिकाय है। आकाश को खबर नहीं कि मैं अनन्त जीवों इत्यादि द्रव्यों को अवकाश देता हूँ। आकाश को खबर नहीं, इसलिए उसे स्वभाव नहीं होगा, ऐसा नहीं है। जड़ पदार्थ भी स्वभाववाले हैं। पूरा लोक सूक्ष्म परिणमन करे तो एक प्रदेश में उन सबको अवगाहन देने की सामर्थ्य आकाशद्रव्य में है। ऐसी आकाश की सामर्थ्य है, ऐसा आकाश स्वयं नहीं जानता। जाननेवाला तो आत्मा है।

अहो! आकाश की अनन्तता की मुझे खबर है, ऐसा अपना अपार ज्ञानस्वभाव रागरहित स्वीकार किया, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। समस्त जीव, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों को आकाश अवगाहन देता है। ●●

गाथा - ९१

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोऽणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ।।९१।।

जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च लोकतोऽनन्ये।
ततोऽनन्यदन्यदाकाशमंतव्यतिरिक्तम् ।।९१।।

समयव्याख्या : लोकाद्बहिराकाशसूचनेयम्। जीवादीनि शेषद्रव्याण्यवधृतपरिमाणत्वाल्लोकादनन्यान्येव। आकाशं त्वनंतत्वाल्लोकादनन्यदन्यच्चेति ।।९१।।

जीव पुद्गल काय धर्म अधर्म लोक अनन्य हैं।
अन्त रहित आकाश इनसे अनन्य भी अर अन्य भी।।९१।।

अन्वयार्थ :- [जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च] जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) [लोकतः अनन्ये] लोक से अनन्य है; [अंतव्यक्तिरिक्तम् आकाशम्] अन्त रहित ऐसा आकाश [ततः] उससे (लोक से) [अनन्यत् अन्यत्] अनन्य तथा अन्य है।

टीका:-यह लोक के बाहर (भी) आकाश होने की सूचना है।

जीवादि शेष द्रव्य (-आकाश के अतिरिक्त द्रव्य) मर्यादित परिमाणवाले होने के कारण लोक से *अनन्य ही हैं; आकाश तो अनन्त होने के कारण लोक से अनन्य तथा अन्य है।।९१।।

---

* यहाँ यद्यपि सामान्यरूप से पदार्थों का लोक से अनन्यपना कहा है। तथापि निश्चय से अमूर्तपना, केवलज्ञानपना, सहजपरमानन्दपना, नित्यनिरंजनपना इत्यादि लक्षणों द्वारा जीवों को इतर द्रव्यों से अन्यपना है और अपने-अपने लक्षणों द्वारा ईतर द्रव्यों का जीवों से भिन्नपना है, ऐसा समझना।

गाथा - ९१ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ६, मंगलवार)

अब लोक के बाहर अलोकाकाश है, उसका स्वरूप कहते हैं।

आकाश लोक-अलोक के भेद से दो प्रकार का है। जिसमें जीवादि पाँच द्रव्य रहते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। जहाँ अकेला आकाश है, उसे अलोक कहते हैं। अलोकाकाश एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक से पृथक् नहीं और अलोकाकाश में पाँच द्रव्य नहीं, ऐसी अपेक्षा लो तो अलोकाकाश लोक से पृथक् है, अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है और लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि लोकाकाश का क्षेत्र किंचित्मात्र है, उसमें जीवादि पदार्थ किस प्रकार समा सकते हैं? पाँच रुपये समावे, वैसी थैली में पाँच हजार रुपये किस प्रकार समा सकते हैं?

उत्तर - एक घर में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है, उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी आकाश में सहज अवगाहनस्वभाव से अनन्त जीवादि पदार्थ समा जाते हैं। वस्तु का स्वभाव वचनगम्य नहीं है। सर्वज्ञदेव जानते हैं, इसलिए जो अनुभवी है, वह सन्देह उत्पन्न नहीं करता। वस्तुस्वरूप में सदा निश्चल होकर आत्मिक अनन्त सुख अनुभव करता है।

(१) आकाश का क्षेत्र लो तो अनन्त-अनन्त है। लोक के पश्चात् अलोक है, लोक संग्रहात्मक है। तत्पश्चात् कोई दीवार आती होगी। फिर बाद में कुछ है? नहीं, बाद में कुछ नहीं, मात्र खाली भाग है। दशों दिशा में अमाप-अमाप अनन्त-अनन्त क्षेत्र का ख्याल आता है। उसका कहीं अन्त नहीं है। ऐसे क्षेत्र स्वभाव की अचिन्त्यता और अनन्तता का ख्याल आता है। कोई नास्तिक भी विचार करता है तो है... है... ऐसा तो कहे। तर्क करे तो ख्याल में आता है। यह क्षेत्र क्या है? अनन्त अपार, जिसका पार नहीं, उसका अस्तिपना स्वीकार करे तो ख्याल आवे, न्याय की बात कही जाती है। कहीं क्षेत्र का अन्त है? लोग (जिसे) आकाश कहते हैं, उसकी बात नहीं है। वह तो रूपी है। यहाँ तो अरूपी आकाश की बात चलती है। अरूपी आकाश के प्रदेशों की

श्रेणी दशों दिशा में चली जाती है। एक परमाणु जितनी जगह रोके, उसे एक प्रदेश कहते हैं, उस प्रदेश से मापा जाये तो आकाश अनन्त प्रदेशी है। क्षेत्र अमाप है। तर्क से ना किया जाये ऐसा नहीं है। जो आकाश प्रदेश है, उसकी हद नहीं, दसों दिशाओं में अनन्त है। इस प्रकार आकाश के अनन्त प्रदेशी क्षेत्र के अस्तित्व की बात की।

(२) अब उसके स्वभाव की बात करते हैं। उस क्षेत्र का स्वभाव कैसा है? अनन्त जीव, पुद्गल इत्यादि पदार्थों को अवगाहन दे, ऐसी उसकी अवगाहनशक्ति है। लोक के पदार्थ सूक्ष्म परिणमन करे तो सबको एक प्रदेश में जगह दे सके, ऐसी अचिन्त्य अवगाहनशक्ति आकाश में है। यह अवगाहन स्वभाव की अनन्तता हुई।

(३) अब आकाश है, वह कब से है? उसे आदि नहीं तथा अन्त भी नहीं। इस प्रकार काल से भी अनन्तता है।

(४) यह सब अनन्तता का स्वीकार कौन करता है? ज्ञान इन सब अनन्तता को जानता है। निचलीदशा में राग होता है, परन्तु राग को उस अनन्तता की खबर नहीं है। ज्ञान उसे जानता है, छद्मस्थ जीव की ज्ञानपर्याय असंख्य समय में अनादि-अनन्त काल का ख्याल करती है, अनन्त क्षेत्र का ख्याल करती है। लोक में रहे हुए अनन्त जीवादि पदार्थों का तथा उन पदार्थ के बिना अलोक का ख्याल करती है, इतनी सत्ता को ज्ञानपर्याय स्वीकार करती है।

(५) एक ज्ञानपर्याय में इतनी सत्ता को स्वीकार करने का अचिन्त्य सामर्थ्य है तो अनन्त-अनन्त पर्याय के पिण्डरूप एक ज्ञानगुण का सामर्थ्य तो अनन्त समझना। ज्ञानगुण है, वैसे ही दूसरे श्रद्धा, अस्तित्व आदि गुण भी हैं। ऐसे अनन्त गुणों का पिण्डरूप आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्यवान है। ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार आत्मा पर के अभावस्वभावरूप, विकार और पर के आधार बिना का, पर की सत्तारहित, अनन्त निर्मल पर्याय का धारक शुद्ध चैतन्यस्वभावी है, ऐसा स्वीकार होता है।

(६) ऐसा निर्णय करने से साधक जीव को ख्याल आता है कि वर्तमान में मुझे राग होने से प्रत्यक्षरूप से सभी पदार्थों को देख नहीं सकता, परन्तु राग टालकर स्वभाव में सम्पूर्ण स्थित होकर परिपूर्णता को प्राप्त सर्वज्ञ अनन्त होने चाहिए। मेरी तरह स्वरूप

को साधनेवाले साधक भी हैं और वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा नहीं स्वीकार करनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव भी हैं। वे राग को और विकार को स्वीकार करते हैं तो उसके निमित्तरूप कर्म भी जगत में हैं, ऐसा सब ख्याल आ जाता है।

(७) प्रथम वस्तुस्वरूप की समझ नहीं थी, समझ होने पर ज्ञानपर्याय ने पलटा मारा कि अहो! इस जगत में आकाशद्रव्य, क्षेत्र से, काल से, भाव से, अनन्ततावाला है, उसकी स्वीकृति मेरा ज्ञान करता है। वह कार्य ज्ञान की पर्याय में होता है तो ज्ञान को पर्याय में समझरूपी कार्य होने का कारण कौन है? कारण तो गुणों का समुद्र ऐसा आत्मा है। अहो! मेरा आत्मा तो अनन्त गुणों से भरपूर है। मेरा ज्ञानस्वभाव अचिन्त्य है, ऐसी महिमा आने पर स्वभावबुद्धि होती है और पर्यायबुद्धि उड़ जाती है, यही धर्मदशा की शुरुआत है।

किस द्रव्य की ना की जा सके, ऐसा है? एक की हाँ करने पर सबकी हाँ होती है। जड़ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और स्वभाव का माप करनेवाला ज्ञान है। रागवाले ज्ञान को असंख्य समय लगते हैं परन्तु राग निकल जाने पर सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है, वह सभी द्रव्यों को प्रत्यक्ष एक समय में जानता है, वह ज्ञान परपदार्थों तथा निमित्त के कारण नहीं होता। तथा आकाश की अपारता और अनन्तता के कारण नहीं होता। ज्ञान तो अन्तर्मुख दृष्टि करने पर प्रगट होता है। ऐसे अमाप चैतन्यस्वभावी सूर्य का माप नहीं!!

(१) एक परमाणु की सामर्थ्य एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड में पहुँच जाये, उतनी है। और भाव में भी उतनी ताकत है। एक गुणा स्निग्ध परमाणु एक समय में अनन्तगुणा स्निग्ध हो जाता है और अनन्तगुणे में से एक गुणा हो जाता है, ऐसी ताकत पुद्गलपरमाणु की है।

(२) धर्मास्तिकाय की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्त आत्मा और पुद्गल एकसाथ गति करे तो भी वह सबको गति में निमित्त होता है।

(३) अधर्मास्तिकाय की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्त आत्मा और पुद्गल एक समय में गतिपूर्वक स्थिर हों तो भी वह सबको स्थिरता में निमित्त होता है।

(४) आकाश की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्तानन्त चेतन और जड़ सबको एकसाथ अवकाश दे। अनन्त मेरु जितने परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमे तो एक प्रदेश में समा दे, ऐसी सामर्थ्य है।

(५) काल की सामर्थ्य इतनी है कि अनन्त जड़ और चेतन द्रव्यों को परिणमन में एकसाथ निमित्त होता है।

(६) इन सबकी सामर्थ्य को जाननेवाला जीव है। अनन्त लोकालोक होते तो भी एक समय में उन सबको जान लेने का जीव का स्वभाव है, इसलिए जीव की महिमा है।

जड़ में भाव अनन्त हैं, परन्तु उनका माप करनेवाला चिदानन्द आत्मा है। द्रव्यस्वभाव तो अमाप है, परन्तु सर्वज्ञपर्याय का स्वभाव भी अमाप है।

(१) राग और व्यवहार में रूकना, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं।

(२) और जगत के पदार्थ हैं, इसलिए ज्ञान है, ऐसा नहीं है।

(३) और शुभरागादि का व्यवहार है, इसलिए ज्ञानस्वभाव है, ऐसा नहीं है तथा उसके कारण ज्ञानस्वभाव प्रगट नहीं होता।

(४) अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से ज्ञान प्रगट हो, ऐसा है। अहो! ज्ञानस्वभाव की क्या महिमा! जो जिसका स्वभाव होता है, उसकी क्या मर्यादा! यह सब जड़ के अपार स्वभाव को जाननेवाली तो ज्ञानपर्याय है। यह कार्यदशा की बात चलती है। ज्ञान की कार्य दशा भी बेहद है। कार्य तो एक समय का है, एक कार्य पलटकर नया कार्य उत्पन्न होता है। ज्ञानदशारूपी कार्य का कारण तो ज्ञान और वीतरागता की मूर्ति ऐसा आत्मा है। उसका अवलम्बन लेने से स्वाभाविक ज्ञानदशा प्रगट होती है।

कोई **पूछता है** कि यह सब अनन्तता का स्वभाव बुद्धिगम्य है?

समाधान - हाँ, बुद्धि अर्थात् ज्ञानगम्य है। यह क्षेत्र है, है और है... ऐसा क्या ख्याल आता नहीं? क्षेत्र का अन्त नहीं। काल को आदि-अन्त नहीं, स्वभाव भी अनन्त सामर्थ्यवाला है। इस प्रकार क्षेत्र से, काल से और स्वभाव से अनन्तता है, ऐसी जड़ को खबर नहीं है, उस सबको जाननेवाला ज्ञान है। अहो! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है। जड़

द्रव्य के अनन्त क्षेत्र को, अनन्त काल को और अनन्त सामर्थ्यवान उसके स्वभाव को जाननेवाला तू है। तू भी आदि-अन्त बिना का है, तू ज्ञानस्वभावी है, ऐसे यहाँ शास्त्र तेरी ज्ञानस्वभाव की महिमा के गीत गाते हैं।

कोई पूछे कि गज बड़ा या कपड़े का थान बड़ा? ऊपरी दृष्टि से देखनेवाला कहेगा कि थान बड़ा है, परन्तु यह भूल है। पूरा थान मप जाता है, थान के माप का अन्त आता है, परन्तु गज कम नहीं होता। इसलिए गज बड़ा है। और कोई पूछे कि पैर बड़े या पृथ्वी बड़ी? ऊपरी दृष्टि से देखनेवाला कहेगा कि पृथ्वी बड़ी है परन्तु वह भूल है। पृथ्वी पैर से मापने पर पूरी हो जाती है परन्तु पैर समाप्त नहीं होते, इसलिए पैर बड़े हैं। ये बाह्यदृष्टान्त समझाने के लिये दिये है। उसी प्रकार कोई पूछता है कि लोकालोक बड़ा या तू बड़ा? ऊपरी दृष्टिवाला कहेगा कि लोकालोक बड़ा है, परन्तु वह भूल है। तेरे ज्ञानरूपी गज से मापने पर लोकालोक का माप आ जाता है अर्थात् पूरा हो जाता है। परन्तु ज्ञान कम नहीं होता, अनन्त लोकालोक को जान ले, ऐसा तू है, इसलिए तू बड़ा है।

देखो! इस गाथा में लोक-अलोक साबित किये, जो क्षेत्र अवगाहन स्वभाव से अपार है और द्रव्य भी अपार है। वह लोक है और जिस क्षेत्र में अन्य द्रव्य नहीं परन्तु अकेला आकाश है, वह अलोक है। अलोक अनन्त प्रदेशी है और लोक असंख्य प्रदेशी है, परन्तु उसे जानने की सामर्थ्य निमित्त की नहीं, शुभराग की नहीं, इसलिए निमित्त और शुभराग आदरणीय नहीं। एक ज्ञानपर्याय में सबको जानने की ताकत है, उस पर्याय का कारण पर्याय नहीं, पर्याय का कारण त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है, इसलिए पर्याय आदरणीय नहीं, अकेला शुद्ध द्रव्यस्वभाव आदरणीय है। इस गाथा का हेतु रागरहित अचिन्त्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति कराने का है।

क्षेत्र से अनन्तता, भाव से अनन्तता, काल से अनन्तता इत्यादि को जाननेवाला आत्मस्वभाव है और पर्याय में होते रागादि विकल्पों को जाननेवाला भी आत्मा है। राग तो एक समय की पर्याय में है। रागरहित ज्ञानस्वभाव की महिमा आने पर स्वयं अपने में रहकर स्व और पर दोनों का माप करनेवाला है। स्वयं भी स्वज्ञेय है और अपने में रहा हुआ स्व-पर ज्ञेयों को जानता है।

वस्तुस्वरूप वचनगम्य नहीं है, परन्तु ज्ञानगम्य है। वस्तु के आशय की खबर नहीं। वचन के पीछे रहा हुआ आशय ज्ञान पकड़ता है, उस ज्ञान द्वारा साधक जीव निर्णय करता है। मैं इतना कार्य कर सकता हूँ तो बढ़कर पूर्ण होऊँगा। ऐसे पूर्ण हुए सर्वज्ञ जीव भी हैं। साधक भी हैं। ज्ञानस्वभाव से विरुद्ध माननेवाले बाधक भी हैं, वे रागादि में परिणम रहे हैं, उसे निमित्तरूप कर्म का आवरण है। उसमें कर्मों के परमाणु भाव से अनन्त भाववाले हैं, उन सबको जाननेवाला ज्ञानस्वभाव अनन्त शक्तिवाला आत्मा मैं हूँ, ऐसी दृष्टि होना इस गाथा का सार है।

सर्वज्ञदेव जानते हैं, परन्तु किसी का कुछ करते नहीं तथा किसी को कुछ देते नहीं, तो फिर बोधपाहुड़ गाथा २४ में कहा है कि—

देव किसे कहते हैं ? जो दे अथवा प्रदान करे, उसे देव कहते हैं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार को दे, वह देव है। उसका आशय क्या है ?

समाधान यह है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के दातार देव हैं। अर्थात् कि उसमें निमित्त है, यह न्याय से कहा जाता है।

ज्ञान अथवा मोक्ष - कोई मनुष्य भिखारी के पास जाये तो भिखारी लक्ष्मी मिलने में निमित्तरूप नहीं होता, परन्तु लक्ष्मीवान लक्ष्मी मिलने में निमित्त होता है, उसी प्रकार सर्वज्ञदेव का निमित्त मिलने पर पात्र जीव ख्याल करता है कि जो दशा मुझे प्रगट करनी है, वैसी दशा भगवान की है। भगवान ने वह दशा आत्मा के अवलम्बन से प्रगट की है, उसी प्रकार मैं भी मेरे आत्मा के अवलम्बन से वह दशा प्रगट कर सकूँ, ऐसा हूँ। सर्वज्ञ तथा मैं समान हैं, भगवान भी ऐसा कहते हैं कि तू सर्वज्ञ है। शरीर, मन, वाणी, तेरा स्वरूप नहीं तथा अल्पज्ञता तेरा स्वरूप नहीं, ऐसा भगवान ने कहा, उसे शिष्य ने जाना और प्रतीति की, इस प्रकार सर्वज्ञ के पास साधकदशा की प्रार्थना करता है, इस प्रकार देव के निमित्त से शिष्य को सच्चा ज्ञान प्रगट होता है और ज्ञान होने पर मोक्ष होता है, इसलिए भगवान ने ज्ञान दिया अथवा मोक्ष दिया, ऐसा कहा जाता है।

धर्म - भगवान के निमित्त से जिसे यथार्थ भान हुआ है, ऐसे साधक जीव को सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो, तब तक शुभराग होता है। उसके कारण पुण्य बँधता है,

उसमें भगवान निमित्त है। इसलिए भगवान पुण्य के दातार हैं, ऐसा कहा जाता है।

किसी धर्मी जीव को शुभराग की भूमिका में तीर्थंकरपुण्यप्रकृति बँधती है, वह भी तीर्थंकरदेव ने दी, ऐसा कहा जाता है।

काम-भोग - जो पुण्यप्रकृति साधक जीव को बँधी है, उसके फल में उसे लक्ष्मी इत्यादि बाहर के पदार्थों की प्राप्ति होती है, इसलिए भगवान काम-भोग के देनेवाले हैं, ऐसा कहा जाता है।

ये चारों बातें धर्मी को लागू पड़ती हैं, उसे चारों की पृथक्ता का भान है और आत्मस्वभाव का भी भान है। अज्ञानी को चार की पृथक्ता का तथा आत्मा का भान नहीं है, उसे ज्ञान या मोक्ष तो नहीं परन्तु ऐसा पुण्य भी नहीं होता। जिसे भान होता है, उसे यह चारों देव ने दिये, ऐसा कहा जाता है। दिव्यशक्ति जिसे खिल गयी है, वह देव है। वह शक्ति पात्रता बिना नहीं खिल सकती, और पात्र जीव सर्वज्ञ के निमित्त से खिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञपद के और तीर्थंकरप्रकृति के देनेवाले सर्वज्ञदेव हैं, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष दे, उसे देव कहते हैं।

यहाँ इस गाथा में बात आयी कि वस्तु का स्वभाव वचनगम्य नहीं, परन्तु ज्ञानगम्य है। ज्ञानस्वभाव सबको जान न ले तो वह ज्ञानस्वभाव नहीं। द्रव्यों की अपारता, क्षेत्र की अपारता, प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव की अपारता का सम्पूर्ण प्रत्यक्षरूप से ख्याल करनेवाले सर्वज्ञदेव हैं, इसके अतिरिक्त कोई नहीं। वह सर्वज्ञपद आत्मा में से प्रगट होता है। ऐसा निर्णय करनेवाले को अपने चैतन्यस्वभाव की अगाधता का ख्याल आता है। इस प्रकार साधक जीव वस्तुस्वरूप में निश्चल होते हैं। ऐसा यह कैसे ? ऐसी शंका ज्ञान का अनुभव करनेवाले को नहीं रहती। वस्तु जैसी है, वैसी है। अपने ज्ञानस्वभाव की अपारता का ख्याल आने पर ज्ञेयों की अपारता का ख्याल आ जाता है। इस प्रकार रागरहित ज्ञानस्वभाव का वेदन करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ९२

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ।।९२।।

आकाशमवकाशं गमनस्थितिकारणाभ्यां ददाति यदि।
ऊर्ध्वंगतिप्रधानाः सिद्धाः तिष्ठन्ति कथं तत्र ।।९२।।

समयव्याख्या : आकाशस्यावकाशैकहेतोर्गतिस्थितिहेतुत्वशङ्कायां दोषोपन्यासोऽयम्। यदि खल्वाकाशमवगाहिनामवगाहहेतुरिव गतिस्थितिमतां गतिस्थितिहेतुरपि स्यात् तदा सर्वोत्कृष्टस्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणता भगवंतः सिद्धा बहिरङ्गंतरङ्गसाधनसामग्र्यां सत्यामपि कुतस्तत्राकाशे तिष्ठंति इति ।।९२।।

अवकाश हेतु नभ यदि गति-थिति कारण भी बने।
तो ऊर्ध्वगामी आत्मा लोकान्त में जा क्यों रुके।।९२।।

अन्वयार्थ :- [यदि आकाशम्] यदि आकाश [गमनस्थितिकारणाभ्याम्] गति-स्थिति के कारण सहित [अवकाशं ददाति] अवकाश देता हो (अर्थात् यदि आकाश अवकाशहेतु भी हो और गतिस्थितिहेतु भी हो) तो [ऊर्ध्वंगतिप्रधानाः सिद्धाः] ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध [तत्र] उसमें (आकाश में) [कथम्] क्यों [तिष्ठन्ति] स्थिर हों? (आगे गमन क्यों न करें?)

टीका:-जो मात्र अवकाश का ही हेतु है, ऐसा जो आकाश उसमें गतिस्थितिहेतुत्व (भी) होने की शंका ही जाये तो दोष आता है, उसका यह कथन है।

यदि आकाश, जिस प्रकार *अवगाहवालों को अवगाहहेतु है उसी प्रकार, गतिस्थितिवालों को गति-स्थितिहेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्धभगवन्त, बहिरंग-अन्तरंग साधनरूप सामग्री होने पर भी क्यों (-किस कारण) उसमें-आकाश में-स्थिर हों?।।९२।।

---

* अवगाह=लीन होना; मज्जित होना; अवकाश पाना।

गाथा - ९२ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ६, मंगलवार)

अब कोई प्रश्न करे कि धर्म-अधर्मद्रव्य गति-स्थिति में कारण कैसे कहते हो? गति-स्थिति में कारण आकाश को कैसे नहीं कहते? ऐसा प्रश्न करनेवाले में क्या दोष है, वह बताते हैं।

यदि गति-स्थिति का कारण आकाशद्रव्य है, ऐसा माना जाये और धर्म-अधर्म का अभाव माना जाये तो सिद्धपरमेष्ठी अलोक में भी चले जायें, परन्तु ऐसा नहीं बनता, क्योंकि अलोक में धर्म-अधर्म नहीं है। यहाँ निमित्त साबित करना है।

(१) यदि जीव अल्पज्ञदशावाला सदा रहा ही करे तो कभी पूर्णदशा प्राप्त नहीं कर सकता। (२) पूर्णदशा प्राप्त होने के पश्चात् ऐसा का ऐसा गमन किया ही करे तो कहीं स्थिर रहेगा नहीं। जो सिद्ध जीव ऐसा का ऐसा चलता जाये तो गति का कार्य पूरा हुआ नहीं कहलाये, सिद्ध भगवान को गतिरूप कार्य की भी कृतकृत्यता हो गयी है, इसलिए एक समय में ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोकाग्र में पहुँच जाते हैं और वहाँ रुक जाते हैं और निमित्तरूप से धर्म-अधर्मद्रव्य भी वहाँ तक हैं, इसलिए वे अलोकाकाश में नहीं जाते।

सिद्ध भगवान को सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के परिणाम अन्तरंग साधन तो हैं और आकाश को गति में बहिरंग साधन माना जाये तो दोनों साधन होने पर भी सिद्ध भगवान लोकाग्र में क्यों रहते हैं और आगे क्यों नहीं जाते? यदि गति के लिये आकाश बहिरंग साधन हो तो भगवान अलोक में जाना चाहिए (परन्तु) ऐसा नहीं बनता; इसलिए आकाश गति-स्थिति के लिये बहिरंग साधन नहीं; धर्म-अधर्म गति-स्थिति में निमित्त होते हैं। यही बहिरंग साधन है।

धर्म-अधर्म अलोक में नहीं, लोक में है और इसलिए लोक की मर्यादा है।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार

सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य देखे हैं। एक द्रव्य के गुण दूसरे के कारण हों तो छह द्रव्य नहीं रहते। आत्मा के गुण ज्ञान और आनन्द हैं, वे गुण जड़ के माने तो भेदज्ञान नहीं कर सकता और स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता।

छहों द्रव्य का कार्य अपने-अपने से है, एक के कारण से दूसरे का कार्य नहीं है। आत्मा का गुण जड़ में नहीं, जड़ का गुण आत्मा में नहीं। धर्म-अधर्म का कार्य आकाश में नहीं होता और आकाश का कार्य धर्म-अधर्म में नहीं होता। एक के कारण दूसरे में कार्य माना जाये तो छह द्रव्यों की स्वयं सिद्धता नहीं रहती, खिचड़ा हो जाता है अर्थात् कि अपने ज्ञान और श्रद्धा झूठे ठहरते हैं। यहाँ प्रश्न किया है कि धर्मद्रव्य चेतन तथा पुद्गल पदार्थों की गति में निमित्त होता है और अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होते हैं तो उस गति-स्थिति में निमित्त होने का कार्य आकाश करता है तो क्या बाधा? यदि ऐसा माना जाये तो द्रव्य पृथक् नहीं रहते।

(अब), लोकाग्र में सिद्धों की स्थिरता बतलाते हैं। ●●

गाथा - ९३

जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थि त्ति ।।९३।।

यस्मादुपरिस्थानं सिद्धानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
तस्माद्गमनस्थानमाकाशे जानीहि नास्तीति ।।९३।।

समयव्याख्या : स्थितिपक्षोपन्यासोऽयम्। यतो गत्वा भगवंतः सिद्धाः लोकोपर्यवतिष्ठंते, ततो गतिस्थितिहेतुत्वमाकाशे नास्तीति निश्चेतव्यम्। लोकालोकावच्छेदकौ धर्माधर्मावेव गतिस्थितिहेतू मंतव्याविति ।।९३।।

लोकान्त में तो रहे आत्मा अष्ट कर्म अभाव कर।
तो सिद्ध है कि नभ गति-थिति हेतु होता है नहीं।।९३।।

अन्वयार्थ :- [यस्मात्] जिससे [जिनवरैः] जिनवरों ने [सिद्धानाम्] सिद्धों की [उपरिस्थानं] लोक के ऊपर स्थिति [प्रज्ञप्तम्] कही है, [तस्मात्] इसलिए [गमनस्थानम् आकाशे न अस्ति] गति-स्थिति आकाश में नहीं होती (अर्थात् गतिस्थितिहेतुत्व आकाश में नहीं है) [इति जानीहि] ऐसा जानो।

टीका:- (गतिपक्ष सम्बन्धी कथन करने के पश्चात्) यह, स्थितिपक्ष सम्बन्धी कथन है।

जिससे सिद्धभगवन्त गमन करके लोक के ऊपर स्थित होते हैं (अर्थात् लोक के ऊपर गतिपूर्वक स्थिति करते हैं), उससे गतिस्थितिहेतुत्व आकाश में नहीं हैं, ऐसा निश्चय करना; लोक और अलोक का विभाग करनेवाले धर्म तथा अधर्म को ही गति तथा स्थिति के हेतु मानना।।९३।।

गाथा - ९३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार)

इस गाथा में आकाश से धर्म-अधर्मद्रव्य भिन्न हैं, ऐसा भेदज्ञान कराते हैं। जो वीतराग भगवन्त अशरीरीदशा को प्राप्त हुए, उनका निवासस्थान लोकाग्र में है। इसलिए

वहाँ तक क्षेत्रान्तर होने में तथा वहाँ टिकने में निमित्तरूप होने का गुण आकाश का नहीं है। आकाश के गुणों से धर्म-अधर्म के गुण अलग हैं। आकाश में गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण नहीं, ऐसा हे शिष्य! तू जान।

भावार्थ - शिष्य ने **प्रश्न** पूछा है कि धर्म-अधर्म की क्या आवश्यकता है? आकाश चेतन और पुद्गल के गमन-स्थिति में निमित्त हो तो क्या बाधा है?

उसका जवाब देते हैं कि यदि सिद्ध भगवान का गमन अलोक में हो तो आकाश में गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण सम्भव हो सकता है। यदि उसमें वह गुण हो तो सिद्ध ऐसे के ऐसे चलते जाने चाहिए। परन्तु सिद्ध वहाँ जाते नहीं, वे तो लोकाग्र में रहते हैं। लोकाग्र से आगे जानेरूप कार्य नहीं होता, इसलिए उस कार्य में निमित्तकारणरूप गुण गति-स्थिति हेतु अलोक में नहीं है अर्थात् कि आकाश में वह गुण नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। इसीलिए गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण धर्म-अधर्मद्रव्य में ही है, क्योंकि धर्म-अधर्मद्रव्य लोकाकाश में है, आगे नहीं।

जिस प्रकार धर्म-अधर्म के कार्य आकाश नहीं कर सकता, ऐसा निश्चित हुआ, इस आधार से न्याय निकलता है कि किसी द्रव्य का कार्य दूसरा कोई द्रव्य नहीं कर सकता। उसी प्रकार आत्मा में अन्य के साथ घटित करना। आत्मा का कार्य गुरु कर दे, अनुकूल काल कर दे, शरीर कर दे, ऐसा माने, उसे पर से भिन्न करने का अवसर नहीं रहता। यदि आत्मा को मन, वाणी, देह की क्रिया से धर्म होता हो तो मन, वाणी, देह आत्मा में प्रविष्ट हो जाये। पर्याय में विकार कर्म के कारण होता हो तो कर्म और विकार एक हो जाये। जड़ से आत्मा को लाभ माना जाये तो आत्मा जड़ के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाये और जड़ आत्मा के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाये। परन्तु ऐसा नहीं होता।

यदि दया, दानादि के भाव से धर्म हो, ऐसा माना जाये तो विभाव और स्वभाव एक हो जाये। विभाव क्षणिक है, अशुद्ध है; स्वभाव त्रिकाल, शुद्ध है। इन दो के बीच मर्यादा नहीं रहती।

जो जीव पर से शरीर से और विकार से धर्म मानता है, उसे उन सबके साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है। उसे पर से पृथक् पड़ना नहीं सुहाता। पर से पृथक् पड़ना, वह

मुक्ति है। इसलिए यहाँ बताते हैं कि आकाश, धर्म-अधर्म का कार्य करे तो सिद्ध लोकाग्र से दूर जाना चाहिए और कोई मर्यादा नहीं रहती, इसलिए प्रत्येक तत्त्व पृथक् है। धर्मद्रव्य, वह अधर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य आकाशरूप नहीं, आकाश धर्म-अधर्मरूप नहीं। प्रत्येक द्रव्य अपने से है, दूसरे से नहीं तथा आत्मा अपने से है और दूसरे पाँच द्रव्यरूप नहीं। और अनन्त आत्मा में एक आत्मा अपने से है और दूसरे से नहीं। एक आत्मा दूसरे का कार्य करे तो वह अपना क्षेत्र छोड़कर पर में चला जाये। परन्तु ऐसा नहीं होता।

धर्म-अधर्म का काम आकाश नहीं करता, ऐसा सिद्ध करके भेदज्ञान कराते हैं। पंचास्तिकाय भेदज्ञान का कारण है। उसमें दृष्टि का विषय आ जाता है। ●●

गाथा - ९४

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स च अंतपरिवड्ढी ।।९४।।

यदि भवति गमनहेतुराकाशं स्थानकारणं तेषाम्।
प्रसजत्यलोकहानिर्लोकस्य चांतपरिवृद्धिः ।।९४।।

समयव्याख्या : आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वाभावे हेतूपन्यासोऽयम्। नाकाशं गतिस्थितिहेतुः लोकालोकसीमव्यस्थायास्तथोपपत्तेः। यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत्, तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योर्निः-सीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते, पूर्वं पूर्वं व्यवस्थाप्यमानश्चांतो लोकस्योत्तरोत्तरपरिवृद्ध्या विघटते। ततो न तत्र तद्धेतुरिति ।।९४।।

नभ होय यदि गति हेतु अर थिति हेतु पुद्गल जीव को।
तो हानि होय अलोक की अर लोक अन्त नहीं बने।।९४।।

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि [आकाशं] आकाश [तेषाम्] जीव-पुद्गलों को [गमनहेतुः] गतिहेतु और [स्थानकारणं] स्थितिहेतु [भवति] हो तो [अलोकहानिः] अलोक की हानि का [च] और [लोकस्य अंतपरिवृद्धि] लोक के अन्त की वृद्धि का [प्रसजति] प्रसंग आए।

टीका:-यहाँ, आकाश को गतिस्थितिहेतुत्व का अभाव होने सम्बन्धी हेतु उपस्थित किया गया है।

आकाश गति-स्थिति का हेतु नहीं है, क्योंकि लोक और अलोक की सीमा की व्यवस्था इसी प्रकार बन सकती है। यदि आकाश को ही गति-स्थिति का निमित्त माना जाए, तो आकाश को सद्भाव सर्वत्र होने के कारण जीव-पुद्गलों की गतिस्थिति की कोई सीमा नहीं रहने से प्रतिक्षण अलोक की हानि होगी और पहले-पहले व्यवस्थापित हुआ लोक का अन्त उत्तरोत्तर वृद्धि पाने से लोक का अन्त ही टूट जायेगा (अर्थात् पहले-पहले निश्चित हुआ लोक का अन्त फिर-फिर आगे बढ़ते जाने से लोक का अन्त ही नहीं बन सकेगा)। इसलिए आकाश में गति-स्थिति का हेतुत्व नहीं है।।९४।।

गाथा - ९४ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार)

इस गाथा में लोक-अलोक के बीच भेदज्ञान कराते हैं।

यदि धर्म-अधर्मद्रव्य नहीं और आकाशद्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन-स्थिति में सहकारी कारण है।—ऐसा माना जाये तो अलोकाकाश का नाश होगा और लोक की वृद्धि होगी।

भावार्थ - आकाश जीव-पुद्गलों को गति-स्थिति का कारण नहीं है क्योंकि यदि गति-स्थिति में आकाश कारण हो तो जीव और पुद्गल अलोक में चले जायें और इसलिए लोक-अलोक की मर्यादा रहे नहीं। लोक-अलोक के बीच भेद करनेवाला धर्म-अधर्मद्रव्य है। लोक और अलोक के भेद तो अनादि से है, परन्तु प्रत्येक के गुण का कार्य भिन्न बतलाना है, इसलिए कहा कि आकाश में गति-स्थितिगुण का अभाव है। यदि ऐसा न हो तो अलोकाकाश का अभाव हो तथा लोकाकाश असंख्य प्रदेश प्रमाणवाला धर्म-अधर्मद्रव्य से बड़ा हो जाये अथवा समस्त अलोकाकाश में जीव-पुद्गल फैल जायें। इसलिए गति-स्थितिगुण आकाश का नहीं, परन्तु धर्म-अधर्म का है।

यहाँ कहा कि जीव और पुद्गल गति किया करे तो असंख्य योजन तक जाये परन्तु अनन्त योजन तक नहीं जाते। यदि अनन्त योजन तक जाये तो लोक-अलोक के क्षेत्र की मर्यादा नहीं रहती। अलोक का अभाव हो और लोक बढ़ जाये, परन्तु ऐसा नहीं होता। उसकी मर्यादा असंख्य प्रदेशी लोकाकाश में असंख्य योजन तक की है। यह दृष्टान्त आत्मा में घटित करते हैं।

मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, शरीर, मन, वाणी पर है और विकार एक समय की अशुद्धता है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव में अशुद्धता नहीं है, ऐसा भान करके साधक जीव को मुक्तदशा प्राप्त करने में अनन्त काल लगे तो मुक्ति के अभाव का प्रसंग आवे। जैसे दृष्टान्त में अलोक के अभाव का प्रसंग आता था, उसी प्रकार यहाँ मुक्ति के अभाव का प्रसंग आवे। परन्तु जैसे जड़ तथा चेतन पदार्थों को गति करने में लोक के

असंख्य प्रदेश ही निमित्त है, अनन्त प्रदेश निमित्त नहीं, उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव का साधन करके मुक्तदशा पावे तो असंख्य समय ही लगे, अनन्त समय नहीं लगते। साधक जीव को केवलज्ञान लेने में अनन्त समय नहीं होते, असंख्य समय में ही वह केवलज्ञान प्राप्त करता है।

कोई कहता है कि जो जीव सम्यक्त्व से गिर जाते हैं, उन्हें अर्धपुद्गल परावर्तन काल तो होता है और नरक-निगोद के भव भी होते हैं। तो उसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि समकित को वमन कर डाला, इसलिए साधक नहीं रहता, वह बाधक में जाता है। यहाँ तो स्वभाव का भान करके जो साधक रहता है, उसकी बात चलती है। उसे एक-दो भव लगें तो भी वह असंख्य समय है, अनन्त काल से भटका है, भटकते हुए अनन्त समय लगे परन्तु भान होने के पश्चात् केवल (ज्ञान) प्राप्त करने में असंख्य समय ही लगते हैं।

यहाँ गाथा में बताते हैं कि जीव-पुद्गलों को गति-स्थिति में आकाश को निमित्त माना जाये तो निम्न दोष आते हैं—

(१) सिद्ध को ऊपर जाने के लिये एक समय ही लगता है, ऐसा नियम है। यदि सिद्ध अनन्त अलोक में चले जायें, ऐसा माना जाये तो उन्हें ऐसा का ऐसा चलते-चलते अनन्त समय होंगे।

(२) सिद्ध को ऐसा का ऐसा गति करना बाकी रहा, इसलिए सिद्ध की गतिरूप कार्य की कृतकृत्यता नहीं हुई।

(३) लोक के द्रव्य अलोक में जाने से समस्त जीव-पुद्गल वहाँ फैल जाने से अलोक के अभाव का प्रसंग आयेगा।

(४) लोक की मर्यादा असंख्य प्रदेश की है, वह मर्यादा टूट जायेगी और लोक बढ़ जायेगा।

इस प्रकार दोष आते हैं। इसलिए गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण आकाश का नहीं है। और आकाश को मर्यादा नहीं है, और सिद्ध चलते जाते कहीं रुक जाते हैं,

ऐसी तू मर्यादा करने जायेगा तो तब भी उस कार्य को दूसरे द्रव्य के गुण का कार्य मानना पड़ेगा, क्योंकि आकाश तो अमर्यादित है और सिद्ध चाहे जहाँ रुकेंगे तो वहाँ दो भाग हो जायेंगे। और आकाश अमर्यादित होने से गति-स्थिति में निमित्त होने का गुण आकाश का नहीं है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार सिद्ध को गति-स्थिति करने में धर्म-अधर्मद्रव्य निमित्त है, ऐसा स्थापित करना पड़ेगा। इसलिए जहाँ तक धर्म-अधर्मद्रव्य अपने असंख्य प्रदेशों में स्थिति है, वहाँ तक लोकाकाश है और वहाँ तक गमन-स्थिति है। ●●

गाथा - ९५

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ।।९५।।

तस्माद्धर्माधर्मौ गमनस्थितिकारणे नाकाशम्।
इति जिनवरैः भणितं लोकस्वभावं शृण्वताम्।।९५।।

समयव्याख्या : आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वनिरासव्याख्योपसंहारोऽयम्। धर्माधर्मावेव गतिस्थितिकारणे नाकाशमिति ।।९५।।

इसलिए गति थिति निमित्त आकाश हो सकता नहीं।
जगत के जिज्ञासुओं को यह कहा जिनदेव ने।।९५।।

अन्वयार्थ :–[तस्मात्]इसलिए[गमनस्थितिकारणे]गति और स्थिति के कारण [धर्माधर्मौ] धर्म और अधर्म है, [न आकाशम्] आकाश नहीं है। [इति] ऐसा [लोकस्वभावं शृण्वताम्] लोकस्वभाव के श्रोताओं से [जिनवरैः भणितम्] जिनवरों ने कहा है।

टीका:–यह आकाश को गतिस्थितिहेतुत्व होने के खण्डन सम्बन्धी कथन का उपसंहार है।

धर्म और अधर्म ही गति और स्थिति के कारण हैं, आकाश नहीं।।९५।।

गाथा - ९५ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार)

अब, आकाश का गति-स्थितिकारण गुण नहीं है, ऐसा संक्षेप से बतलाते हैं।

युक्ति से बात सिद्ध करने के पश्चात् कहते हैं कि भगवान भी ऐसा ही कहते हैं, यह बताते हैं।

वर्तमान सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं और पूर्व में महावीर भगवान यहाँ तीर्थंकररूप से थे। उनकी दिव्यध्वनि को जो सुननेवाले थे, उन्हें भगवान

ने ऐसा कहा कि धर्म-अधर्मद्रव्य गमन और स्थिति में निमित्त कारण है। आकाश गमन-स्थिति में कारण नहीं। छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं, ऐसा लोक का स्वभाव है। भगवान ने छह द्रव्य पृथक्-पृथक् कहे हैं। यदि तू शरीर से आत्मा का कार्य माने और तेरे ज्ञान के लिये शरीर, मन, पुस्तक आदि की आवश्यकता पड़ती है, ऐसा मानेगा तो तेरे गुण की हानि होगी। किसी का कार्य किसी से नहीं होता। परन्तु भव्य जीवों को भगवान ने बात की है, अभव्य तो भगवान के समवसरण में प्रवेश नहीं कर सकते। गोरडू मूँग लाखों मण पानी में सींझावे तो सीझता नहीं परन्तु बिखरकर चूरा होता है, इसी प्रकार अभव्य जीव को सच्चा उपदेश मिले तो भी वह ज्ञान से पिघलता नहीं। परन्तु पुण्य-पाप से पिघलना चाहता है। ऐसे अभव्य जीव क्रियाकाण्ड करके चूरा हो और पुण्य-परिणाम से स्वर्गादि में जाये परन्तु वापस पाप करके नरक में जाते हैं, चार गति की भटकाभटक में से नहीं छूटते।

भगवान भव्य जीवों को बात सुनाते हैं। (सम्यक् प्रकार से भव्य जीव बारह सभारूप से इकट्ठे हों, उसे समवसरण कहते हैं।) भगवान कहते हैं कि हे भव्य जीवो! जैनदर्शन, वह वस्तुदर्शन है, वह स्वभाव—स्वरूप है। आकाश अनन्त द्रव्यों को अवगाहन दे, ऐसे स्वभाववाला है, धर्म अनन्त जीव-पुद्गलों को गति में निमित्त हो, ऐसे स्वभाववाला है। अधर्म गतिपूर्वक अनन्त जीव-पुद्गलों को स्थिति में निमित्त हो, ऐसे स्वभाववाला है। काल अनन्त को परिणमन में निमित्त होता है। परमाणु एक समय में चौदह राजूलोक जाये ऐसा तथा स्पर्शादि की तारतम्यता में अनन्त प्रकार के भाववाला है और जीव अकेला ज्ञानानन्दस्वभावी स्व और पर सबको जाननेवाला है। इस प्रकार छहों द्रव्य स्वतन्त्र है, ऐसा ज्ञान करके पर से पृथक्ता-विभक्तता और स्व से एकत्वपना साधता है, वह जीव धर्मी है, उसने भगवान की वाणी सुनी है।

जो जीव किसी भी एक द्रव्य का स्वभाव उड़ावे, धर्म-अधर्म के गति-स्थितिहेतुत्व गुण को उड़ावे और काल को उड़ावे, वह जीव पर से भिन्नता और स्व में एकत्व नहीं करता। पर से भिन्न हुए बिना स्व में एकत्व नहीं होता।

एक परमाणु चौदह राजूलोक तक किसी की भी सहायता बिना एक समय में

जाये, उसका कारण? कारण उसका स्वयंसिद्ध स्वभाव है। जो स्वभाव होता है, वह जाता नहीं और जो नया होता है, वह स्वभाव नहीं कहलाता। राग-द्वेष में अटकना, वह ज्ञान का स्वभाव नहीं। सच्ची समझ होने पर ज्ञानपर्याय ने अपने ज्ञानस्वभाव में गमन किया और पर से विभक्त हुई, राग-द्वेष से विभक्त होकर स्वभाव में एकत्व किया, उसने भगवान की वाणी सुनी है। जिस जीव ने वाणी सुनने पर भी स्वभाव को नहीं जाना, उसे ये बात जँची नहीं। उसे वाणी सुननेवाला नहीं कहा। जिसने अपने स्वभाव को जाना, उसने वाणी सुनी है, ऐसा कहा है। छह द्रव्य का स्वरूप भगवान इच्छारहित रूप से कहते हैं, वाणी तथा भगवान को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होने से भगवान ने कहा, ऐसा कहा जाता है। ●●

गाथा - ९६

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धिविसेसा करिंति एगत्तमण्णत्तं ।।९६।।

धर्माधर्माकाशान्यपृथग्भूतानि समानपरिमाणानि।
पृथगुपलब्धिविशेषाणि कुर्वंत्येकत्वमन्यत्वम् ।।९६।।

समयव्याख्या : धर्माधर्मलोकाकाशानामवगाहवशादेकत्वेऽपि वस्तुत्वेनान्यत्वमत्रोक्तम्। धर्माधर्मलोकाकाशानि हि समानपरिमाणत्वात्सहावस्थानमात्रेणैवैकत्वभाञ्जि। वस्तुतस्तु व्यवहारेण गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपेण निश्चयेन विभक्तप्रदेशत्वरूपेण विशेषेण पृथगुपलभ्यमानेनान्यत्वभाञ्ज्येव भवंतीति ।।९६।।

- इति आकाशद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम्।

धर्माधर्म अर लोक का अवगाह से एकत्व है।
अर पृथक् पृथक् अस्तित्व से अन्यत्व है भिन्नत्व है।।९६।।

अन्वयार्थ :- [धर्माधर्माकाशानि] धर्म, अधर्म और आकाश (लोकाकाश) [समानपरिमाणानि] समान परिमाणवाले [अपृथग्भूतानि] अपृथग्भूत होने से तथा [पृथगुपलब्धिविशेषाणि] पृथक-उपलब्ध (भिन्न-भिन्न) विशेषवाले होने से [एकत्वम् अन्यत्वम्] एकत्व तथा अन्यत्व को [कुर्वंति] करते हैं।

टीका:-यहाँ धर्म, अधर्म और लोकाकाश का अवगाह की अपेक्षा से एकत्व होने पर भी वस्तुरूप से अन्यत्व कहा गया है।

धर्म, अधर्म और लोकाकाश समान परिमाणवाले होने के कारण साथ रहनेमात्र से ही (-मात्र एकक्षेत्रावगाह की अपेक्षा से ही) एकत्ववाले हैं; वस्तुत: तो (१) व्यवहार से गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवगाहहेतुत्वरूप (पृथक्-उपलब्ध विशेष द्वारा) तथा (२) निश्चय से [१]विभक्तप्रदेशत्वरूप पृथक्-उपलब्ध [२]विशेष द्वारा, वे अन्यत्ववाले ही हैं।

१. विभक्त=भिन्न। (धर्म, अधर्म और आकाश को भिन्नप्रदेशपना है।)
२. विशेष=खासियत; विशिष्टता; विशेषता। (व्यवहार से तथा निश्चय से धर्म, अधर्म और आकाश के विशेष पृथक् उपलब्ध हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं।)

भावार्थः–धर्म, अधर्म और लोकाकाश का एकत्व तो मात्र एकक्षेत्रावगाह की अपेक्षा से ही कहा जा सकता है; वस्तुरूप से तो उन्हें अन्यत्व ही है, क्योंकि (१) उनके लक्षण गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवगाहहेतुत्वरूप भिन्न–भिन्न हैं तथा (२) उनके प्रदेश भी भिन्न–भिन्न हैं।।९६।।

इस प्रकार आकाशद्रव्यास्तिकाय व्याख्यान समाप्त हुआ।

गाथा - ९६ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ७, बुधवार)

धर्म, अधर्म और आकाश तीनों के गुण भिन्न कहे तो फिर तीनों के क्षेत्र भिन्न होंगे ? नहीं, एक क्षेत्र में रहे हैं, तथापि विरोध नहीं आता, यह बताते हैं। घर में अलग–अलग लोग हों, कोई तेज प्रकृति का हो, कोई शान्त हो, तथापि एक घर में साथ रहते हैं। (यह दृष्टान्त है।) उसी प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश के गुण अलग होने पर भी और सबके कार्य अलग होने पर भी आकाश में एक जगह रहे हुए हैं और एक जगह रहे हुए होने पर भी अपना स्वभाव छोड़ते नहीं।

इसी प्रकार शरीर कर्म और आत्मा एक क्षेत्र में होने पर भी प्रत्येक अपना–अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। कोई तर्क करे कि 'ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान को हीन करता है, इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म नाम दिया।' यहाँ कहते हैं कि भाई! कर्म के कारण तो ज्ञान हीन होता नहीं परन्तु जीव स्वयं अपने कारण से ज्ञान हीन करता है, इसलिए कर्म को ज्ञानावरणीय नाम दिया है, ऐसा भी नहीं है। उसका स्वभाव और उसका नाम उसके कारण से है। और उसका नाम ज्ञानावरणीय पड़ा है, इसलिए यहाँ ज्ञान हीन होता है, ऐसा भी नहीं है। विकार अथवा हीनता जीव स्वयं अपने कारण से करता है और कर्म की अवस्था और नाम कर्म के कारण से है। दोनों के स्वभाव भिन्न हैं, तथापि एक क्षेत्र में रहते हैं।

आगे की गाथा में बताते हैं कि धर्म, अधर्म और आकाश तीनों द्रव्य एकक्षेत्र में रहे हैं परन्तु निज स्वरूप से तीनों भिन्न–भिन्न हैं।

धर्म–अधर्म और लोकाकाश ये तीन द्रव्य व्यवहारनय की अपेक्षा से एक क्षेत्रावगाही

हैं। जहाँ आकाश है, वहाँ धर्म, अधर्म दोनों द्रव्य रहे हुए हैं। कैसे हैं, तीनों द्रव्य ? तीनों के असंख्य प्रदेश समान हैं। और कैसे हैं ? निश्चयनय से पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं अथवा अपने स्वभाव से टंकोत्कीर्ण अपनी-अपनी सत्तावाले हैं। पत्थर में टाँकी से उत्कीर्ण मूर्ति की भाँति जैसे के तैसे हैं। यहाँ कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानरूपी टाँकी से भेद कर कि प्रत्येक आत्मा और जड़पदार्थ भिन्न-भिन्न है, कोई उसे लाया नहीं है और किसी ने उसे छोड़ा नहीं है। एक जगह ९० फीट का अखण्ड पत्थर निकला और उसका मानस्तम्भ बना, इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अखण्ड पूरा पड़ा है। जैसे पत्थर में रग (सन्धि) होती है, वहाँ से वह पृथक् पड़ जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा, परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के बीच स्वभाव अपेक्षा से भेद है, इसलिए वे पृथक् पड़ जाते हैं।

यहाँ कहा कि धर्म-अधर्म, आकाश व्यवहारनय से एक क्षेत्रावगाही है, इसलिए एक भावरूप कहलाते हैं और निश्चयनय से तीनों अपनी-अपनी सत्ता से भेदभाव को करते हैं। इस प्रकार तीनों द्रव्यों का स्वरूप व्यवहार-निश्चय से एकरूप जानना।

इस दृष्टान्त से शरीर, कर्म और आत्मा आकाशक्षेत्र की अपेक्षा से एकक्षेत्रावगाही कहलाते हैं परन्तु परमार्थ से तीनों के कार्य पृथक्-पृथक् हैं, कोई किसी को सहायता नहीं करता। जैसे पानी में कंकड़ होने पर भी एक-दूसरेरूप नहीं होते, स्वतन्त्र रहे हैं, उसी प्रकार चैतन्य और शरीर, कर्म आदि जड़ एकक्षेत्र में रहे होने पर भी कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। इस प्रकार पर से भेदज्ञान करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ९७

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ।।९७।।

आकाशकालजीवा धर्माधर्मौ च मूर्तिपरिहीनाः।
मूर्तं पुद्गलद्रव्यं जीवः खलु चेतनस्तेषु ।।९७।।

समयव्याख्या : अथ चूलिका। अत्र द्रव्याणां मूर्तामूर्तत्वं चेतनाचेतनत्वं चोक्तम्। स्पर्शरसगंधवर्णसद्भावस्वभावं मूर्तं, स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावममूर्तम्। चैतन्यसद्भावस्वभावं चेतनं, चैतन्याभावस्वभावमचेतनम्। तत्रामूर्तमाकाशं, अमूर्तः कालः, अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोऽपि, अमूर्तो धर्मः, अमूर्तोऽधर्मः, मूर्तः पुद्गल एवैक इति। अचेतनमाकाशं, अचेतनः कालः, अचेतनो धर्मः, अचेतनोऽधर्मः, अचेतनः पुद्गलः, चेतनो जीव एवैक इति ।।९७।।

अब, [१]चूलिका है।

जीव अर आकाश धर्म अधर्म काल अमूर्त है।
मूर्त पुद्गल जीव चेतन शेष द्रव्य अजीव हैं।।९७।।

अन्वयार्थ :- [आकाशकालजीवाः] आकाश, काल, जीव, [धर्माधर्मौ च] धर्म और अधर्म [मूर्तिपरिहीनाः] अमूर्त है, [पुद्गलद्रव्यं मूर्तं] पुद्गलद्रव्य मूर्त है। [तेषु] उनमें [जीवः] जीव [खलु] वास्तव में [चेतनः] चेतन है।

टीका:-यहाँ द्रव्यों का मूर्तोमूर्तपना (-मूर्तपना अथवा अमूर्तपना) और चेतनाचेतनपना (-चेतनपना अथवा अचेतनपना) कहा गया है।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का सद्भाव जिसका स्वभाव है, वह मूर्त है; स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है, वह अमूर्त है। चैतन्य का सद्भाव जिसका स्वभाव है, वह चेतन है; चैतन्य का अभाव जिसका स्वभाव है, वह अचेतन है।

---

१. चूलिका=शास्त्र में जिसका कथन न हुआ हो, उसका व्याख्यान करना अथवा जिसका कथन हो चुका हो, उसका विशेष व्याख्यान करना अथवा दोनों का यथायोग्य व्याख्यान करना।

वहाँ आकाश अमूर्त है, काल अमूर्त है, जीव स्वरूप से अमूर्त है, पररूप में [२]प्रवेश द्वारा (-मूर्तद्रव्य के संयोग की अपेक्षा से) मूर्त भी है, धर्म अमूर्त है, अधर्म अमूर्त है; पुद्गल ही एक मूर्त है। आकाश अचेतन है, काल अचेतन है, धर्म अचेतन है, अधर्म अचेतन है, पुद्गल अचेतन है; जीव ही एक चेतन है।।९७।।

गाथा - ९७ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ८, गुरुवार)

अब द्रव्यों के मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व, इस प्रकार से चार भाव बताते हैं।

इस जगत में छह वस्तुएँ हैं। उनके पृथक्-पृथक् भाव हैं। पाँच जड़ पदार्थों का प्रत्येक का भाव अपना-अपना अपने से अभेद है और पर से भेद है। चैतन्यमय जीव का अपना भाव अपने से अभेद है और पर से भेद है। यहाँ काल की बात साथ में ले ली है। आकाशद्रव्य अमूर्तिक है, उसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है, तथापि आत्मा और आकाश के स्वरूप में अन्तर है। आकाश अचेतन अमूर्तिक है और आत्मा चेतन अमूर्तिक है; इसी प्रकार काल, धर्म, अधर्म, तीनों में स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण नहीं, इसलिए अमूर्तिक है, परन्तु अचेतन है। जबकि आत्मा चेतन अमूर्तिक है।

पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला और अचेतन है। आत्मा चेतन अमूर्तिक है। यह बताकर आत्मा परपदार्थों से भिन्न है, ऐसा कहते हैं। जो पदार्थ अपने से भिन्न हों, उसका त्याग आत्मा किस प्रकार करे। कुटुम्ब, पैसा, शरीर इत्यादि से आत्मा भिन्न है, उसका त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अज्ञानी जीव मानता है कि परपदार्थ को छोड़े, वह त्यागी कहलाये और फिर *'तर्क करता है कि जीव को जो*

---

२. जीव निश्चय से अमूर्त-अखण्ड-एक प्रतिभासमय होने से अमूर्त है, रागादिरहित सहजानन्द जिसका एक स्वभाव है, ऐसे आत्मतत्त्व की भावनारहित जीव द्वारा उपार्जित जो मूर्त कर्म उसके संसर्ग द्वारा व्यवहार से मूर्त भी है।

अध्यवसाय होता है, वह क्या पर के आश्रय बिना होगा।' इसलिए पर को छोड़ना चाहिए।

(१) शरीर, कर्म, पैसा, देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि समस्त जड़ और चेतन पदार्थ तुझसे तीनों काल भिन्न है। परवस्तु छोड़नी नहीं पड़ती। वह तो छूटी हुई ही पड़ी है, वह तुझसे तीनों काल भिन्न है, इसलिए उसके ऊपर की दृष्टि छोड़।

(२) शरीर, मन, वाणी आदि परपदार्थों को मैं छोड़ता हूँ, ऐसी जो भ्रान्ति और विकार—वह भी छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि जो विकार अथवा दोष हुआ, उसे किस प्रकार छोड़ना? और जो दोष अभी हुआ नहीं, उसे किस प्रकार छोड़ना? इसलिए विकार छोड़ा नहीं जाता।

(३) शरीरादि पर है तथा भ्रान्ति और विकार तो एक समय की पर्याय है। मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ। मुझमें परपदार्थ का तीनों काल अभाव है और शुद्धस्वभाव में क्षणिक विकार का भी अभाव है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति होने पर मिथ्यात्व की उत्पत्ति नहीं होती और स्थिरता करने से अचारित्रदशा उत्पन्न नहीं होती। इसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष को छोड़ा, ऐसा कथन किया जाता है।

इस प्रकार वस्तुस्वरूप के भान बिना त्यागी हो जाये और मैं स्त्री, पुत्र, छोड़ता हूँ, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे अपने धर्म का त्याग वर्तता है। उसे स्वधर्म त्यागी कहा है। शरीर, परिवार इत्यादि परवस्तु भिन्न होने पर भी उसे उपाधि मानी है, मैं उसका ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ, यह मान्यता अज्ञान है। स्वभाव का यथार्थ ज्ञान होने पर अज्ञान टल जाता है। आत्मा के ज्ञान बिना व्रत, तप इत्यादि करे और शास्त्र पढ़े तो भी वह रण में शोर मचाने के समान है।

आत्मा अमूर्त और दूसरे चार द्रव्य अमूर्त हैं और पुद्गल एक मूर्त है। आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला है। दूसरे पाँच अचेतन हैं। परपदार्थ से आत्मा का स्वभाव भिन्न है। उसकी रुचि करके, पर को ग्रहण-त्यागने की पर्यायबुद्धि छोड़कर, स्व-अन्तररुचि करना, वह धर्म है, वही मोक्षमार्ग है।

कितने ही जीव काल को उपचारित द्रव्य मानते हैं, कितने ही काल को अनन्त

द्रव्यों के रूप में मानते हैं। यह सब मान्यता भूलवाली है। काल असंख्य अचेतन अमूर्तिक द्रव्य है। आत्मा उससे भिन्न चेतन अमूर्तिक है। ऐसा भेदज्ञान कराते हैं। कर्म रूपी— अचेतन है, आत्मा उससे भिन्न है। कर्म के कारण जीव हो तो जीव का जीवपना नहीं रहता और जीव के कारण कर्म हो तो कर्म का जड़पना नहीं रहता; कर्म, कर्म के कारण से है और जीव, जीव के कारण से है—ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - ९८

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ।।९८।।

जीवाः पुद्गलकायाः सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः।
पुद्गलकरणा जीवाः स्कंधा खलु कालकरणास्तु ।।९८।।

समयव्याख्या : अत्र सक्रियनिष्क्रियत्वमुक्तम्। प्रदेशांतरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया। तत्र सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः जीवाः, सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः पुद्गलाः। निष्क्रियमाकाशं, निष्क्रियो धर्मः, निष्क्रियोऽधर्मः, निष्क्रियः कालः। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तद्भावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति।।९८।।

सक्रिय करण–सह जीव–पुद्गल शेष निष्क्रिय द्रव्य हैं।
काल पुद्गल का करण पुद्गल करण है जीव का।।९८।।

अन्वयार्थ :– [सह जीवाः पुद्गलकायाः] बाह्य करण सहित स्थित जीव और पुद्गल [सक्रियाः भवन्ति] सक्रिय है, [न च शेषाः] शेष द्रव्य सक्रिय नहीं हैं (निष्क्रिय हैं); [जीवाः] जीव [पुद्गलकरणाः] पुद्गलकरणवाले (–जिन्हें सक्रियपने में पुद्गल बहिरंग साधन हो ऐसे) हैं [स्कंधाः खलु कालकरणाः तु] और स्कन्ध अर्थात् पुद्गल तो कालकरणवाले (–जिन्हें सक्रियपने में काल बहिरंग साधन हो ऐसे) हैं।

टीकाः–यहाँ (द्रव्यों का) सक्रिय–निष्क्रियपना कहा गया है।

प्रदेशान्तरप्राप्ति का हेतु (–अन्य प्रदेश की प्राप्ति का कारण) ऐसी जो परिस्पन्दरूप पर्याय, वह क्रिया है। वहाँ, बहिरंग साधन के साथ रहनेवाले जीव सक्रिय हैं; बहिरंग साधन के साथ रहनेवाले पुद्गल सक्रिय हैं। आकाश निष्क्रिय है; धर्म निष्क्रिय है; अधर्म निष्क्रिय है; काल निष्क्रिय है।

जीवों को सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म–नोकर्म के संचयरूप पुद्गल है;

इसलिए जीव पुद्गलकरणवाले हैं। उसके अभाव के कारण (–पुद्गलकरण के अभाव के कारण) सिद्धों को निष्क्रियपना है (अर्थात् सिद्धों को कर्म–नोकर्म के संचयरूप पुद्गलों का अभाव होने से वे निष्क्रिय हैं।) पुद्गलों को सक्रियपने का बहिरंग साधन *परिणामनिष्पादक काल है; इसलिए पुद्गल कालकरणवाले हैं।

कर्मादिक की भाँति (अर्थात् जिस प्रकार कर्म–नोकर्मरूप पुद्गलों का अभाव होता है, उस प्रकार) काल का अभाव नहीं होता; इसलिए सिद्धों की भाँति (अर्थात् जिस प्रकार सिद्धों को निष्क्रियपना होता है उस प्रकार) पुद्गलों को निष्क्रियपना नहीं होता।।९८।।

गाथा - ९८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ८, गुरुवार)

अब छह द्रव्यों में कितने क्रियावान हैं और कितने निष्क्रिय—स्थिर है, यह बताते हैं।

जीव और पुद्गलद्रव्यों में कितनों का क्षेत्रान्तर होने का स्वभाव है (सिद्ध का नहीं), उसमें परद्रव्य निमित्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में क्षेत्रान्तर होने का स्वभाव बिल्कुल नहीं है। रूपान्तरपना है परन्तु गतिरूप सक्रियपना नहीं है। जहाँ है वहाँ अनादि-अनन्त पड़े हैं, इसलिए उनमें गति का निमित्तपना नहीं है। जीव-पुद्गल में सक्रियपने की योग्यता है तो उसमें निमित्तपना है।

उसमें जीवद्रव्य की बात करते हैं। जीव संसारदशा में है, तब तक अपने कारण से गति करता है और उसमें कर्म तथा शरीर को निमित्त कहा जाता है। यदि कर्म और नोकर्म जीव को गति करा देते हों तो दूसरे चार धर्मादि द्रव्यों को भी गति करा दे। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि उसके उपादान की योग्यता नहीं है। जीव में गति करने की योग्यता है तो कर्म-नोकर्म को निमित्त कहा जाता है। निगोद से लेकर केवली भगवान तक के आत्मा क्षेत्रान्तर अपने कारण से करते हैं तो कर्म तथा शरीर को निमित्त कहा

---

* **परिणामनिष्पादक=परिणाम को उत्पन्न करनेवाला; परिणाम उत्पन्न होने में जो निमित्तभूत (बहिरंग साधनभूत) हैं ऐसा।**

जाता है। जीव मनुष्य में से देव में जाये, घर में जाये, दुकान में जाये और उसमें आत्मा के प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होता है, वह स्वयं के कारण से होता है, शरीर के कारण से या कर्म के कारण से वह नहीं होता परन्तु स्वयं चलता है तो शरीर तथा कर्म को निमित्त कहा जाता है।

अब पुद्गलस्कन्धों की बात करते हैं। लक्ष्मी, मकान, रोटी, दाल, भात इत्यादि पुद्गलस्कन्ध अपने-अपने कारण से क्षेत्रान्तर करते हैं, वह उपादानकारण है। उसमें निमित्त कालद्रव्य है। देखो! यहाँ जीव का निमित्तपना भी निकाल दिया है। मकान बनते हैं, उसमें उपादानकारण तो उन परमाणुओं की योग्यता है, जीव के कारण नहीं, परन्तु निमित्तरूप से जीव की इच्छा या जीव का ज्ञान या पूर्व के पुण्य का भी निषेध किया है। निमित्तरूप से काल को कहा गया है। यह पुस्तक यहाँ से वहाँ क्षेत्रान्तर होती है, उसमें उपादान तो उसका स्वयं का है परन्तु अँगुली या जीव की इच्छा या ज्ञान को निमित्त भी कहा नहीं परन्तु काल को निमित्त कहा गया है।

कोई जीव कहता है कि जीव परमाणु का कुछ नहीं कर सकता, परन्तु स्कन्ध का तो कर सकता है न? जीव शरीर को चला सकता है न? ऐसा अज्ञानी मानता है। वह तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता। शरीर, मन, वाणी इत्यादि स्कन्धों को जीव नहीं कर सकता, परन्तु उनमें वह निमित्त भी नहीं होता। अज्ञानी की दृष्टि संयोगों के ऊपर जाती है। भले पुद्गल, पुद्गल के कारण से चलता है परन्तु उसमें जीव निमित्त तो है न? यह बात यहाँ उड़ा दी है। मकान बनते हैं, उसमें जीव का राग निमित्त तो है न? रोग मिटे, उसमें साता का उदय है न? यह लकड़ी ऊँची हुई, उसमें जीव निमित्त है न? यह सब बात उड़ा दी है। जीव की इच्छा को या दूसरे पुद्गल को निमित्त नहीं लिया। तेरा निमित्तपना भी उसमें नहीं है। ***आठ कर्म बँधते हैं, वे तो उनके कारण से बँधते हैं, परन्तु उसमें जीव का राग या इच्छा निमित्त है न?*** रोटी बनती है उसमें बाई की इच्छा निमित्त है न? परमाणु स्वयं के कारण से भाषारूप हों, उसमें निमित्त कौन? ज्ञानी या अज्ञानी की इच्छा उसमें निमित्त है न? केवली की वाणी को योग का निमित्त है? यह बँगला हुआ, पैसा आया, उसमें जीव का ज्ञान और राग निमित्त है? नहीं, उन

पुद्गलस्कन्धों का उपादानकारण तो वे परमाणु हैं, **जीव की इच्छा और ज्ञान निमित्त भी नहीं, परन्तु काल निमित्त है। स्वकाल में परिणमते पुद्गलों को मात्र काल निमित्त है। ऐसा कहकर सूक्ष्म भेदज्ञान कराया है।** उन-उन पुद्गलों के परिणमन का वह स्वकाल है। इसलिए उसके ऊपर से दृष्टि मोड़।

यहाँ अस्तिकाय का स्वरूप बताते हैं। जीवद्रव्य में कहा कि द्रव्य-गुण तो स्वतन्त्र परन्तु जीव के प्रदेशों का क्षेत्रान्तर होना, एक गति से दूसरी गति में जाना, उसमें जीव की पर्याय की योग्यता, वह उपादानकारण है और उसमें कर्म-नोकर्म को निमित्तकारण कहा है और **परमाणु के स्कन्धों में द्रव्य-गुण तो स्वतन्त्र है परन्तु यह क्षेत्रान्तर होता है, वह अपने कारण से है। दूसरे के कारण तो नहीं, परन्तु उसमें जीव की इच्छा या पुद्गल निमित्त नहीं हैं, मात्र काल निमित्त है।** सब्जी सुधारते समय जीव की इच्छा, अँगुली निमित्त है न? दवाखाना हुआ, उसमें जीव का शुभभाव निमित्त है न? नहीं, जीव निमित्त भी नहीं, मात्र कालद्रव्य निमित्त है - ऐसा कहकर सूक्ष्मता बताते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये चार तो अरूपी हैं। अक्रिय हैं। अर्थात् उनमें क्षेत्रान्तर नहीं है, इसलिए उनके निमित्त की तो बात लेनी नहीं, परन्तु जीव में जो रूपान्तर होता है और ज्ञान-दर्शनादि गुणों की अवस्था पलटती है, वह भाव है और पुद्गलों में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के भाव पलटते हैं, उनकी भी बात नहीं है। यहाँ तो दोनों द्रव्य के क्षेत्रान्तर की क्रिया की बात लेनी है। लकड़ी का ऊँचा होना तथा दूसरे स्कन्धों का क्षेत्रान्तर होना, वह उसके कारण से है, परन्तु उसमें जीव का निमित्तपना नहीं कहकर काल को निमित्त कहा गया है। यहाँ कालद्रव्य को सिद्ध करते हैं, कोई काल को उपचार माने, कोई अनन्त काल द्रव्य माने तो वह सब बात मिथ्या है। इस जगत में असंख्य कालाणु हैं, वे पुद्गल की सक्रियता में निमित्त होते हैं।

पुद्गल जो सक्रिय है, उसका सक्रियपना कायम रहता है; इसलिए उसके निमित्तरूप कायम रहे, ऐसा निमित्त चाहिए। जीव संसारदशा में कायम नहीं रहता। यदि जीव संसार में कायम रहे तो उसका संसार कभी भी मिटे नहीं। पुद्गल का तो सक्रियस्वभाव त्रिकाल है। उसके निमित्तरूप से कालद्रव्य जो त्रिकाल है, वह लिया

परन्तु जीव नहीं लिया क्योंकि जीव निमित्तरूप से सदा रहा करे तो जीव की कभी मुक्ति नहीं हो। आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वभावी है, विकार उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है, त्रिकाल स्वरूप तो शुद्ध है, इसलिए पुद्गलों के स्कन्ध में उसका निमित्तपना भी नहीं है। पुद्गलों में जीव का निमित्तपना माना जाये तो पुद्गल तो सदा हैं, तो उसके साथ निमित्तपने का जीव का सम्बन्ध कभी छूटेगा नहीं और इसलिए स्वभाव सन्मुख दृष्टि करने का अवकाश भी रहेगा नहीं, इसलिए पुद्गल का सक्रियपना त्रिकाल है, उसके साथ कालद्रव्य त्रिकाल है, उसे निमित्त लिया है। कोई पूछे कि इसमें धर्म क्या आया? अनादि काल से जीव को परपदार्थों के साथ एकत्वबुद्धि वर्तती है। पुद्गलस्कन्ध भले उसके कारण से परिणमते हैं तो मैं उसमें निमित्त हूँ न? उसका यहाँ निषेध करते हैं। भाई! पुद्गल को निमित्त होने का तेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए परपदार्थ के प्रति संयोगी दृष्टि छोड़कर शुद्धचिदानन्दस्वभाव की दृष्टि कर।

भावार्थ - एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करना, उसे क्रिया कहते हैं। छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल क्षेत्रान्तर करते हैं तथा कम्परूप अवस्था को धारण करते हैं, इसलिए ये दो द्रव्य क्रियावन्त हैं और बाकी के चार द्रव्य निष्क्रिय और निष्कम्प हैं। जीवद्रव्य की क्रिया में बहिरंग निमित्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल है, उसके निमित्त से जीव विकाररूप परिणमन करता है। जीव अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति छोड़कर सक्रिय शरीर का संग करता है तो विकार होता है। शरीर, कर्म इत्यादि तो निमित्तमात्र हैं। निमित्त को छोड़ना नहीं। परपदार्थ को निमित्त बनाना या उड़ाना यह तेरे हाथ में है। अर्थात् कि तू राग-द्वेष कर तो शरीर और कर्म को निमित्त कहा जाता है और राग-द्वेष न करे तो शरीर और कर्म को निमित्त भी नहीं कहा जाता।

और जीव का स्वरूप सक्रियपना कायम नहीं रहता। चैतन्यस्वभाव ज्ञानमूर्ति अरूपी गुण का पिण्ड है, शरीर पर है। विकार कृत्रिम है, स्वभाव विकाररहित है। ऐसा भान करके स्व-पर्याय के पुरुषार्थ द्वारा जीव स्वयं शुद्ध दशा को प्राप्त करे, तब पुद्गलकर्म और नोकर्म का अभाव होता है। क्षेत्रान्तर होना, वह जीव की स्वाभाविक क्रिया नहीं। यदि वह स्वाभाविक वस्तु हो तो कभी छूटे नहीं, निष्क्रियरूप से रहना, उस सिद्धदशारूप

होना, वह स्वाभाविक दशा है। जीव स्वयं ज्ञाता-दृष्टारूप रहकर स्थिरता करे तो स्वाभाविक निष्क्रिय, निष्कम्प अवस्थारूप सिद्धदशा को प्राप्त करता है। इस कारण से पुद्गल का निमित्त पाकर जीव क्रियावान जानना। 'निमित्त पाकर?' इसका अर्थ यह है कि जीव में नैमित्तिकपर्याय हुई है तो पुद्गल को निमित्त कहा है। जीव की क्रिया का काल और उस समय पुद्गल का काल एकसाथ है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ९, शुक्रवार

इस जगत में छह पदार्थ हैं, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र हैं, उनकी क्षेत्रान्तर होने की पर्याय भी स्वतन्त्र है, परन्तु अज्ञानी को भ्रम पड़ता है कि मेरे कारण से स्कन्ध खिसकते हैं। उससे कहते हैं कि भाई! तेरे कारण से नहीं खिसकते। वे उनके कारण से खिसकते हैं। उसमें तेरा निमित्तपना भी नहीं है, ऐसा यहाँ बतलाना है, जीव तथा पुद्गल दोनों को क्षेत्रान्तर होने में सामान्य निमित्त तो धर्मास्तिकाय है, परन्तु यहाँ विशेष निमित्त बतलाना है, इसलिए जीव की क्षेत्रान्तर क्रिया में पुद्गल को निमित्त कहा है और पुद्गल स्कन्धों के क्षेत्रान्तर में काल को निमित्त कहा है।

यह पत्थर, वस्त्र, दाल, भात आते-जाते हैं और शरीर की गति होती है, वह तो उसके कारण से होती है। उसमें अरूपी काल निमित्त है। यहाँ 'काल का बहिरंग कारण पाकर' ऐसे शब्द लिखे हैं, तो क्या काल को खबर है कि मैं इस स्कन्ध को निमित्त होऊँ? पुद्गल स्कन्धों में नैमित्तिक अवस्था होती है, तब काल को निमित्त कहा जाता है, ऐसा उसका अर्थ है।

अज्ञानी जीव मानता है कि मेरी होशियारी से पैसे आते हैं और उन जड़ पदार्थों की व्यवस्था मैं कर सकता हूँ, ऐसा माननेवाला मूढ़ है। अज्ञानी जीव व्यर्थ का अभिमान करके भटकता है। पैसे का आना-जाना, शरीर में रक्त का घूमना, पुस्तकें आना-जाना वह सब जीव के कारण तो नहीं। परन्तु उन परमाणुओं के आने-जाने में उपादानकारण तो वे परमाणु स्वयं हैं। और निमित्तकारण कालद्रव्य है, ऐसा यहाँ कहा है। जीव को

निमित्तरूप से भी यहाँ नहीं लिया। जीव तो अपने में राग-द्वेष करे। अथवा समझकर वीतरागता लावे, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

यहाँ काल को सहकारी कारण कहा है। सहकारी अर्थात् साथ में होता है। शरीर तथा अँगुली इत्यादि गति करते हैं, उसमें काल सहकारी कारण है, परन्तु शरीर को खबर नहीं कि मुझे काल निमित्त होता है। काल को खबर नहीं कि मैं शरीर को निमित्त होता हूँ। दोनों को जाननेवाला तो जीव है। जीव कहता है कि मैं तो निमित्त होनेवाला नहीं, मैं तो जाननेवाला हूँ।

यहाँ काल को भी सिद्ध करते जाते हैं। काल शब्द है तो उसका वाच्य कालद्रव्य होना चाहिए। शब्द हो और वस्तु न हो, ऐसा नहीं होता। जैसे सर्वज्ञ शब्द है तो उसका वाच्य सर्वज्ञ आत्मा भी है; उसी प्रकार कालद्रव्य है तो काल अरूपी पदार्थ है। पुद्गल स्कन्धों की सक्रियता में काल निमित्त है। यह पैसा इत्यादि मैं लाता हूँ, ऐसा अज्ञानी जीव अभिमान करता है। भाई! उस वस्तु का वर्तमान सत् है या असत्? वर्तमान सत् है, इसलिए वह उससे है परन्तु जीव से नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि वह तो उसके कारण से क्षेत्रान्तर होता है, उसमें जीव का निमित्तपना भी नहीं है, परन्तु काल निमित्त है। परन्तु इतना विशेष है कि जीवद्रव्य की भाँति पुद्गल निष्क्रिय कभी नहीं होता। जीव शुद्ध हुए पश्चात् कभी क्षेत्रान्तर नहीं करता, पुद्गल में यह नियम नहीं है। पुद्गल परनिमित्त से सदा क्रियावान् रहता है।

यहाँ जीव और पुद्गल दोनों क्रियावान पदार्थ होने पर भी दोनों में भेद बताते हैं। जीव अपने शुद्ध आत्मा का भान करके सिद्धदशा पा जाये, पश्चात् कभी क्षेत्रान्तर नहीं करता, जहाँ तक जीव सिद्ध की पूर्णदशा प्राप्त न करे, तब तक क्षेत्रान्तर करता है। सिद्ध भगवन्त एक स्थान में विराजते हैं, गति नहीं करते, परन्तु पुद्गल में ऐसा नियम नहीं है। पुद्गल परमाणु अकेला हो जाये तो भी क्षेत्रान्तर करता है, दूसरे स्कन्ध साथ में मिल जाये और क्षेत्रान्तर करे। इसलिए पुद्गल को सदा क्रियावान कहा गया है।

यहाँ पुद्गल को सदा क्रियावान कहा है, उसका अर्थ यह है कि जीव की भाँति पुद्गल सदा स्थिर हो जाये, ऐसा नहीं होता। एक परमाणु पृथक् पड़कर शुद्ध हो, अमुक समय स्थिर भी रहे, वापस क्षेत्रान्तर करता है। सिद्ध की भाँति क्षेत्रान्तर करे ही

नहीं, ऐसा नहीं है। और अचेतन महास्कन्ध में कितने ही परमाणु वहीं के वहीं पड़े हैं, जो कभी क्षेत्रान्तर नहीं होते। यह बात गौण करके परमाणु स्थिर नहीं है, परन्तु क्रियावान हैं, इस अपेक्षा से सदा क्रियावान कह दिया है। सिद्ध के निष्क्रिय स्वभाव के सामने पुद्गल का क्रियावान स्वभाव बताया और उसमें कालद्रव्य को निमित्त बताया।

अब, यहाँ काल को निमित्त बतलाया है, वह विशेष निमित्त है। छह द्रव्यों में प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय के परिणमन में काल निमित्त है। वह तो सामान्य निमित्त तो है ही, उन छह द्रव्यों में से क्रियावान जीव और पुद्गल भिन्न किये, उन दो के क्षेत्रान्तर में सामान्य निमित्त धर्मास्तिकाय है। अब दो में विशेष निमित्त का भेद बतलाया कि जीव के क्षेत्रान्तर में कर्म और नोकर्म निमित्त है और पुद्गलस्कन्ध के क्षेत्रान्तर में काल निमित्त है, ऐसी यहाँ विशेष निमित्तों की बात ली है।

और कितने ही पुद्गल परमाणु ऐसे हैं कि जीव ने आज तक ग्रहण नहीं किये। तथा भविष्य में ग्रहण भी नहीं करेगा। जगत में संसारी जीव ने जितने परमाणु ग्रहण किये हैं, उनसे अनन्तगुण अग्राह्य परमाणु इस जगत में हैं कि इसमें जीव कभी भी निमित्त नहीं होता। सब पुद्गल परमाणु में जीव निमित्तरूप से सदाकाल नहीं होता, जिससे सबको गति में सदाकाल निमित्त हो, ऐसा काल है कि जो अनादि-अनन्त निमित्त है। इसलिए उसे यहाँ निमित्त कहा गया है।

(१) जीव और पुद्गलों के क्षेत्रान्तर में धर्मास्तिकाय निमित्त है। परन्तु यह सामान्य बात की। यहाँ विशेष बात की है कि जीव के सक्रियपने में पुद्गल निमित्त है और पुद्गल के सक्रियपने में काल को निमित्त लिया, जीव को नहीं लिया। क्योंकि सभी पुद्गलों को जीव निमित्त नहीं होता। जबकि काल तीनों काल होता है, इसलिए उसे निमित्त कहा।

(२) जो जीव काल को नहीं मानते, उसे पुद्गलों में काल निमित्त है, ऐसा कहकर काल की सिद्धि की है।

(३) जीव और पुद्गल क्रियावान होने पर भी दोनों के सक्रियपने में अन्तर है। जीव सिद्ध होने पर निष्क्रिय होता है, इसलिए क्रियापना वह जीव का मूल स्वभाव

नहीं। जबकि पुद्गल परमाणु पृथक् पड़ने पर भी वापस क्रियावान होता है, इसलिए सक्रियपना उसका स्वभाव है, इसलिए पुद्गल को सदा क्रियावान कहा है। इसलिए पुद्गल हमेशा चला ही करते हैं, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। सिद्ध की भाँति वे सदा स्थिर नहीं रहते, यह बतलाने के लिये सदा क्रियावान कहा गया है।

यह अर्थसमय की बात चलती है। पदार्थों का स्वभाव बताते हैं। तू पदार्थों का ज्ञान कर। अज्ञान तथा राग-द्वेष को छोड़, ऐसा कहते हैं। यह पुस्तक यहाँ से हटी, ऐसा क्यों? अज्ञानी को दृश्य पदार्थों में भ्रम पड़ता है। यहाँ कहते हैं कि उस पुस्तक का आना-जाना तो उसके कारण से है, परन्तु उसमें जीव का ज्ञान, इच्छा या हाथ तीनों में से एक को भी यहाँ निमित्त नहीं लिया। मात्र तीनों काल रहनेवाले काल अरूपी अदृश्य को निमित्त कहा है। इसलिए संयोग के ऊपर से दृष्टि हटा। ऐसा क्यों? ऐसे प्रश्न को स्वभाव में अवकाश नहीं है। स्वभाव ही ऐसा है। तू जानने-देखनेवाला है, ऐसा निश्चित किये बिना शान्ति नहीं होगी।

कितने ही अज्ञानी ऐसा भी तर्क करते हैं कि अपने आरम्भ नहीं करना। मन्दिर, प्रतिमा इत्यादि बनाने का अपने को आरम्भ नहीं करना। तो पूछा जाता है कि क्या उन जड़ पदार्थों की अवस्था को तू कर सकता है? क्या शुभराग से वे जड़पदार्थ होते हैं? कि जिससे अब उस प्रकार का शुभराग रोककर, जो मन्दिर आदि होनेवाले हैं, उन्हें रोक दूँ, ऐसा तू मानता है? यह मान्यता भ्रमणा है। आरम्भ के स्वरूप को समझता नहीं। जीव के शुभराग के कारण मन्दिर नहीं होते तथा शुभराग न करे तो मन्दिर रुक जाये, ऐसा भी नहीं है। जो पदार्थ, जो पत्थर-लोहा इत्यादि जहाँ से और जिस क्षेत्र से आनेवाले हैं, वहाँ से आयेंगे, जहाँ रहनेवाले हैं और मकान के स्कन्धरूप होनेवाले हैं, वहाँ होंगे। मैं उन जड़ पदार्थों को बना सकता हूँ, या रोक सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यादर्शन शल्य है। और यही महा आरम्भ है। आरम्भ जड़ पदार्थों में नहीं रहता। यहाँ तो कहते हैं कि जड़ पदार्थ उसके कारण से आते-जाते हैं, उनमें जीव निमित्त भी नहीं है। मन्दिर आदि बनते हैं, उसमें काल को निमित्त कहकर जीव के शुभराग के निमित्तपने को उड़ाया है, इसलिए संयोगों के ऊपर और शुभराग के ऊपर की दृष्टि को हटा और शुद्ध चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि कर। परमाणुओं का क्षेत्रान्तर होकर मकान के

स्कन्धरूप अवस्था होना, उसमें जीव के ज्ञान को, इच्छा को या हाथ को निमित्त नहीं कहते, अकेले अदृश्य काल को निमित्त कहकर बहुत सूक्ष्म बात की है। जगत के दृश्यमान पदार्थ की संयोगीदृष्टि उठा, ऐसा कहने का भाव है। और सब जड़ पुद्गलों में जीव निमित्त नहीं होता, इसलिए जीव का निमित्तपना उड़ाकर तीनों काल रहनेवाले काल को निमित्त कहा गया है। इसलिए पुद्गल के कर्तापने का अहंकार उड़ाया है। और पुद्गल को सदा क्रियावान कहा, उसका अर्थ ऐसा है कि जब क्रिया करता है, तब क्रियावान समझना, परन्तु सदा चलता रहे, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। परन्तु जीव सिद्धदशा प्राप्त करने के पश्चात् क्रियावान नहीं होता, परन्तु परमाणु पृथक् करने के पश्चात् और स्थिर होने के पश्चात् वापस क्रियावान होता है, इतना बतलाने के लिये सदा क्रियावान है, ऐसा कहा गया है। ●●

गाथा - ९९

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ।।९९।।

ये खलु इन्द्रियग्राह्या विषया जीवैर्भवन्ति ते मूर्ताः।
शेषं भवत्यमूर्तं चित्तमुभयं समाददाति ।।९९।।

समयव्याख्या : मूर्तामूर्तलक्षणाख्यानमेतत्। इह हि जीवैः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्भिरिन्द्रियैस्तद्विषयभूताः स्पर्शरसगंधवर्णस्वभावा अर्था गृह्यंते। श्रोत्रेन्द्रियेण तु त एव तद्विषयहेतुभूतशब्दाकारपरिणता गृह्यंते। ते कदाचित्स्थूलस्कंधत्वमापन्नाः कदाचित्सूक्ष्मत्वमापन्नाः कदाचित्परमाणुत्वमापन्नाः इन्द्रियग्रहणयोग्यतासद्भावद् गृह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्ता इत्युच्यंते। शेषमितरत् समस्तमप्यर्थजातं स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावमिन्द्रियग्रहणयोग्यताया अभावादमूर्तमित्युच्यते। चित्तग्रहणयोग्यतासद्भावभाग्भवति तदुभयमपि, चित्तं ह्यनियतविषयमप्राप्यकारि मतिश्रुतज्ञानसाधनीभूतं मूर्तममूर्तं च समाददातीति। ।९९।।

- इति चूलिका समाप्ता।

हैं जीव के जो विषय इन्द्रिय ग्राह्य वे सब मूर्त हैं।
शेष सब अमूर्त हैं मन जानता है उभय को।।९९।।

अन्वयार्थ :- [ये खलु] जो पदार्थ [जीवैः इन्द्रियग्राह्याः विषयाः] जीवों को इन्द्रियग्राह्य विषय है [ते मूर्ताः भवन्ति] वे मूर्त हैं और [शेषं] शेष पदार्थसमूह [अमूर्तं भवति] अमूर्त हैं। [चित्तम्] चित्त [उभयं] उन दोनों को [समाददाति] ग्रहण करता है (जानता है)।

टीका:-यह मूर्त और अमूर्त के लक्षण का कथन है।

इस लोक में जीवों द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उनके (-उन इन्द्रियों के) विषयभूत, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णस्वभाववाले पदार्थ (-स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनका स्वभाव है ऐसे पदार्थ) ग्रहण होते हैं (-ज्ञात होते हैं); और

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वही पदार्थ उसके (श्रोत्रैन्द्रिय के) [१]विषयहेतुभूत शब्दाकार परिणमित होते हुए ग्रहण होते हैं। वे (वे पदार्थ), कदाचित् स्थूलस्कन्धपने को प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्मत्व को (सूक्ष्मस्कन्धपने को) प्राप्त होते हुए और कदाचित् परमाणुपने को प्राप्त होते हुए इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता का (सदैव) सद्भाव होने से 'मूर्त' कहलाते हैं।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण का अभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा शेष अन्य समस्त पदार्थसमूह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के अभाव के कारण 'अमूर्त' कहलाता है।

वे दोनों (-पूर्वोक्त दोनों प्रकार के पदार्थ) चित्त द्वारा ग्रहण होने की योग्यता के सद्भाववाले हैं; चित्त जो कि [२]अनियत विषयवाला, [३]अजुप्यकारी और मतिश्रुतज्ञान के साधनभूत (-मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान में निमित्तभूत) है वह-मूर्त और अमूर्त को ग्रहण करता है (-जानता है)।।९९।।

इस प्रकार चूलिका समाप्त हुई।

गाथा - ९९ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ९, शुक्रवार)

अब मूर्त-अमूर्त पदार्थ किसे कहना यह बताते हैं। जीवों से इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होता है, वे पुद्गलपदार्थ हैं। वह मूर्तिक है। इन्द्रियग्राह्य अर्थात् इन्द्रियाँ पदार्थ को पकड़ नहीं लेती, परन्तु इन्द्रियों के निमित्त से ज्ञात होता है, वह पुद्गल मूर्तिक है और पुद्गल से भिन्न पदार्थों को अमूर्तिक जानना।

भावार्थ - इस लोक में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाले पदार्थ स्पर्शन, जीभ, नासिका

---

१. **उन स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णस्वभाववाले पदार्थों को (अर्थात् पुद्गलों को) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होने में हेतुभूत शब्दाकारपरिणाम है, इसलिए वे पदार्थ (पुद्गल) शब्दाकार परिणमित होते हुए श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होते हैं।**

२. **अनियत=अनिश्चित। (जिस प्रकार पाँच इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत है, उस प्रकार मन का विषय नियत नहीं है, अनियत है।)**

३. **अजुप्यकारी=ज्ञेय विषयों का स्पर्श किये बिना कार्य करनेवाला-जाननेवाला। (मन और चक्षु अजुप्यकारी हैं, चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं।)**

और नेत्र - इन चार इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं। भाव इन्द्रिय द्वारा पदार्थ ज्ञात होते हैं, उसमें द्रव्यन्द्रिय निमित्त है। वे सब पुद्गल हैं, मूर्तिक हैं। इन्द्रियाँ उन परपदार्थ को ग्रहण नहीं करतीं तथा छोड़ती नहीं, परन्तु आत्मा कर्म को ग्रहण करता और छोड़ता है, ऐसा भी नहीं होता।

कोई **पूछता** है कि शास्त्र में कथन आता है कि आत्मा के कषाय परिणाम से स्थिति और रस का बन्ध पड़ता है और योग से प्रदेश और प्रकृति का बन्ध पड़ता है। उसका क्या? तथा 'आत्मसिद्धि' में कथन आता है कि 'ग्रहण करे जड़रूप' तो क्या आत्मा जड़ को, जड़कर्म को ग्रहण करता होगा? और कर्म को बाँधता होगा?—इसका **समाधान —**

यह सब निमित्त के कथन हैं। जीव का विकारीभाव बतलाने का कथन है। कर्म तो अपनी योग्यता से आते हैं और बँधते हैं, उसमें आत्मा के विकार का निमित्तपना बतलाना है। आत्मा में पर के ग्रहण-त्यागशून्यत्व (रहितपने की) शक्ति है। भावेन्द्रियाँ पदार्थों को मात्र जानती हैं। (१) यहाँ कहा है कि इन्द्रियों द्वारा जानने में आनेवाले पदार्थ मूर्तिक हैं। (२) किसी समय स्थूल स्कन्धरूप धारण करे। (३) किसी समय सूक्ष्म स्कन्धरूप है। (४) किसी समय परमाणु हो। यह सब मूर्तिक है।

कोई सूक्ष्म स्कन्ध अथवा परमाणु इन्द्रियों द्वारा जानने में आता नहीं तो भी उन पुद्गलों में ऐसी शक्ति है कि किसी समय स्थूलता को धारण करता है और इन्द्रियगम्य होता है, इसलिए चाहे जैसे सूक्ष्म स्कन्ध को अथवा परमाणु को इन्द्रियग्राह्य कहा है। वर्तमान में भले इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होते परन्तु इन्द्रियों द्वारा जानने की योग्यता है, इसलिए इन्द्रिय ग्राह्य कहा है।

आत्मा किसी भी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी अतीन्द्रिय है। वे पाँचों पदार्थ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है तथा इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हों, ऐसे नहीं हैं। इसलिए उन पाँचों को मूर्तिक जानना।

भावमन के उघाड़ से और द्रव्यमन के निमित्त से मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों प्रकार के पदार्थ जाने जा सकते हैं। मेरा आत्मा स्वतन्त्र है, इन्द्रिय और मन से ज्ञान नहीं

होता, मेरे आत्मा के आश्रय से ज्ञान होता है—ऐसी प्रतीति और ज्ञान करके स्वभाव का आश्रय लेने से जो सम्यक्मति-श्रुतज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान स्व को जानते हुए पर को जान लेता है। सूक्ष्म परमाणु, तैजस, कार्मण इत्यादि का ख्याल अनुमान से आ जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल को भी वह ज्ञान जान लेता है और आत्मा की पर्याय में होनेवाले राग-द्वेष अमूर्तिक हैं, उन्हें भी सम्यक्ज्ञान स्व को जानते हुए, 'राग पर है', ऐसा जान लेता है। उस सम्यक्मति-श्रुतज्ञान का साधन तो आत्मा है। मन निमित्तमात्र है। अपने को जानते हुए अमूर्तिक द्रव्यों, सूक्ष्म मूर्त पदार्थों और अपने अमूर्तिक विकारादि परिणाम को वह जानता है। केवलज्ञान और मतिज्ञान में प्रत्यक्ष और परोक्ष का अन्तर है।

जब ज्ञान परपदार्थों को जानता है, तब ज्ञान उन पदार्थों में जाता नहीं परन्तु स्वयं अपनी सामर्थ्य से स्व में रहकर जानता है। मति-श्रुतज्ञान का साधन आत्मा है। मन निमित्तमात्र है। इस प्रकार मन के निमित्त से मूर्त-अमूर्त पदार्थ जाने जा सकते हैं।

वर्तमान में जो स्थूल, मूर्त स्कन्ध इन्द्रिय द्वारा ज्ञात होते हैं, वह विभावपर्याय है, वह संयोगी पदार्थ है, मूलपदार्थ नहीं। वह व्यवहारनय का विषय है। निश्चयद्रव्य तो मूल परमाणु है, वह भी अतीन्द्रिय है। इस प्रकार छह द्रव्य अतीन्द्रिय हैं और वे अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ज्ञात हों, ऐसे हैं। अपने आत्मा के आश्रय से अतीन्द्रिय ज्ञान होने पर इन्द्रियों से ग्राह्य कौन से पदार्थ हैं, उसका यथार्थ ज्ञान होता है। अकेली इन्द्रियों से काम करने जाये तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। ●●

गाथा - १००

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ।।१००।।

कालः परिणामभवः परिणामो द्रव्यकालसंभूतः।
द्वयोरेष स्वभावः कालः क्षणभङ्गुरो नियतः ।।१००।।

समयव्याख्या : अथ कालद्रव्यव्याख्यानम्। व्यवहारकालस्य निश्चयकालस्य च स्वरूपाख्यानमेतत्। तत्र क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः, तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः। तत्र व्यवहारकालो निश्चयकालपर्यायरूपोपि जीवपुद्गलानां परिणामेनावच्छिद्यमानत्वात्तत्परिणामभव इत्युपगीयते, जीवपुद्गलानां परिणामस्तु बहिरङ्गनिमित्तभूतद्रव्यकालसद्भावे सति संभूतत्वाद्-द्रव्यकालसंभूत इत्यभिधीयते। तत्रेदं तात्पर्यं - व्यवहार - कालो जीवपुद्गलपरिणामेन निश्चीयते, निश्चयकालस्तु तत्परिणामान्यथानुपपत्त्येति। तत्र क्षणभङ्गी व्यवहारकालः सूक्ष्मपर्यायस्य तावन्मात्रत्वात्, नित्यो निश्चयकालः स्वगुणपर्यायाधारद्रव्यत्वेन सर्वदैवाविनश्वरत्वादिति ।।१००।।

अब कालद्रव्य का व्याख्यान है।

क्षणिक है व्यवहार काल अरु नित्य निश्चय काल है।
परिणाम से हो काल उद्भव काल से परिणाम भी।।१००।।

अन्वयार्थ :- [कालः परिणामभवः] काल परिणाम से उत्पन्न होता है (अर्थात् व्यवहार काल का माप जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा होता है); [परिणामः द्रव्यकालसंभूतः] परिणाम द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है। [द्वयोः एषः स्वभावः] यह, दोनों का स्वभाव है। [कालः क्षणभंगुरः नियतः] काल क्षणभंगुर तथा नित्य है।

टीका:-यह व्यवहारकाल तथा निश्चयकाल के स्वरूप का कथन है।

वहाँ, 'समय' नाम की जो क्रमिक पर्याय, सो व्यवहारकाल है; उसके आधारभूत द्रव्य, वह निश्चयकाल है।

वहाँ, व्यवहारकाल निश्चयकाल की पर्यायरूप होने पर भी जीव-पुद्गलों के परिणाम से मापा जाता है-ज्ञात होता है; इसलिए 'जीव-पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न

होनेवाला' कहलाता है; और जीव-पुद्गलों के परिणाम बहिरंग-निमित्तभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण 'द्रव्यकाल से उत्पन्न होनेवाले' कहलाते हैं। वहाँ तात्पर्य यह है कि-व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा निश्चित होता है; और निश्चयकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा (अर्थात् जीव-पुद्गलों के परिणाम अन्य प्रकार से नहीं बन सकते इसलिए) निश्चित होता है।

वहाँ, व्यवहारकाल *क्षणभंगी है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय मात्र उतनी ही (-क्षणमात्र जितनी ही, समयमात्र जितनी ही) है; निश्चयकाल नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण-पर्यायों के आधारभूत द्रव्यरूप से सदैव अविनाशी है।।१००।।

गाथा - १०० पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ९, शुक्रवार)

काल की पर्याय अथवा एक समय के परिणाम अपने द्रव्य से उत्पन्न होते हैं परन्तु उसमें जीव-पुद्गल के परिणाम निमित्त हैं। इसलिए समय आदि व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है और कालाणु असंख्य इस जगत में हैं, वे द्रव्य हैं। उनमें अनन्त गुण हैं। एक गुण की एक ऐसी अनन्त पर्यायें हैं और वह द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला है। नयी अवस्थारूप उपजता है, पुरानी का व्यय होता है, स्वयं द्रव्यरूप से टिका रहता है। जीव-पुद्गल के सब परिणाम में यह निश्चय कालाणु निमित्त है। इसलिए काल के कारण जीव-पुद्गल के परिणाम होते हैं, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहारकाल का स्वभाव है।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार

यह पंचास्तिकाय का वर्णन चलता है। पाँच पदार्थ 'है' कहने से अस्ति और बहुत प्रदेशों के समूहवाले हैं, इसलिए काय, ऐसे पाँच अस्तिकाय हैं। काल भी वस्तु है, परन्तु समूह नहीं।

---

* **क्षणभंगी=प्रति क्षण नष्ट होनेवाला; प्रतिसमय जिसका ध्वंस होता है ऐसा; क्षणभंगुर; क्षणिक।**

इस प्रकार छह द्रव्यों का यह अर्थसमय है। उसे शास्त्र कहते हैं और ज्ञान जानता है। जो शास्त्र रागरहितरूप से पदार्थों को बतलावे, वह शास्त्र है। जो पदार्थ ज्ञान में ज्ञेयरूप से निमित्त है, वह अर्थसमय है और उन पदार्थों का रागरहितरूप से जानना, वह ज्ञानसमय है। आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। स्व को जानते हुए राग ज्ञात हो जाता है। ऐसे ज्ञान की रुचि करना, वह शान्ति और सुख का उपाय है।

दर्पण के सामने अनेक चीज़ें भिन्न-भिन्न आकार की और रंग की पड़ी है। दर्पण उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशित करता है। परन्तु सामने की चीज़ का आकार और रंग उसमें प्रविष्ट नहीं हो जाते। नारियल, नींबू इत्यादि चीज़ों के आकार और रंग दर्पण में प्रवेश पावें तो ये चीजें रंग और आकार बिना ही होने से नाश को प्राप्त हों। परन्तु ऐसा नहीं होता। दर्पण की स्वच्छता का परिणमन है, उसमें अनेक चीज़ें ज्ञात होती हैं। उसी प्रकार चैतन्यदर्पण स्व-परप्रकाशक स्वभाववाला है। उसमें स्व का ज्ञान होने पर परपदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा आकृति जैसी है, वैसी ज्ञात हो जाती है, तथापि परपदार्थ आत्मा में प्रविष्ट नहीं होते। दर्पण में बड़ी अग्नि दिखाई देने पर भी दर्पण गर्म नहीं होता, उसी प्रकार मैं आत्मा चिदानन्दस्वभावी हूँ, शरीर-मन-वाणी पर है, पुण्य-पाप विकार है, विकाररहित मैं शुद्ध हूँ, ऐसा स्व का ज्ञान होने से पर का ज्ञान हो जाता है। काल भी ज्ञेय है। उसकी व्याख्या करते हैं।

भावार्थ - जो क्रम से अतिसूक्ष्म प्रवर्तता है, वह व्यवहारकाल है और उस व्यवहारकाल का आधार निश्चयकाल है। काल शब्द है तो काल नाम का पदार्थ भी है। जैसे शक्कर शब्द है तो शक्कर नाम का पदार्थ भी है। सिंह शब्द है तो सिंह नाम का पदार्थ भी है। सर्वज्ञ शब्द है तो सर्वज्ञ नाम का पदार्थ भी है। शब्द के कारण पदार्थ है, ऐसा कहकर पदार्थ का पराधीनपना बतलाना नहीं है, परन्तु शब्द वाचक है और पदार्थ वाच्य है, ऐसा कहकर वाचक-वाच्य का सम्बन्ध बतलाना है। कितने ही काल को उपचार मानते हैं, यह बात मिथ्या है, इसलिए यहाँ कहा जाता है कि काल नाम का दो अक्षर का शब्द है तो काल पदार्थ भी है।

परमेश्वर शब्द है तो परमेश्वर भी हैं। चैतन्यशक्ति का जिसमें पूर्ण विकास हो

गया, उसे सर्वज्ञ अथवा परमेश्वर कहते हैं। शब्द कहते हैं, वैसा पदार्थ है और वैसा ज्ञान में आना चाहिए। सर्वज्ञदशा ज्ञानगुण की पूर्ण दशा है। यद्यपि मुझे वर्तमान में पूर्ण दशा नहीं है, तथापि जगत में पूर्ण दशा को प्राप्त सर्वज्ञ होना चाहिए। वर्तमान में मुझे अल्पज्ञता होने पर भी सर्वज्ञदशा को स्वीकार करता हूँ। उस पर्याय ने सर्वज्ञ को स्वीकार करने का जोर उठाया, वह जोर कहाँ से आया? निमित्त, राग और पर्याय के अवलम्बन से वह जोर नहीं उठता, परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा आने पर वह जोर उठता है।

अहो! वे सर्वज्ञ भगवन्त अपने त्रिकाली ज्ञानगुणवाले आत्मा के आश्रय से सर्वज्ञदशा को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी आत्मा हूँ, मेरे स्वभाव के आश्रय से अल्पज्ञता टालकर सर्वज्ञदशा को प्राप्त करूँगा। अनन्त सर्वज्ञ हुए, उनकी स्वीकृति में अपनी प्रभुता की स्वीकृति आ जाती है। उस प्रभुता की स्वीकृति सर्वज्ञ के कारण नहीं तथा शब्दों के कारण नहीं। मैं मेरी प्रभुता मेरे चैतन्य के आश्रय से स्वीकार करता हूँ, वर्तमान अल्पज्ञता और राग में अटका हूँ, वह मेरी निर्बलता है और इसलिए सर्वज्ञता व्यक्त नहीं है, परन्तु सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से वीतरागी विज्ञान होने से सर्वज्ञ हुआ जा सकता है, ऐसी प्रतीति वर्तती है। ऐसा निर्णय करनेवाले ने सर्वज्ञ शब्द जाना। शब्द ने बताया हुआ पदार्थ भी जाना और सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य है, ऐसा ज्ञान ने निर्णय भी किया, इस प्रकार शब्द, पदार्थ और ज्ञान तीनों समय जाने कहलाते हैं।

मुमुक्षु : 'खरगोश के सींग' शब्द है तो जगत में वैसा पदार्थ है?

समाधान : 'खरगोश के सींग' दो पदवाला वाक्य हो गया। अकेला शब्द कहो तो वैसा पदार्थ होना चाहिए। खरगोश शब्द है तो उस नाम का पदार्थ है और सींग शब्द है तो उस नाम का पदार्थ है। दो शब्द हैं तो दो पदार्थ अलग-अलग हैं, परन्तु दो शब्दों के वाक्य का पदार्थ होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। एक शब्द हो, वैसा पदार्थ हो सकता है और वैसा ज्ञान हो सकता है। शब्द तो शब्द के कारण से है और ज्ञान भी ज्ञान के कारण से होता है। परन्तु शब्द तथा ज्ञान को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे सर्वज्ञ शब्द से सर्वज्ञपना अपने रागरहित स्वभाव के आश्रय से निश्चित किया, उसी प्रकार काल शब्द है तो काल नाम का पदार्थ भी है और काल पदार्थ का ज्ञान रागरहित स्वभाव के आश्रय से यथार्थ किया जा सकता है। यहाँ पाँच महाव्रतधारी

महान आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि काल नाम का शब्द है तो काल नाम का पदार्थ है। सर्वज्ञ ने कहा है, शास्त्र ने कहा है तेरे ज्ञान के वेदन में युक्ति और अनुमानसहित ख्याल में आ सके, ऐसा है।

व्यवहारकाल एक समय की पर्याय है। वह निश्चयकाल की पर्याय है और पर्याय, पर्यायवान की है, तथापि दूसरे प्रकार से समझाया जाता है। यह व्यवहारकाल जीव-पुद्गलों के नये में से पुरानेरूप होने के परिणामों से उपजता है, ऐसा कहा जाता है। कोई वस्त्र नया था, वह जीर्ण हुआ। कोई बालक था, वह युवा हुआ। बाल, युवक और वृद्ध अवस्था—ऐसे अवस्था के परिणाम से काल का माप ज्ञात होता है। वास्तव में तो व्यवहारकाल की पर्याय निश्चय कालाणु द्रव्य से ही उत्पन्न होती है। परन्तु उसमें जीव-पुद्गल की जीर्ण होनेरूप अवस्था निमित्त है, इसलिए जीव-पुद्गल के परिणाम से व्यवहारकाल का माप आया है, ऐसा कहा जाता है।

इसलिए निश्चित होता है कि समय आदि व्यवहारकाल है, वह जीव-पुद्गल के परिणामों से प्रगट होता है और समयादि व्यवहारकाल है तो उसके साथ अबिनाभाव सम्बन्ध धारक निश्चय कालद्रव्य भी है। जहाँ पर्याय है, वहाँ द्रव्य होता ही है। यदि द्रव्य न हो तो पर्याय नहीं होती। पर्याय से पर्याय का अस्तित्व ख्याल में आता है। जैसे कि शक्कर का मीठा स्वाद है, वहाँ शक्कर द्रव्य है; उसी प्रकार परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मन्दगति से जाये, वहाँ एक समय का माप आ गया, पर्याय काल इतने में आ गयी, इसलिए वहाँ द्रव्यकाल भी इतने में आ गया, ऐसा साबित होता है। समयकाल अथवा व्यवहारकाल, द्रव्यकाल को अथवा निश्चयकाल को साबित करता है। निश्चय के बिना व्यवहार नहीं होता।

यह कालद्रव्य की बात चलती है। वह कालद्रव्य निश्चय से होने पर भी उसका निषेध करे तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। किसी दुकान में शक्कर की बोरी पड़ी होने पर भी दुकानदार कहे कि शक्कर की बोरी नहीं है तो उसका ज्ञान झूठा सिद्ध होता है; उसी प्रकार काल सहित जगत के पदार्थों को जैसा है, वैसा न माने और काल को उड़ावे तो उसे उड़ाने से अपने ज्ञानस्वभाव को उड़ाया है। अर्थात् कि अपना ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। वर्तमान में कोई जीव काल को नहीं मानते, कोई अनन्त कालद्रव्य मानते हैं -

दोनों झूठे हैं। एक प्रदेश में एक, ऐसे असंख्य कालाणु हैं, ऐसा वस्तुस्वरूप है। भगवान ने यह देखा है और ज्ञान-ध्यान में मस्त मुनि भी ऐसा कह रहे हैं। जो मुनि को स्वीकार करता है, उसे कालतत्त्व का स्वीकार भी होना चाहिए। जो काल को स्वीकार नहीं करता, वह एक को भी स्वीकार नहीं करता।

कोई कलाबाज चित्रकार हो, वह पर्दे के पीछे बैठी हुई महिला का चित्र उसका एक अँगूठा देखकर चित्रित कर देता है, अल्पज्ञ अज्ञानी कलाबाज भी एक अंश से पूरे शरीर का तादृश चित्र चित्रित कर देता है, उस कलाबाज की जगत को महिमा आती है, परन्तु आत्मा ज्ञान कलाबाज है। समय के माप में पूरे पर्यायवान काल को निश्चित करने की सामर्थ्यवाला है, उस अपनी कलाबाज की महिमा अज्ञानी को नहीं आती, वह राग-द्वेषादि में रुक जाता है।

यहाँ व्यवहारकाल से निश्चयकाल बतलाते हैं। पर्याय से पर्यायी का अस्तित्व निश्चित होता है। उसमें से व्यवहारकाल क्षणविनश्वर है और निश्चयकाल नित्य है। वह अपने अनन्त गुण-पर्याय से सहित है और सदा अविनाशी है। यद्यपि आत्मा की मोक्षदशा में काल निमित्त है परन्तु काल के कारण मोक्ष नहीं होता तथा आत्मा के ज्ञान में काल ज्ञेय है, इसलिए ज्ञेयरूप से भी निमित्त है। पर्याय निमित्त होती है, द्रव्य तो त्रिकाल है। इस प्रकार नित्य कालद्रव्य अविनाशी कहा। ●●

गाथा - १०१

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ।।१०१।।

काल इति च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः।
उत्पन्नप्रध्वंस्यपरो दीर्घांतरस्थायी ।।१०१।।

समयव्याख्या : नित्यक्षणिकत्वेन कालविभागख्यापनमेतत्। यो हि द्रव्यविशेषः `अयं कालः, अयं कालः' इति सदा व्यपदिश्यते स खलु स्वस्य सद्भावमावेदयन् भवति नित्यः। यस्तु पुनरुत्पन्नमात्र एव प्रध्वंस्यते स खलु तस्यैव द्रव्यविशेषस्य समयाख्यः पर्याय इति। स तूत्संगितक्षण-भंगोऽप्युपदर्शितस्वसंतानो नयबलाद्दीर्घांतरस्थाय्युपगीयमानो न दुष्यति; ततो न खल्वावलिका-पल्योपमसागरोपमादिव्यवहारो विप्रतिषिध्यते। तदत्र निश्चयकालो नित्यः द्रव्यरूपत्वात्, व्यवहारकालः क्षणिकः पर्यायरूपत्वादिति ।।१०१।।

काल संज्ञा सत प्ररूपक नित्य निश्चय काल है।
उत्पन्न-ध्वंसी सतत रह व्यवहार काल अनित्य है।।१०१।।

अन्वयार्थ :- [कालः इति च व्यपदेशः] 'काल' ऐसा व्यपदेश [सद्भावप्ररूपकः] सद्भाव का प्ररूपक है, इसलिए [नित्यः भवति] काल (निश्चयकाल) नित्य है। [उत्पन्नध्वंसी अपरः] उत्पन्नध्वंसी ऐसा जो दूसरा काल (अर्थात् उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाला जो व्यवहारकाल) वह [दीर्घांतरस्थायी] (क्षणिक होने पर भी प्रवाह अपेक्षा से) दीर्घ स्थिति का भी (कहा जाता) है।

टीका:-काल के 'नित्य' और 'क्षणिक' ऐसे दो विभागों का यह कथन है।

'यह काल है, यह काल है' ऐसा करके जिस द्रव्यविशेष का सदैव व्यपदेश (निर्देश, कथन) किया जाता है, वह (द्रव्यविशेष अर्थात् निश्चयकालरूप खास द्रव्य) सचमुच अपने सद्भाव को प्रगट करता हुआ नित्य है; और जो उत्पन्न होते ही नष्ट होता है, वह (व्यवहारकाल) सचमुच उसी द्रव्यविशेष की 'समय' नामक पर्याय है। वह क्षणभंगुर होने पर भी अपनी सन्तति को (प्रवाह को) दर्शाता है, इसलिए उसे नय के बल से 'दीर्घ काल तक टिकनेवाला' कहने में दोष नहीं है; इसलिए आवलिका, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि व्यवहार का निषेध नहीं किया जाता।

इस प्रकार यहाँ ऐसा कहा है कि-निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है, व्यवहारकाल पर्यायरूप होने से क्षणिक है।।१०१।।

गाथा - १०१ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार)

अब कालद्रव्य का स्वरूप नित्यानित्य भेद करके बतलाते हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार सिंह शब्द दो अक्षर का है, वह सिंह नामक पदार्थ को बतलाता है। जब कोई सिंह शब्द कहे, तब सिंह शब्द का ज्ञान होता है, उसी प्रकार काल शब्द कहने से काल पदार्थ जानने में आता है। शब्द के कारण ज्ञान होता है, ऐसा है ही नहीं, परन्तु वाचक-वाच्य सम्बन्ध बताकर काल को सिद्ध करते हैं। काल शब्द काल नामक निश्चयपदार्थ को बतलाता है। जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य हैं, वैसे काल भी द्रव्य है। असंख्य कालाणु हैं, इस प्रकार काल नाम का पदार्थ निश्चयनय से बताया।

व्यवहारकाल में सबसे सूक्ष्म समय है। वह एक समय की अवस्था है, वह उत्पन्न होती है और नाश पाती है तथा निश्चय कालाणु की पर्याय है। पर्याय उत्पाद-व्ययरूप सिद्धान्त में कही गयी है। उस समय की भूत, भविष्य और वर्तमानरूप परम्परा ली जाये तो आवली, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि अनेक भेदरूप होती है। इसलिए निश्चित होता है कि निश्चयकाल अविनाशी है और व्यवहारकाल विनाशी है। ●●

गाथा - १०२

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ।।१०२।।

एते कालाकाशे धर्माधर्मौ च पुद्गला जीवाः।
लभंते द्रव्यसंज्ञां कालस्य तु नास्ति कायत्वम् ।।१०२।।

समयव्याख्या : कालस्य द्रव्यास्तिकायत्वविधिप्रतिषेधविधानमेतत्। यथा खलु जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि सकलद्रव्यलक्षणसद्भावाद्द्रव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति, तथा कालोऽपि। इत्येवं षड्द्रव्याणि। किंतु यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां द्व्यादिप्रदेश-लक्षणत्वमस्ति अस्तिकायत्वं, न तथा लोकाकाशप्रदेशसंख्यानामपि कालाणूनामेक-प्रदेशत्वादस्त्यस्तिकायत्वम्। अत एव च पञ्चास्तिकायप्रकरणे न हीह मुख्यत्वेनोपन्यस्तः कालः। जीवपुद्गलपरिणामावच्छिद्यमानपर्यायत्वेन तत्परिणामान्यथानुपपत्त्यानुमीयमान-द्रव्यत्वेनात्रैवांतर्भावितः ।।१०२।।

- इति कालद्रव्यव्याख्यानं समाप्तम्।

जीव पुद्गल धर्म–अधर्म काल अर आकाश जो।
हैं 'द्रव्य संज्ञा सर्व की कायत्व है नहिं काल को।।१०२।।

अन्वयार्थ :– [एते]यह [कालाकाशे]काल, आकाश [धर्माधर्मौ]धर्म, अधर्म, [पुद्गलाः]पुद्गल [च]और [जीवाः]जीव (सब) [द्रव्यसंज्ञां लभंते]'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करते हैं; [कालस्य तु]परन्तु काल को [कायत्वम्]कायपना [न अस्ति]नहीं है।

टीका:–यह, काल को द्रव्यपने के विधान का और अस्तिकायपने के निषेध का कथन है (अर्थात् काल को द्रव्यपना है किन्तु अस्तिकायपना नहीं है, ऐसा यहाँ कहा है)।

जिस प्रकार वास्तव में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से वे 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार काल भी (उसे द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से) 'द्रव्य' संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार छह द्रव्य हैं। किन्तु जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को [१]द्वि–आदि

---

१. द्वि–आदि=दो या अधिक; दो से लेकर अनन्त तक।

प्रदेश जिसका लक्षण है, ऐसा अस्तिकायपना है, उस प्रकार कालाणुओं को-यद्यपि उनकी संख्या लोकाकाश के प्रदेशों जितनी (असंख्य) है तथापि-एकप्रदेशीपने के कारण अस्तिकायपना नहीं है। और ऐसा होने से ही (अर्थात् काल अस्तिकाय न होने से ही) यहाँ पंचास्तिकाय के प्रकरण में मुख्यरूप से काल का कथन नहीं किया गया है; (परन्तु) जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा जो ज्ञात होती है-मापी जाती है, ऐसी उसकी पर्याय होने से तथा जीव-पुद्गलों के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है, ऐसा वह द्रव्य होने से उसे यहाँ [1]अन्तर्भूत किया गया है।।१०२।।

इस प्रकार कालद्रव्य का व्याख्यान समाप्त हुआ।

गाथा - १०२ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार)

काल वस्तु है परन्तु उसे काय नहीं - अनेक प्रदेश नहीं। वह एक ही प्रदेशी है, इसलिए वह कायवान नहीं कहलाता। एक प्रदेश में पर्याय पूरी होने पर उसका माप आ जाता है, इसलिए वह एक प्रदेशी है। तथा उसमें रूक्षता-स्निग्धता भी नहीं है, जिससे एक कालाणु दूसरे कालाणु के साथ चिपक नहीं सकता। प्रत्येक कालाणु पृथक् रहता है, यह बताते हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीव (और आकाश) पाँच द्रव्यों में गुण-पर्याय है, इसलिए द्रव्य का लक्षण जैसे सत् है तथा सत् का लक्षण उत्पाद-

---

१. अन्तर्भूत करना=भीतर समा लेना; समाविष्ट करना; समावेश करना [इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक शास्त्र में काल का मुख्यरूप से वर्णन नहीं है, पाँच अस्तिकायों का मुख्यरूप से वर्णन है। वहाँ जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के परिणामों का वर्णन करते हुए, उन परिणामों द्वारा जिसके परिणाम ज्ञात होते है-मापे जाते हैं, उस पदार्थ का (काल का) तथा उन परिणामों की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है, उस पदार्थ का (काल का) गौणरूप से वर्णन करना उचित है-ऐसा मानकर यहाँ पंचास्तिकाय प्रकरण में गौणरूप से वर्णन करना उचित है-ऐसा मानकर यहाँ पंचास्तिकाय प्रकरण में गौणरूप से काल के वर्णन का समावेश किया गया है।]

व्यय-ध्रुव है, उसी प्रकार गुण-पर्यायादि लक्षण काल में है, इसलिए काल को द्रव्य कहा जाता है।

जीव, पुद्गलादि द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रुव है। ये तीनों सत् के अंश हैं। यह प्रत्येक द्रव्य के स्वभाव है। आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव आत्मद्रव्य के कारण है, पुद्गल के कारण नहीं; पुद्गल के उत्पाद-व्यय-ध्रुव पुद्गल के कारण है; आत्मा के कारण नहीं। इसी प्रकार काल में अनन्त गुण और पर्यायें हैं, वे सत् है, उनमें भी नयी अवस्थारूप से उपजना, पुरानी का टल जाना और ध्रुवरूप से टिके रहना है। ऐसे लक्षण होने से काल को भी द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार काल तथा दूसरे पाँच द्रव्यों की द्रव्यसत्ता समान है। इस अपेक्षा से सभी समान हैं।

(१) जीव नाम का पदार्थ है। सामने पुद्गल नाम का पदार्थ है। जीव में ज्ञान न हो, ऐसा कभी नहीं होता और पुद्गल में ज्ञान हो, ऐसा कभी नहीं होता। जीव शक्ति वह सर्वज्ञ है, पुद्गल अज्ञ (ज्ञानरहित है)।

(२) धर्मद्रव्य जीव-पुद्गल को गति में निमित्त होता है, सामने अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होता है।

(३) आकाश, क्षेत्र से सर्व व्यापक है - अनन्त प्रदेशी है। सामने काल एक प्रदेशी है, क्षेत्र छोटे में छोटा है।

(४) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पाँच द्रव्य अचेतन हैं और जीव एक चेतन है।

(५) जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं और पुद्गल एक मूर्तिक है।

इस प्रकार विरुद्ध लक्षणवाले द्रव्य हैं। उनमें द्वैतता रही हुई है परन्तु द्रव्य है, इस अपेक्षा से सभी समान हैं।

उनमें से धर्म, अधर्म, लोकाकाश, जीव - इन चार के असंख्य प्रदेश हैं; पुद्गल परमाणु निश्चय से एक प्रदेशी है परन्तु उसमें स्कन्धरूप होने की योग्यता है, इसलिए

संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी है, परन्तु काल तो एक ही प्रदेशी है। तथा उसमें रूक्षता-स्निग्धता नहीं है, इसलिए व्यवहार से सप्रदेशी होने की भी योग्यता नहीं है।

भावार्थ - कालाणु रत्न की राशि की भाँति पृथक् पड़े हुए हैं। कालाणु एक प्रदेशी है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं, इसलिए कालाणु द्रव्य भी असंख्य हैं और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रहता है, इसलिए काल कायवाला— अनेक प्रदेशोंवाला नहीं है। अर्थात् कि कायरहित है। इसलिए इस पंचास्तिकाय ग्रन्थ में उसका मुख्यरूप कथन नहीं किया है। इस कालद्रव्य का पाँच अस्तिकाय में गर्भित कथन आ जाता है, क्योंकि जीव-पुद्गल के परिणमन से समयादि व्यवहारकाल जानने में आता है। यदि व्यवहारकाल प्रगट जानने में आता है तो निश्चयकाल का अनुमान होता है। इस कारण से पंचास्तिकाय में जीव-पुद्गलों के परिणमन द्वारा कालद्रव्य जानने में आ सकता है, इसलिए पाँच अस्तिकाय में कालद्रव्य को गर्भित जानना।

यह कालद्रव्य का व्याख्यान पूरा हुआ। ●●

गाथा - १०३

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।।१०३।।

एवं प्रवचनसारं पञ्चास्तिकायसंग्रहं विज्ञाय।
यो मुञ्चति रागद्वेषौ स गाहते दुःखपरिमोक्षम् ।।१०३।।

समयव्याख्या : तदवबोधफलपुरस्सरः पञ्चास्तिकायव्याख्योपसंहारोऽयम्। न खलु कालकलितपञ्चास्तिकायेभ्योऽन्यत् किमपि सकलेनापि प्रवचनेन प्रतिपाद्यते। ततः प्रवचनसार एवायं पञ्चास्तिकायसंग्रहः। यो हि नामामुं समस्तवस्तुतत्त्वाभिधायिनमर्थतोऽर्थितयावबुध्यात्रैव जीवास्तिकायांतर्गतमात्मानं स्वरूपेणात्यंतविशुद्धचैतन्यस्वभावं निश्चित्य परस्परकार्यकारणीभूतानादिरागद्वेषपरिणामकर्मबंधसंततिसमारोपितस्वरूपविकारं तदात्वेऽनुभूयमानमवलोक्य तत्कालोन्मीलितविवेकज्योतिः कर्मबंधसंततिप्रवर्तिकां रागद्वेषपरिणतिमत्यस्यति, स खलु जीर्यमाणस्नेहो जघन्यस्नेहगुणाभिमुखपरमाणुवद्भाविबंधपराङ्मुखः पूर्वबंधात्प्रच्यवमानः शिखितप्तोदकदौस्थ्यन्ननुकारिणो दुःखस्य परिमोक्षं विगाहत इति ।।१०३।।

इस भाँति जिनध्वनिरूप पंचास्ति प्रयोजन जानकर।
जो जीव छोड़े राग-रुष वह छूटता भव दुःख से।।१०३।।

अन्वयार्थ :- [एवम्]इस प्रकार[प्रवचनसारं]प्रवचन के सारभूत[पंचास्तिकायसंग्रहं] 'पंचास्तिकायसंग्रह' को [विज्ञाय] जानकर [यः] जो [रागद्वेषौ] रागद्वेष को [मुंचति] छोड़ता है, [सः] वह [दुःखपरिमोक्षम् गाहते] दुःख से परिमुक्त होता है।

टीका:-यहाँ पंचास्तिकाय के अवबोध का फल कहकर पंचास्तिकाय के व्याख्यान का उपसंहार किया गया है।

वास्तव में सम्पूर्ण (द्वादशांगरूप से विस्तीर्ण) प्रवचन, कालसहित पंचास्तिकाय से अन्य कुछ भी प्रतिपादित नहीं करता; इसलिए प्रवचन का सार ही यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' है। जो पुरुष समस्त वस्तुतत्त्व का कथन करनेवाले इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' को

[१]अर्थत: [२]अर्थीरूप से जानकर, इसी में कहे हुए जीवास्तिकाय में [३]अन्तर्गत स्थित अपने को (निज आत्म को) स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला निश्चित करके [४]परस्पर कार्यकारणभूत ऐसे अनादि रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्ध की परम्परा से जिसमें [५]स्वरूपविकार [६]आरोपित है ऐसा अपने को (निज आत्मा को) उस काल अनुभव में आता देखकर, उस काल विवेकज्योति प्रगट होने से (अर्थात् अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का और विकार का भेदज्ञान उसी काल प्रगट प्रवर्तमान होने से) कर्मबन्ध की परम्परा का प्रवर्तन करनेवाली रागद्वेषपरिणति को छोड़ता है, वह पुरुष, वास्तव में जिसका [७]स्नेह जीर्ण होता जाता है ऐसा, जघन्य [८]स्नेहगुण के सन्मुख वर्तते हुए परमाणु की भाँति भावी बन्ध से पराङ्मुख वर्तता हुआ, पूर्व बन्ध से छूटता हुआ, अग्नितप्त जल की [९]दु:स्थिति समान जो दु:ख उससे परिमुक्त होता है।।१०३।।

---

१. अर्थत=अर्थानुसार; वाच्य का लक्षण करके; वाच्यसापेक्ष; यथार्थ रीति से।

२. अर्थीरूप से=गरजीरूप से; याचकरूप से; सेवकरूप से; कुछ प्राप्त करने के प्रयोजन से (अर्थात् हित प्राप्ति के हेतु से)।

३. जीवास्तिकाय में स्वयं (निज आत्मा) समा जाता है, इसलिए जैसा जीवास्तिकाय के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वैसा ही अपना स्वरूप है अर्थात् स्वयं भी स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला है।

४. रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्ध अनादि काल से एक-दूसरे को कार्यकारणरूप हैं।

५. स्वरूपविकार=स्वरूप का विकार। [स्वरूप दो प्रकार का है : (१) द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप, और (२) पर्यायार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप। जीव में जो विकार होता है, वह पर्यायार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप में होता है, द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत स्वरूप में नहीं; वह (द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत) स्वरूप तो सदैव अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यात्मक है।]

६. आरोपित=(नया अर्थात् औपाधिकरूप से) किया गया। (स्फटिकमणि में औपाधिकरूप से होनेवाली रंगित दशा की भाँति जीव में औपाधिकरूप से विकारपर्याय होती हुई कदाचित् अनुभव में आती है।)

७. स्नेह=रागादिरूप चिकनाहट।

८. स्नेह=स्पर्शगुण की पर्यायरूप चिकनाहट। (जिस प्रकार जघन्य चिकनाहट के सन्मुख वर्तता हुआ परमाणु भावी बन्ध से पराङ्मुख है, उसी प्रकार जिसके रागादि जीर्ण होते जाते हैं, ऐसा पुरुष भावी बन्ध से पराङ्मुख है।)

गाथा - १०३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १०, शनिवार)

अब पाँच अस्तिकाय के ज्ञान का फल बताते हैं।

पंचास्तिकाय के ज्ञान का फल मुक्ति है, यह बताते हैं। निकट भव्य जीव कहा है। अल्प काल में मुक्ति में जानेवाला है, वह निकट भव्य है। दूसरे की पर्याय बिगड़े या सुधरे, कोई सर्वज्ञ हो या कोई निगोद हो, परमाणु पृथक् पड़े या इकट्ठा हो तो मुझे लाभ या नुकसान नहीं है। मैं मेरे ज्ञान में स्व को जानते हुए इन सब पर को जानता हूँ। दूसरे पदार्थ मुझे सुख-दुःख का कारण नहीं है और मुझे कल्पना होती है, वह पर के कारण नहीं होती, परन्तु मेरी निर्बलता के कारण है। मैं तो राग का तथा पर का जाननेवाला हूँ, ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिवाला जीव निकट भव्य है।

वह निकट भव्य जीव दिव्यध्वनि में से आये हुए बारह अंग के रहस्य को अथवा पाँच अस्तिकाय के स्वभाव को भले प्रकार जानता है। '**भले प्रकार जानकर**' इन शब्दों पर खास वजन है। छह द्रव्य स्वतन्त्र जैसे हैं, वैसे जानता है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने से है और दूसरे द्रव्यों से नहीं है, तथा प्रत्येक का वर्तमान स्वयं से है और अन्य द्रव्य से नहीं, इस प्रकार छह द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतन्त्र है, ऐसा पृथक्-पृथक् जानना, वह प्रथम उपाय है।

मिथ्यात्वदशा में छह द्रव्यों को भिन्न-भिन्न जानता नहीं था, इसलिए मिथ्यात्वसहित राग-द्वेष की उत्पत्ति थी। अब भेदज्ञान हुआ कि अहो! छह द्रव्य स्वतन्त्र है। किसी के कारण कोई नहीं। मैं आत्मा हूँ, दूसरे जड़ से भिन्न हूँ, तथा दूसरे अनन्त आत्माओं से उससे भी पृथक् हूँ। इसलिए उस पर से मुझे लाभ नहीं तथा नुकसान नहीं। सर्वज्ञ से लाभ नहीं, दुश्मन से नुकसान नहीं। मेरी पर्याय का अंश उसमें जाता नहीं और उसका

---

९. दुःस्थिति=अशान्त स्थिति (अर्थात् तले-ऊपर होना, खद्बद् होना); अस्थिरता; खराब-बुरी स्थिति। (जिस प्रकार अग्नितप्त जल खद्बद् होता है, तले-ऊपर होता रहता है, उसी प्रकार दुःख आकुलतामय है।)

अंश मुझमें आता नहीं। प्रत्येक पदार्थ की क्रिया स्वतन्त्र हो रही है, ऐसा प्रथम पर से भेदविज्ञान करता है।

इस प्रकार भेदविज्ञान होने के पश्चात् इष्ट पदार्थों में प्रीति और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष को छोड़ता है। भेदविज्ञान हुए बिना कभी राग-द्वेष नहीं छूटते, इसलिए यहाँ कहा कि भले प्रकार से जानकर राग-द्वेष को छोड़ता है। पर से भेदविज्ञान किया। कर्म पर है, जड़ है, उन्हें मैं घात नहीं सकता तथा परपदार्थ को मैं ग्रहण या छोड़ नहीं सकता। और मुझमें जो राग-द्वेष होते हैं, वह पर के कारण नहीं होते, मेरे कारण होते हैं। परन्तु वह राग-द्वेष मेरे स्वभाव में नहीं है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव में श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करने से राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, उसे राग-द्वेष को छोड़ते हैं, ऐसा कहा जाता है। राग-द्वेष है, उन्हें किस प्रकार छोड़ना? और उत्पन्न हुए नहीं, उन्हें क्या छोड़ना? मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसे स्वभाव में स्थिर होने से राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। उसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष छोड़ता है, ऐसे उपदेश के वाक्य आते हैं।

(१) प्रथम निमित्त की रुचि छूटकर स्वभाव की रुचि होती है।

(२) पश्चात् स्वभाव में स्थिर होने पर राग-द्वेष छूट जाते हैं।

इस प्रकार वह भव्य जीव संसार के दु:खों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण ११ रविवार

यह पहला अध्याय पूरा होता है। ज्ञानसमय, अर्थसमय और शब्दसमय—ऐसे तीन प्रकार के समय की बात की थी। जगत के पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होते हैं, उसके कारण राग-द्वेष नहीं होते परन्तु वीतरागता होती है, ऐसा जो शास्त्र बतावे, उसे शास्त्र कहते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि तुझे परपदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं है। छह द्रव्य पृथक्-पृथक् हैं। पर के कारण संगपना नहीं तथा पर के कारण असंगपना भी नहीं। तुझे असंगपने का अभाव वर्तता है, इसलिए संसार है। तेरे बेभानपने के कारण संसार है और स्वभाव का

भान होने पर संसार टल जाता है और वीतरागता उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्वतन्त्रता बतलावे, वह शब्दसमय है। शास्त्र और राग के अवलम्बन बिना जो ज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञानसमय है। पाँच अस्तिकाय का स्वरूप जानने का फल वीतरागता है, वह बताते हैं।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है। आत्मा परपदार्थ से भिन्न है और पर्याय में विकार हो, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, ऐसा भान होने के पश्चात् निर्बलता के कारण अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे आत्मा में विशेष असंगपने की दृढ़ता करने से नाश को प्राप्त होते हैं और वीतरागता प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। उन सर्वज्ञदेव को दिव्यध्वनि खिरती है, वह द्वादशांग वाणी है, उसमें समय-समय में बारह अंग का रहस्य निकलता है और तद्नुसार गणधर शास्त्र की रचना करते हैं।

उस द्वादशांग वाणी के अनुसार जितने शास्त्र रचे गये, वे शास्त्र सच्चे हैं। छहों द्रव्य परिपूर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसा वे शास्त्र बतलाते हैं।

यह छह द्रव्य के स्वरूप में से एक भी वस्तु आगे-पीछे करे और एक भी पदार्थ को निकाल डाले, एक आत्मा कम कहे, पुद्गल कम कहे, धर्म, अधर्म, आकाश को निकाल डाले, काल को न माने अथवा अनन्त कालाणु माने और उसमें फेरफार करके शास्त्र रचे, वे मिथ्यादृष्टि के रचे हुए हैं, वे द्वादशांग वाणी के आधार से लिखे हुए नहीं हैं।

यह शब्दसमय अथवा शब्दश्रुत की बात चलती है। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान दो हजार वर्ष पहले हुए और अमृतचन्द्राचार्य ९०० वर्ष पहले हुए। वे कहते हैं कि '**किसी जगह कुछ भी छूट नहीं की है।**' भगवान की वाणी में जरा भी छूट नहीं रखी है। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा यहाँ कहा जाता है।

कोई **कहे** कि द्रव्य पाँच हैं; काल को उपचार मानकर छूट लें तो ?

समाधान - वह वाणी तीर्थंकर की, मुनि की या सन्तों की नहीं है परन्तु मिथ्यादृष्टि की है। यह सिद्धान्त सिद्ध किया। जिसकी परम्परा सच्ची नहीं, उसका एक अक्षर भी सच्चा नहीं।

कोई तर्क करे कि 'हम काल को नहीं मानते परन्तु अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु को तथा द्रव्य-गुण-पर्याय को मानते हैं, तो इतना तो हमारा सच्चा कहो।

उत्तर – नहीं; तेरा एक अक्षर भी सच्चा नहीं है। कालद्रव्य जो सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है, उसका तुझे स्वीकार नहीं, इसलिए तेरे अभिप्राय में एक भी द्रव्य का स्वीकार है ही नहीं। इसलिए तेरी सब बातें मिथ्या हैं।

एक भी द्रव्य कम माने या विपरीत माने, वह सब मिथ्या है और छह द्रव्यों को जैसा है, वैसा बतावे, वे सच्चे शास्त्र हैं। इस पंचास्तिकाय में भी यह निर्णय है, इसलिए यह पंचास्तिकाय प्रवचन है, वह भगवान के प्रमाण वचनों का सार है। क्योंकि इसमें छहों द्रव्यों का स्वतन्त्र प्रतिपादन किया गया है। आत्मा-आत्मारूप से है, पररूप से नहीं; पर, पररूप से है और आत्मारूप से नहीं। इस प्रकार प्रथम वाणी सिद्ध करके उसके अनुसार रचित शास्त्रों में छह द्रव्य स्वतन्त्र बताये हैं, ऐसा सिद्ध किया।

अब उन शास्त्रों में कहे गये छह द्रव्यों के स्वरूप को जानने का फल कहते हैं। समस्त पदार्थों के स्वरूप को बतलानेवाला यह ग्रन्थ पंचास्तिकाय है। जो कोई पुरुष इसे शब्द तथा अर्थ से भलीभाँति जानेगा, वह भेदविज्ञान को प्राप्त करेगा। कोई आत्मा किसी पर को लाभ-नुकसान करने को समर्थ नहीं है, काल पदार्थ है परन्तु उसके कारण दूसरे द्रव्य में परिणमन नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य अपने कारण से अपनी हद में वर्त रहा है। कर्म कर्मरूप से है, शरीर शरीररूप से है, दूसरे आत्मा दूसरे रूप से है, मैं मेरेरूप से हूँ। कोई मेरी निन्दा करे तो वे शब्द और उसका भाव मुझे अहित नहीं करता और कोई मेरे हित की भावना करे तो उससे मेरा हित नहीं होता। मेरे कारण से मेरा हित अथवा अहित है। मेरे दुःख का कारण मेरे राग-द्वेष हैं और मेरी शान्ति का कारण मैं हूँ, परपदार्थ शान्ति या दुःख के कारण नहीं है। इस प्रकार यथार्थ रीति से शास्त्र को समझना चाहिए।

कोई जीव ऐसा माने कि दूसरे निन्दा करते हैं, इसलिए मुझे खेद होता है, प्रशंसा करते हैं, इसलिए मुझे राग होता है; कर्म के कारण विकार होता है; स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लड्डू इत्यादि से सुख होता है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। प्रत्येक पदार्थ को भिन्न-भिन्न जो नहीं समझता, वह शास्त्र को, पदार्थ को या ज्ञानस्वभाव को एक को भी नहीं समझता।

तीसरी गाथा में (१) शब्दसमय (२) पदार्थसमय (३) ज्ञानसमय की बात की है। तो यहाँ योगफल लाकर रखते हैं। छह द्रव्य स्वतन्त्र बताकर वीतरागता बताते हैं, यह शब्दसमय है। वस्तु भी ऐसी ही है और ज्ञान भी ऐसा ही जानता है। **ज्ञान ने जाना कि अहो! मेरे आत्मा को किसी पर के साथ सम्बन्ध नहीं है, किसी को रोकना या उसका विकास करना, वह मेरे हाथ में नहीं है, मैं तो स्वतन्त्र हूँ। इस प्रकार तीनों का फल वीतरागता है।**

मजबूत संहनन हो तो केवल (ज्ञान) होता है, काल अच्छा हो तो धर्म होता है, कोई निन्दा करे तो द्वेष होता है, कोई प्रशंसा करे तो राग होता है—ऐसा माननेवाले को शास्त्रकार कहते हैं कि उस प्रकार की तेरी मूढ़ता पर शून्य लगा। तेरा एक अक्षर सच्चा नहीं है। तू पदार्थ को समझता नहीं, देव-गुरु-शास्त्र को समझता नहीं, तेरे आत्मा को समझता नहीं।

छहों द्रव्यों को जैसा है, वैसा जान। किसी को किसी की अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक तत्त्व पृथक् है। शरीर, मन, वाणी, बँगला, पैसा सब स्वतन्त्र है, किसी के कारण कोई नहीं है। दूसरे के कारण से स्वयं है और दूसरे से अपने को सुख है, ऐसा माने तो पर से पृथक् नहीं रहता।

मूल गाथा में '**विज्ञाय**' शब्द है, उसका अर्थ किया है कि '**भलीभाँति जानेगा**' देखो, यह मूल बात है। '**भले प्रकार जानकर**' - ऐसा कहा है। मात्र धारणा की बात नहीं है। जिसे वस्तु की रुचि हुई नहीं, उसने भले प्रकार से स्वरूप को जाना नहीं। अहो! मेरा आत्मा सुख और ज्ञानस्वरूप है। जगत के किसी साधन से शान्ति या अशान्ति नहीं है, किसी से मेरा धर्म प्रगट नहीं होता तथा लुटता नहीं, जितनी अशक्ति है, उतना अधर्म है और जितना स्वभाव प्रगट होता है, वह धर्म है। यह पंचास्तिकाय का स्वरूप जानने पर भेदविज्ञान होता है। पर के कारण विकार नहीं, विकार मेरे जीवास्तिकाय का अंश है। इस प्रकार पर से पृथक्ता का भान होने पर धर्मी विचारता है कि विकार पर्याय में है, तथापि वह शुद्ध त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। इस प्रकार भेदज्ञान करता है, उसने शास्त्र को भले प्रकार जाना कहा जाता है।

अज्ञानी जीव जगत को समझाने के लिये शास्त्र पढ़ जाता है। अकेले शास्त्र को शुभरागसहित जाने, वह पुण्यबन्ध है, वह धर्म नहीं। और किसी अस्तिकाय का कोई अंश दूसरे में मिलाकर छह द्रव्यों की पृथक्ता को जो नहीं मानता, उसे वाणी नहीं मिली, छह पदार्थों का स्वरूप नहीं मिला, और उसे सच्चा ज्ञान नहीं हुआ।

इसलिए यहाँ '**भलीभाँति**' शब्द प्रयोग किया है। भले प्रकार से जानने की बात है। अकेली धारणा की बात नहीं। धर्मी जीव स्वर्ग में हो तो भी इन्द्राणी से सुख नहीं मानता, क्योंकि वह पर है। नरक में हो तो भी अग्नि को दुःख का कारण नहीं मानता, क्योंकि वह पर है। धर्मी तिर्यंच हो तो सर्दी-धूप के कारण दुःख नहीं मानता है, क्योंकि वह सब पर है, मेरा सुख मुझमें है, ऐसा धर्मी जीव किसी भी गति में हो तो भी मानता है।

अज्ञानी जीव मानता हैं कि गर्मी के कारण आकुलता बहुत होती है। भाई! वह आकुलता करता है तो होती है। और कोई जीव शरीर को धर्म का साधन मानकर कसरत करता है और शरीर मजबूत होगा तो धर्म होगा, ऐसा मानता है। और कहते हैं कि शरीर में १०५ डिग्री बुखार आवे तो सामायिक होगी? उसे कहते हैं कि भाई! तू अज्ञानी है। बुखार शरीर को आता है, आत्मा को बुखार नहीं आता। शरीर से आत्मा भिन्न है। आत्मा के आधार से सामायिक होती है, उसका तुझे भान नहीं है।

इसलिए यहाँ प्रथम भेदज्ञान करने की बात करते हैं। धर्मी जीव छह द्रव्यों को स्वतन्त्र मानता है। विकार पर के कारण नहीं, मेरे अपराध के कारण है। परन्तु वह पर्याय में है; द्रव्य-गुण में नहीं। इस प्रकार पर से भिन्न होकर विचार करता है कि शुभाशुभभाव हेय है, और शुद्ध आत्मस्वभाव उपादेय है। चैतन्यस्वभाव निर्मल है, ऐसा जिसने दृढ़ किया है, वह जानता है कि अविद्या से उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष के परिणाम आत्मस्वरूप में विकार उपजाते हैं, परन्तु वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। यहाँ कर्म से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा नहीं कहा। अनादि अविद्या से राग-द्वेष होते हैं अर्थात् कि छह द्रव्यों से पृथक्ता की खबर नहीं, यह अनादि की अविद्या है, इसलिए विकार उत्पन्न होता है। अब भान हुआ कि मेरे कारण से हास्य, रति, अरति, यश, अयश की वृत्तियाँ

होती हैं, कर्म के कारण नहीं। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम भी चैतन्यस्वभाव की निर्मलता को मलिन करनेवाले हैं। इस प्रकार जो यथार्थ ज्ञान करता है, उसका ज्ञान सच्चा है।

ज्ञानस्वभाव में विकार नहीं, विकार मेरी जाति नहीं; विकार जड़ का है, चैतन्यस्वरूप का नहीं, ऐसा द्रव्यदृष्टि कराने को समयसार में कथन आता है।

यहाँ पंचास्तिकाय में शुभाशुभराग तेरे जीवास्तिकाय का है, पर के कारण नहीं। अपना अंश है, ऐसा ज्ञान कराकर, अब कहते हैं कि वे शुभाशुभभाव चैतन्यस्वरूप को मलिन करनेवाले हैं। ऐसा कहकर निकाल डालते हैं। प्रथम राग-द्वेष तेरे अस्तिकाय में है, ऐसा सिद्ध करने के पश्चात् निकाल दिया।

कोई कहता है, तो क्या करना? व्यवहाररत्नत्रय का साधन भी उड़ा दिया। भाई! तेरा आत्मा वास्तविक साधन है। उसे रखा है। जितना राग-द्वेष होता है, वह मलिनता करनेवाला है। वह मलिनता पर के कारण नहीं है। तेरे कारण से है, तुझे नुकसान करनेवाली है, इसलिए तू ज्ञानस्वभाव में स्थिर हो तो धर्म और शान्ति हो, ऐसा है।

और कोई कहे कि इन स्त्री, पुत्रादि का क्या करना? उनकी हमें चिन्ता होती है। भाई! वे आत्मा तो पृथक् हैं, उनके कारण चिन्ता होती है, यह मान्यता मिथ्यात्व की चिन्ता है। ज्ञानी को निर्बलता के कारण चिन्ता होती है, परन्तु पर के कारण चिन्ता नहीं मानता। पर आत्मा और परपदार्थ तो मेरा स्वरूप नहीं परन्तु मेरे कारण से मुझमें चिन्ता हो, वह भी मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो ज्ञानस्वभावी हूँ, ऐसा ज्ञानी मानता है। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान में रहकर राग को जानता है। जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, वह राग मेरे आत्मा में मलिनता करनेवाला है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा ज्ञानी जानता है। जितना व्यवहार शास्त्र में कहा है, वह सब मलिनता करनेवाला है। उससे मेरी परम ज्योति भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान करना, वह प्रथम श्रद्धा है, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

जो परपदार्थों को भी भिन्न नहीं मानता, वह जीव विकार से आत्मा भिन्न है और आत्मा विकार का टालनेवाला है, ऐसी प्रतीति कहाँ से लायेगा? 'धर्म विवैके निपजे जो

करिये तो थाय'—धर्म बाहर से नहीं आता; अन्तर में से-विवेकज्ञान से धर्म प्रगट होता है।

अब जिसे भेदज्ञान हुआ है, वह राग-द्वेष टालकर चारित्र अथवा वीतरागता प्रगट करता है, उसकी बात करते हैं। भेदविज्ञान होने के पश्चात् परम विवेक ज्योति प्रगट होती है अर्थात् अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिरता करता है। भेदविज्ञान के समय दर्शन-ज्ञान थे, अब स्वभाव में एकाग्रता बहुत जम गयी, इसलिए राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार परम विवेक ज्योति के प्रगटपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित कर दिये और वह मोक्षमार्ग है। आत्मा पर से भिन्न है, ऐसा भेदविज्ञान हुआ था परन्तु पर्याय में राग-द्वेष का दोष होता था, वह स्वभाव में एकाग्रता होने पर, वह दोष भी टला है अर्थात् कि परम विवेक ज्योति प्रगट हुई, इसलिए कर्मबन्धन को उपजानेवाली राग-द्वेष की परिणति का नाश हो जाता है। प्रथम अज्ञानदशा में राग-द्वेष होते थे, उसका कारण कर्म नहीं लिया था। वहाँ अविद्या के कारण से राग-द्वेष होते थे, ऐसा कहा परन्तु जो नये राग-द्वेष हों, उसे नये कर्मबन्धन का कारण कहा। इस प्रकार कर्मबन्धन को उपजानेवाली राग-द्वेष परिणति धर्मी जीव को स्वभाव भाव में स्थिरता करने से उत्पन्न नहीं होती, इसलिए वह नाश हो जाती है, ऐसा कथन किया जाता है। इस प्रकार आगामी बन्ध की रीति थी, वह छूट गयी और नया बन्ध होता नहीं।

यह बात दृष्टान्त से समझाते हैं। जिस प्रकार एक परमाणु एक गुण स्निग्धतावाला अथवा रूक्षतावाला हो तो दूसरे परमाणु के साथ अथवा स्कन्ध के साथ बन्धदशा को प्राप्त नहीं होता; उसी प्रकार जीव अपने में परम विवेक ज्योति प्रगट करके स्वरूप में स्थिर हो जाता है और राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करता, इसलिए अपने स्वरूप को पहिचानकर अन्दर स्थिर होना, वह क्रिया अबन्ध का कारण है, दूसरी सब क्रिया बन्ध का कारण है। यह चारित्र है। अपने आत्मा में एकाग्र होकर स्थिर हुआ, वह चारित्र है। देह की क्रिया या पंच महाव्रत, वह चारित्र नहीं। पूर्व में बाँधे हुए कर्म संयोग देकर खिर जाते हैं और फिर जीव चार गति के दुःख से निवृत्त होकर मोक्षपद को पाता है। तीर्थंकरप्रकृति, समवसरण आदि संयोग देकर छूट जाता है और भगवान मोक्ष पधारते हैं। और आदिनाथ

भगवान के बहुत साधु थे और महावीर भगवान के कम साधु थे, इसलिए उनके मोक्षपद में कुछ अन्तर पड़ता होगा? भाई! यह सब बाहर की बातें हैं। समवसरण इत्यादि सब यहाँ पड़ा रहता है। कर्म संयोग देकर खिर जाते हैं। भगवान मुक्तदशा को पाते हैं। किसी की मोक्षदशा में अन्तर नहीं है, सभी सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञान-आनन्द को अनुभव करते हैं।

इस प्रकार प्रथम भगवान की वाणी स्थापित की, उसमें से रचित शास्त्र सच्चे हैं, ऐसा कहा, उसमें बताये हुए छह द्रव्यों की पृथक्ता को जाने, मात्र धारणा नहीं, फिर विकार को मलिन जाने और भेदविज्ञान प्रगट करे, पश्चात् परम ज्योति प्रगट करके राग-द्वेष का नाश करके मोक्षपद को प्राप्त करता है। इस प्रकार पूरा मोक्षमार्ग का क्रम बतलाया है।

गाथा - १०३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १२ सोमवार)

अनादि काल से जीव राग-द्वेष से भटकता है। वह यदि भेदज्ञान करे तो धर्मदशा को प्राप्त करे। मैं आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ, परपदार्थों के साथ मुझे सम्बन्ध नहीं है तथा राग-द्वेष होता है, वह क्षणिक उपाधि है, मेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है; इस प्रकार पर से भिन्न करके आकुलतारहित मेरा स्वरूप है, ऐसा विवेक करके अपने स्वभाव में एकाग्र हो तो मोक्षदशा को प्राप्त करता है। यह दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

पानी अग्नि के निमित्त से गर्म होता है, वहाँ पानी तो अपनी योग्यता से गर्म होता है। (यदि) अग्नि के कारण गर्म होता हो तो वहाँ रहे हुए धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी गर्म होना चाहिए, परन्तु उनकी योग्यता उष्ण होने की नहीं है, इसलिए वे उष्ण नहीं होते। तो अग्नि उन्हें निमित्त भी नहीं होती। पानी अपनी योग्यता से उष्ण होता है तो अग्नि के सम्बन्ध से उष्ण हुआ, ऐसा कहा जाता है। वह पानी अपनी योग्यता के काल में उष्णपना छोड़कर शीतल स्वभाव को प्राप्त होता है। पानी का स्वभाव ठण्डा शीतल है, यह ज्ञान निर्णय करता है। गर्म पानी में हाथ डालने से ठण्डा मालूम नहीं पड़ता, इसी प्रकार आँख, कान, नाक और जीभ द्वारा भी उसका शीतल स्वभाव ज्ञात नहीं होगा अथवा कोई जीव बहुत आकुलता करे और मन के निमित्त से संकल्प-विकल्प बहुत

करे तो भी शीतल स्वभाव ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। परन्तु ज्ञान निर्णय करता है कि पानी का स्वभाव शीतल है। इस दृष्टान्तानुसार भगवत् वचन को अंगीकार करके ज्ञानी जीव कर्म विकार के आताप को नष्ट करके शान्तरस गर्भित सुख को प्राप्त करता है। यहाँ अर्थसमय किसे कहना, यह भी आ जाता है।

भगवान के वचन कहते हैं कि तू त्रिकाली शुद्ध है, परपदार्थ ने विकार नहीं कराया है तथा स्वभाव में विकार नहीं है परन्तु शान्ति और सुख है। इस प्रकार शब्दसमय ने कहा और ज्ञानसमय भी ऐसा ही निर्णय करता है। सन्त अन्तर्मुख दृष्टि करके, आताप नाश करके शीतलता को प्राप्त हुए हैं तथा मैं भी अन्तर्ध्यान करके आताप नाश करूँगा और अनाकुल शान्तरस को प्राप्त करूँगा। मुझे बाहर के साथ कुछ लेना-देना नहीं है। कोई शत्रु आवे तो मेरी पर्याय को बिगाड़ नहीं देता और चौथा काल हो और समवसरण में जीव बैठा हो तो भी अपने स्वभाव के अवलम्बन बिना आताप टले, ऐसा नहीं है।

भगवान किस मार्ग से हुए? आत्मा में से हुए या बाहर में से हुए? जैसे पानी की शीतलता उसके स्वभाव में से आती है, उसी प्रकार शीतल शान्त स्वभाव में से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। जीव लाखों मन्दिर बनावे या महाविदेह में जाये तो भी धर्म का साधन तो अपना स्वभाव है। जैसे पानी का स्वभाव ज्ञान से निर्णीत होता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान से निश्चित होता है। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् जीव अन्तर में स्थिर होता है। यहाँ चारित्र की बात है। बाहर में रोगादि की प्रतिकूलता से अन्दर में प्रतिकूलता नहीं आती तथा अन्तर की अनुकूलता से बाहर में अनुकूलता या प्रतिकूलता नहीं आती। इस प्रकार अपने शान्तस्वभाव को जानकर स्थिर होता है, वह आताप का नाश करके आत्मिक शान्तरस गर्भित सुख को पाता है। बाहर के संयोग जैसे हैं, वैसे रहने दे, हजारों तीर्थंकर हों, केवली हों, तो भी तेरी परिणति में विभाव कम करना और स्वभाव में ज्वार लेना, वह तेरे आधीन है, भगवान के आधीन नहीं। इस प्रकार अपने स्वभाव को समझकर स्थिर होता है, वह मुक्ति को पाता है। ●●

गाथा - १०४

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरापरो जीवो ।।१०४।।

ज्ञात्वैतदर्थं तदनुगमनोद्यतो निहतमोहः।
प्रशमितरागद्वेषो भवति हतपरापरो जीवः।।१०४।।

समयव्याख्या : दुःखविमोक्षकरणक्रमाख्यानमेतत्। एतस्य शास्त्रस्यार्थभूतं शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानं कश्चिज्जीवस्तावज्जीनीते। ततस्तमेवानुगंतुमुद्यमते। ततोऽस्य क्षीयते दृष्टिमोहः। ततः स्वरूपपरिचयादुन्मज्जति ज्ञानज्योतिः। ततो रागद्वेषौ प्रशाम्यतः। ततः उत्तरः पूर्वश्च बंधो विनश्यति। ततः पुनर्बंधहेतुत्वाभावात् स्वरूपस्थो नित्यं प्रतपतीति ।।१०४।।

इति समयव्याख्यायामंतर्नीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायवर्णनः प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः ।।१।

इस शास्त्र के सारांश रूप शुद्धात्मा को जानकर।
उसका करे जो अनुसरण, वह शीघ्र मुक्ति वधु वरै।।१०४।।

अन्वयार्थ :- [जीवः] जीव [एतद् अर्थं ज्ञात्वा] इस अर्थ को जानकर (-इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्धात्मा को जानकर), [तदनुगमनोद्यतः] उसके अनुसरण का उद्यम करता हुआ [निहतमोहः] हतमोह होकर (-जिसे दर्शनमोह का क्षय हुआ हो, ऐसा होकर), [प्रशमितरागद्वेषः] रागद्वेष को प्रशमित (निवृत्त) करके, [हतपरापरः भवति] उत्तर और पूर्व बन्ध का जिसे नाश हुआ है, ऐसा होता है।

टीका:-इस दुःख से विमुक्त होने के क्रम का कथन है।

प्रथम, कोई जीव इस शास्त्र के अर्थभूत शुद्धचैतन्यस्वभाववाले (निज) आत्मा को जानता है; इसलिए (फिर) उसी के अनुसरण का उद्यम करता है; इसलिए उसे दृष्टिमोह का क्षय होता है; इसलिए स्वरूप के परिचय के कारण ज्ञानज्योति प्रगट होती है; इसलिए रागद्वेष प्रशमित होते हैं-निवृत्त होते हैं; इसलिए उत्तर और पूर्व (-पीछे का और पहले का) बन्ध विनष्ट होता है; इसलिए पुनः बन्ध होने के हेतुत्व का अभाव होने से

स्वरूपस्थरूप से सदैव तपता है–प्रतापवन्त वर्तता है (अर्थात् वह जीव सदैव स्वरूपस्थित रहकर परमानन्द ज्ञानादिरूप परिणमित है)।।१०४।।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) समयव्याख्या नामक टीका में षड्द्रव्यपंचास्तिकाय वर्णन नाम का प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

गाथा - १०४ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १२ सोमवार)

अब दु:खों का नाश करने का क्रम बताते हैं। अथवा किस क्रम से जीव संसाररहित होकर मुक्त होता है, यह बताते हैं।

जो पुरुष इस ग्रन्थ का रहस्य जो शुद्धात्मपदार्थ है, उसे जानकर उसमें प्रवीण होने का उद्यमी होता है, वह भेदविज्ञानी जीव मोक्षपद का अनुभवी होता है। कैसा है वह जीव? कि जिसने दर्शनमोह का नाश किया है, राग-द्वेष जिसमें शान्त हो गये हैं और जिसने पूर्वापर बन्ध का नाश किया है।

यह पंचास्तिकाय ग्रन्थ है, उसका रहस्य ऐसा है कि पाँच अस्तिकाय और काल जैसा है, वैसा जानना और उसका फल वीतरागता है।

छह द्रव्यों में से किसी का अभाव वर्तता है, ऐसा नहीं है। और यह द्रव्य ऐसा कैसे परिणमित हुआ, यह भी सवाल नहीं है और यह द्रव्य दूसरे के कारण परिणमा, ऐसा भी नहीं है। सब सबके कारण से है। ऐसा हैपना निश्चित करे तो शुद्ध आत्मा की ओर झुकाव होता है।

सभी पदार्थ हैं—ऐसा कहो, महासत्ता है, अवान्तरसत्ता है—ऐसा कहो, शुद्ध द्रव्यदृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, मोक्षमार्ग कहो, पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि करना कहो, इन सबका फल वीतरागता है। अवान्तरसत्ता में से निश्चित करो कि यह पर्याय है, यह गुण है, यह द्रव्य है। ऐसा है रूप से निर्णय करे तो पर्याय क्षणिक है और द्रव्य त्रिकाल है, ऐसा निर्णय करने से द्रव्य की ओर वजन गये बिना नहीं रहता। विकार है, पर्याय में अपूर्णता है, द्रव्य पूर्ण शुद्ध है - सब है, ऐसा स्वीकार

करनेवाले का वजन विकारी पर्याय पर नहीं जाता परन्तु शुद्ध आत्मा पर वजन जाता है और मैं हूँ, ऐसा निर्णय करने से अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख का भरा हुआ हूँ, ऐसा निर्णय होता है। इस प्रकार धर्मी जीव पर को जानता है, राग को जानता है, राग को त्रिकाल में खतौनी नहीं करता, पर को अपने में खतौनी नहीं करता, अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, उसने पंचास्तिकाय का रहस्य जाना है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मपदार्थ को जानकर, वह जीव आत्मपदार्थ में प्रवीण होने का उद्यमी होता है। इसमें बहुत न्याय आ जाते हैं। देव-गुरु-शास्त्र तीनों ऐसा कहते हैं कि तू तेरे शुद्ध आत्मा की ओर झुकाव कर। शास्त्र ऐसा नहीं कहते कि तू राग का प्रयत्न कर। गुरु ऐसा नहीं कहते कि हम हैं तो तेरा कल्याण होगा। ऐसा यदि कोई गुरु कहे और बहिर्मुखता बतावे तो वह गुरु नहीं है। देव भी राग करने का नहीं कहते। प्रथम श्रवण के समय विकल्प था, तब सुदेवादि का निमित्त था और कुदेवादि का निमित्त छूट गया। विकल्प पहले होता है, इसलिए व्यवहार पहले और निश्चय बाद में, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। परन्तु अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करे तो पूर्व के विकल्प को व्यवहार कहा जाता है, नहीं तो उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता।

और कोई कहता है कि क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से प्रमाद होगा तो ? ऐसा प्रश्न करनेवाला क्रमबद्धपर्याय को नहीं समझता। जिस समय जैसा होना है, वैसा होना है, वैसा यथार्थ समझनेवाले को अन्तर्मुख प्रवीणता हुए बिना नहीं रहती। उसे प्रमाद नहीं रहता। अज्ञानी का प्रश्न है कि 'वस्तु स्वभाव की दृष्टि होने पर दोष हो तो ?' 'जैसा होनेवाला है, वैसा होगा—ऐसा माननेवाले को व्यवहार नहीं सम्हले तो ?' यह प्रश्न पूछनेवाला वस्तुस्वभाव को समझा नहीं है। स्वभाव के अन्तर्मुख आश्रय बिना यथार्थ जानपना नहीं होता। जो पदार्थ जैसे हैं, वैसे समझने के स्वभाव का प्रयत्न होता है। **साधक को निर्बलता का राग है, वह राग की भूमिका में आता है, इसलिए व्यवहार रहेगा नहीं, यह बात नहीं रहती।** धर्मी जीव पदार्थ में प्रवीण है और जितना राग है, वह जानने के लिये है, परन्तु कोई व्यवहार की पकड़ करके कहे कि मोक्षमार्ग में बीच में व्यवहार आयेगा, उलझन में आना नहीं, व्यवहार आये बिना रहेगा नहीं - ऐसा कोई कहे तो उसका वजन व्यवहार के ऊपर है, उसे व्यवहार का अवलम्बन है। उसे व्यवहार को

अनुसरकर रहना है, परन्तु शुद्ध आत्मा को अनुसरकर रहना नहीं है।

यहाँ पाठ है कि 'तद्नुगमनोद्यतः'—'यह आत्मपदार्थ में प्रवीण होने का उद्यमी होता है। राग और व्यवहार का उद्यमी कहा नहीं, परन्तु शुद्ध आत्मपदार्थ को अनुसरने का उद्यम कहा है। ऐसा जिस धर्मी जीव को भेदविज्ञान वर्तता है, उसकी भ्रान्ति का नाश हो जाता है। मेरा क्या होगा, और कैसे होगा, यह बात नहीं रहती। जड़कर्म का नाश तो कोई जीव कर नहीं सकता और मिथ्याभ्रान्ति का नाश भी कोई नहीं कर सकता। स्वभाव-सन्मुख का पुरुषार्थ होने पर भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती। उसने दर्शनमोह का नाश किया, ऐसा कहा जाता है। यह एक ही उपाय है, दूसरा उपाय नहीं है।

अब वह जीव चारित्र प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त करता है, यह बताते हैं। उसी स्वभाव के अवलम्बन से शान्ति प्रगट होती है। इतने व्रत, तप करे तो शान्ति होती है-ऐसा है ही नहीं। उसी प्रकार निमित्त, बाह्यक्षेत्र और पर के अवलम्बन से शान्ति नहीं है। ऐसा निर्णय तो किया था, परन्तु धर्मीजीव स्वभाव में विशेष स्थिरता करता है, वह चारित्र है। और कोई कहता है कि 'शास्त्र सुननेवाले बहुत हों तो सन्तोष और शान्ति आवे, अकेले हों तो शान्ति कहाँ से आवे? ऐसा अज्ञानी जीव पर के आश्रय से शान्ति मान बैठा है। भाई! पर का आश्रय लेने में आकुलता है, अकेले स्वभाव के आश्रय से शान्ति है, इस प्रकार भेदविज्ञानी जीव अपने स्वभाव का आश्रय पूरा-पूरा लेता है, इसलिए अस्थिरता टल जाती है, पूर्ण बन्ध नाश पाता है और मोक्षदशा को पाता है।

भावार्थ :- संसारी जीव अनादि अविद्या के कारण से भटकता है। किसी कर्म के कारण से भटकता है, ऐसा नहीं कहा, परन्तु विद्यमान स्वभाव की अरुचि और विकारादि तथा संयोग या जो क्षणिक है—अविद्यमान है, उनकी रुचि, वह अविद्या है। ऐसी अविद्या के कारण से पुण्य-पाप के भावों को अपना स्वभाव मानता है। इस प्रकार अज्ञानी होकर जीव राग-द्वेषरूप परिणमता है। परन्तु जब स्वपुरुषार्थ करके सर्वज्ञ वीतराग के वचनों को अवधारण करता है, तब उसका मिथ्यात्व नाश पाता है।

भगवान के वचन सुनकर वह जीव जागृत होता है कि अहो! सभी पदार्थ व्यवस्थित हैं, नियमबद्ध हैं, कोई किसी को राग-द्वेष नहीं कराता। स्वयं भूल करता है तो राग-द्वेष होते हैं, और उस स्वभाव के आश्रय से भूल टलती है। अपने ज्ञानस्वभाव

में से ज्ञान और वीतरागता प्रगट होती है। प्राप्त की प्राप्ति है। ऐसे भगवान के वचन रुचे हैं, उसे संसार में से छूटने का अवसर आया है। इस प्रकार पुरुषार्थ करके जो जीव अपने स्वभाव की रुचि करता है, उसकी काललब्धि पक गयी है। ज्ञानस्वभाव जाना, वह स्वभाव है। स्वभावसन्मुख जिस काल में ढाल, वह काललब्धि है और स्वभावसन्मुख ढलने पर कर्म का अभाव होने लगा—इस प्रकार पाँच समवाय एक साथ आ मिलते हैं। उसने वीतराग के वचनों को अवधारण किया है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है और भेदज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानरूप प्रगट होती है।

जिस जीव ने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं किया, उसने स्वभाव को जाना नहीं, उसे कर्म का अभाव नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानी एक भी समवाय को नहीं जानता।

धर्मी जीव विचार करता है कि अहो! सर्वज्ञ भगवान को अनन्त शक्ति खिल गयी है, वह किसी का कुछ भी नहीं कर सकते। तो फिर मैं अल्पज्ञ पर का क्या करूँ? कोई किसी का करने के लिये समर्थ नहीं है। अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा में से ज्ञान प्रगट करता है, वीतराग स्वभावी आत्मा में से वीतरागता प्रगट करता है, अपने वीर्यवान आत्मा में से वीर्य प्रगट होता है। ऐसा निर्णय करनेवाले धर्मी जीव को काललब्धि पक गयी है। मात्र धारणा की बात नहीं परन्तु अन्तर्मुख अवलम्बन की बात है। उसे शंका नहीं रहती। ऐसा भान होने के पश्चात् चारित्रमोह नाश पाता है, यह समझे बिना व्रत, तप करने लगे और उससे चारित्र प्रगट हो जाये, ऐसा नहीं होता। शरीरादि पर हैं, पुण्य-पाप रहित मेरे समस्वभावी चैतन्यसूर्य में से वीतरागता प्रगट होती है। ऐसे भानवाले जीव को चारित्र प्रगट होता है। भेदविज्ञान होने के पश्चात् अस्थिरता के संकल्प-विकल्प होते हैं, परन्तु बाहर में यश के ढ़ेर हों तो इससे मुझे शान्ति नहीं, अपयश के ढ़ेर हों तो इससे मुझे शान्ति नहीं, मेरे स्वभाव के अवलम्बन से ही शान्ति है। ऐसी विशेष दृढ़ता लाकर स्वभाव में लीन होता जाता है।

कोई कहे कि तुम्हारे प्रभावना के शुभराग से बहुत प्रभावना होगी। इसलिए वह राग करना चाहिए। धर्मी जीव समझता है कि शुभराग से परजीवों को लाभ नहीं तथा मुझे भी लाभ नहीं। मैं बाहर में रुकता हूँ, उतना अटकता हूँ। मेरी प्रभावना बाहर में नहीं है; मैं अन्तर में एकाग्र होऊँ, वह मेरी प्रभावना है। इस प्रकार सर्वथा संकल्प-विकल्पों

का अभाव करता है, तब स्वरूप में लीन होता है, आगामी बन्ध नहीं होता, पूर्व के कर्म संयोग देकर छूट जाते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती इत्यादि जिसे जिस प्रकार के पुण्य के निमित्त से संयोग मिलनेवाले हों, वे मिल जाते हैं और कर्म छूट जाते हैं, तब वे जीव निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त करके मुक्तदशा को प्राप्त करते हैं और अनन्त काल तक स्वरूप में गुप्त रहकर अनन्त सुख को भोगते हैं। साधकदशा में अल्प राग था, वह टल गया और वीतराग-सर्वज्ञदशा प्राप्त कर अनन्त सुख को भोगते हैं।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १३, मंगलवार

प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। उसमें छह द्रव्य स्वतन्त्र बतलाये। अब नौ पदार्थ का भेद से कथन करते हैं। उसमें प्रथम भगवान की स्तुति करते हैं। क्योंकि जिसका वचन प्रमाण है, वह पुरुष प्रमाण है। और पुरुष प्रमाण से वचन की प्रमाणता है। यह केवली भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं, उनके वचन मान्य हो सकते हैं। वीतराग सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य के वचन सच्चे नहीं हैं। कितने ही जीव भगवान के नाम से शास्त्र लिखते हैं। पुस्तक का नाम 'वीरदेशना' रखा हो और अन्दर गप्प मारी हो, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। भगवान के वचन प्रमाण है, इसलिए कुन्दकुन्द आचार्य महाराज भगवान की स्तुति करते हैं। ●●

— २ —

नौ पदार्थपूर्वक

मोक्षमार्ग प्रपंच वर्णन

गाथा - १०५

(प्रथम, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव पहले श्रुतस्कन्ध में क्या कहा गया है और दूसरे श्रुतस्कन्ध में क्या कहा जाएगा, वह श्लोक द्वारा अति संक्षेप में दर्शाते हैं –)

द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन
शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम्।
पदार्थभङ्गेन कृतावतारं
प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्म तस्य।

श्लोकार्थ :– यहाँ (इस शास्त्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में) द्रव्यस्वरूप के प्रतिपादन द्वारा बुद्ध पुरुषों को (बुद्धिमान जीवों को) शुद्ध तत्त्व (शुद्धात्मतत्त्व) का उपदेश दिया गया। अब पदार्थ भेद द्वारा उपोद्घात करके (–नव पदार्थरूप भेद द्वारा प्रारम्भ करके) उसके मार्ग का (–शुद्धात्मतत्त्व के मार्ग का अर्थात् उसके मोक्ष के मार्ग का) वर्णन किया जाता है।।७।।

(अब इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित गाथासूत्र का प्रारम्भ किया जाता है–)

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ।।१०५।।

अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरम्।
तेषां पदार्थभङ्ग मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ।।१०५।।

समयव्याख्या : आप्तस्तुतिपुरस्सरा प्रतिज्ञेयम्। अमुना हि प्रवर्तमानमहाधर्मतीर्थस्य मूलकर्तृत्वेनापुनर्भवकारणस्य भगवतः परमभट्टारकमहादेवाधिदेवश्रीवर्द्धमानस्वामिनः सिद्धिनिबंधनभूतां भावस्तुतिमासूत्र्य, कालकलितपञ्चास्तिकायानां पदार्थविकल्पो मोक्षस्य मार्गश्च वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञात इति ।।१०५।।

मुक्तिपद के हेतु से शिरसा नमू महावीर को।
पदार्थ के व्याख्यान से प्रस्तुत करूँ शिवमार्ग को।।१०५।।

अन्वयार्थ :-[अपुनर्भवकारणं]अपुनर्भव के कारण[महावीरम्]श्री महावीर को [शिरसा अभिवंद्य] शिरसा वन्दन करके, [तेषां पदार्थभंगं] उनका पदार्थभेद (-काल सहित पंचास्तिकाय का नव पदार्थरूप भेद) तथा [मोक्षस्य मार्गं] मोक्ष का मार्ग [वक्ष्यामि] कहूँगा।

टीका:-यह आप्त की स्तुतिपूर्वक प्रतिज्ञा है।

प्रवर्तमान महाधर्मतीर्थ के मूल कर्तारूप से जो *अपुनर्भव के कारण हैं ऐसे भगवान, परम भट्टारक, महादेवाधिदेव श्री वर्धमानस्वामी की, सिद्धत्व के निमित्तभूत भावस्तुति करके, कालसहित पंचास्तिकाय का पदार्थभेद (अर्थात् छह द्रव्यों का नव पदार्थरूप भेद) तथा मोक्ष का मार्ग कहने की इन गाथासूत्र में प्रतिज्ञा की गई है।।१०५।।

गाथा - १०५ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १३, मंगलवार)

प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। उसमें छह द्रव्य स्वतन्त्र बतलाये। अब इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नौ पदार्थ का भेद से कथन करते हैं।

मैं, कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष के कारणभूत वर्धमान तीर्थंकर भगवान को मस्तक द्वारा नमस्कार करके मोक्ष के कारणस्वरूप इन छह द्रव्यों के नौ पदार्थरूप भेद को कहूँगा।

---

* **अपुनर्भव=मोक्ष। (परम पूज्य भगवान श्री वर्धमानस्वामी, वर्तमान में प्रवर्तित जो रत्नत्रयात्मक महाधर्मतीर्थ उसके मूल प्रतिपादक होने से, मोक्षसुखरूपी सुधारस के पिपासु भव्यों को मोक्ष के निमित्तभूत हैं।)**

यहाँ निमित्तकारण की व्याख्या की है। भव के अभाव का कारण तो अपना स्वभाव है। ऐसी जिसे रुचि हुई है, उसे भगवान निमित्त है, इसलिए उनकी स्तुति करते हैं। जिसे भव की रुचि है, उसे सर्वज्ञ की रुचि नहीं। और सर्वज्ञ की रुचि है, उसे भव की रुचि नहीं। चाहे जो भव हों। सर्वार्थसिद्धि का भव हो या तीर्थंकर का भव हो। किसी भी भव की रुचि धर्मी को नहीं होती। जिस भाव से भव मिले, वह भाव आकुलता है। भवजन्य दुःख है, ऐसी आकुलतारहित अकेला ज्ञायकस्वभाव जिन्हें रह गया, और जो पूर्ण दशा प्राप्त हुए और जिनके ज्ञान में तीन लोक ज्ञात हुए, ऐसे सर्वज्ञदेव अपुनर्भव का कारण है। मोक्ष का कारण तो आत्मा है, परन्तु भगवान को उसमें निमित्त कारण कहा है।

जो कोई ऐसा कहता है कि यहाँ से छूटकर महाविदेह में जाया जायेगा और देव में जाया जायेगा, और वहाँ से भगवान की वाणी सुनने जायेंगे और वहाँ धर्म होगा।—वह जीव वीतरागदेव, शास्त्र और धर्म को नहीं मानता है। क्योंकि उसे अभी भव की रुचि रही हुई है। और कोई कहे कि मुझे भले एकाध भव हो, परन्तु जगत का कल्याण होता हो तो कर देना।—ऐसा माननेवाले जीव को भी भव की रुचि है। भवरहित स्वभाव की रुचि नहीं है, इसलिए उसे भगवान की वाणी की भी रुचि नहीं है। धर्मी जीव को शुभराग आता है, परन्तु वह समझता है कि मेरे स्वभाव का स्वाद मुझमें है, श्रवण कराने का विकल्प उठा है, वह मेरे कारण से है, उस विकल्प से दूसरे को लाभ नहीं तथा अपने को लाभ नहीं। अपने को अपने स्वभाव से लाभ है, ऐसा जो निश्चित करता है, उसे भगवान धर्म में निमित्त है।

जो जीव राग से लाभ मानकर राग में रुका है, अपना कल्याण पर के कारण अटका हुआ मानता है, निमित्त को तथा राग को साधन मानकर अटका है, वह भगवान को निमित्त नहीं बना सकता। अज्ञानी परजीव की दया और सेवा में धर्म मानकर अटक जाता है। पर के लिये सेवा करता हूँ, ऐसा मानता है, परन्तु वह सब अभिमान है।

मेरा स्वभाव भवरहित है, ऐसा भगवान ने कहा है। भगवान कोई भव का स्थापन नहीं करते, परन्तु शुद्धस्वभाव का स्थापन करते हैं। यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य भगवान को

विकल्प उठा है, इसलिए कहते हैं कि हे नाथ! संसार के अभाव-स्वभावरूपी पर्याय प्रगट होने का कारण तो हम हैं। परन्तु उसमें आप निमित्त हो, इसलिए आपको वन्दन करता हूँ। जो भव का अभाव बतावे और स्वभाव का माहात्म्य बतावे और उसमें लीनता करने का उपदेश करे, वे वन्दनीय हैं।

जो कोई भव के कारणरूप रागादि को अनुमोदन दे, उसे वन्दन करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु-शास्त्र के राग को भी आदरणीय माने, वह मिथ्यादृष्टि है। और स्वर्ग में जाने से अथवा महाविदेह में जाने से लाभ होगा, ऐसा कहे परन्तु वस्तुस्वभाव से लाभ होगा, ऐसा न कहे तो वह वन्दनीय नहीं है। लुटेरे को मदद करनेवाला जिस प्रकार गुनहगार गिना जाता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध कहनेवाले को पुष्टि देना, वह लुटेरे को मदद देने के समान है।

हे नाथ! आपकी वाणी और आपके शास्त्र तो प्रत्येक द्रव्य की पृथक्ता बतलाते हैं। साधकदशा में राग आता है, परन्तु मैं उसका अनुमोदन नहीं करता। समय-समय में जीव में नयी-नयी पर्याय का उत्पाद होता है। यदि उस पर्याय का लक्ष्य बाहर में जाता है तो संसार है और अन्तरस्वभाव का झुकाव करे तो मोक्षमार्ग है।

शरीर, मन, वाणी इत्यादि पर की रुचि करके जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसने मोक्षमार्ग में शील लगायी है और जो पर की तथा राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करके जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसने मोक्षमार्ग को खोल दिया है और जितनी शुद्धता प्रगट हुई, वह द्रव्य के साथ अभेद होती है, परन्तु जितना राग रहा है, वह शरणभूत नहीं है, ऐसा धर्मी मानता है।

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य महाराज को शुभविकल्प उठा है, तथापि कहते हैं कि मेरा कर्तव्य तो शुद्धस्वभाव सन्मुख ढलना, वही है। अपुनर्भव का कारण आत्मा है, उस पर वजन है, इसलिए अपुनर्भव (मोक्ष) होगा ही, परन्तु अभी राग रहा है और विकल्प उठा है, इसलिए वन्दन करता हूँ परन्तु उस पर वजन नहीं है। वजन तो अपुनर्भव के कारण (रूप) शुद्धस्वभाव पर है। भगवान की स्तुति के समय भगवान के प्रति राग होने पर भी हम आपको विकल्प में निमित्त नहीं कहते। हम आपको ज्ञायकस्वभाव में

निमित्त कहते हैं। इस प्रकार अपुनर्भव का कारण अपना आत्मा है और उसमें निमित्त महावीर भगवान हैं, ऐसा कहकर निश्चय-व्यवहार दोनों बतलाते हैं।

इस प्रकार मोक्ष के कारणभूत वर्धमान तीर्थंकर भगवान को मस्तक से नमस्कार करके मोक्षमार्ग अथवा उसके कारणस्वरूप छह द्रव्यों के नौ पदार्थरूप भेदों को कहूँगा, ऐसा आचार्य कहते हैं। मोक्षमार्ग कहाँ चलता होगा? आत्मा का मोक्षमार्ग अन्तर्दिशा में है। स्वरूप में अन्तर्मुख एकाग्र होना, वह मोक्षमार्ग है। उस मोक्षमार्ग के कारणस्वरूप छह द्रव्य हैं, जो भगवान की वाणी में आये हैं, तत्प्रमाण ही है। इन छह के भेद करके नौ की व्याख्या कहूँगा।

भावार्थ - वर्तमान पंचम काल है, उसमें धर्मतीर्थ के कर्ता भगवान परम भट्टारक देवादिदेव श्री वर्धमानस्वामी हैं। जिन पात्र जीवों ने अपने स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके अपने में धर्मतीर्थ प्रगट किया, ऐसे जीवों को धर्म प्रगट करने में, भगवान निमित्त थे, इसलिए भगवान धर्मतीर्थ के कर्ता कहलाते हैं।

और भगवान देव के देव हैं। गणधरदेव के देव हैं, चक्रवर्ती के देव, देवादिदेव हैं। उनकी स्तुति करता हूँ - ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वास्तव में तो अन्तर में एकाग्रता होती है, वह भावस्तुति है और विकल्प उठा है, वह द्रव्यस्तुति है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने महावीर भगवान की स्तुति करके मोक्षमार्ग को बतलानेवाले छह द्रव्यों के भेदरूप नौ तत्त्व कहने की प्रतिज्ञा की है। ●●

गाथा - १०६

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं।।१०६।।
सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रं रागद्वेषपरिहीणम्।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनाम्।।१०६।।

समयव्याख्या : मोक्षमार्गस्यैव तावत्सूचनेयम्। सम्यक्त्वज्ञानयुक्तमेव नासम्यक्त्वज्ञानयुक्तं, चारित्रमेव नाचारित्रं, रागद्वेषपरिहीणमेव न रागद्वेषापरिहीणम्, मोक्षस्यैव न भावतो बंधस्य, मार्ग एव नामार्गः, भव्यानामेव नाभव्यानां, लब्धबुद्धीनामेव नालब्धबुद्धीनां, क्षीणकषायत्वे भवत्येव न कषायसहितत्वे भवतीत्यष्टधा नियमोऽत्र द्रष्टव्यः ।।१०६।।

सम्यक्त्व ज्ञान समेत चारित राग-द्वेष विहीन जो।
मुक्ति का मारग कहा भवि जीव हित जिनदेव ने।।१०६।।

अन्वयार्थ :— [सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं] सम्यक्त्व और ज्ञान से संयुक्त ऐसा [चारित्रं] चारित्र— [रागद्वेषपरिहीणम्] कि जो रागद्वेष से रहित हो वह, [लब्धबुद्धीनाम्] लब्धबुद्धि [भव्यानां] भव्य जीवों को [मोक्षस्य मार्गः] मोक्ष का मार्ग [भवति] होता है।

टीका :— प्रथम, मोक्षमार्ग की ही यह सूचना है।

सम्यक्त्व और ज्ञान से ही युक्त—न कि असम्यक्त्व और अज्ञान से युक्त, चारित्र ही —न कि अचारित्र, रागद्वेषरहित हो ऐसा ही (चारित्र)—न कि रागद्वेषसहित हो ऐसा, मोक्ष का ही—[१]भावतः न कि बन्ध का, मार्ग ही—न कि अमार्ग, भव्यों को ही—न कि अभव्यों को, [२]लब्धबुद्धियों को ही—न कि अलब्धबुद्धियों को, [३]क्षीणकषायपने में ही होता है—न कि कषायसहितपने में होता है। इस प्रकार आठ

---

१. भावतः= भाव अनुसार; आशय अनुसार। ('मोक्ष का' कहते ही 'बन्ध का' ऐसा भाव अर्थात् आशय स्पष्ट समझ में आता है।)
२. लब्धबुद्धि=जिन्होंने बुद्धि प्राप्त की हो ऐसे।
३. क्षीणकषायपने में ही=क्षीणकषायपना होते ही; क्षीणकषायपना हो तभी।

प्रकार से नियम यहाँ देखना (अर्थात् इस गाथा में उपरोक्त आठ प्रकार से नियम कहा है, ऐसा समझना)॥१०६॥

गाथा - १०६ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १३ मंगलवार)

अब मोक्षमार्ग का संक्षेप कथन करते हैं।

सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धान और वस्तु के यथार्थ ज्ञानसहित जो आचरण है, वह मोक्ष का मार्ग है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, इन तीनों का जब साथ परिणमन होता है, तब ही मोक्षमार्ग होता है। कैसा है दर्शन-ज्ञानसहित का चारित्र? इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरहित समतारस गर्भित है। ऐसा मोक्षमार्ग किसे होता है? जिसे स्व-पर भेदविज्ञान बुद्धि प्राप्त हुई है और जो मोक्षमार्ग के सन्मुख है, उस जीव को मोक्षमार्ग होता है।

यह गाथा बहुत सरस है!

यहाँ चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है, क्योंकि चारित्र, वह साक्षात् धर्म है और वह मोक्षमार्ग केवलज्ञान का कारण है। वह चारित्र कैसा है? सम्यग्दर्शन और ज्ञान से युक्त है। अज्ञानी जीव व्रत, तप को चारित्र कहते हैं परन्तु वह चारित्र नहीं है। अनादि से अज्ञानी को पुण्य से धर्म मानने का शल्य पड़ा है, इसलिए भटकता है। यहाँ कहते हैं कि धर्म में जवाबदारी अपनी है। दूसरे के आधार से काम नहीं आता, अर्थात् कि स्वयं ही यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ वस्तु के ज्ञानसहित जो आचरण है, वह मोक्षमार्ग है। तीनों की एकता से मोक्षमार्ग होता है। सम्यग्दर्शन, वह साक्षात् धर्म नहीं परन्तु धर्म का मूल है। साक्षात् धर्म तो चारित्र है, वह चारित्र, सम्यग्दर्शन बिना नहीं होता।

[सम्यक्त्वज्ञानयुक्त चारित्र—जो कि रागद्वेषरहित हो; वह लब्धबुद्धि भव्य जीवों को, क्षीणकषायपना होते ही, मोक्ष का मार्ग होता है।]

कैसा है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त चारित्र? इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरहित समतारस गर्भित है। यहाँ चारित्र की बात करते हैं। ऐसी अद्‌भुत स्वतन्त्रता बतलानेवाली वाणी निकलती है, तथापि यह जीव क्यों नहीं मानता? इस विरोधी ने सच्चे मार्ग का विलोप कर दिया, इस प्रकार के विकल्प चारित्रवन्त को नहीं उठते। जो कुछ यश हो तो मेरे स्वभाव के कारण है और अपयश हो तो मेरी पर्याय में है। बाहर के कारण से राग-द्वेष होते हैं, ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता। तदुपरान्त अपनी शिथिलता के कारण 'ऐसा क्यों?'—ऐसा विकल्प भी चारित्रवन्त को नहीं होता। वह विचारता है कि कौन किसका माने? कोई किसी का मानता नहीं, ऐसा विचारकर मुनि अन्तर में स्थिर हो जाते हैं। जितनी शिथिलता है, उतना चारित्र नहीं है। कौन किसे सुधारे और कौन किसे बिगाड़े? ऐसी वृत्ति उठती नहीं। मेरे स्वभाव का आदर, वह मान है और स्वभाव का अनादर वही अपमान है। ऐसा समझकर बाहर के मान-अपमान के ओर की निर्बलता की वृत्ति तोड़कर अन्तर में स्थिर हो जाना, वह चारित्र है। उसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेषरहित समता प्रगट हुई है। ऐसा मोक्षमार्ग किसे होता है? जिसे स्व-परविवेक—भेदविज्ञान बुद्धि प्रगट हुई है और जो मोक्षमार्ग के सन्मुख है, उसे चारित्र अथवा मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

भावार्थ - चारित्र वह है कि जो दर्शन-ज्ञानसहित है। स्वरूप का आचरण, स्वभाव का अनुष्ठान, स्वभाव में रमणता वह चारित्र है। और वह दर्शन-ज्ञानसहित होता है।

बालक के हाथ में से चूसनी लेकर पेड़ा दिया जाये तो भी वह कलह नहीं छोड़ता। समझेगा नहीं। उसी प्रकार अज्ञानी को खोटे क्रियाकाण्ड छोड़ने का कहकर सच्चा चारित्र बताओ तो भी वह समझेगा नहीं। जो भगवन्त सर्वज्ञदशा को प्राप्त हुए, वे अपने में स्थिर रहकर भगवान हुए हैं, बाहर से हुए नहीं। जो पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुए, वे सिरसावंद्य है, वे बड़े हैं, उन्होंने अपने स्वभाव के आश्रय से वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट करके राग-द्वेष का अभाव कर दिया। उन्होंने जो अभाव किया, उसे अभाव करने जैसा मान और उन्होंने जो रखा है, उसे तू स्वभाव के आश्रय से रख तो तूने सिद्ध को माना है। इस प्रकार अपने स्वभाव की अन्तर्दृष्टि बिना चारित्र प्रगट नहीं होता, आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक आचरण, वह चारित्र है।

अब नास्ति से बात करते हैं। दर्शन-ज्ञान बिना जो चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र है। आत्मा के ज्ञान बिना और नौ तत्त्व की यथार्थ समझ बिना महाव्रतादि का पालन करे, वह मिथ्याचारित्र है। पाँच महाव्रत का राग आस्रव है। वह आत्मा की दशा को बिगाड़नेवाला है। अन्तरस्वभाव से लाभ होता है, ऐसा माने बिना आचरण नहीं होता।

कोई कहे कि सम्यग्दर्शन हो, इसकी खबर नहीं पड़ती - तो वह बात मिथ्या है। आत्मा में प्रमेयत्व नाम का एक गुण है। **जहाँ श्रद्धा की पर्याय है, वहाँ प्रमेयत्व भी है। इसलिए उसमें ज्ञात होने की योग्यता है और ज्ञान ज्ञेय को जान ले, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। अज्ञानी को भान नहीं, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मद्रव्य के ज्ञान बिना राग और स्वभाव के बीच विवेक बिना स्वभाव की अन्तर रमणता नहीं होती।**

जो जीव कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसे अभी गृहीतमिथ्यात्व का त्याग किस प्रकार होता है? इसकी भी खबर नहीं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और प्रतिमा कैसे होते हैं, ऐसी व्यवहार की खबर नहीं, उसे गृहीतमिथ्यात्व है और अगृहीत तो पड़ा हुआ है ही। जिसे व्यवहार का विवेक नहीं, उसे निश्चय का विवेक तो है ही नहीं, उसे महाव्रत नहीं होते।

यहाँ तो कहते हैं कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को व्यवहार से मानने के पश्चात् व्रत, तप, दया, दानादि को धर्म का साधन माने तो वह मूढ़ है—उसे चारित्र नहीं होता।

जो चारित्र है, वही चारित्र है, जो रागरहित ज्ञानस्वभाव में झूलता है। चिदानन्द शक्ति को प्रस्फुटित कर आनन्द का अनुभव करता है, वह चारित्र है। छठवें गुणस्थान में भावलिंगी मुनि को अट्ठाईस मूलगुण का, महाव्रतादि का विकल्प उठता है, वह चारित्र नहीं, तो फिर मिथ्यादृष्टि का चारित्र, चारित्र हो सकता ही नहीं।

और चारित्र वही है कि जो राग-द्वेषरहित समतासहित है, बाहर में मान-अपमान हों, अन्याय होता हो तो भी मुनि आत्मा के भानसहित वीतरागी समता धारण करते हैं और अन्तर आनन्द में झूलते हैं। जैनधर्म सच्चा है और अन्यमत मिथ्या है, ऐसा विकल्प भी नहीं उठता। परन्तु समता में झूलते हैं, वह चारित्र है। अज्ञानी मानता है कि 'हमें शत्रु ने बहुत लकड़ियाँ मारीं तो भी हमने समता रखी।'—भाई! यह समता नहीं है। पर के लक्ष्य से होनेवाली कषाय मन्दता, वह समता नहीं है। उसे राग का आंशिक

भी अभाव नहीं होता। स्वभाव की यथार्थ दृष्टि बिना राग यथार्थरूप से घटता नहीं है। आत्मा का भान वर्तता है, ऐसे मुनि को सत् के स्थापन का और असत् के उत्थापन का विकल्प नहीं उठता, वह समता है। शास्त्र लिखने का विकल्प उठता है, वह चारित्र नहीं है, जो कषायरस गर्भित है, वह चारित्र नहीं है, परन्तु संक्लेशरूप परिणाम है। महामुनियों को शास्त्र लिखने का विकल्प उठता है, वह संक्लेशरूप है, चारित्र नहीं, समताभाव नहीं; पीछे अकषाय परिणति रही हुई है, वह चारित्र और वह मोक्ष का कारण है।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण १४, बुधवार

भावार्थ - (१) यह अधिकार मोक्षमार्ग का है। आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, पर्याय में राग-द्वेष है, उससे मुक्ति होना और शक्तियों की पूर्ण व्यक्तता होना, उसे मोक्ष कहते हैं। उसका मार्ग, वह मोक्षमार्ग है और वह चारित्र है। आत्मा पर में और संकल्प-विकल्प में अटकता है, वह बन्धमार्ग है। विभावरहित होकर स्वभाव में स्थिरता करना, वह चारित्र है। स्वरूप में चरना, रमना, वह चारित्र है।

चारित्र वही है जो दर्शन-ज्ञानसहित है। दर्शन-ज्ञान बिना जो चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र है। जो शान्ति प्रगट होती है, वह चारित्र है, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित है। आत्मपदार्थ पर से रहित और संकल्प से रहित है, ऐसा पदार्थ माने बिना, उसमें स्थिर कैसे होगा? जो जीव पैसा, इज्जत, शरीर इत्यादि में सुख मानकर अटका है, वह स्व में स्थिर किस प्रकार होगा? स्व का माहात्म्य आये बिना लीनता कहाँ से होगी? यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान दोनों साथ में लिये हैं, वे हों तो चारित्र होता है। शरीर, मन, वाणी आत्मा से भिन्न है। उसमें मैं नहीं रह सकता, वह भिन्न तत्त्व है, ऐसी रुचि और ज्ञान करता है, उसे चारित्र होता है। नहीं तो चारित्र नहीं होता। दर्शन-ज्ञान बिना का चारित्र, मिथ्याचारित्र है। स्वभाव के माहात्म्य बिना चारित्र नहीं होता। शुभाशुभभाव आकुलतावाले हैं। उस आकुलतारहित निराकुलस्वभाव में सुख है, यह भान बिना चारित्र नहीं होता। पश्चात् त्यागी हो और व्रत-तप करे और लोग उसे चारित्र कहे तो भी वह चारित्र नहीं है।

(२) 'जो चारित्र है, वही चारित्र है। मिथ्याचारित्र, वह चारित्र नहीं है। आत्मा चैतन्य भूमिकावाला है। पुण्य-पापवाला नहीं। चैतन्यमय आत्मा की प्रतीति और ज्ञान वर्तता है, उसे चारित्र है। मिथ्याचारित्र, वह चारित्र नहीं। व्रत पाले, वह चारित्र नहीं, धर्म नहीं। चिदानन्दस्वभाव के भान बिना के मिथ्याचारित्र को चारित्र नहीं कहते।

(३) और चारित्र वही है जो राग-द्वेषरहित समतारससंयुक्त है। जो कषायरस गर्भित है, वह चारित्र नहीं, संक्लेशरूप है।' राग-द्वेषरहित समतास्वभाव पर्याय में प्रस्फुटित हुआ, वह चारित्र है। बाहर में अनुकूलता के प्रति राग नहीं, प्रतिकूलता के प्रति द्वेष नहीं। राग-द्वेषरहित स्थान में समता है। इस समतासंयुक्त को चारित्र कहते हैं। कोई भी पदार्थ हो, वह क्रिया सम्पन्न है और वह उसकी क्रियासहित है, इसलिए मुझे उसकी चिन्ता नहीं, उसे मेरी चिन्ता नहीं। किसी भी काल में क्रिया बिना का तत्त्व नहीं हो सकता। वह मेरी आशा रखे, ऐसा तत्त्व नहीं है। मैं उसकी आशा रखूँ, ऐसा नहीं है - ऐसे ज्ञान में समतारस प्रगट होता है। मैं पर के आधीन नहीं, मेरी आशा कोई रखना नहीं और मैं किसी की आशा नहीं रखता। ऐसा माननेवाले को चारित्र प्रगट होता है। जो राग की वृत्तियों का आताप था, वह पर के लिये नहीं परन्तु स्व के वेदन के लिये-स्व के आताप के वेदन के लिये था। उस आताप का वेदन मिटाकर आत्मा के भानपूर्वक समतारस प्रगट हो, वह चारित्र है। सम्यग्दर्शन पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता का राग होता है, परन्तु विशेष स्थिरता करके आकुलता टालकर अनाकुल रस प्रगट हुआ और शान्ति का पर्वत स्फुरित हुआ और चिदानन्दरस में एकाग्रता जमी, वह समता है और वह चारित्र है।

अज्ञानी जीव बाहर में शान्ति रखे, वह समता नहीं, मूढ़ता है। कोई प्रतिकूलता आ पड़े, तब कहे कि 'सामनेवाले ने कुछ नहीं किया परन्तु मेरे कर्म का उदय ऐसा था, इसलिए प्रतिकूलता आयी है।' ऐसे कर्म के सहारे समता रखे, वह सच्ची समता नहीं है। कर्म के उदय का विकल्प उठाना, वही दु:खदायक है। मेरे आत्मा में कर्म है ही नहीं, तथा आकुलता नहीं, ऐसे आत्मा के भानपूर्वक कषाय उत्पन्न हुई ही नहीं और शान्तरस उत्पन्न हुआ, वह चारित्र है।

(४) 'ऐसा चारित्र है, वह सकलकर्म के क्षय लक्षण मोक्षस्वरूप है, परन्तु कर्म के बन्धरूप नहीं है।

आत्मा अन्तरवस्तु है। देह, मन, वाणी से पार है, ऐसी दृष्टिपूर्वक आत्मरमणता में रमता है, उसे सकल कर्म का क्षय होता है। चारित्र से कर्म बँधता नहीं। कोई कहता है कि चारित्र से पुण्य बँधता है और स्वर्ग में जाया जाता है तो वह बात मिथ्या है। चारित्र में आंशिक भी बन्धन नहीं होता और कोई कहे कि चारित्र से थोड़ी शुद्धि होती है और थोड़ा पुण्य बँधता है, वह भी मिथ्या है। जहाँ बन्धन है, वहाँ अचारित्र है। चारित्र हो, वहाँ थोड़ा भी बन्धन नहीं होता। अभी वर्तमान में बहुत विविध विविधता वर्तती है तथापि लोग उसे सत्यमार्ग कहते हैं। दो रोटी और पाव सेर दूध खाये, जीर्ण कपड़ा पहने, सिर मुंडावे, स्त्री-पुत्र छोड़े, उसे लोग चारित्र कहते हैं। वह चारित्र नहीं है। आत्मा अबन्धस्वभावी है, उसमें लीन होना, वह चारित्र है। जिस भाव से सर्वार्थसिद्धि का भव मिले, तीर्थंकर का भव मिले, चाहे जो संयोग मिले, वह भाव चारित्र नहीं है, क्लेश है। पुण्य, वह शुभ क्लेश है; इसलिए अनुकूलता मिलती है और पाप, वह अशुभ क्लेश है; इसलिए प्रतिकूलता मिलती है। पुण्य-पापरहित अबन्धस्वरूप में लीनता करना, वह चारित्र है और वह मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - एकजुट कुटुम्ब हो, उसे क्लेश कहा जाये?

समाधान - एकजुट किसे कहना? पिता-पुत्र के बीच हिमालय और विन्ध्याचल जितना अन्तर है। एक-दूसरे के अभाव बिना दो चीज़े पृथक् नहीं रह सकती। अभाव में एकजुटता नहीं हो सकती। हम एकजुट हैं, ऐसा विकल्प उठाना, वही क्लेश है। अपना आत्मा अनन्त गुणों का समाज है, उसके साथ एकताबुद्धि करना, वह एकजुटता है। दो भाईयों के बीच की एकजुटता तो अशुभरागवाला क्लेश है। परन्तु महाव्रतादि के परिणाम शुभराग है, वह भी क्लेश है। आकुलता है, पुण्य-पापरहित अबन्धस्वभावी आत्मा की एकाग्रता से प्रगट हुआ भाव, वह चारित्र है और वह सकल कर्मों का नाश करता है।

लोग कहते हैं कि विश्वप्रेम करो। विश्व अर्थात् सभी के साथ प्रेम करना। उसमें यह मेरा और यह तेरा, ऐसा नहीं रहता। एकेन्द्रिय के प्रति प्रेम में रुक जाये तो पंचेन्द्रिय की ओर उस समय प्रेम नहीं बतला सकता। एकसाथ सबके साथ प्रेम किस प्रकार

बतला सकता है ? घर में भी एक पुत्र के साथ प्रेम बतलाने जायेगा, उस समय दूसरे के साथ नहीं बतला सकेगा तो जगत के सभी जीव एक साथ एक समय में किस प्रकार प्रेम करेगा ? इसलिए तू सबके साथ प्रेम कभी नहीं बतला सकेगा। और पर के प्रति प्रेम बतलाने जायेगा तो स्वरूप की अन्तर स्थिरता करने का प्रेम चला जाता है। इसलिए तेरी वृत्ति शुभाशुभभाव में ढल रही है, उसे अन्तर में झुका। एक समय में सबको जैसा है, वैसा जान लेने की तेरी ताकत है। सिद्ध हो या निगोद हो, सर्वज्ञ हो, या अल्पज्ञ हो, मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो—उन सबको अपने ज्ञान में रहकर जानकर समतारसगर्भितरूप से रहना और कहीं अटकना नहीं, उसे विश्वप्रेम कहते हैं, पूरे विश्व का ज्ञायक रहता है, वह ज्ञायकपना अन्तरशक्ति भरी हुई है, उसमें से प्रगट होता है। इसका नाम चारित्र है और यह मोक्षस्वरूप है।

(५) 'जो दर्शन-ज्ञानयुक्त चारित्र है, वही उत्तम मार्ग है, कोई संसार का मार्ग भला नहीं है। पहले बोल में ज्ञान-दर्शनयुक्त है, वह चारित्र है—ऐसा कहा था। इस पाँचवें बोल में ज्ञान-दर्शन-चारित्रयुक्त को **उत्तममार्ग** कहा। यहाँ उत्तम कहकर विशेषता बतलानी है। आत्मा शक्ति से सर्वज्ञ की सामर्थ्यवाला है। उसमें से सर्वज्ञता प्रगट होती है। वह उत्तम मार्ग है। जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, सर्वथासिद्धि का भव मिलता है, वह भाव संसारमार्ग है, वह भला मार्ग नहीं।

कोई **कहता** है कि भगवान को भी 'सभी जीव करूँ शासनरसी ऐसी भावदया मन उल्लसी' ऐसा भाव उठा था न ?

समाधान - भगवान को भान था कि राग, वह जहर है। अन्तर में स्थिर होना, वह उत्तममार्ग है। राग उत्तममार्ग नहीं है। कोई कहता है कि आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान न हो परन्तु राग को कम करे, उसे थोड़ा अच्छा मार्ग तो कहो। वह बिल्कुल अच्छा नहीं है। वह जहर है। और जो जीव तीन लोक के नाथ के पास शान्ति खोजने जाता है, वह अपने को निर्बल प्रसिद्ध करता है। मैं ज्ञान में स्थिर होऊँ तो सुखी होऊँ, यह स्वतन्त्रता की प्रसिद्धि है। वर्तमान स्वराज्य को लोग स्वतन्त्रता कहते हैं, परन्तु वास्तव में तो वह परतन्त्रता है।

यहाँ कहा है कि दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र, वही उत्तम मार्ग है; संसारमार्ग उत्तम नहीं है।

(६) जो मोक्षमार्ग है, वह निकट संसारी जीवों को होता है। अभव्य या दुर्भव्य को नहीं होता। जो भव्य जीव हैं, उन्हें मोक्षमार्ग होता है। चिदानन्दस्वभाव जिसे रुचा है, वह भव्य है। जिसे पुण्य की रुचि है, व्यवहार की और निमित्त की रुचि है, उसे स्वभाव की रुचि नहीं। वह मोक्षमार्ग के योग्य नहीं है।

चक्रवर्ती को पुण्य के ढ़ेर होते हैं, तथापि उसे आत्मा का भान होता है। जितना राग वर्तता है, उसे जहर समझता है, अन्तर स्वभाव में स्थिर होना, उसे मोक्षमार्ग मानता है। यहाँ कहा कि भव्य जीवों को मोक्षमार्ग होता है और अभव्य जीवों को मोक्षमार्ग नहीं होता।

(७) 'जिसे भेदविज्ञान है, ऐसे भव्य जीवों को ही (मोक्षमार्ग) होता है। स्व-पर ज्ञान शून्य अज्ञानी को नहीं होता।' पहले बोल में सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऐसे दो साथ में बात की थी। यहाँ अकेले ज्ञान को पृथक् करके बात करते हैं। जिसे स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट होता है, उसे मोक्षमार्ग होता है। विषय कषाय में मिठास है, उसे मोक्षमार्ग नहीं होता। यहाँ ज्ञान की प्रधानता से बात करते हैं। परमाणु एक-एक मुझसे भिन्न है। इस रजकण को मेरा आधार नहीं, उसका मुझे आधार नहीं—इस प्रकार पर से विरक्त है, ऐसे भेदज्ञानी जीव को मोक्षमार्ग होता है। परन्तु जो जीव स्व और पर का खींचड़ा करता है और शरीर तथा पुण्य के साथ एकत्व करता है, वह स्व-परज्ञान शून्य है, उसे कदापि मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता।

पूर्व में चाहे जितनी उल्टी मान्यता की हो, परन्तु एक क्षण में उस मान्यता को जीव बदल सकता है। संयोग, निमित्त, राग इत्यादि कृत्रिम पदार्थों का अज्ञानी को विश्वास आता है। एक बड़ा लड्डू इस छोटे सकड़े गले में उतर जायेगा—अन्दर में पच जायेगा, ऐसा विश्वास आता है। गला कितना चौड़ा है, यह देखा नहीं। तथापि उसका विश्वास आता है। इस प्रकार अनेक पदार्थों का विश्वास आता है परन्तु मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, पर से और पुण्य से भिन्न हूँ, मेरे आश्रय से शान्ति और धर्म है, ऐसा

विश्वास नहीं आता। इस प्रकार जिसे स्व-पर भेदविज्ञान नहीं होता, उसे मोक्षमार्ग नहीं होता और उसे चारित्र-तप नहीं होता और जिसे पर से भेदविज्ञान हुआ है, ऐसे जीव को चारित्र होता है, दूसरे को नहीं होता।

वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण अमावस्या, गुरुवार

यह मोक्षमार्ग अधिकार है, मोक्षरूपी नगरी में जाने का रास्ता है। उस वीतरागी दशा का पन्थ, वह चारित्र है। चारित्र बिना मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।

कल सात बोल कहे गये हैं।

(१) जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, उसे चारित्र होता है।

कोई **कहे** कि कंचन, कामिनी और कुटुम्ब छोड़े, उसे चारित्र होता है?

समाधान - पर को छोड़ सकता हूँ, यह मान्यता अज्ञानी की है, ऐसे जीव को चारित्र नहीं होता। निज क्षेत्र में निज पर्याय में अज्ञान से राग-द्वेष की परिणति हो रही है। उसका त्याग, वह चारित्र है। वह कब प्रगट होता है? त्रिकाली चैतन्यस्वभाव में विकार नहीं, ऐसी अन्तर्दृष्टि का ज्ञान और लीनता होने पर चारित्र प्रगट होता है। कंचन, कामिनी और कुटुम्ब निज पर्याय में कब प्रविष्ट थे कि उनका त्याग करना? वे तो कभी प्रविष्ट नहीं हुए। शरीर, मन, वाणी इत्यादि पदार्थ तो कभी आत्मा ने धार रखे नहीं। भाई! तेरा धर्म तेरी अन्तर्दशा में है, बाहर में नहीं। दूसरे के परिचय से और स्वभाव के अपरिचय से शान्ति नहीं मिलती। तथा पुण्य-पाप के परिचय से शान्ति नहीं मिलती, पुण्य-पापरहित शुद्ध स्वभाव के आश्रय से शान्ति और धर्म है, ऐसा प्रथम श्रद्धा-ज्ञान हो, उसे चारित्र होता है, दूसरे को चारित्र नहीं होता।

(२) जो अन्तर परिचय करके ज्ञानस्वभाव का पता लगाकर उसमें लीन होता है, उसे चारित्र कहते हैं, बाकी मिथ्याचारित्र है।

(३) जो चारित्र है, वह समताभावसहित होता है। पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं परन्तु स्वभाव को ग्रहण करूँ और राग को छोड़ूँ, ऐसे विकल्प भी स्वभाव में नहीं

हैं। चिदानन्दस्वभाव का पता प्राप्त कर अन्तर में समता रस प्रगटे, उसे चारित्र कहते हैं। जितनी वृत्तियाँ उठती हैं, वह पुण्य का कारण है। संक्लेश है, वह बन्धन का कारण है।

(४) जो सकल कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करावे, वह चारित्र है। जिससे कर्म का बन्धन हो, वह चारित्र नहीं।

(५) ज्ञान-दर्शनयुक्त चारित्र, वही उत्तममार्ग है। विभाव में टिकना, वह उत्तममार्ग नहीं है - अचारित्र है।

(६) भव्य जीवों को चिदानन्दस्वभाव का भान होता है, अभव्य को भान नहीं होता। अज्ञानी जीवों को दुनिया के काम का विश्वास आता है, पुत्र का विश्वास आता है। दया, दानादि परिणाम हों, उनका विश्वास आता है परन्तु वे तो सब मर गये हुए मुर्दे के समान हैं। उनका भरोसा करे परन्तु शुद्ध जागती ज्योति चिदानन्दस्वभाव का भरोसा नहीं करता। ऐसे अभव्य जीवों को मोक्षमार्ग कभी नहीं होता।

(७) जिसे भेदविज्ञान है, ऐसे भव्य जीवों को चारित्र प्रगट होता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं, उसे चारित्र प्रगट नहीं होता। कोई जीव कुटुम्बादि के त्याग से धर्म मानता है। परन्तु आत्मा तो उनसे पृथक् है। और यदि उनके त्याग से धर्म हो तो चींटी, कौआ और वृक्ष के पास कंचन, कामिनी, कुटुम्ब कुछ भी नहीं है, तो उन्हें बहुत धर्म होना चाहिए। जो जिसमें नहीं होता, उसका त्याग नहीं कर सकता। जो जिसमें होता है, उसका त्याग कर सकता है। कुटुम्बादि आत्मा में नहीं हैं, इसलिए उनका त्याग आत्मा नहीं कर सकता, परन्तु राग-द्वेषादि पर्याय में होते हैं, उनका त्याग कर सकता है, वह भी उपचारमात्र है। विकाररहित शुद्धस्वभाव में लीनता करने से राग उत्पन्न नहीं होता, उसने राग का त्याग किया, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार परपदार्थों और विकार से आत्मा भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान नहीं, उसे धर्म नहीं होता।

और कोई कहता है कि मानवधर्म का पालन करो। मानवधर्म आत्मा का कहना या शरीर का? आत्मा का मानवधर्म तो शुद्ध आत्मा का भान होना, वह है और शरीर का धर्म तो जड़ का धर्म है, उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश उसके कारण से होते हैं, वह उसका धर्म है। शरीर की क्रिया करना, वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है।

मैं मानव नहीं। शरीर, मन, वाणी मैं नहीं। पुण्य-पाप के भाव, वे क्षणिक विकार

है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, इस प्रकार पर से पृथक् का भान होकर भिन्नता के रास्ते पूर्ण पृथक् होना, वह मोक्ष है।

दूसरे व्यापारी के पैसे मैं दान में देता हूँ, ऐसा कोई कहे तो उसे दूसरे के पैसे दान में देने का क्या अधिकार है ? कुटुम्ब, कामिनी, कंचन तो दूसरे की चीज़ है। जड़ की चीज़ है, वह तेरी कहाँ थी कि तू उसे छोड़ता है ? ऐसा कहते हैं। वह तो तीनों काल छूटी हुई ही पड़ी है। आत्मा पर के त्यागस्वरूप ही है। पर का अभाव है, तथापि उसका अभाव करता हूँ—ऐसा मानना, वही मिथ्यात्व है। मिथ्याभ्रान्ति, अज्ञान और राग-द्वेष का त्याग हो सकता है। स्वभाव के भानपूर्वक वे रागादि उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार जिसे भेदविज्ञान है, उसे चारित्र है, उसके बिना चारित्र नहीं है। भेदज्ञान के बिना व्रतादि सब मिथ्या है।

(८) यहाँ मोक्षमार्ग की उत्कृष्टता बताते हैं, वह बारहवें गुणस्थान में होती है। जहाँ चारित्रदशा पूर्ण निर्मल होती है, वहाँ महाव्रतादि का विकल्प भी नहीं होता। जहाँ कषाय होती है, वहाँ चारित्र नहीं होता। अभी जैन के नाम से बहुत फेरफार हो गया है। वस्त्रादि लेने का राग केवलज्ञानी को नहीं हो सकता। छठवें गुणस्थान में मुनि को भी वस्त्र का राग नहीं होता तो फिर केवली भगवान को वस्त्रादि लेने का राग वर्ते, यह न्याय से विरुद्ध है। भरत महाराजा को प्रथम भेदविज्ञान था, संसारदशा में जरा राग होता नहीं, पश्चात् वैराग्य हुआ। अहो ! अब दीक्षित होना है, वस्त्र, गहने छूट गये और शरीर की नग्नदशा हो गयी और दो घड़ी ज्ञान में रहकर चारित्र प्रगटाकर केवलदशा को प्राप्त हुए। बाह्य त्याग और नग्नदशा, वह चारित्र नहीं है। परन्तु आत्मस्वभाव की लीनता बढ़ती है, तब बाह्य में नग्नदशा होती है और जहाँ नग्नदशा न हो, वहाँ चारित्र नहीं होता। वस्त्र रखकर चारित्रदशा नहीं होती और चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं होता। मुनि को मात्र मोरपिच्छी और कमण्डल होता है, दूसरा कुछ नहीं होता। भरत को भान तो था। पश्चात् पूरी दुनिया से उदास होकर अकेले स्वभाव का अवलम्बन लिया, बाहर नग्नदशा थी और अन्दर रूखी (वीतरागी) दशा थी, वह बढ़कर केवलज्ञान को प्राप्त हुए, यह एक ही मोक्षमार्ग है। चाहे जिस भव में माने तो यह ही उपाय है, इस प्रकार मोक्ष साधन का उपाय आठ प्रकार से कहा। ●●

गाथा - १०७

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।
सम्यक्त्वं श्रद्धानं भावानां तेषामधिगमो ज्ञानम्।
चारित्रं समभावो विषयेषु विरूढमार्गाणाम् ।।१०७।।

समयव्याख्या : सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सूचनेयम्। भावाः खलु कालकलित-पञ्चास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः। तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धानाभावस्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयान्नौयान-संस्कारादि* स्वरूपविपर्ययेणाध्यवसीयमानानां तन्निवृत्तौ समञ्ज-साध्यवसायः सम्यग्ज्ञानं, मनाग्ज्ञानचेतनाप्रधानात्मतत्त्वोपलंभ बीजम्। सम्यग्दर्शनज्ञान-सन्निधानादमार्गेभ्यः समग्रेभ्यः परिच्युत्य स्वतत्त्वे विशेषेण रूढमार्गाणां सतामिन्द्रिया-निन्द्रियविषयभूतेष्वर्थेषु रागद्वेषपूर्वकविकारा-भावान्निर्विकारावबोधस्वभावः समभावश्चाचारित्रं, तदात्वायतिरमणीयमनणीयसोऽपुनर्भवसौख्यस्यै-कबीजम्। इत्येष त्रिलक्षणो मोक्षमार्गः पुरस्तान्निश्चयव्यवहाराभ्यां व्याख्यास्यते। इह तु सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्विषयभूतानां नवपदार्थानामुपोद्घातहेतुत्वेन सूचित इति ।।१०७।।

नव पदों के श्रद्धान को समकित कहा जिनदेव ने।
वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान अर समभाव ही चारित्र है।।१०७।।

अन्वयार्थ :— [भावनां] भावों का (-नव पदार्थों का) [श्रद्धानं] श्रद्धान [सम्यक्त्वं] वह सम्यक्त्व है; [तेषाम् अधिगमः] उनका अवबोध [ज्ञानम्] वह ज्ञान है; [विरूढमार्गाणाम्] (निज तत्त्व में) जिनका मार्ग विशेष रूढ़ हुआ है, उन्हें [विषयेषु] विषयों के प्रति वर्तता हुआ [समभावः] समभाव [चारित्रम्] वह चारित्र है।

टीकाः—यह, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सूचना है।

काल सहित पंचास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ, वे वास्तव में 'भाव' हैं। उन 'भावों का' मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होनेवाला जो अश्रद्धान उसके

अभावस्वभाववाला जो [१]भावान्तर—श्रद्धान (अर्थात् नव पदार्थों का श्रद्धान), वह सम्यग्दर्शन है—जो कि (सम्यग्दर्शन) शुद्ध चैतन्यरूप आत्मतत्त्व के [२]विनिश्चय का बीज है। [३]नौकागमन के संस्कार की भाँति मिथ्यादर्शन के उदय के कारण जो स्वरूपविपर्ययपूर्वक अध्यवसित होते हैं (अर्थात् विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं—भासित होते हैं) ऐसे उन 'भावों' का ही (—नव पदार्थों का ही), मिथ्यादर्शन के उदय की निवृत्ति होने पर, जो सम्यक् अध्यवसाय (सत्य समझ, यथार्थ अवभास, सच्चा अवबोध) होना, वह सम्यग्ज्ञान है—जो कि (सम्यग्ज्ञान) कुछ अंश में ज्ञानचेतनाप्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि का (अनुभूति का) बीज है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण समस्त अमार्गों से छूटकर जो स्वतत्त्व में विशेषरूप से [४]रूढ़ मार्गवाले हुए हैं, उन्हें इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति रागद्वेषपूर्वक विकार के अभाव के कारण जो निर्विकारज्ञानस्वभाववाला समभाव होता है, वह चारित्र है—जो कि (चारित्र) उस काल में और आगामी काल में रमणीय है और अपुनर्भव के (मोक्ष के) महा सौख्य का एक बीज है।

—ऐसे इस त्रिलक्षण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक) मोक्षमार्ग का आगे निश्चय और व्यवहार से व्याख्यान किया जाएगा। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और

---

१. भावान्तर=भावविशेष; खास भावः; दूसरा भाव; भिन्न भाव।[नव पदार्थों के अश्रद्धान का अभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा भावान्तर (-नव पदार्थों का श्रद्धानरूप भाव) वह सम्यग्दर्शन है।]

२. विनिश्चय= निश्चय; दृढ़ निश्चय।

३. जिस प्रकार नाव में बैठे हुए किसी मनुष्य को नाव की गति के संस्कारवश, पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं (अर्थात् स्वयं गतिमान होने पर भी स्थिर हो ऐसा समझ में आता है और वृक्ष, पर्वत आदि स्थिर होने पर भी गतिमान समझ में आते हैं), उसी प्रकार जीव को मिथ्यादर्शन के उदयवश नव पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं।

४. रूढ़=पक्का; परिचय से दृढ़ हुआ। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के कारण जिनका स्वतत्त्वगत मार्ग विशेष रूढ़ हुआ है, उन्हें इन्द्रियमन के विषयों के प्रति रागद्वेष के अभाव के कारण वर्तता हुआ निर्विकारज्ञानस्वभावी समभाव, वह चारित्र है।)

सम्यग्ज्ञान के विषयभूत नवपदार्थों के [१]उपोद्घात के हेतुरूप से उसकी सूचना दी गई है॥१०७॥

गाथा - १०७ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, चैत्र कृष्ण अमावस्या, गुरुवार)

(अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप कहते हैं।) भगवान ने छह द्रव्य वर्णन किये हैं, उनकी प्रतीति करना, वह व्यवहार श्रद्धा है। केसर लेने के लिये छिद्रवाला थैला काम नहीं आता परन्तु टीन का डिब्बा काम आता है; उसी प्रकार आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, उसकी प्रतीति के लिये छह द्रव्य आदि की प्रतीतिरूप व्यवहार समकित, वह बारदान है। व्यवहारश्रद्धा खोटी हो और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाये, ऐसा नहीं होता। सच्ची व्यवहारश्रद्धा के बिना निश्चय समकित नहीं होता और व्यवहार का अभाव किये बिना निश्चय समकित प्रगट नहीं होता, ऐसी दोनों बात समझना चाहिए।

पंचास्तिकाय गाथा २६-समयव्याख्या में कहा है कि खरतर दृष्टिवाले को =सूक्ष्म दृष्टिवाले को कालसहित पाँच अस्तिकाय को स्वीकार करना चाहिए। जो काल को स्वीकार नहीं करते, वे शास्त्र जैनशास्त्र नहीं हैं, वे बारह अंग को अनुसरणकर नहीं लिखे गये हैं, इसलिए छह द्रव्यों को जैसा है, वैसा यथार्थ-स्वतन्त्र समझना चाहिए।

पाँच अस्तिकाय है। जैसे इस शरीर के परमाणु बहुत हैं, वैसे आत्म इत्यादि को अनेक प्रदेश हैं, वह उसकी काया है। आत्मा, धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्य प्रदेशी है। आकाश अनन्त प्रदेशी है। पुद्गलस्कन्ध दो से लेकर अनन्त प्रदेशी है, ऐसे पाँच अस्तिकाय की प्रतीति, वह व्यवहारसमकित है।

और नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारसमकित है। समयसार गाथा १३ में नौ की

२. उपोद्घात=प्रस्तावना। [सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग के प्रथम दो अंग जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उनके विषय नव पदार्थ हैं; इसलिए अब अगली गाथाओं में नव पदार्थों का व्याख्यान किया जाता है। मोक्षमार्ग का विस्तृत व्याख्यान आगे किया जायेगा। यहाँ तो नव पदार्थों के व्याख्यान की प्रस्तावना के हेतुरूप से उसकी मात्र सूचना दी गई है।]

बात आ गयी है। शुद्ध जीवस्वभाव को जीव माने; शरीर, कर्म इत्यादि को अजीव माने। जीव के कारण अजीव की क्रिया नहीं और अजीव की क्रिया से जीव में कुछ नहीं होता, ऐसा माने। दया, दानादि को पुण्य माने; हिंसा, झूठ आदि को पाप माने; दोनों को आस्रव माने; उसमें अटकने को बन्ध माने; शुद्ध आत्मा के आश्रय से निर्मलता हो, उसे संवर माने; निर्मलता की वृद्धि हो, उसे निर्जरा माने; सम्पूर्ण निर्मलता को मोक्ष माने। इस प्रकार रागसहित नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारसमकित है। अकेले शुद्ध चैतन्यस्वभाव को भिन्न मानकर अन्तरश्रद्धा करना, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है।

जीव से अजीव की क्रिया होती है, ऐसा माने तो जीव और अजीव भिन्न नहीं रहते। पुण्य से धर्म माने तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं। शुद्ध जीव में से शुभ आता है, ऐसा माने तो जीव और पुण्य एक हो जाता है। इस प्रकार जिसे नौ तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं, उसे निश्चयसम्यग्दर्शन कभी भी नहीं होता। पैसे से सुख माने, उसने जीव और अजीव को एक माना है। धर्म करने से भव मिलता है, ऐसा माननेवाला संवर और आस्रव को एक मानता है। इस प्रकार नौ को नौ पृथक् जाने नहीं, उसे कभी धर्म नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ तत्त्व जैसे हैं, वैसे रागसहित माने, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। वह भी व्यवहार कब कहलाये? व्यवहार का विकल्प उठता है, वह मैं नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, ऐसे अपने आत्मा की रागरहित प्रतीति करे और निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करे तो पूर्व के नौ तत्त्वादि के विकल्प को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं। अपूर्णदशा में तत्त्वों के विकल्प का राग आये बिना नहीं रहता, तथापि राग, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। रागरहित प्रतीति है, वह सम्यग्दर्शन है। वह जहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन होता है, वहाँ ऐसी व्यवहारश्रद्धा होती है, इसलिए यहाँ निश्चय-व्यवहार दोनों बातें कही हैं।

वही पदार्थों का जो यथार्थ अनुभवन, वह सम्यग्ज्ञान है। शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से जो ज्ञान प्रगट होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। तब छह द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, नौ तत्त्व हैं, इत्यादि का व्यवहारज्ञान होता है। जो जीव शरीर की क्रिया से धर्म माने, आत्मा से शरीर

चलता है—ऐसा माने, उसे धर्मदशा में निमित्त कौन होता है, उसकी खबर नहीं। जिसे धर्म करना हो, उसे छह द्रव्य का तथा नौ तत्त्व का ज्ञान विकल्प द्वारा यथार्थ रीति से होना चाहिए। व्यवहारज्ञान खोटा हो, उसे धर्म नहीं होता।

अब चारित्र की बात करते हैं। पाँच इन्द्रिय के विषयों में जिसने अति दृढ़ता से प्रवृत्ति नहीं की, ऐसे भेदविज्ञानी जीवों का जो राग-द्वेषरहित शान्तस्वभाव, वह सम्यक्चारित्र है।

पाँच इन्द्रियाँ तथा उनके विषय, भावेन्द्रिय और त्रिकाली शुद्ध आत्मा, ऐसे तीनों के बीच जिसे भेदज्ञान वर्तता है, उसे चारित्र होता है। इसके बिना चारित्र नहीं होता। अन्तर स्थिरता, वह चारित्र है। यह मेरे परिचयवाले हैं या अपरिचयवाले हैं—ऐसा विकल्प जिसे उठता नहीं, परन्तु स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उसे चारित्र होता है। संसार में अपरिचयवाला व्यक्ति आदर न करे तो जीव को कुछ नहीं होता परन्तु परिचित व्यक्ति यथायोग्य आदर न करे तो खदबदाहट होती है। यहाँ कहते हैं कि आत्मा को किसी के साथ परिचय नहीं है, बाहर के अपरिचयी या परिचयी दोनों के साथ उपेक्षाभाव वर्तता है। आत्मा में सबका अभाव है। मुझे तो मेरे अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों के साथ परिचय है, ऐसा समझकर, अन्तर में स्थिर होना, वह चारित्र है। चाहे जो जीव हो, प्रशंसा करे या निन्दा करे, परिचित मकान हो या खेत हो, मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानदशा में राग-द्वेषादि करता था, वह स्वभाव का परिचय करके अन्दर उदासीन होकर स्वभाव की दृढ़ता बढ़ गयी। सम्यग्दृष्टि को अभी आसक्ति होती है। यहाँ तो उस आसक्ति को भी स्वभाव के अवलम्बन से तोड़ डाले, वह चारित्र है।

अज्ञानी जीवों को मन में लगता है कि यह पुत्र को या यह मेरे जानवरों को पूरी जिन्दगी पुष्टि देकर बड़ा किया था और अब यह मेरे विरुद्ध कैसे वर्तते हैं। तो उससे कहते हैं कि भाई! तूने किसी जीव को पुष्टि नहीं दी है, तेरे भाव ने विकार को पुष्टि दी है। वह विकार भी तेरा तत्त्व नहीं है। विकाररहित शान्त स्वभाव में स्थिर हो तो शान्ति होती है।

यह जीव मेरा आदर करता है और यह मेरा आदर नहीं करता, ऐसा जो मानता

है, उसे दृष्टि में पदार्थों में ज्ञेयरूप से नहीं रहता, वह जीव परद्रव्यों में घालमेल करता है। और जो जीव स्त्री, पुत्र को छोड़ने से संसार छूटता है, ऐसा मानता है, उसे वस्तु की खबर नहीं। छह महीने के बालक को पेट में दर्द होता हो तो कहाँ दर्द होता है और किस प्रकार मिटेगा, यह बालक को खबर नहीं पड़ती, उसी प्रकार अज्ञानी जीव को संसार कहाँ रहता होगा और कहाँ से छोड़ना, यह खबर नहीं पड़ती। स्त्री-पुत्र आत्मा में घुस नहीं गये कि उन्हें छोड़ना रहे। वे तो तीनों काल पृथक् पड़े हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द भिन्न है, ऐसा भान हुए बिना चारित्र नहीं हो सकता। जिस पर्याय ने शुद्ध आत्मा को विषय किया है और परविषयों की तथा कुटुम्बादि की उपेक्षा की है और स्वभाव में स्थिर हुआ है, वह चारित्र है। आत्मा रागरहित है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करके अन्तर शान्तस्वरूप में स्थिर होना, वह चारित्र है।

वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल १, शुक्रवार

भावार्थ - जीवों को अनादि अविद्या के प्रभाव से पदार्थों की विपरीत श्रद्धा है। अपना आत्मा शुद्ध और आनन्दस्वरूप है, ऐसा नहीं मानकर मेरे ज्ञान और आनन्द पर में से आते होंगे और परपदार्थ मेरे कारण से निभते होंगे, ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन है। शरीर, मन, वाणी पृथक् होने पर भी, उनकी मदद से मुझे शान्ति है—ऐसा मानना अज्ञान है। अनादि से अज्ञानी जीव को ऐसी विपरीत श्रद्धा है।

काललब्धि के प्रभाव मिथ्यात्व नष्ट होता है, तब पदार्थों की यथार्थ प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। काललब्धि का अर्थ स्व-पर्याय का पुरुषार्थ स्वयं ज्ञानानन्दस्वभावी है, ऐसी रुचि होना और वर्तमानदशा में स्वभाव प्रगट करने की योग्यता, उसे काललब्धि कहते हैं। अपने स्वभाव की प्रतीति होती है, उसे नौ पदार्थ की यथार्थ प्रतीति होती है, जीव को जीव जाने, जड़ को जड़ जाने, पुण्य-पाप को विकार जाने, त्रिकाली स्वभाव को शुद्ध जाने, उसे यथार्थ प्रतीति है।

अज्ञानी जीव को पर की महिमा आती है। पुत्र का विवाह हो, उसकी महिमा आती है। गहने की महिमा आती है, पैसे की महिमा आती है, वह सब अज्ञानभाव है।

पूर्व के पुण्य जल जाते हैं, तब पैसे मिलते हैं। जीव उसमें हर्षित होता है। ऐसे संयोग अनन्त बार मिले हैं। उसमें विशिष्टता नहीं है और किसी को दया, दानादि के शुभभाव का माहात्म्य आता है, इस प्रकार पर और विकार का माहात्म्य आना, वह अज्ञान है। अपने शुद्ध आत्मा का माहात्म्य नहीं आता, इसलिए जीव भटकता है।

और जीव अपनी पर्याय में पुरुषार्थ उठाता है, तब मिथ्यात्व नष्ट होता है और जीव को जीव जाने, अजीव को अजीव जाने, ऐसे नौ पदार्थ को पृथक्-पृथक् जाने, उसमें शुद्ध आत्मा की प्रतीति आ जाती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। वह बीजभूत है उसमें से केवलज्ञान प्रगट होता है। आम के लिये आम का बीज बोना चाहिए, आँक का नहीं चलता। उसी प्रकार पुण्य-पाप की रुचि करे और संसार में से भटकना मिटे, ऐसा नहीं होता। शुद्ध चैतन्य सूर्य स्वभावी आत्मा है, उसकी श्रद्धा करना, वह बीजभूत है, उसमें से केवलज्ञान प्रगट होता है। नौ पदार्थों की यथार्थ प्रतीति में आत्मा की प्रतीति आ जाती है। जिससे स्वभाव का मान आवे और पर का मान गल जाये, वह मानस्तम्भ है। आत्मा विशाल भाव मानस्तम्भ है। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूपी है और दूसरेरूप नहीं, ऐसी निर्विकल्प प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है और वह केवलज्ञान का बीज है।

अब ज्ञान की बात करते हैं। मिथ्यात्व के उदय से संशय, विमोह, विभ्रमस्वरूप पदार्थों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार नाव पर बैठे हुए को बाहर के स्थिर पदार्थ चलते हुए दिखते हैं, उसे विपरीत ज्ञान कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र अपने कारण से आते-जाते हैं, तथापि अज्ञानी जीव को ऐसा लगता है कि वे चीज़ें मेरे लिये आती होंगी! वे चीज़ें क्षेत्र से, काल से, और भाव से संयोगी हैं, इसलिए वियोग होगा ही, तथापि अज्ञानी को लगता है कि वे मेरे लिये आयी हैं और जाती हैं। सब मुझे छोड़कर चली गयी - ऐसा वह मानता है। इस प्रकार वह उल्टा माना करता है।

पद्मनन्दि पंचविंशति में दान अधिकार मुनियों ने लोभरूपी बेखड़ में फँसते हुए जीवों को खींचने के लिये लिखा है और वह वाँचन होता है, तब उल्टे जीवों को ऐसा लगता है कि 'मुझसे पैसे निकलवाने के लिये यह दान अधिकार पढ़ा जा रहा है', प्ररूपणा में ऐसा आवे कि आत्मा सिद्ध समान है तो उल्टा व्यक्ति ऐसा कहता है कि

'हमको तो सिद्धस्वरूप कहीं दिखता नहीं।' और अज्ञानी मानता है कि पैसा हो तो निवृत्ति ली जाये, वह भी विपरीतता है। निवृत्ति पर से नहीं ली जाती। उसे कुदेवादि सच्चे लगते हैं, सच्चे देव कुदेव लगते हैं और कोई कहता है कि 'पुण्य के बिना सुनने का मिले? और सुने बिना धर्म हो?' यह बात सुनते हुए अज्ञानी को तुरन्त ही लगता है कि पुण्य से धर्म होता है। इस प्रकार जिसका ज्ञान विपरीत है, उसे सब उल्टा लगता है। अज्ञानी कुदेव को सुदेव मानता है; सुदेव को कुदेव मानता है। सुमार्ग को कुमार्ग मानता है; कुमार्ग को सुमार्ग मानता है और जैसे जिसे सर्प ने काट लिया है, उस जीव को नीम कड़वा नहीं लगता है परन्तु मीठा लगता है; इसी प्रकार मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी जहर जिसमें है, उस जीव को उल्टी बात तुरन्त ही जँच जाती है परन्तु जब जीव को मिथ्या भ्रान्ति नष्ट होती है, तब पदार्थों का यथार्थ ग्रहण होता है, उस ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। यहाँ अक्षर ज्ञान की बात नहीं। चिदानन्द मेरा स्वरूप है—ऐसा ज्ञान ने ज्ञान में पकड़ा, वह स्वसंवेदन ज्ञान है और वह आत्मतत्त्व के अनुभवन की प्राप्ति का मूल कारण है।

अब चारित्र की बात करते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति के प्रभाव से कुमार्ग से निवृत्ति होकर रागरहित परिणाम हुए, उसे चारित्र कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव के कहे हुए मार्ग के अतिरिक्त सभी मार्ग कुमार्ग हैं। लोग शरीर की क्रिया इत्यादि को योग कहते हैं, वे सब उल्टे रास्ते हैं, सब होकर एक पदार्थ नहीं। भगवान ने दर्शन दिये, इसलिए कल्याण हुआ, ऐसा कोई मानता है, वे सब कुमार्ग हैं। उस कुमार्ग से निवृत्ति होना चाहिए।

सर्वज्ञ कहते हैं, तद्नुसार छह द्रव्य स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा यथार्थरूप से जानना चाहिए। यह जाने बिना 'यह सच्चा होगा या दूसरा सच्चा होगा'—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव वीर्य को खण्ड-खण्ड करके कुमार्ग में भटका करता है। इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति से समस्त कुमार्ग में से निवृत्त होकर जो आत्मस्वरूप में लीन होता है, उसे चारित्र होता है।

देह की क्रिया या पाँच महाव्रत के परिणाम चारित्र नहीं हैं तथा दो पूड़ी खाये

और ब्रह्मचर्य पालन करे, वह भी चारित्र नहीं है। पदार्थों में से इष्ट-अनिष्ट की कल्पना छोड़कर राग-द्वेषरहित रूप से आत्मस्वभाव में निर्विकार परिणाम होना, वह सम्यक्चारित्र है। मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ, ऐसे भान बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं; सम्यग्दर्शन बिना चारित्र होता नहीं; चारित्र बिना केवलज्ञान होता नहीं और केवलज्ञान बिना मुक्ति होती नहीं।

चारित्रदशा उत्पन्न होने से संसार उत्पन्न नहीं होता। चारित्र, वह मोक्षमार्ग है— वह मोक्ष का कारण है। यहाँ सच्चे चारित्र की बात है। अकेला द्रव्यलिंग धारण करे या महाव्रत पालन करे, वह चारित्र नहीं है। आत्मा के भानसहित अन्तर्लीनता होना, वह चारित्र है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन है, वह पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र ऐसे तीनों की एकता, वह मोक्षमार्ग है, उसमें से एक की कमी हो तो मोक्षमार्ग नहीं है।

जिस प्रकार रोगी को औषधि का श्रद्धान, ज्ञान और उपचार तीन प्रकार होते हैं, तब रोगी रोग से मुक्त होता है। उसमें से एक न हो तो रोग नहीं जाता, परन्तु तीनों उपचार साथ में हों तो रोग जाता है। यह दृष्टान्त है। रोग तो रोग के कारण से मिटता है, तब यह तीन निमित्त होते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता से मोक्षमार्ग होता है, अकेले से नहीं होता।

अब निश्चय-व्यवहारनयों की अपेक्षा से मोक्षमार्ग कहते हैं। सम्यग्दर्शन और ज्ञान द्वारा नौ पदार्थ जानने में आते हैं। उन नौ पदार्थों का संक्षेप स्वरूप तथा नाम कहते हैं। ●●

गाथा - १०८

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो[1] मोखो य हवंति ते अट्ठा।।१०८।।

जीवाजीवौ भावौ पुण्यं पापं चास्रवस्तयोः।
संवरनिर्जरबंधा मोक्षश्च भवन्ति ते अर्थाः ।।१०८।।

समयव्याख्या : पदार्थानां नामस्वरूपाभिधानमेतत्। जीवः, अजीवः, पुण्यं, पापं, आस्रवः, संवरः, निर्जरा, बंधः, मोक्ष इति नवपदार्थानां नामानि। तत्र चैतन्यलक्षणो जीवास्तिक एवेह जीवः। चैतन्याभावलक्षणोऽजीवः। स पञ्चधा पूर्वोक्त एव - पुद्गलास्तिकः, धर्मास्तिकः, अधर्मास्तिकः, आकाशास्तिकः, कालद्रव्यञ्चेति। इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्त्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ। जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ताः सप्तान्ये पदार्थाः। शुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानाञ्च पुण्यम्। अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानाञ्च पापम्। मोहरागद्वेषपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानाञ्चास्रवः। मोहरागद्वेषपरिणामनिरोधो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानाञ्च संवरः। कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गंतरङ्गतपोभिर्बृंहितशुद्धोपयोगो जीवस्य, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्त-कर्मपुद्गलानाञ्च निर्जरा। मोहरागद्वेषस्निग्धपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तेन कर्मत्वपरिणतानां जीवेन सहान्योन्यसंमूर्च्छनं पुद्गलानाञ्च बंधः। अत्यंतशुद्धात्मोपलम्भो जीवस्य, जीवेन सहात्यंतविश्लेषः कर्मपुद्गलानां च मोक्ष इति ।।१०८।।

फल जीव और अजीव तद्गत पुण्य एवं पाप हैं।
आसरव संवर निर्जरा अर बन्ध मोक्ष पदार्थ हैं।।१०८।।

अन्वयार्थ :— [जीवाजीवौ भावौ] जीव और अजीव—दो भाव (अर्थात् मूल पदार्थ) तथा [तयोः] उन दो के [पुण्यं] पुण्य; [पापं च] पाप, [आस्रवः] आस्रव, [संवरनिर्जरबंधः] संवर, निर्जरा, बन्ध [च] और [मोक्षः] मोक्ष— [ते अर्थाः] वह (नव) पदार्थ हैं।

---

१. संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्ठा। - ऐसा पाठान्तर है।

टीका :— यह, पदार्थों के नाम और स्वरूप का कथन है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष —इस प्रकार नव पदार्थों के नाम हैं।

उनमें, चैतन्य जिसका लक्षण है, ऐसा जीवास्तिक ही (—जीवास्तिकाय ही) यहाँ जीव है। चैतन्य का अभाव जिसका लक्षण है, वह अजीव है: वह (अजीव) पाँच प्रकार से पहले कहा ही है—पुद्गलास्तिक, धर्मास्तिक, अधर्मास्तिक, आकाशास्तिक और कालद्रव्य। यह जीव और अजीव (दोनों) पृथक् अस्तित्व द्वारा निष्पन्न होने से भिन्न जिनके स्वभाव हैं, ऐसे (दो) मूल पदार्थ हैं।

जीव और पुद्गल के संयोगपरिणाम से उत्पन्न सात अन्य पदार्थ हैं। (उनका संक्षिप्त स्वरूप निम्नानुसार हैं :—) जीव के शुभ परिणाम (वह पुण्य हैं) तथा वे (शुभ परिणाम) जिसका निमित्त हैं, ऐसे पुद्गलों के कर्मपरिणाम (-शुभकर्मरूप परिणाम) वह पुण्य हैं। जीव के अशुभ परिणाम (वह पाप हैं) तथा वे (अशुभ परिणाम) जिसका निमित्त हैं, ऐसे पुद्गलों के कर्मपरिणाम (-अशुभकर्मरूप परिणाम) वह पाप हैं। जीव के मोहरागद्वेषरूप परिणाम, (वह आस्त्रव हैं) तथा वे (मोहरागद्वेषरूप परिणाम) जिनका निमित्त हैं, ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के कर्मपरिणाम, वह आस्त्रव हैं। जीव के मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध, (वह संवर है) तथा वह (मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध) जिसका निमित्त है, ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के कर्मपरिणाम का निरोध, वह संवर है। कर्म के वीर्य का (-कर्म की शक्ति का) [१]शातन करने में समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अन्तरंग (बारह प्रकार के) तपों द्वारा वृद्धि को प्राप्त जीव का शुद्धोपयोग, (वह निर्जरा है) तथा उसके प्रभाव से (—वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के निमित्त से) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलों का एकदेश [२]संक्षय वह निर्जरा है। जीव के, मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध परिणाम (वह बन्ध है) तथा उनके (—स्निग्ध परिणाम के) निमित्त से कर्मरूप परिणत पुद्गलों का जीव के साथ अन्योन्य अवगाहन (—विशिष्ट शक्ति सहित

---

१. शातन करना= पतला करना; हीन करना; क्षीण करना; नष्ट करना।

२. संक्षय=सम्यक् प्रकार से क्षय।

एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध), वह बन्ध है। जीव की अत्यन्त शुद्ध आत्मोपलब्धि, (वह मोक्ष है) तथा कर्मपुद्गलों का जीव से अत्यन्त विश्लेष (वियोग) वह मोक्ष है॥ १०८॥

गाथा - १०८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल १, शुक्रवार)

एक जीव पदार्थ और एक अजीव पदार्थ, एक पुण्य पदार्थ और एक पाप पदार्थ, उन दोनों—पुण्य-पापों का आत्मा में आना, वह एक आस्रव पदार्थ है। संवर, निर्जरा और बन्ध ये तीन पदार्थ हैं और मोक्ष एक पदार्थ है। इस प्रकार जो है, वह नौ पदार्थ होते हैं।

जीव - नौ पदार्थों में जीव एक पदार्थ है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा असंख्य प्रदेशी और अनन्त गुणवाला है। ऐसे अनन्त आत्मा हैं, परन्तु जाति से एक है। कोई एक ही आत्मा माने, कोई एकान्त अनित्य माने, कोई नया उत्पन्न हुआ माने तो वे सब मिथ्या हैं।

अजीव - अजीव के पाँच भेद हैं। एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाश, असंख्य कालाणु तथा अनन्त पुद्गल हैं। इस प्रकार पाँच भेद अजीव के जानना।

पुण्य - दया, दान, पूजा, भक्ति, कोमलता के परिणाम, पाँच महाव्रत के परिणाम, वे भावपुण्य हैं।

पाप - हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि परिणाम, वे भावपाप हैं।

आस्रव - पुण्य-पाप के भाव होना, वह आस्रव है। वह जीव से भिन्न तत्त्व है। कितने ही जीव दया, दान के भाव को पाप कहते हैं, कोई जीव आस्रव को जीव के साथ अभेद करते हैं, वह धूल है। पुण्य-पाप जीव की पर्याय में होते हैं। परन्तु वह शुद्ध जीवतत्त्व नहीं है।

कोई जीव दया, दान को पाप कहे, कोई दया, दान से धर्म मनावे, दोनों भूल में हैं। जीव से शरीर चलता है, ऐसा कोई माने, अजीव से जीव में कार्य होता है - ऐसा कोई माने तो वह भूल है। ऐसा मानने से जीव और अजीवतत्त्व नहीं रहते। और कोई

जीव देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के राग से धर्म मानता है तो आस्रव और संवर एक हो जाते हैं। कर्म के कारण विकार माना जाये तो आस्रव और अजीव एक हो जाते हैं। मनुष्य देह के कारण धर्म माने तो संवर और अजीव एक हो जाते हैं। पाँच महाव्रत के कारण धर्म माने तो आस्रव से संवर मानता है, वह भूल है।

संवर - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वे संवर हैं। पुण्य से धर्म माने, शरीर की अनुकूलता के कारण धर्म माने तो संवरतत्त्व नहीं रहता।

निर्जरा - आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि होना, वह निर्जरा है। अज्ञानी जीव रोटी नहीं खाने को निर्जरा मानते हैं। वे अजीव को निर्जरा मानते हैं। आत्मा के आश्रय से होनेवाली शुद्धता बढ़ती है, वह निर्जरा है। जो नौ को नौ न जाने, उसका व्यवहार भी सच्चा नहीं। उसे धर्म नहीं होता।

वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल २, शनिवार

कल निर्जरातत्त्व तक बात आयी थी।

बन्ध-राग-द्वेषादिभावों में अटक जाना, वह बन्ध है और

मोक्ष - विकारी भावों से सम्पूर्ण मुक्त होना, वह मोक्ष है। इस प्रकार नौ पदार्थों को जैसा है, वैसा श्रद्धा में लेना चाहिए।

भावार्थ - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष—ऐसे नौ पदार्थ जानना चाहिए।

(१) **जीव** - आत्मा चेतन पदार्थ है। पुण्य-पाप करे, वह आत्मा नहीं। 'देह भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान जो', देह से भिन्न अकेले जानने-देखने के उपयोगवाला वह जीव है। पुण्य-पाप करे अथवा शरीरादि की क्रिया करे, वह आत्मा नहीं। जैसे राजा को उसके योग्य इलकाव से प्रार्थना करे तो सुनता है, उसी प्रकार चैतन्य राजा जैसा है, वैसा प्रार्थना में लिखे अर्थात् कि ज्ञान में ले तो आत्म राजा प्रसन्न होता है। शरीरादि पर हैं और दया, दान के भाव, वह विकार है, आत्मा उनसे भिन्न है, ऐसा जाने तो भेदज्ञान हो और तो शान्ति हो।

अज्ञानी जीव कहते हैं कि पूर्व में पुण्य किया था तो यह सब संयोग मिले और उन्हें जीव भोगता है। उससे कहते हैं कि भाई! संयोगों को जीव भोगता नहीं, सुख-दु:ख की वृत्ति होती है, वह भी जीव नहीं है तथा संवर-निर्जरा की पर्याय भी एक समय की है, वह भी त्रिकाली जीवतत्त्व नहीं है। जीव चेतना लक्षणवाला है, वह क्या करे? जीव मन, वाणी, देह की क्रिया करनेवाला नहीं है परन्तु जानने-देखने के स्वभाववाला है। अफीम का स्वभाव कड़वा है, वैसे आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है। रागादि की उत्पत्ति जीव का स्वरूप नहीं है। यदि राग, जीव का स्वरूप हो तो सिद्ध में भी राग रहना चाहिए। सिद्ध वीतराग है, इसलिए राग जीव का स्वरूप नहीं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह जीव है। जितने आत्मा हैं, वे सब चैतन्य प्रभुत्व से भरपूर हैं। अज्ञानी को खबर नहीं, वह अपने स्वभाव को भूलता है, वह अधर्म है। अज्ञानी जीव दया-दान में धर्म मान रहा है, परन्तु वह विकारी पर्याय जीव का मूल स्वभाव नहीं है; जीव का स्वभाव निरूपाधिमय शान्त है। इस प्रकार जीव का ज्ञातादृष्टा स्वभाव जानना, वह धर्म है।

(२) चेतनारहित जड़ पदार्थ **अजीव** है। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, और कालद्रव्य, ये पाँच प्रकार के अजीव हैं। शरीर, मन, वाणी, दाल, भात, हीरा, माणेक, बँगला, पैसा जड़ पुद्गल है, अजीव है। उसे अपना मानना, वह अधर्म है। 'यह मेरा मकान है, ये मेरे पुत्र हैं', यह मेरे हैं, ऐसा कहने पर वे परपदार्थ हैं और वे मुझसे भिन्न हैं, ऐसा निश्चित् होता है।

जीव, वह जीव है, अजीव नहीं; अजीव वह अजीव है, जीव नहीं। ऐसा होने पर भी, मुझसे वाणी बोली गयी, कर्म मुझे हैरान करते हैं—ऐसा मानना, वह अज्ञानभाव है। घर में नौ लड़के हों तथापि पाँच लड़के हैं, ऐसा कहे तो खोटा है। उसी प्रकार तत्त्व नौ हैं, उससे कम माने तो भूल है। इसलिए शरीरादि पुद्गल का स्वामी आत्मा नहीं है, आत्मा उससे भिन्न है।

(३) जो जड़ (पुद्गल) और चैतन्यपदार्थ गमन करे, उसे गति में सहाय करे, वह धर्मद्रव्य है। वह चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त अरूपी अखण्ड द्रव्य है, यह सब ज्ञान किये बिना ध्यान करे तो जड़ हो जाये, आत्मा और दूसरे पाँच द्रव्य जैसे हैं, वैसे मानना चाहिए।

(४) जड़ (पुद्गल) और चैतन्यपदार्थ जो गमन करके स्थिर होते हैं, उसमें अधर्मद्रव्य निमित्त है। वह चौदह ब्रह्माण्ड में व्याप्त अरूपी अखण्ड द्रव्य है, उसका ज्ञान में ख्याल आ सकता है। उसे न माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

(५) लोकालोक प्रमाण आकाश अरूपी अखण्ड द्रव्य है। वह सब पदार्थों को अवगाहन देता है।

(६) असंख्य कालाणु हैं, अरूपी तत्त्व हैं। एक कालाणु में अनन्त गुण हैं। जो काल को स्वीकार नहीं करता और नौ तत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है, उसे आत्मा की समझ कभी नहीं होती।

इस प्रकार अजीव के पाँच भेद जानना।

छह पदार्थ अनादि-अनन्त मूल वस्तु है। आत्मा चिदानन्दस्वरूपी वस्तु है तथा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी सहज मूल वस्तु है। किसी ने उन्हें बनाया नहीं है। जीव और अजीव दो हैं। दोनों हैं, ऐसा कब माना कहलाये? एक-दूसरे के कारण नहीं, ऐसा स्वतन्त्र माने तो। इसके अतिरिक्त सात पदार्थ अलग हैं, यह जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। जीवतत्त्व में द्रव्य तो त्रिकाल है और उसकी पर्याय में सात भंग होते हैं। और कर्म की पर्याय में सात भंग होते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, में ये सात भंग नहीं होते तथा कर्म के अतिरिक्त दूसरे पुद्गलों में यह सात भेद नहीं होते। **तेरी जाति शुद्ध चैतन्यद्रव्य की है, वह तेरी पर्याय में तेरे कारण से पुण्य-पाप आदि सात भेद होते हैं और अजीवद्रव्य त्रिकाल है और उसकी सात पर्यायें जड़ के कारण से होती है। इस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञान करे तो आत्मा की ओर उन्मुखता हुए बिना न रहे।**

यह सात भेद बतलाते हैं।

पुण्य - आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावी है। उसकी पर्याय में दया, दानादि के परिणाम होते हैं, महाव्रतादि के परिणाम, नमस्कार मन्त्र बोलने का भाव, वह भाव पुण्य है। वह जीवतत्त्व नहीं, अजीवतत्त्व नहीं, तथा धर्म अथवा संवरतत्त्व नहीं। तथा पापतत्त्व नहीं। अरूपी आत्मा की पर्याय है। पर्याय को पर्याय जाने, त्रिकाली द्रव्य को द्रव्य जाने।

शरीर, मन, वाणी को अजीव जाने तो भेदज्ञान होता है। जैसे लौकिक में अन्तर्जातीय विवाह नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ नौ तत्त्वों की जाति अलग है। मैं पैसा कमा सकता हूँ, रुपये सम्हाल सकता हूँ, ऐसा जो मानता है, वह जीव और अजीव को एक करता है।

अज्ञानी जीव शुभ का कर्ता होता है। दया, दानादि परिणाम एक समय की पर्याय है। वह त्रिकाल स्वभाव से भिन्न है—ऐसा जाने तो सम्यग्दर्शन होता है।

भावपुण्य का निमित्त पाकर साता आदि के परमाणु बँधते हैं, उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। उस द्रव्यपुण्य से भावपुण्य भिन्न है और भावपुण्य से जीवतत्त्व भिन्न है। जड़ पुण्य परमाणु की पर्याय है। भावपुण्य जीव की एक समय की पर्याय है। वह शाश्वत् स्वरूप नहीं और शुद्ध जीव त्रिकाली तत्त्व है, ऐसा भेदज्ञान करे तो धर्म और शान्ति होती है। और कर्म में पुण्यरूप होने की योग्यता होती है, तब शुभभाव को निमित्त कहा जाता है। दोनों स्वतन्त्र है। दोनों से जीवतत्त्व भिन्न है। ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व का ज्ञान करना, वह सम्यग्ज्ञान है।

पाप - हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणाम की अस्ति दिखती है, वह एक समय की अवस्था है। वह जड़ में नहीं, जड़ के कारण नहीं, परन्तु अपने अपराध के कारण एक समय की अवस्था में होते हैं, उनका निमित्त पाकर नीच गोत्र इत्यादि पाप की प्रकृति बँधती है, वह द्रव्य पाप है। पुद्गल वर्गणायें पापरूप परिणमती हैं। वे अपने कारण से हैं, भावपाप के कारण नहीं। भावपाप निमित्तमात्र है, भावपाप पृथक् द्रव्य है और द्रव्यपाप पृथक् है और इन दोनों से जीवतत्त्व भिन्न है, ऐसा ज्ञान करना चाहिए।

आस्रव - पर को लाभ कर दूँ, ऐसा भाव तथा राग-द्वेषादि के परिणाम करना, वह भाव आस्रव है। आत्मा की वर्तमान दशा में मोह, राग, द्वेष के परिणाम, वह भाव आस्रव है, वह एक समय की पर्याय है, वह जीवतत्त्व नहीं तथा संवरतत्त्व नहीं। भाव आस्रव का निमित्त पाकर मन-वचन-काया के योग द्वारा जड़कर्म के परमाणुओं का आना होता है, वह द्रव्य आस्रव है। वह जड़ की अवस्था है। जितने प्रमाण में राग-

द्वेषादि के परिणाम करे, उतने ही प्रमाण में कर्म परमाणु का आस्रव होता है, तथापि भाव आस्रव और द्रव्य आस्रव एक-दूसरे के पराधीन नहीं हैं। दोनों स्वतन्त्र हैं, एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक मेल है। इन दोनों से जीवतत्त्व भिन्न है।

संवर - जीव के मोह, राग, द्वेषादि विकारी भावों को रोकनेवाला भाव, वह भावसंवर है। विकारी भावों को रोकना, यह कथन भी नास्ति से है।

मैं आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसे भावपूर्वक अन्तर समझण की क्रिया हुई तो मिथ्याभ्रान्ति आदि के परिणाम उत्पन्न नहीं हुए। उसने विकारी परिणाम रोके, ऐसा कहा जाता है। परिणाम होने के पश्चात् उन्हें रोके, ऐसा अर्थ नहीं है, शुद्धचैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से पुण्य-पाप के परिणाम नहीं होते, उसे धर्म कहते हैं।

लोग देह की क्रिया को - अमुक जगह अमुक घण्टे बैठा - उसे संवर कहते हैं, वह स्थूल अज्ञानभाव है, शुद्ध आत्मा के भानपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान रमणता होना, वह भावसंवर है, वह भी एक समयमात्र की अवस्था है। आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं। यहाँ तो निमित्तबुद्धि और पर्यायबुद्धि उड़ाते हैं और शुद्ध त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि कराते हैं। उसका अवलम्बन ले तो संवर प्रगट होता है। जीवों को अभी आस्रव के स्वरूप की खबर नहीं है, नौ को नौ न मानना, वह मिथ्यात्व का आस्रव है, ऐसे पाँच प्रकार के आस्रव हैं। उस आस्रव को चैतन्य के भान द्वारा रोकना, वह संवर और धर्म है। भाव संवर का निमित्त पाकर मन, वचन, काया के योगों द्वारा पुद्गलवर्गणाओं के आगमन का निरोध करना, वह द्रव्य संवर है। यह भी निमित्त से कथन है। कर्म आनेवाले थे और आत्मा ने उन्हें जबरदस्ती रोक दिया, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। कर्मों की आने की योग्यता ही नहीं थी। उस समय जीव के भाव संवर की जीव की पर्याय की योग्यता है। दोनों एक समय में है, तथापि दोनों स्वतन्त्र है। दोनों से आत्मा न्यारा है, ऐसी पृथक्ता का भेदज्ञान करना, वह धर्म है।

निर्जरा - आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूपी है। उसके भानपूर्वक अन्तर में रमणता होना, वह शुद्ध उपयोग है, उसे भाव निर्जरा कहते हैं। कर्मों की शक्ति घटाने को समर्थ बहिरंग-अन्तरंग तपों से वर्धमान ऐसा जो शुद्ध उपयोग, उसे भाव निर्जरा कहते हैं।

वास्तव में अन्तरंग तप से ही भावनिर्जरा है। बहिरंग तप उपचारमात्र है। बहिरंग उपवासादि तप, वह पुण्य का कारण है। रोटियाँ न खाना, उसे लोग तप कहते हैं। भाई! जड़ के परमाणु का संयोग नहीं हुआ, वह तो जड़ के कारण से है। अन्तर में कषाय मन्दता के परिणाम किये, वह शुभ है - पुण्य है। उसे धर्म मानना, वह मिथ्याभाव है। उस पुण्य और जड़ की क्रिया से रहित अन्तर चिदानन्दस्वभाव शुद्ध है, ऐसा भान करना और अन्तरलीनता करना, वह शुद्ध उपयोग, वह निर्जरा है। वह एक समयमात्र की अवस्था है। आत्मा भावनिर्जरा जितना नहीं है। आत्मा त्रिकाली है, ऐसा भेदज्ञान करना चाहिए।

इस भाव निर्जरा का निमित्त पाकर पूर्वोपार्जित कर्मों का नीरस भाव होकर एकदेश क्षय हुआ, उसे द्रव्य निर्जरा कहते हैं, यह भी निमित्त से कथन है। आत्मा कर्मों का क्षय नहीं कर सकता। वह परमाणु स्वयं उनकी योग्यता से एकदेशरूप क्षय होते हैं, वह द्रव्य निर्जरा है। ऐसी भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा दोनों स्वतन्त्र है। आत्मा द्रव्यनिर्जरा से भिन्न है और आत्मा भावनिर्जरा जितना नहीं। परन्तु शुद्ध त्रिकाली है, ऐसा भेदभान करना धर्म है।

(वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ३, रविवार)

धर्म कैसे हो, उसकी बात चलती है। नौ तत्त्व को भलीभाँति जाने तो चैतन्यस्वरूप सन्मुख ढलकर एकाग्र होकर मुक्ति प्राप्त करे। आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव है। जानना-देखना उसका धर्म है। शरीर, मन, वाणी अजीव है। अजीव से जीव भिन्न है। दया, दानादि के भाव पुण्य हैं, वे आत्मा की पर्याय में होते हैं, उसे भाव पुण्य कहते हैं और उसका निमित्त पाकर रजकण बँधें, उसे द्रव्यपुण्य कहते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी पापतत्त्व है। उसके निमित्त से परमाणु बँधते हैं, उसे द्रव्यपाप कहते हैं। पुण्य-पाप के परिणाम को आस्रव कहते हैं और उसके निमित्त से परमाणु आवें, उसे द्रव्य आस्रव कहते हैं।

संवर - आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप है। अजीव तथा पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर स्वभाव का भान होना, वह भाव संवर है। उसके निमित्त से कर्मों का रुकना, वह द्रव्य

संवर है। नये कर्म आनेवाले थे, वे अटक गये, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। शुद्धचैतन्यस्वभाव में लीनता होने पर विकारादि न होना और कर्म स्वयं आते हुए रुक गये, वे संवर है। इस संवर बिना अथवा सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान और तप नहीं होते हैं। जिसे आत्मा का भान है, वह जीव जानता है कि चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में जितना पर का आश्रय छूटता है और स्वभाव का आश्रय वर्तता है, उतनी शुद्धता होती है।

निर्जरा - आज वैशाख शुक्ल ३ का दिन है। अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम पश्चात् आहारदान लेनेवाले ऋषभदेव भगवान (मुनि अवस्था में) थे और प्रथम आहार देनेवाले श्रेयांसकुमार थे। वह आज का दिन है। उन्होंने आहारदान दिया और निर्जरा कैसे हुई, उस निर्जरा का स्वरूप बताते हैं। बहिरंग तप से निर्जरा हुई, ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है। आत्मा ज्ञातादृष्टा शुद्धस्वरूपी है, संयोग की रुचि छूट गयी है और पुण्य-पाप का स्वामित्व छूट गया है। परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धापूर्वक लीनता वर्तती है—ऐसे शुद्ध उपयोग से निर्जरा होती है। भाव आस्रव का व्यय होकर निर्विकारी आनन्द का अनुभव बढ़े, उसे शुद्ध उपयोग कहते हैं। अशुद्धता हट जाना और शुद्धता बढ़ना, वह भी व्यवहार है। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से शुद्धता बढ़ती है और अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती, उसे अशुद्धता खिरी, ऐसा कहा जाता है। लोग बाहर में निर्जरा मानते हैं। दो ग्रास कम खाये और पेट खाली रखे तो निर्जरा होती है - ऐसा मानते हैं परन्तु वह तो जड़ की क्रिया है। राग की मन्दता हो, वह भी निर्जरा नहीं। अन्तर में कषाय परिणति में स्थिरता हो, वह भाव निर्जरा है। जीवों को तत्त्व की खबर नहीं। अशुभ छोड़े और शुभ करे तो निर्जरा मानते हैं। परन्तु वह निर्जरा नहीं है। उसे नौ तत्त्व का भान नहीं और आत्मा का भान नहीं। आत्मा में एकाग्रता बिना अशुद्धता का टलना और शुद्धता का उत्पाद होना किस प्रकार होगा? सभी तत्त्वों को यथार्थ जानकर शुद्ध आत्मा में स्थिरता करे तो निर्जरा होती है।

इस भाव निर्जरा का निमित्त पाकर पूर्व के कर्म नीरस होकर एकदेश खिर जाते हैं, वह द्रव्य निर्जरा है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाते हैं। आत्मा द्रव्य निर्जरा का कर्ता नहीं, परमाणु परमाणु के कारण से खिरते हैं परन्तु भाव निर्जरा को निमित्त-

नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाकर त्रिकाली आत्मा दोनों से भिन्न है, ऐसा ज्ञान कराते हैं।

बन्ध - जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम—दया, दानादि के परिणाम, वे भावबन्ध है। लाल फूल के निमित्त से स्फटिक लालरूप परिणमता है, वैसे आत्मा राग-द्वेष मिथ्यात्वभावरूप परिणमता है, वह भावबन्ध है। वह धर्म नहीं तथा धर्म का कारण नहीं है।

भावबन्ध का निमित्त पाकर कर्मवर्गणाओं का जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध होना, उसे बन्ध (द्रव्य) कहते हैं।

मोक्ष - जीव को परिपूर्ण शुद्ध आत्मस्वभाव की प्राप्ति होना, वह मोक्ष है। वह आत्मा की दशा है। वह भाव मोक्ष है। उसका निमित्त पाकर कर्म का सर्वथा सर्व प्रकार से सम्बन्ध छूटना, वह द्रव्यमोक्ष है।

यहाँ जीव के भाव के साथ कर्मों की पर्याय का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध रखा, तथापि एक के कारण दूसरा नहीं, परन्तु दोनों स्वतन्त्र हैं। बाकी के सभी पुद्गलों के साथ तथा अजीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध उड़ाया है। आत्मा जाननेवाला है और सब अजीव ज्ञेयमात्र हैं। दुकान, स्त्री, पुत्र, पैसा, शरीर, मकान—इन सबके साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं लिया है, मात्र ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है—ऐसा बताकर संयोगबुद्धि-निमित्ताधीन बुद्धि उड़ायी है। पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध विकार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है और संवर-निर्जरा-मोक्ष एक समयमात्र की अवस्था है और आत्मा त्रिकाली शुद्ध है—ऐसा बताकर पर्यायबुद्धि उड़ायी है और स्वभावबुद्धि करायी है। ऐसा समझकर जो शुद्धस्वभाव का अवलम्बन लेता है, उसे संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं और पूर्ण एकाग्रता होने पर मोक्षदशा प्रगट होती है। धर्म विवेक से प्रगट होता है। इस प्रकार नौ तत्त्व का विवेक अर्थात् भेदज्ञान करना चाहिए। ●●

गाथा - १०९

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा।।१०९।।

जीवाः संसारस्था निर्वृत्ताः चेतनात्मका द्विविधाः।
उपयोगलक्षणा अपि च देहादेहप्रवीचाराः ।।१०९।।

समयव्याख्या : अथ जीवपदार्थानां व्याख्यानं प्रपञ्चयति। जीवस्वरूपोद्देशोऽयम्। जीवाः हि द्विविधाः, संसारस्था अशुद्धा निर्वृत्ताः शुद्धाश्च। ते खलूभयेऽपि चेतनास्वभावाः, चेतनापरिणामलक्षणेनोपयोगेन लक्षणीयाः। तत्र संसारस्था देहप्रवीचाराः, निर्वृत्ता अदेहप्रवीचारा इति ।।१०९।।

अब, जीवपदार्थ का व्याख्यान विस्तारपूर्वक किया जाता है।

संसारी अर सिद्धात्मा उपयोग लक्षण द्विविध।
जग जीव वर्तेदेह में अर सिद्ध देहातीत है।।१०९।।

अन्वयार्थः—[जीवाः द्विविधाः] जीव दो प्रकार के हैं; [संसारस्थाः निर्वृत्ताः] संसारी और सिद्ध। [चेतनात्मकाः] वे चेतनात्मक (-चेतनास्वभाववाले) [अपि च] तथा [उपयोगलक्षणाः] उपयोगलक्षणवाले हैं। [देहादेहप्रवीचाराः] संसारी जीव देह में वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देह में नहीं वर्तनेवाले अर्थात् देहरहित हैं।

टीका :— यह, जीव के स्वरूप का कथन है।

जीव दो प्रकार के हैं —(१) संसारी अर्थात् अशुद्ध, और (२) सिद्ध अर्थात शुद्ध। वे दोनों वास्तव में चेतनास्वभाववाले हैं और *चेतनापरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होनेयोग्य (पहिचाने जानेयोग्य) हैं। उनमें संसारी जीव देह में वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देह में न वर्तनेवाले अर्थात् देहरहित हैं॥ १०९॥

---

* चेतना का परिणाम सो उपयोग। वह उपयोग जीवरूपी लक्ष्य का लक्षण है।

गाथा - १०९ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ३, रविवार)

जीवपदार्थ का व्याख्यान किया जाता है, जिसमें जीव का स्वरूप नाममात्र कहकर बताया जाता है।

जीव दो प्रकार के हैं। संसार में रहनेवाले जीव अशुद्ध हैं और मोक्ष अवस्था को प्राप्त हुए जीव सिद्ध हैं। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव संसारी हैं, संसार छूटे तब मुक्त होते हैं। मुक्ति में संसार नहीं और संसार में मुक्ति नहीं। संसार की पर्याय समझाते हैं। स्त्री, पुत्र वह संसार नहीं। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान संसारी हैं। चार कर्म बाकी है, इसलिए संसारी हैं, ऐसा नहीं। केवलज्ञानादि प्रगट हुए होने पर भी प्रतिजीवीगुण योग, क्रियावती, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण इत्यादि की अशुद्धता है, वह स्वयं के कारणसे है। जीव के कारण से संसार है, कर्म के कारण से संसार है नहीं। निगोद में हो या चौदहवें गुणस्थान में हो परन्तु जो अशुद्धता है, वह जीव की योग्यता से है, वह जीव का भेद है। अपने स्वभाव को चूककर होती अशुद्धता है, संसार में रहा हुआ जीव अशुद्ध है।

सिद्ध भगवान को किसी अवस्था में मलिनता नहीं है। इस प्रकार जीव के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे भेद अनादि के हैं। कोई पूछे कि पहला कौन? सिद्ध या संसारी? पहले-पश्चात् कोई नहीं, दोनों अनादि से हैं। समुच्चय की बात लेनी है। कोई पहले-पीछे नहीं, जैसे मुर्गी और अण्डे में पहले-पश्चात् नहीं है। मुर्गी के बिना अण्डा नहीं होता और अण्डे के बिना मुर्गी नहीं होती। उसी प्रकार सभी अनादि-अनन्त हैं। नौ तत्त्व अनादि से हैं। पहले-पश्चात् कोई नहीं। पहला भव कौन सा? पहला है ही नहीं। संसार अनादि से है। एक परमाणु की पर्याय पहली हरी होगी या पीली? पहले—पश्चात् नहीं, दोनों अनादि से है। यह वस्तुस्वभाव की बात है। जब तक स्वभाव जानने में न आवे, तब तक धर्मदशा प्रगट नहीं होती। संसार, सिद्ध सब अनादि से है, इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभावबुद्धि कर।

कैसे हैं जीव? जीव जानने-देखने के स्वरूपवाले हैं। अज्ञानी का स्वभाव भी

दर्शन और ज्ञान उपयोगवाला है। परन्तु उसका उसे भान नहीं है। वह अपने को राग-द्वेषवाला मान बैठा है। जीव के स्वभाव को पहिचाने बिना अज्ञानी जीव कहता है कि संसार छोड़ो, परन्तु क्या छोड़े? समझे बिना आदर किसे करे और छोड़े किसे? इसलिए जीव की पहिचान देते हैं कि जीव शुद्ध चैतन्य दर्शन-ज्ञानमय है।

और कैसा है? देहसहित जीव वह संसारी है और देहरहित है, वह मुक्त है। यह जीव की दशा का वर्णन किया। ऐसा स्वतन्त्र समझे तो धर्म पाकर मुक्ति को प्राप्त करे।

●●

गाथा - ११०

पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ।।११०।।

पृथिवी चोदकमग्निर्वायुर्वनस्पतिः जीवसंश्रिताः कायाः।
ददति खलु मोहबहुलं स्पर्शं बहुका अपि ते तेषाम् ।।११०।।

समयव्याख्या : पृथिवीकायिकादिपञ्चभेदोद्देशोऽयम्। पृथिवीकायाः, अप्कायाः, तेजःकायाः, वायुकायाः, वनस्पतिकायाः इत्येते पुद्गलपरिणामा बंधवशाज्जीवानुसंश्रिताः, अवांतरजातिभेदाद्बहुका अपि स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमभाजां जीवानां बहिरङ्गस्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिभूताः कर्मफलचेतनाप्रधानत्वान्मोहबहुलमेव स्पर्शोपलंभं संपादयन्तीति ।।११०।।

भू जल अनल वायु वनस्पति काय जीव सहित कहे।
बहु संख्य पर यति मोहयुत स्पर्श ही देती रहें।।११०।।

अन्वयार्थ :— [पृथिवी] पृथ्वीकाय, [उदकम्] अप्काय, [अग्निः] अग्निकाय, [वायुः] वायुकाय, [च] और [वनस्पतिः] वनस्पतिकाय— [कायाः] यह कायें [जीवसंश्रिताः] जीवसहित हैं। [बहुकाः अपि ते] (अवान्तर जातियों की अपेक्षा से) उनकी भारी संख्या होने पर भी वे सभी [तेषाम्] उनमें रहनेवाले जीवों को [खलु] वास्तव में [मोहबहुलं] अत्यन्त मोह से संयुक्त [स्पर्शं ददति] स्पर्श देती हैं (अर्थात् स्पर्शज्ञान में निमित्त होती हैं)।

टीका :— यह, (संसारी जीवों के भेदों में से) पृथ्वीकायिक आदि पाँच भेदों का कथन है।

[१]पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—ऐसे यह पुद्गलपरिणाम बन्धवशात् (बन्ध के कारण) जीवसहित हैं। [२]अवान्तर जातिरूप

---

१. काय = शरीर। (पृथ्वीकाय आदि कायें पुद्गलपरिणाम हैं; उनका जीव के साथ बन्ध होने के कारण, वे जीवसहित होती हैं।)

२. अवान्तर जाति=अन्तर्गत-जाति। (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय और वायुकाय—

भेद करने पर वे अनेक होने पर भी वे सभी (पुद्गलपरिणाम), स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशमवाले जीवों को बहिरंग स्पर्शनेन्द्रिय की रचनाभूत वर्तते हुए, कर्मफलचेतना-प्रधानपने के कारण अत्यन्त मोहसहित ही [३]स्पर्शोपलब्धि संप्राप्त कराते हैं॥ ११०॥

गाथा - ११० पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ४, सोमवार)

एकेन्द्रिय जीव कैसे हैं ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव एकेन्द्रिय हैं, परन्तु एकेन्द्रियरूप से कायम रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। उसका स्वभाव तो अखण्ड ज्ञायक ज्योति है। आत्मा तो अखण्ड अभेदस्वभावी है। उसकी भावना और एकाग्रता करे तो केवलज्ञान प्राप्त करे और उसकी भावना न भावे तो एकेन्द्रियपने को प्राप्त हो।

अज्ञानी जीव एकेन्द्रिय का शरीर, वही मैं हूँ—ऐसा मान रहा है। वह एकेन्द्रियपना कैसे प्राप्त हुआ ? मनुष्यपने में आया हुआ जीव स्पर्शेन्द्रिय का लम्पटी होकर ज्ञानस्वभाव को चूककर ऐसी हीन दशा को प्राप्त करता है। एकेन्द्रिय जीव दूसरे जीव से मरता है या बचता है, उसकी बात है ही नहीं, परन्तु उसकी अस्ति किस प्रकार है, यह बताते हैं। यदि जीव अपने अतीन्द्रिय स्वभाव की रुचि करके एकाग्रता करे तो चारित्र प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। जीव की सिद्धदशा, केवलज्ञानदशा, शुक्लध्यान, चारित्रदशा, सम्यग्दर्शनदशा न हो तो किसी दशा में तो जीव होना ही चाहिए। सम्यग्दर्शनादि से लेकर सिद्धदशा तक की सभी दशा पंचेन्द्रिय की भूमिका में होती है। अब यदि वह दशा

इन चार में से प्रत्येक के सात लाख अन्तर्गत-जातिरूप भेद हैं; वनस्पतिकाय के दस लाख भेद हैं।)

३. स्पर्शोपलब्धि =स्पर्श की उपलब्धि; स्पर्श का ज्ञान; स्पर्श का अनुभव।[पृथ्वीकायिक आदि जीवों को स्पर्शनेन्द्रियावरण का (-भावस्पर्शनेन्द्रिय के आवरण का) क्षयोपशम होता है और वे-वे कायें बाह्य स्पर्शनेन्द्रिय की रचनारूप होती हैं, इसलिए वे-वे कायें उन-उन जीवों को स्पर्श की उपलब्धि में निमित्तभूत होती हैं। उन जीवों को होनेवाली स्पर्शोपलब्धि प्रबल मोहसहित ही होती हैं, क्योंकि वे जीव कर्मफलचेतनाप्रधान होते हैं।]

नहीं तो उसे कैसी दशा प्राप्त हुई? अपने ज्ञान की अवस्था शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से होती है। तथापि उस अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव को चूककर, इन्द्रिय की रुचि की, स्पर्शेन्द्रिय के विषय का लम्पटी होकर मोह-राग-द्वेष करके कर्म उपार्जन करता है, उसके कारण एकेन्द्रियपना प्राप्त होता है।

अपने ज्ञानस्वभाव की भावना न करे तो हीनदशारूप परिणमता है। पर्याय हीन होने पर भी द्रव्य-गुण कायम रहते हैं और पर्यायमात्र स्पर्श को ही जानती है, तब उसका अधिकरण स्पर्शेन्द्रियमात्र है। उघाड़ स्पर्श का और विषय भी स्पर्श का है।

सामने का विषय, इन्द्रिय और पर्याय में अल्प उघाड़ है, वह हेय है और द्रव्य-गुण उपादेय है, ऐसा जिस जीव ने निर्णय नहीं किया और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप की भावना छोड़कर अल्पज्ञता की तथा इन्द्रियों के विषयों के गृद्धिपने की भावना भायी, इसलिए एकेन्द्रियपना मिलता है। ऐसे निमित्त तथा अल्पज्ञता की भावनावाला स्वभाव की तीव्र अरुचि करे तो हीनदशा होते-होते एकेन्द्रियपने को प्राप्त करता है।

एकेन्द्रिय में इन्द्रिय अनन्त परमाणु की बनी हुई है, वह निमित्त है और उघाड़ स्पर्श को जानने जितना है और स्पर्श का ही विषय जानता है। उस उघाड़ जितना मेरा स्वरूप नहीं, ऐसा समझे, उसमें उग्र पुरुषार्थ करने की योग्यता हुए बिना नहीं रहती।

एकेन्द्रिय में से पंचेन्द्रियपने तक का विकास हुआ। वह समझण करके अतीन्द्रियपना प्राप्त करे तो वह कहाँ से प्राप्त किया? इन्द्रियों की भावना करने से होगा? पर की सहायता से होगा? पर का तो आत्मा में अभाव है। अपने को अपने असंख्य प्रदेश का विरह नहीं परन्तु अतीन्द्रिय असंख्य प्रदेशी शुद्ध आत्मा की रुचि छोड़कर स्पर्श की और इन्द्रिय की तथा एक समय के अंश की रुचि करके क्रम-क्रम से हीन दशा होते हुए एकेन्द्रियपना प्राप्त करता है। इन्द्रियादि की रुचि छोड़े और स्वभाव की रुचि करे तो क्रम से बढ़कर अतीन्द्रियपना प्राप्त करे।

समकिती जीव को स्पर्श के विषय के समय ख्याल है कि मेरी निर्बलता से राग होता है, तथापि वह इन्द्रिय के विषय में सुख नहीं मानते। विषय के समय भी स्वभाव की रुचि हटती नहीं और अज्ञानी को स्वभाव की रुचि होती नहीं।

एकेन्द्रिय जीव का यहाँ ज्ञान कराते हैं। धर्मी जीव एकेन्द्रिय जीव के स्वरूप का ज्ञान करके विचार करता है कि इस जीव ने स्वभाव की रुचि छोड़ी है और इन्द्रियादि की रुचि की है, इसलिए यह हीन दशा को प्राप्त हुआ है। मैं इन्द्रिय की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करके उग्ररूप से स्वभाव को साध लूँ, ऐसी भावना भाता है।

ऊपर के कथन का सार यह है कि—

(१) अतीन्द्रिय आत्मा है, ऐसा स्वीकार करने से इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, ऐसा साबित होता है।

(२) एकेन्द्रियपने में परिणमन बहुत हीन हो गया है।

(३) एकेन्द्रियपने की पर्याय के समय भी उग्र परिणमन होने की योग्यता जीव में पड़ी है, उग्र पुरुषार्थ द्वारा एकेन्द्रियपने का अभाव होकर सर्वज्ञ हो सकने की योग्यता है।

इस प्रकार अनन्त आत्मा है, उसमें विरोध करके हीन दशा को प्राप्त एकेन्द्रिय जीव हैं। निमित्त स्पर्शेन्द्रिय है तथा शक्ति से सर्वज्ञ है, ऐसी सब बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं है, इसलिए अन्यमत के साथ समन्वय हो सके, ऐसा नहीं है।

ज्ञान का विकास और वीतरागता पूज्य है परन्तु ज्ञान की हीन दशा और राग पूज्य नहीं है। इसलिए रागी देव पूज्य नहीं है। तथा उनकी बात मान्य नहीं हो सकती। धर्मी जीव विचार करता है कि यह एकेन्द्रिय जीव हीन दशा को प्राप्त हुए हैं, वे अपने अपराध से प्राप्त हुए हैं। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से स्व को जानते हुए सब पदार्थों को जान सके, ऐसी प्रतीति का ख्याल आता है।

अभी जीव समन्वय करते हैं परन्तु जैनदर्शन को दूसरे के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है, इसलिए यथार्थ विचार करना चाहिए।

(१) एकेन्द्रिय जीव का उघाड़ कर्म के कारण माने तो जीव की पर्याय नहीं रहती। और पर्याय नहीं रहने पर जीव साबित नहीं होता।

(२) जीव की हीन दशा के कारण कर्म आया, ऐसा माने तो पुद्गलद्रव्य

साबित नहीं होता। तथापि जीव की हीन दशा के समय कर्म आये बिना नहीं रहते, तो भी दोनों स्वतन्त्र हैं।

एकेन्द्रियादि स्थावर के पाँच भेद हैं। उनमें अन्दर अरूपी जीव है। उसके शरीर के भेदों से बहुत प्रकार है, तो भी निश्चय से वे सब जीव मोहगर्भित रागभाव उपजाते हैं और स्पर्श के विषय को भोगते हैं।

मनुष्यपने में सच्चा समझने के अवसर के समय में जो जीव वस्तुस्वरूप को नहीं समझता और तीव्र विरोध करता है, वह अतीन्द्रिय स्वभाव का अनादर करके कर्म का उपार्जन करता है और एकेन्द्रियपना प्राप्त करता है।

एकेन्द्रिय जीवों का यहाँ ज्ञान कराते हैं।

जीव के ज्ञान की सामर्थ्य की बात करते हैं। द्रव्य-गुण कायम रहते हैं। पर्याय में हीनता है। इन्द्रियाँ निमित्त हैं और द्रव्य के आश्रय से पूर्ण विकास करे तो इन्द्रियाँ और कर्म नहीं रहते और पूर्ण दशा प्रगट होती है, ऐसा यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता, वैसा जीव अनेक पदार्थों के प्रति राग-द्वेष-मोह करके एकेन्द्रियपना प्राप्त करके स्पर्श के विषय को भोगता है।

भावार्थ - यह पाँच प्रकार के स्थावर काय के जीवों के अनेक भेद हैं। वे जीव मोहकर्म के निमित्त से अपने अज्ञान के कारण सुख-दुःखरूप फल को भोगते हैं। वहाँ राग-द्वेष के कर्तापने की मुख्यता नहीं है। वे जीव एक काय के आधीन होकर अनेक नयी अवस्था धारण करते हैं। जो जीव यथार्थरूप से एकेन्द्रिय की श्रद्धा करता है, उसे आत्मा के अस्तित्व की श्रद्धा होती है। ज्ञान की जिसकी भावना है, वह एकेन्द्रियरूप से परिणमता नहीं परन्तु विकास प्राप्त कर केवलज्ञान पाता है और जो यथार्थ श्रद्धा नहीं करता, वह एकेन्द्रियपने को प्राप्त करता है। ●●

गाथा - १११

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ।।१११।।

त्रयः स्थावरतनुयोगा अनिलानलकायिकाश्च तेषु त्रसाः।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिय ज्ञेयाः ।।१११।।

तात्पर्यवृत्ति : अथ व्यवहारेणाग्निवातकायिकानां त्रसत्वं दर्शयति, - पृथिव्यब्वनस्पतयस्त्रयः स्थावरकाययोगात्संबंधात्स्थावरा भण्यंते अनलानिलकायिकाः तेषु पंचस्थावरेषु मध्ये चलनक्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसा भण्यंते। यदि त्रसास्तर्हि किं मनो भविष्यति ? नैवं। मणपरिणामविरहिदा मनःपरिणाम-विहीनास्तथा चैकेन्द्रियाश्च ज्ञेयाः। के ? जीवा इति। तत्र स्थावरनामकर्मोद-याद्भिन्नमनंतज्ञानादिगुणसमूहादभिन्नत्वं यदात्मतत्त्वं तदनुभूतिरहितेन जीवेन यदुपार्जितं स्थावरनामकर्म तदुदयाधीनत्वात् यद्यप्यग्निवातकायिकानां व्यवहारेण चलनमस्ति तथापि निश्चयेन स्थावरा इति भावार्थः ।।१११।।

उनमें त्रय स्थावर तनु त्रस जीव अग्नि वायु युत
ये सभी मन से रहित हैं अर एक स्पर्शन सहित हैं।।१११।।

अन्वयार्थ :— [तेषु] उनमें, [त्रयः] तीन (पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक) जीव [स्थावरतनुयोगाः] स्थावर शरीर के संयोगवाले हैं, [च] तथा, [अनिलानलकायिकाः] वायुकायिक और अग्निकायिक जीव [त्रसाः] [१]त्रस हैं; [मनःपरिणामविरहिताः] वे सब परिणामरहित [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [ज्ञेयाः] जानना॥ १११ ॥

---

१. वायुकायिक तथा अग्निकायिक जीवों को चलनक्रिया देखकर व्यवहार से त्रय कहा जाता है; निश्चय से तो वे भी स्थावरनामकर्माधीनपने के कारण—यद्यपि उन्हें व्यवहार से चलन है तथापि—स्थावर ही हैं।

गाथा - १११ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ४, सोमवार)

स्थावरनामकर्म के उदय से पृथ्वी, जल, वनस्पति - ये तीन प्रकार के जीव एकेन्द्रिय जानना। पाँच स्थावरों में वायु तथा अग्नि ये दो प्रकार के जीव चलते हैं, तथापि स्थावरनामकर्म के उदय से स्थावर एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। कैसे हैं एकेन्द्रिय जीव ? मनोयोगरहित हैं।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। वह स्थावर नामकर्म से पृथक् है। आत्मा कर्म तथा मन से रहित है और अपने गुणों से अभिन्न है। उसकी भावना जो नहीं करता, वह कर्म बाँधता है और इसलिए एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है। राग की भावना करने से स्थावर नामकर्म उपार्जन करता है।

वर्तमान जो-जो अवस्था दिखती है, वह कर्म के निमित्त से होती है, वह कर्म अपनी धूल के कारण बँधा हुआ है। कोई जीव पानी के जीवरूप हुआ, ऐसा कैसे ? पूर्व में ऐसे भाव किये हैं इसलिए। इसे शरीर निरोग कैसे ? निरोग शरीर की अवस्था है, वह कर्म के निमित्त से हुई है। पूर्व में अपने स्वभाव को चूककर शुभभाव किया, उसके फल में वे कर्म बँधे और उनके निमित्त से साता दिखती है। वर्तमान भूल से रोग नहीं होता और ध्यान रखे, इसलिए शरीर निरोग होता है, ऐसा भी नहीं है। स्वयं स्वभाव को चूककर पूर्व में शुभाशुभभाव किये, उसके फल में कर्म बँधे, उसके फल में रोग-निरोगता दिखती है।

सिद्धदशा में अकेला शुद्ध आत्मा रह गया, इसलिए सिद्ध भगवान सबसे बड़े हो गये। उन सिद्ध को प्रमुख स्वीकारना हो तो हीन दशा और हीन दशा जिस भाव से प्राप्त होती है, उन सबकी भावना छोड़ और स्वभाव की भावना कर। तो सिद्ध को प्रमुख अथवा प्रभु माना कहलाये।

यह जीव मनरहित क्यों हो गये ? पंचेन्द्रियपने के उघाड़ की योग्यता नहीं रही, इसलिए मन का निमित्तपना भी गया। उघाड़ की योग्यता अपने कारण से है। यह जीवास्तिकाय की बात चलती है। वह जीव अपने स्वभाव को चूककर अपनी हीन दशा करते-करते मनरहित हो गया।

इस प्रकार एकेन्द्रियपने में पृथ्वी में लगातार जन्म ले तो सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहे। बादर निगोद, अग्नि इत्यादि में लगातार सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहे। इससे अधिक समय न रहे। अपना तीव्र विरोधभाव चालू रखे और एकेन्द्रियपने की योग्यता रखे तो एकेन्द्रियपने में जन्म-मरण किया करता है। वायु का जीव पृथ्वी होता है। इत्यादि ऐसे एक एकेन्द्रिय में से दूसरे एकेन्द्रिय के भव करते-करते असंख्य पुद्गल परावर्तन तक वहाँ जन्म-मरण करता है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की हीन दशा की, राग की और निमित्त की भावना करनेयोग्य नहीं है। यदि उनकी भावना की तो लगातार ऐसे एकेन्द्रिय के भव करना पड़ेंगे।

यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। वीतराग और सर्वज्ञदशा पूज्य है। वह दशा प्रगट न करे और हीन परिणमन करे तो अपने कारण से है और जड़ की पर्याय जड़ के कारण से है। एक में समुच्चय स्थावर लिये और एक में मनरहित लिये। मन मिले तो जीव की योग्यता से मिलता है। मन नहीं मिलता, वह भी जीव की योग्यता से नहीं मिलता। कर्म के कारण नहीं, ऐसा समझकर कर्म की भावना छोड़कर, द्रव्य स्वभाव की भावना करे तो धर्म होता है और ऐसी भावना न भावे तो हीन दशा होती है।

●●

गाथा - ११२

एदे जीवणिकाया पंचविधा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ।।११२।।

एते जीवनिकायाः पञ्चविधाः पृथिवीकायिकाद्याः।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया भणिताः ।।११२।।

समयव्याख्या : पृथिवीकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयम्। पृथिवीकायिकादयो हि जीवाः स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सत्येकेन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।। ११२।।

ये पृथ्वी कायिक आदि जीव निकाय पाँच प्रकार के।
सभी मन परिणाम विरहित जीव एकेन्द्रिय कहे।।११२।।

अन्वयार्थ :— [एते] इन [पृथिवीकायिकाद्याः] पृथ्वीकायिक आदि [पञ्चविधाः] पाँच प्रकार के [जीवनिकायाः] जीवनिकायों को [मनः परिणामविरहिताः] मनपरिणामरहित [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [भणिताः] (सर्वज्ञ ने) कहा है।

टीका :— यह, पृथ्वीकायिक आदि पाँच (—पंचविध) जीवों के एकेन्द्रियपने का नियम है।

पृथ्वीकायिक आदि जीव, स्पर्शनेन्द्रिय के (-भावस्पर्शनेन्द्रिय के) आवरण के क्षयोपशम के कारण शेष इन्द्रियों के (-चार भावेन्द्रियों के) आवरण का उदय तथा मन के (-भावमन के) आवरण का उदय होने से, मनरहित एकेन्द्रिय हैं ॥११२॥

गाथा - ११२ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ४, सोमवार)

यह पृथ्वी आदि पाँच प्रकार के जीव हैं, और मनोयोग के विकल्पों से रहित एकेन्द्रिय जीव हैं, वे बिना मन के कैसे हुए? आत्मा उपाधिरहित है, उसकी भावना जो छोड़ता है, वह जीव मनरहित हो जाता है। आत्मा के शुद्धपरिणामरहित और

अशुद्धपरिणातसहित के जीव एकेन्द्रियपना पाते हैं। जब जीव पंचेन्द्रिय मनुष्य था, तब आत्मा का भान करके असंख्य प्रदेश में केवलज्ञान के दीपक प्रगट उठें, ऐसी योग्यता थी। परन्तु आत्मा का भान नहीं करके आर्तध्यान और रौद्रध्यान करके विकार और पुण्य की भावना भाकर, एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है।

इस शरीर की स्थिति २५-५० वर्ष की होती है, परन्तु उतने समय में उपाधि का पार नहीं होता। यह शरीर फू हो जायेगा और अभी जिनका परिचय वर्तता है, ऐसे जीव कहीं दिखाई नहीं देंगे परन्तु अज्ञानी को इसकी खबर नहीं। आत्मा मनातीत है, उसकी भावना नहीं करके अशुद्धता की भावना करता है, वह क्रम से हीनदशा को प्राप्त कर मनरहित हो जाता है। एक पत्थर ऊँचे फेंका हो, वह नीचे आये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार कोई ऊँचा होकर पंचेन्द्रिय हुआ हो तो भी आत्मा का भान नहीं होने के कारण नीचे की दशा-एकेन्द्रिय में आये बिना नहीं रहेगा। क्योंकि त्रस-दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की स्थिति दो हजार सागर की है। वह पूरी हो जाने पर एकेन्द्रियपने को प्राप्त होता है। स्वभाव को सुना नहीं, इसलिए हीन दशा को प्राप्त हुआ है। एकेन्द्रिय जीव की दया पालने की या उस दया से धर्म होता है, यह बात यहाँ नहीं है। एकेन्द्रिय पर्याय का ज्ञान कराकर शक्ति से तू सर्वज्ञ है, ऐसा बताते हैं। उल्टा पड़े तो हीन होता है और सुल्टा पड़े तो सर्वज्ञ होता है, यह समझाने के लिये यह बात की है।

(वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार)

पाँच प्रकार के पृथ्वीकाय आदि स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं। अपने ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं करनेवाला हीनदशा को प्राप्त करे तो एकेन्द्रिय होता है। सर्वथा विकास का अभाव हो जाये तो जड़ हो जाये। परन्तु ऐसा नहीं होता। एकेन्द्रिय जितना विकास रहता है। आत्मा शक्ति से प्रभु है और पर्याय में प्रभु होने की योग्यता है। ऐसा जिसे भान नहीं और विभाव जितना अपने को मानता है, वह हीनदशा को प्राप्त होता है। पृथ्वी आदि पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं, उन्हें स्पर्शेन्द्रिय द्वारा जानने का उघाड़ है, दूसरी चार इन्द्रियों से जानपना करने की तथा मन से जानपना करने की योग्यता नहीं है क्योंकि वे जीव चार इन्द्रियों और मनरहित है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। आत्मा अपने ज्ञानभाव का स्वतन्त्ररूप से कर्ता है, उसे राग का कर्ता कहना, वह उपचारमात्र है। जानने-देखनेवालेरूप से रहना, वह उसका स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में जो जीव नहीं रहता, वह हीन दशा को पाता है। त्रस की स्थिति दो हजार सागर की है, उस दौरान आत्मा का भान करके मोक्षदशा को पाता है, नहीं तो एकेन्द्रियपने को प्राप्त करे, ऐसा नियम है। इसलिए उस दौरान जो आत्मा का भान नहीं करता, वह एकेन्द्रयपने को अवश्य पाता है।

(१) एकेन्द्रियपने में मात्र स्पर्श को जानने का विकास रहा और सामने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ऐसे पाँच इन्द्रियों के विषयोंवाले पदार्थ हैं, जिससे एकेन्द्रिय जीव को ज्ञेय पदार्थों में जानना बहुत बाकी रह जाता है। सामने के स्कन्धों में स्पर्श आदि गुण, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि बहुत जानने का बाकी रहता है।

(२) सामने के पदार्थों में इतना ज्ञेय जानना बाकी रहता है तो यहाँ ज्ञान में भी जानने की शक्ति होना चाहिए। सामने ज्ञेय हों और यहाँ ज्ञानशक्ति न हो, ऐसा नहीं होता। इसलिए ज्ञान में भी अव्यक्त शक्ति एकेन्द्रिय जीव में भी पड़ी हुई है, ऐसा निश्चित होता है। वह द्रव्य-गुण में भरी हुई है अर्थात् कि पाँचों इन्द्रियों के विषय और पूरे लोकालोक के पदार्थों को जानने की शक्ति एकेन्द्रिय जीव में अव्यक्तरूप से पड़ी हुई है।

(३) अब वह एकेन्द्रिय जीव राग की मन्दता करके विकास पावे और दो इन्द्रियपना प्राप्त कर तो स्पर्श और रस के विषयों को जानता है, इससे विशेष विकास करे तो असंज्ञी पंचेन्द्रियपने तक अपने-अपने योग्य विषय को जान सकता है।

(४) इससे विशेष राग की मन्दता से संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य हो तो मन की धारणा से स्कन्धों के स्पर्शादिगुणों तथा अस्तित्व इत्यादि गुणों को शास्त्र के आधार से जान सकता है। परन्तु वह रागसहित की धारणा है।

(५) इससे विशेष पुरुषार्थ करे और रागरहित स्वभाव की दृष्टि करके अपने को यथार्थ जाने तो स्व-पर के जो गुण हैं, उन गुणों की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। गुणों को प्रत्यक्ष नहीं जानता परन्तु स्वसंवेदन अंश से प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होने पर सभी गुणों की प्रतीति यथार्थ हो जाती है और इसका परोक्ष ज्ञान होता है।

(६) इससे विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव में स्थिरता करे तो रागरहितरूप होकर केवलज्ञान प्रगट हो, तब सब स्व-पर प्रत्यक्ष हो जाता है। लोकालोक को तथा समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रत्यक्ष जान लेता है। वस्तु में परोक्ष-प्रत्यक्षपना नहीं है, परन्तु ज्ञान में प्रत्यक्ष-परोक्षपना है।

(७) इस प्रकार चैतन्य आत्मा में उग्र पुरुषार्थ द्वारा विकास करने पर प्रत्यक्षरूप से सब स्व-परपदार्थों को जानने की ताकत खिल सके ऐसा है। ऐसे अनन्त प्रभु हैं, ऐसी शक्ति प्रत्येक एकेन्द्रिय जीव में रही हुई है। परन्तु ऐसी प्रभुता को चूके हुए जीव हीन पर्यायरूप हो गये हैं और चार इन्द्रियाँ और मनरहित हो गये हैं। वे एक ही स्पर्शेन्द्रिय का विषय जानते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को चैतन्य का अस्तित्व नहीं रहता, ऐसी कोई शंका करे तो उसे दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं। ●●

गाथा - ११३

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ।।११३।।

अंडेषु प्रवर्धमाना गर्भस्था मानुषाश्च मूर्च्छां गताः।
यादृशास्तादृशा जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ।।११३।।

समयव्याख्या : एकेन्द्रियाणां चैतन्यास्तित्वे दृष्टांतोपन्यासोऽयम्। अंडांतर्लीनानां, गर्भस्थानां, मूर्च्छितानां च बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनेऽपि येन प्रकारेण जीवत्वं निश्चीयते, तेन प्रकारेणैकेन्द्रियाणामपि, उभयेषामपि बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनस्य समानत्वादिति ।।११३।।

अण्डस्थ अर गर्भस्थ प्राणी ज्ञान शून्य अचेत ज्यों।
पंचविध एकेन्द्रि प्राणी ज्ञान शून्य अचेत त्यों।।११३।।

अन्वयार्थ :— [अंडेषु प्रवर्धमानाः] अण्डे में वृद्धि पानेवाले प्राणी, [गर्भस्थाः] गर्भ में रहे हुए प्राणी [च] और [मूर्च्छा गताः मानुषाः] मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य, [यादृशाः] जैसे (बुद्धिपूर्वक व्यापाररहित) हैं, [तादृशाः] वैसे [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [ज्ञेयाः] जानना।

टीका :— यह, एकेन्द्रियों को चैतन्य का अस्तित्व होने सम्बन्धी दृष्टान्त का कथन है।

अण्डे में रहे हुए, गर्भ में रहे हुए और मूर्च्छा पाये हुए (प्राणियों) के जीवत्व का उन्हें बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता तथापि, जिस प्रकार निश्चय किया जाता है, उसी प्रकार एकेन्द्रियों के जीवत्व का भी निश्चय किया जाता है; क्योंकि दोनों में बुद्धिपूर्वक व्यापार का [१]अदर्शन समान है।

भावार्थ :— जिस प्रकार गर्भस्थादि प्राणियों में, ईहापूर्वक व्यवहार का अभाव होने पर भी, जीवत्व है ही, उसी प्रकार एकेन्द्रियों में भी, ईहापूर्वक व्यवहार का

---

१. अदर्शन=दृष्टिगोचर नहीं होना।

अभाव होने पर भी, जीवत्व है ही—ऐसा आगम, अनुमान इत्यादि से निश्चित किया जा सकता है।

यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना कि—जीव परमार्थ से स्वाधीन अनन्त ज्ञान और सौख्यसहित होने पर भी अज्ञान द्वारा पराधीन इन्द्रियसुख में आसक्त होकर जो कर्मबन्ध करता है, उसके निमित्त से अपने को एकेन्द्रिय और दुःखी करता है॥ ११३॥

गाथा - ११३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार)

जिस प्रकार पक्षी का अण्डा बढ़ता जाता है, वह जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। इस प्रकार एकेन्द्रिय जीव जानना।

भावार्थ - जिस प्रकार अण्डे में जीव बढ़ता है परन्तु अण्डे में श्वास दिखाई नहीं देता, तथापि अण्डा बढ़ता है, इसलिए अन्दर जीव होना चाहिए, ऐसा जाना जा सकता है। और जिस प्रकार वनस्पति में नीम, पीपल इत्यादि बढ़ते हुए दिखाई देते हैं, उनमें अंकुर फूटते हैं, वह अन्दर जीव का अस्तित्व बताते हैं। उसी प्रकार सभी स्थावर जीव जीवनगुणसहित हैं। पत्थर की खान बढ़ती दिखती है, उसमें जीव उपजा करते हैं और उसके निमित्त से शरीर बढ़ा करते हैं। ऐसा दिखता है।

और जिस प्रकार गर्भ में रहा हुआ जीव ऊपर से ज्ञात नहीं होता है, परन्तु गर्भ बढ़ता जाता है, उसी प्रकार जीव अन्दर बड़ा होता जाता है। तथा जैसे मूर्च्छा को प्राप्त हुआ मनुष्य मृतक सदृश दिखाई देता है परन्तु अन्दर में जीव रहा हुआ है, उसी प्रकार पाँच प्रकार के स्थावर जीवों में ऊपर से जीव की चेष्टा मालूम नहीं पड़ती, परन्तु आगम से तथा उन जीवों की प्रफुल्लता आदि अवस्थाओं से चैतन्य मालूम पड़ता है। ●●

गाथा - ११४

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ।।११४।।

शंबूकमातृवाहाः शङ्खाः शुक्तयोऽपादकाः च कृमयः।
जानन्ति रसं स्पर्शं ये ते द्वीन्द्रियाः जीवाः ।।११४।।

समयव्याख्या : द्वीन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। एते स्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसयोः परिच्छेत्तारो द्वीन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।।११४।।

लट केंचुआ अर शंख शीपी आदि जिय पग रहित हैं।
वे जानते रस स्पर्श को इसलिये दो इन्द्रि कहे।।११४।।

अन्वयार्थ :— [शंबूकमातृवाहाः] शम्बूक, मातृवाह, [शङ्खाः] शंख [शुक्तयः] सीप [च] और [अपादकाः कृमयः] पगरहित कृमि—[ये] जो कि [रसं स्पर्शं] रस और स्पर्श को [जानन्ति] जानते हैं [ते] वे—[द्वीन्द्रियाः जीवाः] द्वीन्द्रिय जीव हैं।

टीका :— यह, द्वीन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय के (-इन दो भावेन्द्रियों के) आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के (-तीन भावेन्द्रियों के) आवरण का उदय तथा मन के (-भावमन के) आवरण का उदय होने से स्पर्श और रस को जाननेवाले यह (शम्बूक आदि) जीव मनरहित द्वीन्द्रिय जीव हैं॥ ११४॥

गाथा - ११४ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार)

दो इन्द्रिय जीवों का भेद बताते हैं। नाना शंख, सीप, कृमि, लय इत्यादि अनेक प्रकार के दो इन्द्रिय जीव हैं, वे जीभ से रस और स्पर्श से शीत, उष्ण जानते हैं। इसलिए वे जीव दो इन्द्रियवाले जानना।

दो इन्द्रियपना कैसे मिला ? यह जयसेनाचार्य टीका में कहते हैं :— आत्मा का स्वभाव तो इन्द्रिय से भिन्न है और भावेन्द्रिय के उघाड़ जितना भी आत्मा नहीं है और अपने ज्ञान-दर्शन-गुणों से अभिन्न अभेद है। मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ, ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसी जिसे भावना नहीं और स्पर्श के भोग में और रस के गृद्धिपन में सुख मानकर राग-द्वेष में रुकता है, वह दो इन्द्रिय नामकर्म बाँधता है, उसके निमित्त से दो इन्द्रिय का शरीर मिलता है। वर्तमान में जो शरीर और संयोग दिखाई देते हैं, वह स्वयं ने पूर्व में भूल की है और उसके निमित्त से कर्म बाँधा है, उसके निमित्त से यह सब विचित्रता दिखती है। यहाँ एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, जीव को मारने-बचाने की बात नहीं है। शुद्ध चैतन्य को चूका तो दो इन्द्रियपना मिला, इसलिए दो इन्द्रियपने को जानने का फल भी शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करना ही है। ●●

गाथा - ११५

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छुयादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।।११५।।

यूकाकुंभीमत्कुणपिपीलिका वृश्चिकादयः कीटाः।
जानन्ति रसं स्पर्शं गंधं त्रींद्रियाः जीवाः ।।११५।।

समयव्याख्या : त्रीन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। एते स्पर्शनरसनघ्राणेंद्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसगंधानां परिच्छेत्तारस्त्रीन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।।११५।।

चींटि-मकड़ी-लीख-खटल बिच्छु आदिक जंतु जो।
फरस रस अरु गंध जाने तीन इन्द्रिय जीव वे।।११५।।

अन्वयार्थ :— [**युकाकुंभीमत्कुणपिपीलिकाः**] जूँ, कुम्भी, खटमल, चींटी और [**वृश्चिकादयः**] बिच्छू आदि [**कीटाः**] जन्तु [**रसं स्पर्शं गंधं**] रस, स्पर्श और गन्ध को [**जानन्ति**] जानते हैं; [**त्रींद्रियाः जीवाः**] वे त्रीन्द्रिय जीव हैं।

टीका :— यह, त्रीन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस और गन्ध को जाननेवाले यह (जूँ आदि) जीव मनरहित त्रीन्द्रिय जीव हैं॥ ११५॥

गाथा - ११५ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार)

जूँ, माकड़, बिच्छू, चींटी इत्यादि जीव हैं, वे स्पर्श, रस, गन्ध, ऐसे तीन विषयों को जानते हैं, इसलिए उन जीवों को सिद्धान्त में त्रीइन्द्रिय कहते हैं।

भावार्थ - इन संसारी जीवों को स्पर्शन, रसन, नासिका, इन तीन इन्द्रियों का उघाड़ है और दूसरी दो इन्द्रियों का आवरण है, इसलिए तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं।

जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका में, त्रीइन्द्रियपना कैसे प्राप्त हुआ, यह बताते हैं। आत्मा का स्वभाव विशुद्ध दर्शन-ज्ञानमय है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और लीनता से वीतरागी परमानन्द लक्षणवाले सुखामृत रस का अनुभव उत्पन्न होता है, परन्तु ऐसे शुद्ध आत्मा का जिसे भान नहीं और स्पर्श, रस, गन्ध के विषयों में लोलुपी होता है, वह जीव वीतराग आनन्द से च्युत होता है अर्थात् कि उसे उस सुख का अनुभव नहीं होता। ●●

गाथा - ११६

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पयंगमादीया।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति।।११६।।

उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः पतङ्गाद्याः।
रूपं रसं च गंधं स्पर्शं पुनस्ते विजानन्ति।।११६।।

समयव्याख्या : चतुरिन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। एते स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियावरण-क्षयोपशमात् श्रोत्रेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसगंधवर्णानां परिच्छेत्तारश्चतुरिन्द्रिया अमनसो भवंतीति ।।११६।।

मधुक्खी भ्रर पतंग आदि डांस मच्छर जीव जो।
वे जानते हैं रूप को भी अतः चौइन्द्रिय कहें।।११६।।

अन्वयार्थ :— [पुनः] पुनश्च [उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः] डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा और [पतङ्गाद्याः ते] पतंगे आदि जीव [रूपं] रूप, [रसं] रस, [गंधं] गन्ध; [च] और [स्पर्शं] स्पर्श को [विजानन्ति] जानते हैं। (वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं।)

टीका :— यह, चतुरिन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण तथा श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण को जाननेवाले यह (डाँस आदि) जीव मनरहित चतुरिन्द्रिय जीव हैं॥ ११६॥

गाथा - ११६ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार)

डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा, पतंगा आदि जीव रूप, रंग, गन्ध और स्पर्श को जानते हैं। इसलिए निश्चय से उन्हें चतुरिन्द्रय जीव जानना।

भावार्थ - जब उन संसारी जीवों को स्पर्शन, जीभ, नासिका, नेत्र—इन चार

इन्द्रियों के आवरण कर्म का क्षयोपशम हो और कर्णेन्द्रिय तथा मन के आवरण का उदय हो, तब स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इन चार विषयों को जाननेवाले होते हैं, वे चार इन्द्रियसहित जीव हैं और कर्ण तथा मन से रहित होते हैं।

जीवों के उघाड़ के कारण इन्द्रियों के परमाणु को आना पड़े, ऐसी पराधीनता नहीं है। आत्मा जड़ इन्द्रियों का कर्ता नहीं है। एक-एक इन्द्रिय का उघाड़ बढ़ता जाये, वैसे एक-एक अधिकरण निमित्तरूप बढ़ता जाता है, ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं, परन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं है।

जयसेनाचार्य टीका में बतलाते हैं कि जीव को अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव की पहिचान करके निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान भावना से सुखसुधारसपान उत्पन्न करना चाहिए, परन्तु आत्मा का भान नहीं होने से उस जीव को ऐसे सुखसुधारस का पान नहीं मिलता और स्पर्श, रस, घ्राण और चक्षु इत्यादि के विषय में सुख मानकर वह विकारी सुख को भोगता है, इसलिए चतुरिन्द्रिय नामकर्म उपार्जन करता है और इससे उसरूप उत्पन्न होता है। ●●

गाथा - ११७

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा।।११७।।

सुरनरनारकतिर्यञ्चो वर्णरसस्पर्शगंधशब्दज्ञाः।
जलचरस्थलचरखचरा बलिनः पञ्चेन्द्रिया जीवाः।।११७।।

समयव्याख्या : पञ्चेन्द्रियप्रकारसूचनेयम्। अथ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् नोइन्द्रियावरणोदये सति स्पर्शरसगंधवर्णशब्दानां परिच्छेत्तारः पञ्चेन्द्रिया अमनस्काः। केचित्तु नोइन्द्रियावरणस्यापि क्षयोपशमात् समनस्काश्च भवन्ति। तत्र देवमनुष्यनारकाः समनस्का एव, तिर्यञ्च उभयजातीया इति ।।११७।।

भू–जल–गगनचर सहित जो सैनी–असैनी जीव हैं।
सुर–नर–नरक तिर्यंचगण ये पंच इन्द्रिय जीव हैं।।११७।।

अन्वयार्थ :— [वर्णरसस्पर्शगंधशब्दज्ञाः] वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द को जाननेवाले [सुरनरनारकतिर्यंचः] देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंच—[जलचरस्थलचरखचराः] जो जलचर, स्थलचर, खेचर होते हैं वे—[बलिनः पंचेन्द्रियाः जीवाः] बलवान पञ्चेन्द्रिय जीव हैं।

टीका :— यह, पंचेन्द्रिय जीवों के प्रकार की सूचना है।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम के कारण, मन के आवरण का उदय होने से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द को जाननेवाले जीव मनरहित पंचेन्द्रिय जीव हैं; कुछ (पंचेन्द्रिय जीव) तो, उन्हें मन के आवरण का भी क्षयोपशम होने से, मनसहित (पंचेन्द्रिय जीव) होते हैं।

उनमें, देव, मनुष्य और नारकी मनसहित ही होते हैं; तिर्यंच दोनों जाति के (अर्थात् मनरहित तथा मनसहित) होते हैं॥ ११७॥

गाथा - ११७ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ५, मंगलवार)

उस जीव का विकास बढ़ने पर पंचेन्द्रिय होता है। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंचगति के जीव हैं, वे पंचेन्द्रिय जीव हैं। उनमें मछली आदि जलचर हैं। गाय, भैंस आदि भूमिचर हैं और पक्षी आकाशगामी हैं। उन पंचेन्द्रिय जीवों को स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द इन पाँच इन्द्रिय का उघाड़ है। स्वयं के कारण से ज्ञान का विकास पंचेन्द्रिय का हुआ है। उन इन्द्रियों और मन द्वारा परपदार्थ ज्ञात होते हैं परन्तु आत्मा ज्ञात नहीं होता। कोई इन्द्रिय द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं परन्तु अतीन्द्रिय स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञात हो ऐसा है।

भावार्थ - जब संसारी जीवों को पाँच इन्द्रिय-आवरण कर्मों का क्षयोपशम होता है, तब पाँचों विषयों को जानता है। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—एक संज्ञी, एक असंज्ञी। जिसे मन-आवरण कर्म का उदय है, वह मनरहित असंज्ञी है और जिसे मन-आवरण का क्षयोपशम होता है, वह मनसहित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है। तिर्यंचगति में मनसहित अथवा मनरहित होते हैं।

जयसेनाचार्य टीका में बतलाते हैं कि आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रिय है। ऐसे निर्दोष परमात्मा के ध्यान से निर्विकार आत्मिक आनन्द लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है, परन्तु वैसा जिसे भान नहीं और पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख मानता है। वह तात्त्विक सुख नहीं है। जगत के विषयों में उस सुख की कल्पना करता है और पाँच इन्द्रियों के विषयों में लीन होकर बहिर्मुख होकर अन्तर सत्ता को भूल जाता है, इसलिए पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म उपार्जन करता है, इसलिए पंचेन्द्रियरूप से जन्मता है।

यदि पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव आत्मा का भान करे और केवली भगवान ने कहे हुए छह द्रव्य और नौ तत्त्वों की पहिचान करे, तो उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है। केवली भगवान स्व-पर लोकालोक को प्रत्यक्ष जानते हैं, जब कि भावश्रुतज्ञानी परोक्ष जानते हैं परन्तु यथार्थ जानते हैं। मनवाले प्राणी आत्मा का भान करके, सम्यग्ज्ञान प्रगट करके केवलज्ञान पा सकते हैं, यह समझाने के लिये सब बात करते हैं। ●●

गाथा - ११८

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ।।११८।।

देवाश्चतुर्णिकायाः मनुजाः पुनः कर्मभोगभूमिजाः।
तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः नारकाः पृथिवीभेगताः ।।११८।।

समयव्याख्या : इन्द्रियभेदेनोक्तानां जीवानां चतुर्गतिसंबंधत्वेनोपसंहारोऽयम्। **देवगितनाम्नो देवायुषश्चोदयाद्देवाः, ते च भवनवासिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकनिकायभेदाच्चतुर्धा। मनुष्यगतिनाम्नो मनुष्यायुषश्च उदयान्मनुष्याः। ते कर्मभोगभूमिजभेदात् द्वेधा। तिर्यग्गतिनाम्नस्तिर्यगायुषश्च उदयात्तिर्यञ्चः। ते पृथिवीशम्बूकयूकोद्दंशजलचरोरगपक्षिपरिसर्पचतुष्पदादिभेदादनेकधा। नरकगतिनाम्नो नरकायुषश्च उदयान्नारकाः। ते रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमो-महातमःप्रभाभूमिजभेदात्सप्तधा। तत्र देवमनुष्यनारकाः पञ्चेन्द्रिया एव। तिर्यञ्चस्तु केचित्पञ्चेन्द्रियाः, केचिदेक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया अपीति ।।११८।**

नर कर्मभूमिज भोग भूमिज, देव चार प्रकार हैं।
तिर्यंच बहुविध कहे जिनवर, नरक सात प्रकार हैं।।११८।।

अन्वयार्थ :— [देवाः चतुर्णिकायाः] देवों के चार निकाय हैं, [मनुजाः कर्मभोग-भूमिज्ञाः] मनुष्य कर्मभूमिज और भोगभूमिज ऐसे दो प्रकार के हैं, [तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः] तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं, [पुनः] और [नारकाः पृथिवीभेदगताः] नारकों के भेद उनकी पृथ्वियों के भेद जितने हैं।

टीका :— यह, इन्द्रियों के भेद की अपेक्षा से कहे गये जीवों का चतुर्गतिसम्बन्ध दर्शाते हुए उपसंहार है (अर्थात् यहाँ एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादिरूप जीवभेदों का चार गति के साथ सम्बन्ध दर्शाकर उन जीवभेदों का उपसंहार किया गया है)।

देवगतिनाम और देवायु के उदय से (अर्थात् देवगतिनामकर्म और देवायुकर्म के उदय के निमित्त से) देव होते हैं; वे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ऐसे [१]निकायभेदों के कारण चार प्रकार के हैं। मनुष्यगतिनाम और मनुष्यायु के उदय

---

१. निकाय=समूह।

से मनुष्य होते हैं; वे कर्मभूमिज और भोगभूमिज ऐसे भेदों के कारण दो प्रकार के हैं। तिर्यंचगतिनाम और तिर्यंचायु के उदय से तिर्यंच होते हैं; वे पृथ्वी, शम्बूक, जूँ, डाँस, जलचर, उरग, पक्षी, परिसर्प, चतुष्पाद (चौपाये) इत्यादि भेदों के कारण अनेक प्रकार के हैं। नरकगतिनाम और नरकायु के उदय से नारक होते हैं; वे [२]रत्नप्रभाभूमिज, शर्कराप्रभाभूमिज, बालुकाप्रभाभूमिज, पंकप्रभाभूमिज, धूमप्रभाभूमिज, तमःप्रभाभूमिज और महातमःप्रभाभूमिज ऐसे भेदों के कारण सात प्रकार के हैं।

उनमें, देव, मनुष्य और नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यंच तो कतिपय पंचेन्द्रिय होते हैं और कतिपय एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय भी होते हैं।

भावार्थ :— यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि चार गति से विलक्षण, स्वात्मोपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसी जो सिद्धगति उसकी भावना से रहित जीव अथवा सिद्धसदृश निजशुद्धात्मा की भावना से रहित जीव जो चतुर्गतिनाकर्म उपार्जित करते हैं, उसके उदयवश वे देवादि गतियों में उत्पन्न होते हैं॥११८॥

गाथा - ११८ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ६, बुधवार)

यह जीव अधिकार है। जीव का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। उसकी रुचि छोड़कर जो जीव संयोग की और विकार की भावना करता है, वह नामकर्म उपार्जन करता है और उसके कारण संसार में जन्म-मरण करता है।

देवगति नामकर्म के उदय से देव का शरीर मिलता है। वह सर्व से उत्कृष्ट भोग को भोगता है। वे देव चार प्रकार के हैं : भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक— ऐसे चार प्रकार के हैं। अपना आत्मा सिद्धसमान है। चार गति से विलक्षण और चैतन्य स्वभाव से प्राप्त जिसका लक्षण है, ऐसी सिद्धगति की आत्मा के भानसहित जो भावना नहीं करता, वह चतुर्गति नामकर्म बाँधकर, शुभभाव किये हों तो उसके फल में देवरूप से उत्पन्न होता है।

---

२. रत्नप्रभाभूमिज=रत्नप्रभा नाम की भूमि में (-प्रथम नरक में) उत्पन्न।

और जो जीव अपने स्वभाव को चूककर मनुष्यगति के योग्य शुभभाव करता है, वह मनुष्य होता है। कोई मनुष्य कर्मभूमि में उपजता है और कोई बड़े आयुष्यवाले भोगभूमि में जन्मता है। वर्तमान में बड़ा सेठ और लक्षाधिपति होता है। वह उपाधिभाव को सेवन कर होता है। आत्मा के धर्म से सेठिया हुआ नहीं। आत्मा का धर्म ज्ञानानन्दमय है। उसके द्वारा उपाधिरहितपना होता है परन्तु उसके द्वारा पुण्य नहीं बँधता। स्वभाव को चूककर उपाधिभाव के कारण कर्म बँधता है।

और तिर्यंचगति के जीव एक इन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु तक के होते हैं। मनरहित और मनवाले, ऐसे दो प्रकार के होते हैं। जो जीव अपना त्रिकाली स्वभाव चूककर वक्रता, कपट, दम्भ का सेवन करते हैं, उसके फल में पशुगति प्राप्त करके पशुरूप से अवतरित होते हैं। मनुष्य के शरीर खड़े हैं, जबकि पशु के शरीर आड़े हैं। पूर्व में वक्रता की है, उसके फल में वे जीव आड़े शरीरवाले तिर्यंचरूप से अवतरित होते हैं। जिस प्रकार के भाव करे, उस प्रकार का फल आता है। निज क्रिया का फल निज में आता है। शुभाशुभभाव जीव अपने असंख्य प्रदेश में करता है, उसका फल अपनी पर्याय में आता है। उसका फल बाहर संयोगों में नहीं आता। इसलिए यहाँ कहते हैं कि वक्रताई की तथा विकारी पर्याय की रुचि छोड़ और ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि कर।

और नरक के जितने भेद हैं, उतने नारकी के जीव हैं। नरक सात हैं तो नारकी के जीव सात प्रकार के हैं। जो जीव माँस खाते हैं, शराब पीते हैं, शिकारादि करते हैं, वे नरक में जाते हैं। वहाँ भी अपने भाव को भोगते हैं। क्षेत्र तो निमित्तमात्र है।

अपने स्वभाव को चूककर जो भाव होते हैं, वे सब चार गति में भटकने के भाव हैं। मेरे बिना इसका काम नहीं होगा, ऐसा माननेवाले जीव सामने पदार्थों का स्वतन्त्रपना चूक जाता है। कोई भी पदार्थ वर्तमान कार्य बिना नहीं होते। सब जड़ और चेतन पदार्थ अपने कार्य सम्पन्न हैं, तथापि उनका कार्य मेरे बिना नहीं होता, ऐसा मानकर चैतन्यस्वभाव को चूकता है और राग तथा अहंकार की भावना करके चार गति में भटकता है।

आत्मा के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व हैं या नहीं ? वस्तु है तो उसका कार्य है या नहीं ? या कार्य बिना की है ? कार्य बिना की हो तो वह वस्तु कूटस्थ हो जाये। परन्तु ऐसा

वस्तुस्वरूप नहीं है, इसलिए पर का करनेरूप अहंकार छोड़कर ज्ञातास्वभाव की रुचि कर। अज्ञानी चौबीसों घण्टे अहंकार करता है। शरीर परमाणुओं की अवस्था है। उसका कार्य उससे होता है। वे परमाणु कायम रहकर पलटते हैं। उसे जीव बदलावे, ऐसा नहीं होता। जीव ने परतत्त्व के कार्य किये नहीं और करता भी नहीं, तथापि अज्ञानी ने एक समयमात्र भी पर का अहंकार छोड़ा नहीं है।

अपना आत्मा सिद्धसमान एकरूप है, उसकी भावना छोड़कर अनेकता की भावना करता है, वह गति में भटकता है। प्रत्येक जीव त्रिकाल है। उसके गुण त्रिकाल हैं। उसका क्षेत्र त्रिकाल है। उसकी पर्याय का काल एक समय का है। उसकी पर्याय, वह उसका कार्य है। यदि कार्य बिना का तत्त्व माने तो तत्त्व ने क्या किया? चौबीस घण्टे धारावाही अहंकार अज्ञानी ने किया है। स्वयं ज्ञानस्वभावी है, उसकी रुचि नहीं करता, इसलिए कर्म उपार्जन करके भटकता है। नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, तथापि मैं नग्न हो सकता हूँ, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता के कारण वह जीव मिथ्यादृष्टि है और बड़ा भोगी है। चार गति में भटकता है। जहाँ खड़ा है, वहाँ पर के कारण तथा संयोग के कारण कार्य होता है, ऐसा मान रहा है। शुद्ध चिदानन्द की भावना चूककर पुण्य-पाप का अहंकार करता हुआ पर के कार्य मुझसे होते हैं, ऐसा मानता हुआ स्वभाव को चूकता हुआ कर्म बाँधता है।

अज्ञानी जीव पर के कार्य मैं कर सकता हूँ—ऐसा मान रहा है। दुकान के, शरीर के सगे (सम्बन्धियों) आदि के काम मैं कर सकता हूँ, ऐसा अहंकार करता है। संयोग और संयोगीभाव रहित शुद्ध स्वभाव को वह जानता नहीं और अनेक प्रकार के भाव करके अलग-अलग भव धारण करता है। कोई मनुष्य में से देव होता है, कोई मनुष्य में से मनुष्य होता है, पशु में से पशु होता है, ऐसे अनेक विचित्रतावाले भव धारण करता है। एकरूप नहीं रहता। जैसे भाव करे, वैसी गति को प्राप्त करता है।

आयुगति नामकर्म के उदय से देवादिक पर्याय होती है, इसलिए उन पर्यायों का अनात्मस्वरूप बतलाते हैं। ●●

गाथा - ११९

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।
पाउण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ।।११९।।

क्षीणे पूर्वनिबद्धे गतिनाम्नि आयुषि च तेऽपि खलु।
प्राप्नुवन्ति चान्यां गतिमायुष्कं स्वलेश्यावशात् ।।११९।।

समयव्याख्या : गत्यायुर्नामोदयनिर्वृत्तत्वाद्देवत्वादीनामनात्मस्वभावत्वोद्योतनमेतत्। क्षीयते हि क्रमेणारब्धफलो गतिनामविशेष आयुर्विशेषश्च जीवानाम्। एवमपि तेषां गत्यंतरस्यायुरंतरस्य च कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या भवति बीजं, ततस्तदुचितमेव गत्यंतरमायुरंतरञ्च ते प्राप्नुवन्ति। एवं क्षीणाक्षीणाभ्यामपि पुनः पुनर्नवीभूताभ्यां गतिनामायुःकर्मभ्यामनात्मस्वभावभूताभ्यामपि चिरमनुगम्यमानाः संसरंत्यात्मानमचेतयमाना जीवा इति ।।११९।।

गति आयु जो पूरव बंधे जब क्षीणता को प्राप्त हों।
अन्य गति को प्राप्त होता जीव लेश्या वश अहो।।११९।।

अन्वयार्थ :— [पूर्वनिबद्धे] पूर्वबद्ध, [गतिनाम्नि आयुषि च] गतिनामकर्म और आयुषकर्म, [क्षीणे] क्षीण होने से, [ते अपि] जीव [स्वलेश्यावशात्] अपनी लेश्या के वश [खलु] वास्तव में [अन्यां गतिम् आयुष्कं च] अन्यगति और आयुष्य [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त करते हैं।

टीका :— यहाँ, गतिनामकर्म और आयुषकर्म के उदय से निष्पन्न होते हैं, इसलिए देवत्वादि अनात्मस्वभावभूत हैं (अर्थात् देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यंचत्व और नारकत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है), ऐसा दर्शाया गया है।

जीवों को, जिसका फल प्रारम्भ हो जाता है, ऐसा अमुक गतिनामकर्म और अमुक आयुषकर्म क्रमशः क्षय को प्राप्त होता है। ऐसा होने पर उन्हें [१]कषाय—अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप लेश्या अन्य गति और अन्य आयुष का बीज होती है।(अर्थात्

---

१. कषाय-अनुरंजित =कषायरंजित; कषाय से रंगी हुई।(कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति, सो लेश्या है।)

लेश्या अन्य गतिनामकर्म और अन्य आयुषकर्म का कारण होती है), इसलिए उसको उचित ही अन्य गति तथा अन्य आयुष वे प्राप्त करते हैं। इस प्रकार। [२]क्षीण-अक्षीणपने को प्राप्त होने पर भी पुनः-पुनः नवीन उत्पन्न होनेवाले गतिनामकर्म और आयुषकर्म (प्रवाहरूप से) यद्यपि वे अनात्मस्वभावभूत हैं तथापि—चिरकाल (जीवों के) साथ-साथ रहते हैं इसलिए, आत्मा को नहीं चेतनेवाले जीव संसरण करते हैं (अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं करनेवाले जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं।)

भावार्थ :— जीवों को देवत्वादि की प्राप्ति में पौद्गलिक कर्म निमित्तभूत हैं, इसलिए देवत्वादि जीव का स्वभाव नहीं हैं।

[पुनश्च, देव मरकर देव ही होता रहे और मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता रहे, इस मान्यता का भी यहाँ निषेध हुआ। जीवों को अपनी लेश्या के योग्य ही गतिनामकर्म और आयुषकर्म का बन्ध होता है और इसलिए उसके योग्य ही अन्यगति-आयुष प्राप्त होती है।]॥११९॥

गाथा - ११९ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ६, बुधवार)

पूर्व काल में बाँधे हुए गति नामकर्म तथा आयुकर्म पूरा होने से वह अपना रस देकर खिर जाता है और निश्चय से वह जीव अपनी कषायगर्भित योगों की प्रवृत्तिरूप लेश्या के प्रभाव से अन्यगति तथा आयु को प्राप्त करता है। लकड़ी के साथ कागज चिपकाना हो तो श्लेष चाहिए, उसी प्रकार आत्मा को पर गति में जाने के लिये क्रोध, मान, माया, लोभ के परिणामसहित योगों की प्रवृत्ति श्लेष समान है। वास्तव में तो जीव अपने परिणाम के कारण से दूसरी गति धारण करता है। कर्म के कारण जाता है, ऐसा कहना, वह उपचारमात्र है।

भावार्थ - जीवों की गति का और आयु का बन्ध क्रोधादि परिणाम और योग की प्रवृत्ति से पड़ता है। एक के बाद एक भव शृंखलावत् चला करता है। जिसके भाव करता है, वैसा भव मिलता है। पूर्व की आयु खिरती है और नयी बँधती है, इसलिए

---

२. पहले के कर्म क्षीण होते हैं और बाद के अक्षीणरूप से वर्तते हैं।

संसारमार्ग चला करता है। अज्ञानी जीव बहुत तपश्चर्या करे तो भी वह बालतप है, दान दे, उपवास करे, परन्तु मैं आहार-पानी का त्याग कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता के कारण अज्ञान टलता नहीं और एक भी भव का भटकने का टलता नहीं। एक के बाद एक भव में भ्रमा करता है। इस प्रकार अनादि काल से अज्ञानी जीव संसार में भटका करता है।

आत्मा का स्वरूप तो क्रोध, मान, माया, लोभ से तथा लेश्या से रहित है और अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप चतुष्टय से अभिन्न है। उसकी भावना भावे तो कषाय नाश पावे, परन्तु उसकी भावना नहीं भाकर राग और व्यवहार की भावना भाता है, वह मिथ्यादृष्टि और चार गति में भटकता है। वह जीव भले शुक्ललेश्या के परिणाम करे तो भी संसार में भटकता है।

छह प्रकार की लेश्या है—कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभलेश्या हैं। पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभलेश्या है। तारतम्यता की अपेक्षा से यह छह प्रकार पड़ते हैं—तीन अशुभबन्ध का कारण है और तीन शुभबन्ध का कारण है। दया, दानादि के भाव करे तो शुभ का बन्ध पड़ता है और मानादि के परिणाम हों तो अशुभ का बन्ध पड़ता है।

आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान न करे और पुण्य की भावना करे तो भटकता है और स्वभाव की भावना करे तो कषाय का नाश होता है।

कोई अज्ञानी जीव कहता है कि अभी पुण्य करो तो धीरे-धीरे पुण्य फटकर धर्मदशा होगी—तो वह भ्रान्ति है। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव अशुभ हैं और दया, दानादि के भाव शुभ हैं। ये दोनों भाव विकार हैं, उनके भावना करना, वह भटकने के भाव हैं। परन्तु शुभाशुभभावरहित शुद्ध आत्मा की भावना करने से कषाय का नाश होता है। चिदानन्द भगवान आत्मा के भान बिना भटकना मिटता नहीं। दूसरा कोई भगवान तिरा नहीं देता। अपनी शान्ति और सुख स्वभाव में ही है। पर के कारण नहीं होते, पर में नहीं होते तथा पुण्य-पाप के भाव में शान्ति नहीं होती; इसलिए स्वभाव की भावना करनेयोग्य है, इससे शान्ति मिलती है। इस भावनारहित जीवों को चार गति में भटकना पड़ता है। ●●

गाथा - १२०

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ।।१२०।।

एते जीवनिकाया देहप्रवीचारमाश्रिताः भणिताः।
देहविहीनाः सिद्धाः भव्याः संसारिणोऽभव्याश्च ।।१२०।।

समयव्याख्या : उक्तजीवप्रपञ्चोपसंहारोऽयम्। एते ह्युक्तप्रकाराः सर्वे संसारिणो देहप्रवीचाराः, अदेहप्रवीचारा भगवंतः सिद्धाः शुद्धा जीवाः। तत्र देहप्रवीचारत्वादेकप्रकारत्वेऽपि संसारिणो द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च। ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्भावासद्भावाभ्यां पाच्यापाच्यमुद्गवदभिधीयंत इति ।।१२०।।

पूर्वोक्ति जीव निकाय देहाश्रित कहे जिनदेव ने।
देह विरहित सिद्ध हैं संसारी भव्य-अभव्य हैं।।१२०।।

अन्वयार्थ :— [एते जीवनिकायाः] यह (पूर्वोक्त) जीवनिकाय, [देहप्रवीचारमाश्रिताः] देह में वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित, [भणिताः] कहे गये हैं; [देहविहीनाः सिद्धाः] देहरहित ऐसे सिद्ध हैं। [संसारिणाः] संसारी [भव्याः अभव्याः च] भव्य और अभव्य, ऐसे दो प्रकार के हैं।

टीका :— यह उक्त (-पहले कहे गये) जीवविस्तार का उपसंहार है।

जिनके प्रकार (पहले) कहे गये यह समस्त संसारी देह में वर्तनेवाले (अर्थात् देहसहित) हैं; देह में न वर्तनेवाले (अर्थात् देहरहित) ऐसे सिद्ध भगवन्त हैं—जो कि शुद्ध जीव हैं। वहाँ, देह में वर्तने की अपेक्षा से संसारी जीवों का एक प्रकार होने पर भी वे भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के हैं। '[१]पाच्य' और '[२]अपाच्य' मूँग की भाँति, जिनमें शुद्धस्वरूप की [३]उपलब्धि की शक्ति का सद्भाव है, उन्हें 'भव्य' और जिनमें

१. पाच्य = पकनेयोग्य; रंधनेयोग्य; सीझनेयोग्य; कोरा न हो ऐसा।
२. अपाच्य = नहीं पकनेयोग्य; रंधने-सीझने की योग्यतारहित; कोरा।
३. उपलब्धि = प्राप्ति; अनुभव।

शुद्धस्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का असद्भाव है, उन्हें 'अभव्य' कहा जाता है॥१२०॥

गाथा - १२० पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ७, गुरुवार)

जीव के दो भेद हैं। एक संसारी और दूसरा मुक्त। सभी मोक्षस्वरूप हैं, ऐसा भी नहीं है। और सभी देहवाले हैं, ऐसा भी नहीं है। जीव स्वभाव से सदा ही शुद्ध है, परन्तु चैतन्य के भान बिना नयी-नयी देह चार गति में मिला करती है। आत्मा को केवल ज्ञान ही देह है। स्वभाव से ज्ञान ही उसका शरीर है, ऐसा भान करे तो आत्मबुद्धि होती है। जो जीव आत्मा का भान करता नहीं और दया, दान के भाव करता है, वह देव होता है। और पाप करे, वह नारकी होता है और मध्यम परिणाम करे, वह मनुष्य होता है, माया के भाव करे वह तिर्यंच होता है। इस प्रकार मुक्ति बिना के जीव को देह का पलटन हुआ करता है। यह शरीर न हो तो तैजस और कार्मणशरीर तो होता ही है, ऐसा भगवान कहते हैं। देहरहित जीव, वे सिद्ध हैं और उन्होंने अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुण प्रगट किये हैं। वे किसी के ऊपर प्रसन्न नहीं होते और फिर से अवतार धारण नहीं करते। और संसारी जीव में दो जाति है। एक मोक्ष के योग्य भव्य जीव हैं और दूसरे मोक्ष के लिये नालायक अभव्य जीव हैं।

भावार्थ - लोक में जीव दो प्रकार के हैं। एक देहधारी और दूसरे देहरहित। देहधारी, वे संसारी है और देहरहित जीव सिद्धपर्याय को अनुभव करते हैं। सब होकर एक जीव नहीं हैं। जीव जाति से एक और संख्या से अनन्त हैं। देहधारी अर्थात् कि व्यवहार से शरीरवाला कहलाता है। जीव विकारी भाव करता है, उसके निमित्त से कर्म बँधते हैं और उसके फल में शरीर मिलता है।

प्रश्न - आत्मा बिना देह अपने आप चलती है तो चलते समय देह बराबर दरवाजे में से निकलती है और दीवार में क्यों भटकती नहीं।

समाधान - शरीर की पर्याय शरीर के कारण से होती है, उसमें आत्मा का

अधिकार नहीं है। जीव राग-द्वेष करे या ज्ञान करे परन्तु देह का कुछ भी नहीं कर सकता। दोनों पृथक् है।

संसारी को देह का सम्बन्ध है, ऐसा निमित्त का ज्ञान कराते हैं और सिद्ध भगवान को देह का निमित्तपना भी नहीं होता।

और संसारी में दो प्रकार के जीव हैं। एक भव्य जीव हैं। जैसे मूँग या उड़द का दाना पानी में पक जाता है, उसकी भाँति भव्य जीव आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान करके मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हैं। वे जीव देह और विकाररहित शुद्धात्मा का भान करके मुक्ति पाते हैं। और घोरडू मूँग को चाहे जितने पानी में उकालो और नीचे लकड़ियाँ जलाओ तो भी वह कभी नहीं पकता, उसी प्रकार अभव्य जीव चाहे जितना क्रियाकाण्ड करे, हजारों रानियाँ छोड़े परन्तु वह शुद्ध आत्मा की रुचि नहीं करता, इसलिए मुक्ति को प्राप्त नहीं करता। बहुत पाप करे और कसाईखाना चलावे, वह अभव्य हो और दया, दानादि के भाव करे, वह भव्य हो—ऐसा नहीं है। अभव्य और भव्य ऐसी दो जाति अनादि से हैं। अभव्य अनन्त हैं, परन्तु भव्य जीव उनकी अपेक्षा अनन्तगुने हैं। अभव्य जीव शरीर की क्रिया करते दिखते हैं। कष्ट सहन करते दिखते हैं परन्तु वे शरीररहित आत्मा की रुचि नहीं करते।

प्रश्न - शरीर को कष्ट देना या नहीं?

उत्तर - शरीर को कष्ट होता नहीं, आत्मा को पर्याय में कष्ट होता है। वह कष्ट तो पाप है, धर्म कष्टदायक नहीं होता। लोगों को धर्म की खबर नहीं है। जो कुछ आर्तध्यान के परिणाम होते हैं, वे पाप हैं, पुण्य नहीं और धर्म तो है ही नहीं। जिस भाव से दुःख लगे, वह भाव धर्म तो है ही नहीं, परन्तु पुण्य भी नहीं है। जड़ शरीर को दुःख नहीं होता, परन्तु अन्दर रहा हुआ जीव शरीर के साथ ममता के परिणाम करता है, वह दुःख है, इसलिए जो जीव धर्मक्रिया करे, वह दुःख भोगता है, यह यथार्थ नहीं है। धर्म शान्तिदायक और आनन्ददाता है।

मैं आत्मा ज्ञाता द्रव्य हूँ, ऐसे भानपूर्वक अन्तर शान्ति और आनन्द प्रगट हो, वह धर्म है और जो कष्टदायक लगे, वह अधर्म है। अज्ञानी जीव चारित्र को दुःखदायक

मानते हैं और महावीर भगवान के सम्बन्ध में कहते हैं कि भगवान ने अन्न करके खाया नहीं, पानी पिया नहीं, सुख से सोये नहीं तो ऐसा माननेवाले जीव चारित्र को कष्टदायक मानते हैं और वीतराग के स्वरूप को पहिचानते नहीं। चारित्र तो शान्तिदायक है।

गर्मी में ठण्डी हवा इत्यादि शान्तिदायक लगती है, उसी प्रकार संसाररूपी ताप में से बचकर आत्मा के भानपूर्वक चारित्र प्रगट हो, वह शीतलीभूत है और उससे अनादि का आताप टलता है।

अज्ञानी जीव मानता है कि मैं परपदार्थ को अनुभव करता हूँ, परन्तु वह पदार्थ को अनुभव नहीं करता, किन्तु राग का अनुभव करता है। आत्मा के भान द्वारा वह राग को टालकर रागरहित शान्ति का वेदन करना, वह चारित्र और तप है। अज्ञानपूर्वक के तप को बालतप कहते हैं। जगत में अभव्य जीव हैं और भव्य जीव भी हैं। हैं, हैं और हैं, वह उनका स्वभाव है। ऐसा कैसे - यह प्रश्न स्वभाव में नहीं है। आत्मा का स्वभाव तीनों काल के और तीन लोक के पदार्थों को जानने का है। ऐसी पहिचान करे, उसे मैं भव्य हूँ, ऐसा ख्याल में आ जाता है और दूसरे भव्य और अभव्य आत्मा हैं, ऐसा वह ख्याल कर लेता है। इस प्रकार जीव की जाति की बात की। ●●

गाथा - १२१

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेंति ।।१२१।।

न हीन्द्रियाणि जीवाः कायाः पुनः षट्प्रकाराः प्रज्ञप्ताः।
यद्भवति तेषु ज्ञानं जीव इति च तत्प्ररूपयन्ति ।।१२१।।

समयव्याख्या : व्यवहारजीवत्वैकांतप्रतिपत्तिनिरासोऽयम्। य इमे एकेन्द्रियादयः पृथिवीकायिकादयश्चानादिजीवपुद्गलपरस्परावगाहमवलोक्य व्यवहारनयेन जीव-प्राधान्याज्जीवा इति प्रज्ञाप्यंते। निश्चयनयेन तेषु स्पर्शनादीन्द्रियाणि पृथिव्यादयश्च कायाः जीवलक्षणभूतचैतन्यस्वभावाभावान्न जीवा भवंतीति। तेष्वेव यत्स्वपरपरिच्छित्तिरूपेण प्रकाशमानं ज्ञानं तदेव गुणगुणिनोः कथञ्चिदभेदाज्जीवत्वेन प्ररूप्यत इति।।१२१।

ये इन्द्रियाँ नहिं जीव हैं षट्काय भी चेतन नहीं।
है मध्य इनके चेतना वह जीव निश्चय जानना।।१२१।।

अन्वयार्थ :— [न हि इन्द्रियाणि जीवाः] (व्यवहार से कहे जानेवाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीवों' में) इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और [षट्प्रकाराः प्रज्ञप्ताः कायाः पुनः] छह प्रकार की शास्त्रोक्त कायें भी जीव नहीं है; [तेषु] उनमें; [यद् ज्ञानं भवति] जो ज्ञान है, [तत् जीवः] वह जीव है [इति च प्ररूपयन्ति] ऐसी (ज्ञानी) प्ररूपणा करते हैं।

टीका :— यह, व्यवहारजीवत्व के एकान्त की [१]प्रतिपत्ति का खण्डन है (अर्थात् जिसे मात्र व्यवहारनय से जीव कहा जाता है, उसका वास्तव में जीवरूप से स्वीकार करना उचित नहीं है, ऐसा यहाँ समझाया है।)

यह जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीव' कहे जाते हैं वे, अनादि जीव -पुद्गल का परस्पर अवगाह देखकर व्यवहारनय से जीव के प्राधान्य द्वारा (-जीव को मुख्यता देकर) 'जीव' कहे जाते हैं। निश्चयनय से उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी-आदि कायें, जीव के लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव के अभाव के कारण, जीव

१. प्रतिपत्ति=स्वीकृति; मान्यता।

नहीं है; उन्हीं में जो स्व-पर की ज्ञप्तिरूप से प्रकाशमान ज्ञान है वही, गुण-गुणी के कथंचित् अभेद के कारण, जीवरूप से प्ररूपित किया जाता है॥ १२१॥

गाथा - १२१ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ७, गुरुवार)

जीवों का स्वरूप व्यवहाराश्रित सर्वथा प्रकार से कहा नहीं जा सकता; कथंचित् अन्य प्रकार से भी दिखलाते हैं।

जीव को स्पर्शादि पाँच इन्द्रिय का निमित्त व्यवहारनय से कहा गया था, परन्तु इन्द्रियाँ जीव का स्वरूप नहीं है। तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायरूप योग्यता जीव की पर्याय में है, उसे अशुद्ध निश्चयनय से जीव कहा गया है परन्तु पर्याय की योग्यता तो अंश है, त्रिकाली स्वरूप नहीं, इसलिए निश्चय से वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। एकरूप चैतन्यभाव, वह जीव है।

भावार्थ - एकेन्द्रियादि भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से शरीर के सम्बन्ध से कहे गये हैं। निश्चयनय से विचार किया जाये तो स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदिक काया चैतन्यलक्ष्मीवान जीव से पृथक् है। इन्द्रियाँ तथा शरीर जीव का स्वरूप नहीं है। एक समय की पर्याय अशुद्ध निश्चयनय से जीव की कही थी परन्तु वह जीव का शाश्वत् स्वरूप है नहीं। त्रिकाली ज्ञाताद्रव्य, वह जीव का वास्तविक स्वरूप है। कोई पूछे कि पर की दया पालना या नहीं? भाई! किसकी दया पालनी है? शरीर तो जड़ है। जड़ की दया पालनी है? पृथ्वी आदिक एक समय की योग्यता है, उसकी दया पालनी है? त्रिकाली ज्ञातादृष्टा स्वभाव है, उसकी दया पालनी है? पर शरीर का रक्षण हो नहीं सकता और पर की पर्याय या स्वभाव तेरे रखने से रहे, ऐसा नहीं है। स्वयं पर का कुछ नहीं कर सकता। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है, ऐसा निर्णय करना, वह स्वदया है।

कोई **पूछता** है कि यह बात जवानी में बैठती होगी?

समाधान - आत्मा बालक नहीं, जवान नहीं, वृद्ध नहीं। आत्मा चैतन्यभावमात्र है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव थे, तीन खण्ड में सबसे विशेष रूपवान थे, जवानी में बहुत विद्या साधी हुई थी। माता से मिलने के पश्चात् वैराग्य आने पर दीक्षा लेने को

तैयार हुए। माता कहती है कि तू सोलह वर्ष साथ नहीं रहा और यहाँ मिला तो अब दीक्षा लेने को कहता है। तथापि प्रद्युम्न कहते हैं कि ऐसे शरीर तो अनन्त मिले। पूर्व के भव स्वप्न समान हो गये, उसी प्रकार यह देह भी स्वप्न समान होगी, ऐसा वैराग्य लाकर दीक्षा लेते हैं। इस प्रकार आत्मा की पहिचान करना, वह धर्म है।

यहाँ जीव का स्वरूप बतलाते हैं। एकेन्द्रियादि इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि शरीर जीव का स्वरूप नहीं है। इन्द्रियाँ या शरीर फटकर केवलज्ञान नहीं होता। तथा एक समय की योग्यता के आधार से केवलज्ञान नहीं होता। जीव की गति की योग्यता, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। देह, इन्द्रियाँ और उघाड़ भाव सबका पलटन होकर अकेला शुद्धचैतन्यभाव रह जाता है, वह जीव है। स्व-पर को जाननेवाला आत्मपदार्थ है, उसमें गुण-गुणी का भेद है। आत्मा, वह गुणी है और ज्ञान-दर्शनादि, वे गुण हैं - ऐसा संख्याभेद से भेद है, तथापि प्रदेशभेद से भेद नहीं, इसलिए अभेद संयुक्त है। आत्मा असंख्यप्रदेशी है, वैसे ज्ञान भी असंख्यप्रदेश में रहा हुआ है। ऐसा अविनाशी, अचल, निर्मल, चैतन्यस्वरूप जीवपदार्थ जानना। ऐसा पर से भेदस्वरूप और गुण से अभेदस्वरूप ऐसे आत्मा को जानना, वह धर्म है।

इस जीवपदार्थ को जाने बिना अज्ञानी जीव विकारी भाव करके देह धारण करके पाँच इन्द्रियों के विषयों को भोगता है, परन्तु अपने अमृतस्वरूप आत्मा को नहीं भोगता। विषय स्वप्नवत् हैं। अपना सुख अपने में है, उसे भूलकर पर में टिकता हूँ, ऐसा मानकर पर को भोगता है। जिस प्रकार शराब पीया हुआ मनुष्य अपनी माता को स्त्री कहे और स्त्री को माता कहे, उसी प्रकार शरीर, मन, वाणी इत्यादि परपदार्थ मेरे हैं, ऐसा मोह से उन्मत्त जीव मानता है और परद्रव्य में ममत्वभाव करता है। अपना चैतन्यभाव अपनी चीज़ है, उसे भूलकर पर में मोह करके मोक्षसुख से परान्मुख रहता है। ऐसा जो संसारी जीव है, उसका द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाये तो वह भी निर्मल चैतन्य विलास आत्माराम है। ऐसी स्वभावदृष्टि करना, वह धर्म है। ●●

गाथा - १२२

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ।।१२२।।

जानाति पश्यति सर्वमिच्छति सौख्यं बिभेति दुःखात्।
करोति हितमहितं वा भुंक्ते जीवः फलं तयोः ।।१२२।।

समयव्याख्या : अन्यासाधारणजीवकार्यख्यापनमेतत्। चैतन्यस्वभावत्वात्कर्तृस्थायाः क्रियायाः ज्ञप्तेर्दृशेश्च जीव एव कर्ता, न तत्संबंधः पुद्गलो, यथाकाशादि। सुखाभिलाषक्रियायाः दुःखोद्वेगक्रियायाः स्वसंवेदितहिताहितनिर्वर्तनक्रियायाश्च चैतन्यविवर्तरूपसङ्कल्पप्रभवत्वात्स एव कर्ता, नान्यः। शुभाशुभकर्मफलभूताया इष्टानिष्टविषयोपभोगक्रियायाश्च सुखदुःखस्वरूप-स्वपरिणामक्रियाया इव स एव कर्ता, नान्यः। एतेनासाधारणकार्यानुमेयत्वं पुद्गलव्यतिरिक्तस्यात्मनो द्योतितमिति ।।१२२।।

जिय जानता अर देखता, सुख चाहता दुःख से डरे।
भाव करता शुभ-अशुभ फल भोगता उनका अरे।।१२२।।

अन्वयार्थ :— [जीवः] जीव [सर्वं जानाति पश्यति] सब जानता है और देखता है, [सौख्यम् इच्छति] सुख की इच्छा करता है, [दुःखात् बिभेति] दुःख से डरता है, [हितम् अहितम् करोति] हित-अहित को (शुभ-अशुभभावों को) करता है [वा] और [तयोः फलं भुंक्ते] उनके फल को भोगता है।

टीका :— यह, अन्य से असाधारण ऐसे जीवकार्यों का कथन है (अर्थात् अन्य द्रव्यों से असाधारण ऐसे जो जीव के कार्य, वे यहाँ दर्शाये हैं)।

चैतन्यस्वभावपने के कारण, कर्तृस्थित (कर्ता में रहनेवाली) क्रिया का—ज्ञप्ति तथा दृशि का—जीव ही कर्ता है; उसके सम्बन्ध में रहा हुआ पुद्गल उसका कर्ता नहीं है, जिस प्रकार आकाशादि नहीं हैं, उसी प्रकार। (चैतन्यस्वभाव के कारण जानने और देखने की क्रिया का जीव ही कर्ता है; जहाँ जीव है, वहाँ चार अरूपी अचेतन द्रव्य भी हैं, तथापि वे जिस प्रकार जानने और देखने की क्रिया के कर्ता नहीं हैं, उसी प्रकार जीव के साथ सम्बन्ध में रहे हुए कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल भी उस क्रिया

के कर्ता नहीं हैं।) चैतन्य के विवर्तरूप (-परिवर्तनरूप) संकल्प की उत्पत्ति (जीव में) होने के कारण, सुख की अभिलाषारूप क्रिया का, दुःख के उद्वेगरूप क्रिया का तथा स्वसंवेदित हित-अहित की निष्पत्तिरूप क्रिया का (-अपने से संचेतन किये जानेवाले शुभ-अशुभभावों को रचनेरूप क्रिया का) जीव ही कर्ता है; अन्य नहीं है। शुभाशुभ कर्म के फलभूत [१]इष्टानिष्टविषयोपभोगक्रिया का, सुख-दुःख स्वरूप स्वपरिणाम क्रिया की भाँति, जीव ही कर्ता है; अन्य नहीं।

इससे ऐसा समझाया कि (उपरोक्त) असाधारण कार्यों द्वारा पुद्गल से भिन्न ऐसा आत्मा अनुमेय (अनुमान कर सकने योग्य) है।

भावार्थ :— शरीर, इन्द्रिय, मन, कर्म आदि पुद्गल या अन्य कोई अचेतन द्रव्य कदापि जानते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सुख की इच्छा नहीं करते, दुःख से डरते नहीं हैं, हित-अहित में प्रवर्तते नहीं हैं या उनके फल को नहीं भोगते; इसलिए जो जानता है और देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुःख से भयभीत होता है, शुभ-अशुभभावों में प्रवर्तता है और उनके फल को भोगता है, वह, अचेतन पदार्थों के साथ रहने पर भी सर्व अचेतन पदार्थों की क्रियाओं से बिल्कुल विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ करनेवाला, एक विशिष्ट पदार्थ है। इस प्रकार जीव नाम का चैतन्यस्वभावी पदार्थविशेष—कि जिसका ज्ञानी स्वयं स्पष्ट अनुभव करते हैं वह—अपनी असाधारण क्रियाओं द्वारा अनुमेय भी है॥ १२२॥

गाथा - १२२ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार)

नौ पदार्थों में से यह जीवपदार्थ का वर्णन है। नौ तत्त्वों में जीव का पर से भेदज्ञान कराने का यह अधिकार है। अनादि से स्व-पर की एकताबुद्धिरूप जो मिथ्याभाव है, वह अधर्म है। पर से भिन्न अपना स्वरूप समझे तो कल्याण होता है। इसलिए जीव में

---

१. इष्टानिष्ट विषय जिसमें निमित्तभूत होते हैं, ऐसे सुख-दुःखपरिणामों के उपभोगरूप क्रिया को जीव करता है, इसलिए उसे इष्टानिष्ट विषयों के उपभोगरूप क्रिया का कर्ता कहा जाता है।

हो और दूसरे किसी द्रव्य में न हो, ऐसे खास कार्य का वर्णन करते हैं।

प्रथम तो जानना-देखना, वह जीव की क्रिया है; जानने-देखने की क्रिया जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं है। और सुख को चाहता है तथा दु:ख से डरता है, यह भी जीव की क्रिया है; अजीव को सुख-दु:ख होते ही नहीं।

शुभ अथवा अशुभ आचरण, वह भी दु:ख का कर्तृत्व है। जड़ में कोई पुण्य-पाप के भाव नहीं होते। हिंसादि के पापभाव या दया, भक्ति के पुण्यभाव, वह जीव की क्रिया है, ऐसा समझे तो पर से भेदज्ञान होता है। निमित्त अच्छे मिले, इसलिए शुभपरिणाम हुए और बुरे निमित्त मिले, इसलिए अशुभपरिणाम हुए—ऐसा नहीं है। परन्तु शुभ-अशुभपरिणाम वह जीव का ही कर्तव्य है।

अपने कार्य के फलरूप सुख-दु:ख को ही जीव भोगता है। जड़ में कोई सुख-दु:ख भोगने का होता नहीं। दु:ख का वेदन देह में नहीं होता परन्तु जीव में होता है। ऐसा समझाकर जीव को पर से भिन्न बतलाते हैं।

जानने-देखने की क्रिया करनेवाला भी जीव स्वयं ही है; किसी पर के कारण आत्मा में जानने-देखने की क्रिया नहीं होती। निमित्त के कारण ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। परन्तु जीव स्वयं ही जानने के स्वभाववाला है।

नौ पदार्थ में जीव कैसे स्वभाववाला है, यह बतलाते हैं। ज्ञान-दर्शन क्रिया के साथ आत्मा तन्मय है। आत्मा शरीरादि की क्रिया के साथ तन्मय नहीं है। उनसे तो भिन्न है परन्तु अपनी ज्ञान-दर्शन की क्रिया के साथ ही वह तन्मय है। पर को और मुझे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा समझकर भेदज्ञान के लिये यह वर्णन है। जीव पदार्थ का वर्णन पूरा करते हुए अन्त में कहेंगे कि जीव-अजीव पदार्थों के लक्षण का वर्णन मात्र भेदविज्ञान करने के हेतु से ही किया गया है। पर से भेदज्ञान करके अन्तर्मुख स्वभाव के अवलम्बन से ही शान्ति है, इस प्रकार समझे तो बाहर से शान्ति और ज्ञान लेने की मिथ्याबुद्धि नहीं रहे। ज्ञान की क्रिया तो अपने आत्मा में होती है। कोई पुस्तक, पृष्ठ से या बाहर के पदार्थों से वह ज्ञानक्रिया नहीं होती। ज्ञानक्रिया आत्मा में ही होती है। उस ज्ञानक्रिया के साथ आत्मा तन्मय है परन्तु जीव के साथ सम्बन्धवाला ऐसा अचेतन

पुद्गलद्रव्य उस ज्ञानक्रिया का कर्ता नहीं है। अचेतन आँख के कारण आत्मा जानता है, यह बात मिथ्या है। ज्ञानावरणकर्म जड़ है, वह आत्मा की ज्ञानक्रिया का करनेवाला या रोकनेवाला नहीं है। जीव स्वयं अपने ज्ञान की जैसी क्रिया करे, वैसी होती है। जैसे अचेतन आकाश कुछ नहीं जानता, वैसे अजीव पुद्गलद्रव्य के साथ भी जीव की ज्ञानक्रिया को कोई सम्बन्ध नहीं है तथा अजीव पुद्गल के साथ भी ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। जैसे आकाश के साथ ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार अजीव पुद्गल के साथ भी ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान तो आत्मा के साथ एकमेक है। ऐसा समझे तो ज्ञान में पराश्रयबुद्धि नहीं रहती। जैसे धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल, ये चार अरूपी द्रव्य आत्मा को ज्ञान का कारण नहीं है, वैसे पुद्गलद्रव्य भी आत्मा को ज्ञान का कारण नहीं है। बारह अनुप्रेक्षा में कहते हैं कि पुण्य-पाप आस्रव है, वह आस्रव की क्रिया मोक्ष में निमित्त भी नहीं है, ऐसा चिन्तवन करना।

व्यवहार के शुभपरिणाम मोक्ष का निमित्त होगा, ऐसा तू चिन्तवन करना नहीं। आस्रव के भावों को मोक्ष का परम्परा कारण भी मानना नहीं। वहाँ जैसे आस्रव वह मोक्ष की क्रिया का कारण नहीं है, ऐसा कहा, उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि अजीवद्रव्यों के कारण जीव में ज्ञानक्रिया नहीं होती।

छह द्रव्यों में एक जीवद्रव्य ही ज्ञानक्रिया सम्पन्न है। इसलिए उस ज्ञानक्रिया द्वारा जीव को समस्त द्रव्यों से भिन्न पहिचानना।

जीव में ही सुख की इच्छा होती है। सिद्ध भगवन्त तो पूर्ण सुखी हो गये। उन्हें अब इच्छा नहीं रही। अजीव को भी सुख की इच्छा नहीं होती। प्रत्येक जीव सुख को चाहता है, ऐसा कहकर यहाँ जड़ की भिन्नता बतलाते हैं। आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की अभिलाषा हो या संसार के इन्द्रिय सुख की अभिलाषा हो, वह जीव में ही है। अजीव में वह नहीं होती। सुख नाम का गुण जीव में ही है।

दुःख से भयभीत हो, ऐसी क्रिया भी जीव में ही है। अजीव में कोई दुःख का डर नहीं होता। देखो! सुख-दुःख कोई कल्पना नहीं है परन्तु जीव की पर्याय में सुख-दुःख होते हैं।

शुभ-अशुभभावोंरूप प्रवर्तन इत्यादि क्रियाओं में भी जीव ही प्रवर्तता है। देखो, यहाँ जीव को दूसरे पदार्थों से भिन्न बतलाना है। इसलिए शुभ-अशुभ का कर्ता कहा है। दृष्टि के विषय का वर्णन हो, वहाँ तो ऐसा कहे कि शुभ-अशुभभाव आत्मा के स्वभाव में नहीं है। आत्मा शुभाशुभ को कर्ता नहीं परन्तु यहाँ तो पर्याय अपेक्षा से बात है, इसलिए आत्मा को शुभाशुभ का कर्ता कहा है। अपने शुभ-अशुभभाव के फलरूप सुख-दुःख का भोक्ता भी जीव स्वयं है। सुख-दुःख के भोगनेरूप क्रिया पर के कारण नहीं होती, परन्तु वह जीव की ही क्रिया है। कोई संयोग उसे सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।

इस प्रकार ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ और हर्ष-शोक इत्यादि क्रियाओं का कर्ता जीव ही है, ऐसा जानना। यह जानने-देखने इत्यादि की क्रियाएँ अजीव में नहीं होती। ऐसा पहिचानकर जीव-अजीव का भेदविज्ञान करना, वह अपूर्व धर्म है।

नौ पदार्थों में पहला जीव पदार्थ ऐसा है। ऐसे जीव का भान न करे और बाहर की क्रिया में धर्म मान ले, उसे भटकना मिटता नहीं है। इसलिए पहले जीव क्या और जीव की क्रिया क्या, यह समझना चाहिए। शरीर ऊँचा-नीचा हो, या भाषा बोली जाये, वह तो अजीव की क्रिया है, उस क्रिया में कोई जीव का धर्म नहीं होता। जीव का धर्म तो अपने ज्ञान-दर्शनादि की क्रिया में होता है। 'मन-वचन-काया से करना, कराना, और अनुमोदना' ऐसे नौ कोटि से त्याग करने का कथन आवे, वहाँ उस प्रकार के जीव के भावों को छोड़ने के लिये बात है। कोई जड़ की क्रिया को आत्मा करता नहीं और जड़ की क्रिया को छोड़ने की बात नहीं। करने का, कराने का और अनुमोदन का भाव किसका है ? वह भाव तो जीव की पर्याय में होता है, इसलिए उस भाव को छोड़ने की बात है, ऐसा समझना। ऐसा समझे नहीं और आत्मा को जड़ की क्रिया से धर्म-अधर्म माने, उसे तो अभी जीव-अजीव की भिन्नता का भी भान नहीं। उसे धर्म नहीं होता, इसलिए यहाँ जीव-अजीव के लक्षण बतलाकर भेदज्ञान कराया है। ●●

गाथा - १२३

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ।।१२३।।

एवमभिगम्य जीवमन्यैरपि पर्यायैर्बहुकैः।
अभिगच्छत्वजीवं ज्ञानांतरितैर्लिङ्गैः ।।१२३।।

समयव्याख्या : जीवाजीवव्याख्योपसंहारोपक्षेपसूचनेयम्। एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रंथप्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादिप्रपञ्चितविचित्रविकल्परूपैः, निश्चयनयेन मोहरागद्वेष-परिणतिसंपादितविश्वरूपत्वात्कदाचिदशुद्धैः कदाचित्तदभावाच्छुद्धैश्चैतन्यविवर्त-ग्रन्थिरूपैर्बहुभिः पर्यायैः जीवमधिगच्छेत्। अधिगम्य चैवमचैतन्यस्वभावत्वात् ज्ञानादर्थांतर-भूतैरितः प्रपंच्यमा-नैर्लिङ्गैर्जीवसंबद्धमसंबद्धं वा स्वतो भेदबुद्धिप्रसिद्ध्यर्थमजीवमधिगच्छेदिति ।।१२३।।

पूर्वोक्त अनेक प्रकार से इस तरह जाना जीव को।
जानो अजीव पदार्थ अब जड़ चिन्ह की पहचान से।।१२३।।

अन्वयार्थ :— [एवम्] इस प्रकार [अन्यैः अपि बहुकैः पर्यायैः] अन्य भी बहुत पर्यायों द्वारा [जीवम् अभिगम्य] जीव को जानकर, [ज्ञानांतरितैः लिङ्गैः] ज्ञान से अन्य ऐसे (जड़) लिंगों द्वारा [अजीवम् अभिगच्छतु] अजीव को जानो।

टीका :— यह, जीव-व्याख्यान के उपसंहार की और अजीव-व्याख्यान के प्रारम्भ की सूचना है।

इस प्रकार इस निर्देश के अनुसार (अर्थात् ऊपर संक्षेप में समझाये अनुसार), (१) व्यवहारनय से [१]कर्मग्रन्थप्रतिपादित जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थान इत्यादि द्वारा [२]प्रपंचित विचित्र भेदरूप बहु पर्यायों द्वारा, तथा (२) निश्चयनय से मोह-राग-द्वेषपरिणतिसंप्राप्त [३]विश्वरूपता के कारण कदाचित् अशुद्ध (ऐसे) और कदाचित्

१. कर्मग्रन्थप्रतिपादित = गोम्मटसारादि कर्मपद्धति के ग्रन्थों में प्ररूपित—निरूपित।
२. प्रपंचित = विस्तारपूर्वक कही गई।
३. मोहरागद्वेषपरिणति के कारण जीव को विश्वरूपता अर्थात् अनेकरूपता प्राप्त होती है।

उसके (-मोहरागद्वेषपरिणति के) अभाव के कारण शुद्ध ऐसी [१]चैतन्यविवर्तग्रन्थिरूप बहुपर्यायों द्वारा, जीव को जानो। इस प्रकार जीव को जानकर, अचैतन्यस्वभाव के कारण, [२]ज्ञान से अर्थान्तरभूत ऐसे, यहाँ से (अबकी गाथाओं में) कहे जानेवाले लिंगों द्वारा, [३]जीव-सम्बद्ध या जीव-असम्बद्ध अजीव को, अपने से भेदबुद्धि की प्रसिद्धि के अर्थ से जानो॥ १२३॥

इस प्रकार जीवपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

गाथा - १२३ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार)

अब जीव-अजीव के व्याख्यान को संक्षेप में कहते हैं।

इस प्रकार दूसरी भी अनेक पर्यायों से आत्मा को जानकर, ज्ञान से भिन्न स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि चिह्न से पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों को जानो।

इस प्रकार ज्ञान-दर्शनादि क्रिया द्वारा जीव को अन्य द्रव्यों से भिन्न बतलाया। इस प्रकार गुणस्थान, जीवस्थान इत्यादि अन्य पर्यायों से भी जीव को अन्य अजीव द्रव्यों से भिन्न पहिचान लेना। देखो! समयसार, नियमसार इत्यादि में जीव के अखण्ड स्वभाव की अधिकता बतलाने के लिये गुणस्थान, जीवस्थान इत्यादि को अजीव के परिणाम कहा है, वहाँ पर्याय गौण करके द्रव्यदृष्टि का विषय बताया है और यहाँ तो अजीवद्रव्यों से भिन्नता बतलाने के लिये जीव की पर्याय द्वारा जीव को बतलाया है। मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थान हैं, वे सब भाव जीव की पर्याय में होते हैं, वे कहीं अजीव के कारण

---

१. ग्रन्थि = गाँठ। [जीव की कदाचित् अशुद्ध और कदाचित् शुद्ध ऐसी पर्यायें चैतन्यविवर्तकी—चैतन्यपरिणाम की—ग्रन्थियाँ हैं; निश्चयनय से उनके द्वारा जीव को जानो।]

२. ज्ञान से अर्थान्तरभूत = ज्ञान से अन्यवस्तुभूत; ज्ञान से अन्य अर्थात् जड़। [अजीव का स्वभाव अचैतन्य होने के कारण ज्ञान से अन्य ऐसे जड़ चिह्नों द्वारा वह ज्ञात होता है।]

३. जीव के साथ सम्बद्ध या जीव साथ असम्बद्ध ऐसे अजीव को जानने का प्रयोजन यह है कि समस्त अजीव अपने से (स्वजीव से) बिल्कुल भिन्न हैं, ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो।

नहीं होते। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये उन्हें कर्मजनित कहा है, परन्तु **वहाँ तो पर्याय को अन्तर्मुख करके अभेद स्वभाव बतलाने का अभिप्राय है। यदि पर्याय को ही पराधीन—कर्म के कारण मान ले, तब तो अन्तर्मुख होकर अभेद स्वभाव की दृष्टि कहाँ से करेगा? क्योंकि अभेद स्वभाव को दृष्टि में लेनेवाली तो पर्याय है। उस पर्याय को ही जिसने पर के कारण माना है, वह जीव पर्याय को अन्तरस्वभाव के सन्मुख नहीं कर सकेगा, इसलिए निश्चित करना चाहिए कि जितनी जीव की पर्यायें हैं, वे सब जीव के स्वयं के कारण ही होती है।** ऐसा आत्मा की पर्यायों का विलास है। उस पर्याय के विलास से जीवतत्त्व को जान लेना। निगोद की दशा, नरकादि की दशा इत्यादि समस्त दशाओं में भी जीवतत्त्व का विलास है। जगत के जो बाह्य पदार्थ दिखते हैं, उनमें तो जड़ का विलास है; उनमें आत्मा का विलास नहीं। आत्मा का विलास तो अपनी पर्याय में ही है। ऐसे जीव की पर्याय द्वारा जीव को पहिचानना। जीव की शुद्धपर्याय या अशुद्धपर्याय के द्वारा जीवतत्त्व ही पहिचाना जाता है और अचेतनपने के द्वारा अजीवतत्त्व पहिचाने जाते हैं।

कदाचित् मोह-राग-द्वेष इत्यादि अशुद्ध पर्यायें हैं, वह अशुद्ध निश्चयनय से जीव हैं। उस अशुद्धपर्याय से जीवतत्त्व ज्ञात होता है, क्योंकि वह पर्याय जीव की है। और वह अशुद्धता टलकर जीव को शुद्धपर्याय प्रगट हो, उस शुद्धपर्याय द्वारा भी जीवतत्त्व ज्ञात होता है।

इस प्रकार सर्वज्ञदेव प्रणीत आगम के अनुसार अनेक प्रकार के नयविलास से जीवतत्त्व को जानना और जड़स्वभाव द्वारा अजीवतत्त्व को पहिचानना। कर्म, नोकर्म, और पृथक् रजकण, वे सभी अजीव हैं। जीव ज्ञान-दर्शनमय है, वह अजीव से भिन्न है। इस प्रकार जीव के लक्षण से जीव को जानना और अजीव के लक्षण से अजीव को जानना। इस प्रकार जीव-अजीव का भेदज्ञान कराने के लिये ही यह जीव-अजीव के पृथक् लक्षण बतलाये हैं।

जीव-अजीव का भेदज्ञान किये बिना पर में से एकत्वबुद्धि टलती नहीं और उसके बिना धर्म होता नहीं। देखो! यह समझे बिना जन्म-मरण की थकान उतरे, ऐसा नहीं है। तुझे अनन्त जन्म-मरण की थकान उतारना हो तो ज्ञानादि लक्षणों द्वारा तेरे

जीवतत्त्व को अजीव से भिन्न पहिचानकर तेरे जीवस्वभाव में विश्राम ले।

अभव्य जीव को भी जो मिथ्यात्वादि भाव हैं, वे कर्म के कारण नहीं, परन्तु उसकी अपनी पर्याय के कारण ही है। इस प्रकार नौ तत्त्वों में जीव को अजीव से भिन्न जानना। नौ तत्त्वों में जीवतत्त्व को समझने का तात्पर्य है। नौ तत्त्व में जीव की पर्याय को पर्यायरूप से जानता है और द्रव्य को द्रव्यरूप से जानता है, उस ज्ञान का जोर अखण्ड द्रव्य की ओर ढले बिना नहीं रहता, क्योंकि द्रव्य को द्रव्यरूप से जाना और पर्याय को पर्यायरूप से जाना, वहाँ पर्याय से द्रव्य का सामर्थ्य अनन्तगुना है, ऐसा भी उस ज्ञान ने जाना है, इसलिए उस ज्ञान का झुकाव अखण्ड द्रव्य की ओर ढले बिना नहीं रहता। इस प्रकार नौ तत्त्व के ज्ञान में भी अभेद द्रव्य की ओर का ही झुकाव आ जाता है।

इस प्रकार नौ तत्त्व में से जीवतत्त्व का वर्णन यहाँ पूरा हुआ। ●●

गाथा - १२४

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ।।१२४।।

आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः।
तेषामचेतनत्वं भणितं जीवस्य चेतनता ।।१२४।।

समयव्याख्या : अथ अजीवपदार्थव्याख्यानम्। आकाशादीनामेवाजीवत्वे हेतूपन्यासोयम्। आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु चैतन्यविशेषरूपा जीवगुणा नो विद्यंते, आकाशादीनां तेषामचेतनत्वसामान्यत्वात्। अचेतनत्वसामान्यञ्चाकाशादीनामेव, जीवस्यैव चेतनत्वसामान्यादिति ।।१२४।।

अब, अजीवपदार्थ का व्याख्यान है।

जीव के गुण हैं नहीं जड़ पुद्गलादि पदार्थ में।
उनमें अचेतनता कही चेतनपना है जीव में।।१२४।।

अन्वयार्थ :— [आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु] आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म में [जीवगुणाः न सन्ति] जीव के गुण नहीं है; (क्योंकि) [तेषाम् अचेतनत्वं भणितम्] उन्हें अचेतनपना कहा है, [जीवस्य चेतनता] जीव को चेतनता कही है।

टीका :— यह, आकाशादि का ही अजीवपना दर्शाने के लिए हेतु का कथन है।

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म में चैतन्यविशेषोंरूप जीवगुण विद्यमान नहीं है; क्योंकि उन आकाशदि को अचेतनत्वसामान्य है और अचेतनत्वसामान्य आकाशादि को ही है, क्योंकि जीव को ही चेतनत्वसामान्य है॥ १२४॥

गाथा - १२४ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ८, शुक्रवार)

अब अजीवतत्त्व की बात करते हैं।

आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य—इन पाँच द्रव्यों में

सुख, सत्ता, बोध, चैतन्यादि जीव के गुण नहीं हैं, भगवान ने इन पाँचों द्रव्यों में चेतनारहित जड़ भाव कहा है। चैतन्यभाव एक जीवद्रव्य को ही कहा गया है।

'सचेतन वनस्पति', ऐसा कहा जाता है, वहाँ वास्तव में बाहर में जो हरी वनस्पति दिखती है, वह वनस्पति तो जड़ है। जीव तो चैतन्यलक्षणवाला है। वह अजीव से भिन्न है। जीव-अजीव इत्यादि नौ तत्त्वों को जानकर उसमें उपादेयरूप तो ज्ञायकमूर्ति शुद्ध जीव ही है। जाननेयोग्य तो सब तत्त्व हैं, परन्तु वह जानकर शुद्ध ज्ञायक भूतार्थ जीव को आदरणीय करना, यह तात्पर्य है। ●●

गाथा - १२५

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा बेंति अज्जीवं।।१२५।।

सुखदुःखज्ञानं वा हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वम्।
यस्य न विद्यते नित्यं तं श्रमणा विंदंत्यजीवम्।।१२५।।

समयव्याख्या : आकाशादीनामचेतनत्वसामान्ये पुनरनुमानमेतत्। सुखदुःखज्ञानस्य हितपरिकर्मणोऽहितभीरुत्वस्य चेति चैतन्यविशेषाणां नित्यमनुपलब्धेरविद्यमानचैतन्यसामान्या एवाकाशादयोऽजीवा इति ।।१२५।।

सुख-दुःख का वेदन नही, हित-अहित में उद्यम नही।
ऐसे पदार्थ अजीव है, कहते श्रमण उसको सदा।।१२५।।

अन्वयार्थ :— [सुखदुःखज्ञानं वा] सुख-दुःख का ज्ञान, [हितपरिकर्म] हित का उद्यम [च] और [अहितभीरुत्वम्] अहित का भय— [यस्य नित्यं न विद्यते] यह जिसे सदैव नहीं होते, [तम्] उसे [श्रमणाः] श्रमण [अजीवम् ब्रुवन्ति] अजीव कहते हैं।

टीका :— यह पुनश्च, आकाशादि का अचेतनत्वसामान्य निश्चित करने के लिए अनुमान है।

आकाशादि को सुखदुःख का ज्ञान, [१]हित का उद्यम और अहित का भय— इन चैतन्यविशेषों की सदा अनुपलब्धि है (अर्थात् यह चैतन्यविशेष आकाशदि को किसी काल नहीं देखे जाते), इसलिए (ऐसा निश्चित होता है कि) आकाशादि

---

१. हित और अहित के सम्बन्ध में आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निम्नोक्तानुसार विवरण है :— अज्ञानी जीव फूल की माला, स्त्री, चन्दनादि को तथा उनके कारणभूत दानपूजादि को हित समझते हैं और सर्प, विष, कण्टकादि को अहित समझते हैं। सम्यग्ज्ञानी जीव अक्षय अनन्त सुख को तथा उसके कारणभूत निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्मद्रव्य को हित समझते हैं और आकुलता के उत्पादक ऐसे दुःख को तथा उसके कारणभूत मिथ्यात्वरागादिपरिणत आत्मद्रव्य को अहित समझते हैं।

अजीवों को चैतन्यसामान्य विद्यमान नहीं है।

भावार्थः—जिसे चेतनत्वसामान्य हो, उसे चेतनत्वविशेष होना ही चाहिए। जिसे चेतनत्वविशेष न हो, उसे चेतनत्वसामान्य भी नहीं होता। अब, आकाशादि पाँच द्रव्यों को सुखदुःख का संचेतन, हित के लिए प्रयत्न और अहित के लिये की भीति— यह चेतनत्वविशेष कभी देखे नहीं जाते; इसलिए निश्चित होता है कि आकाशादि को चेतनत्वसामान्य भी नहीं है, अर्थात् अचेतनत्वसामान्य ही है॥ १२५॥

गाथा - १२५ पर प्रवचन (वी.सं. २४७८, वैशाख शुक्ल ९, शनिवार)

छह द्रव्यों की स्वतन्त्रता की बात पूर्व में आ गयी थी, तथापि वापस अजीव का अधिकार क्यों? ऐसा कोई **प्रश्न** करे तो उसका **समाधान** यह है कि यहाँ अजीव की व्याख्या दूसरे ढंग से आयी है। जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय जैसे हैं, वैसे अजीव में नहीं हैं। जिस द्रव्य में सुख-दुःख नहीं, वह अजीव है। कर्म में, पुद्गल में, शरीर, वाणी, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इत्यादि द्रव्यों में सुख-दुःख अथवा जानपना नहीं है, ये अजीवद्रव्य हैं। कोई जीव भय के कारण डरता है और भागता है तो वहाँ डर अथवा दुःख शरीर को नहीं है। जीव को दुःख अथवा डर लगता है। वह भय कर्म की पर्याय में नहीं है। शरीर का क्षेत्रान्तर शरीर के कारण से है और आत्मा का क्षेत्रान्तर आत्मा के कारण से है। शरीर, कर्म आदि अजीव पदार्थ में सुख-दुःख नहीं होता। जिस द्रव्य में सुख-दुःख का जानपना अथवा उत्तम कार्यों में प्रवृत्ति अथवा दुःखदायक कार्यों से भय नहीं, ऐसे द्रव्यों को गणधरादिक ज्ञानी अजीव पदार्थ जानते हैं।

भावार्थ - जिन द्रव्यों में सुख-दुःख का जानपना नहीं, वे अजीव हैं और जिन द्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट कार्य करने की शक्ति नहीं, वे अजीव हैं। आँख, कान, जीभ में हिताहित बुद्धि नहीं है। इन द्रव्यों के विषय में अनुमान होता है कि ये पदार्थ चेतनागुणरहित हैं। ये आकाशादि पाँच द्रव्य हैं। हिताहित की प्रवृत्ति इन किसी भी द्रव्य में नहीं, इसलिए उस अजीव जानना चाहिए। ●●

यहाँ (सद्गुरुप्रवचनप्रसाद हस्तलिखित दैनिक) संकलित प्रवचन पूर्ण होते हैं। अब इसके बाद के सभी प्रवचन अक्षरशः हैं जिन्हें सी.डी. से सुना जा सकता है।

गाथा - १२६-१२७

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ।। १२६ ।।
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।। १२७ ।।
संस्थानानि संघाता: वर्णरसस्पर्शगन्धशब्दाश्च ।
पुद्गलद्रव्यप्रभवा भवन्ति गुणां पर्यायाश्च बहव: ।। १२६ ।।
अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ।। १२७ ।।

जीवपुद्गलयो: संयोगेऽपि भेदनिबन्धनस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यत्खलु शरीरशरीरिसंयोगे स्पर्शरसगन्धवर्णगुणत्वासशब्दत्वात्संस्थानसङ्घ । तादिपर्याय-परिणतत्वाच्च इन्द्रियग्रहणयोग्यं, तत्पुद्गलद्रव्यम् । यत्पुनरस्पर्शरसगन्धवर्णगुणत्वादशब्दत्वाद-निर्दिष्टसंस्थानत्वादव्यक्तत्वादिपर्यायै: परिणतत्वाच्च नेन्द्रियग्रहणयोग्यं, तच्चेतनागुणत्वात् रूपिभ्योऽरूपिभ्यश्चाजीवेभ्यो विशिष्टं जीवद्रव्यम् । एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेद: सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति ।। १२-१२७)

इति अजीवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

संस्थान अर संघात रस-गँध-वरण शब्द स्पर्श जो ।
वे सभी पुद्गल दशा में पुद्गल दरव निष्पन्न हैं ।।१२६।।
चेतना गुण युक्त आतम अशब्द अरस अगंध है ।
है अनिर्दिष्ट अव्यक्त वह, जानो अलिंगग्रहण उसे ।।१२७।।

अन्वयार्थ :— [संस्थानानि] (समचतुरस्त्रादि) संस्थान, [संघाताः] (औदारिकशरीर सम्बन्धी) संघात, [वर्णरसस्पर्शगंधशब्दाः च] वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—[बहवः गुणाः पर्यायाः च] ऐसे जो बहु गुण और पर्यायें हैं, [पुद्गलद्रव्यप्रभवाः भवन्ति] वे पुद्गलद्रव्यनिष्पन्न हैं।

[अरसम् अरूपम् अगंधम्] जो अरस, अरूप तथा अगन्ध है, [अव्यक्तम्] अव्यक्त है, [अशब्दम्] अशब्द है, [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] अनिर्दिष्ट संस्थान है। (अर्थात् जिसका कोई संस्थान नहीं कहा ऐसा है), [चेतनागुणम्] चेतनागुणवाला है और [अलिंगग्रहणम्] इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, [जीवं जानीहि] उसे जीव जानो।

टीका :— जीव-पुद्गल के संयोग में भी, उनके भेद के कारणभूत स्वरूप का यह कथन है (अर्थात् जीव और पुद्गल के संयोग में भी जिसके द्वारा उनका भेद जाना जा सकता है, ऐसे उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप का यह कथन है)।

शरीर और [१]शरीरी के संयोग में, (१) जो वास्तव में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणवाला होने के कारण, सशब्द होने के कारण तथा संस्थान-संघातादि पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य है, वह पुद्गलद्रव्य है; और (२) जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणरहित होने के कारण, अशब्द होने के कारण, अनिर्दिष्टसंस्थान होने के कारण तथा [२]अव्यक्तत्वादि पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य नहीं है, वह चेतनागुणमयपने के कारण रूपी तथा अरूपी अजीवों से [३]विशिष्ट (भिन्न) ऐसा जीवद्रव्य है।

इस प्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।

[भावार्थ :— अनादि मिथ्यावासना के कारण जीवों को स्वयं कौन है, उसका वास्तविक ज्ञान नहीं है और अपने को शरीरादिरूप मानते हैं। उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्य का यथार्थ भेद दर्शाकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कराने के हेतु यहाँ जड़-पुद्गलद्रव्य के और चेतन जीवद्रव्य के वीतरागसर्वज्ञकथित लक्षण कहे गए। जो जीव उन लक्षणों को जानकर, अपने को स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र द्रव्यरूप से पहिचानकर, भेदविज्ञानी अनुभवी होता है, वह निजात्मद्रव्य में लीन होकर, मोक्षमार्ग को साधकर शाश्वत निराकुल सुख का भोक्ता होता है]॥ १२६-१२७॥

---

१. शरीरी = देही; शरीरवाला (अर्थात् आत्मा)।

२. अव्यक्तत्वादि = अव्यक्तत्व आदि; अप्रगटत्व आदि।

३. विशिष्ट = भिन्न; विलक्षण; खास प्रकार का।

इस प्रकार अजीव पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

दो मूलपदार्थ कहे गये। अब (उनके) संयोगपरिणाम से निष्पन्न होनेवाले अन्य सात पदार्थों के उपोद्घात के हेतु जीवकर्म और पुद्गलकर्म के चक्र का वर्णन किया जाता है।

प्रवचन नं. २८, गाथा-१२६-१२७

दिनांक - २३-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण २, बुधवार

वर्णन चलता है। उसमें पहले नौ तत्त्व का वर्णन चलता है। नौ पदार्थ भिन्न-भिन्न कहते हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि हेतु। सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि हेतु प्रतिपादन किया जाता है। किया गया है, ऐसा आगे आयेगा, अन्तिम गाथा में।

गाथा १२६-१२७। मोक्षमार्गप्रकाशक में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष लिये हैं, यह इसमें से लिये हैं। फिर मोक्ष का अधिकार, मोक्षमार्ग का अधिकार भी उसमें से लिया है। उसका घर का कुछ नहीं। उसका स्पष्टीकरण यहाँ (किया है) कितनी ही जगह सामान्य हो, वहाँ विशेष स्पष्टीकरण किया है। जीव-अजीव का अन्तिम सम्बन्ध बतलाने के लिये।

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू।।१२६।।
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१२७।।

टीका :— जीव-पुद्गल के संयोग में भी,... क्या कहते हैं, देखो! यह आत्मा और यह पुद्गल एक जगह साथ में रहे होने पर भी दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण और भिन्न-भिन्न कार्य है। दोनों का एक कार्य नहीं है। सुनाई देता है ? नहीं तो यहाँ नजदीक आओ। समझ में आया ? जीव-पुद्गल के संयोग में भी। यह साथ में रहने पर भी। जीव और यह पुद्गल एक साथ संयोगरूप से, निमित्त-निमित्त सम्बन्धरूप से रहने पर भी,

उनके भेद के कारणभूत... उनकी भिन्नता के कारणभूत स्वरूप का यह कथन है। देखो! उसमें से लिया है यहाँ से।

जीव और पुद्गल के संयोग में भी जिसके द्वारा उनका भेद जाना जा सकता है... शरीर और आत्मा नजदीक एक जगह होने पर भी शरीर की पर्याय पुद्गल की स्वतन्त्र होती है। आत्मा की पर्याय आत्मा से स्वतन्त्र होती है। मात्र वह शरीरादि पर्याय होती है, तब जीव के राग, ज्ञान आदि को निमित्त कहा जाता है। वह तो निमित्त परन्तु निमित्त का अर्थ यह नहीं कि उससे वह पर्याय होती है। और अपनी जीव की पर्याय में ज्ञान-दर्शन आदि की पर्याय में जड़ और मन का निमित्त है परन्तु उससे वह होती है, ऐसा नहीं है।

पुद्गल के संयोग में भी जिसके द्वारा जिसका भेद जाना जा सकता है, ऐसे उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप का यह कथन है। शरीर और शरीरी के संयोग में.... शरीरी अर्थात् जीव। यह शरीर और शरीर के संयोग में, देखो! यह वास्तविक अज्ञानी की भूल कहाँ होती है और सम्यग्ज्ञानियों की कहाँ भूल नहीं थी, उसकी प्रसिद्धि के लिये बात करते हैं। समझ में आया?

शरीर और शरीरी के संयोग में, (१) जो वास्तव में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणवाला होने के कारण,.... यह शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श वर्णवाले जड़ के गुण हैं। उसकी पर्याय भी उससे होती है। आत्मा से नहीं। इस शरीर की अवस्था होती है, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की रूपान्तर पर्याय अथवा क्षेत्रान्तर पर्याय, वह सब पर्याय अजीव की अजीव से अजीव में होती है; आत्मा से नहीं। समझ में आया?

यह पर्याय भी उससे होती है तो बाहर की तो बात क्या करना? यह बताते हैं। व्यापार-धन्धा... सेठ! वह तो सब जड़ की-पर की पर्याय पर से होती है, आत्मा से कोई एक फुदड़ी-एक परमाणु का पर में फेरफार कर सके, ऐसा है ही नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल करे! अज्ञानी ऐसा मानता है। अपने अतिरिक्त एक परमाणु से अनन्त परमाणु अपनी वर्तमान पर्याय से स्वतन्त्र स्वयं परिणम रहे हैं। उसमें आत्मा

का बिल्कुल अधिकार नहीं। कहो, समझ में आया? निमित्त कहने में आता है, उसका अर्थ यह कि पृथक्ता बतलाते हैं। वह पृथक् चीज़ है। शरीरादि की ऐसी अवस्था, वाणी निकलती है, वह सब जड़ की पर्याय जड़ से होती है, आत्मा से नहीं। समझ में आया? देखो! इसमें से मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है।

जीव-अजीव का अध्यात्म में जिससे भेदज्ञान हो, ऐसा अभ्यास करते नहीं। और कदाचित् अभ्यास करते हैं तो एक-दूसरे का अंश एक-दूसरे में मिला देते हैं। है न? अमरचन्दभाई! आहाहा! परन्तु अजीव की पर्याय होती है, उसमें जीव तो निमित्तमात्र है। जीव के अनन्त गुण की पर्याय होती है, उसमें अजीव निमित्तमात्र है। ऐसा भेदज्ञान नहीं करते और एक-दूसरे का अंश एक-दूसरे में मिलाकर मानते हैं, इसलिए उसमें उसकी जीव-अजीव की अनादि की भूल है। जीव-अजीव की भूल है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें यह कहाँ आया? उससे-जड़ से होती है। आत्मा तो मात्र है, इतना ही। वह तो बतलाना है। आत्मा है तो होता है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : आत्मा न हो तो क्यों नहीं बनती?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं बनती। दूसरी बनती है। उसमें क्या? आत्मा की अस्ति है और बनती है। वह तो यहाँ बतलाना है। संयोग में रहने पर भी, एक साथ रहने पर भी शरीर की अवस्था शरीर से है, आत्मा से नहीं। और आत्मा के अनन्त गुण की एक समय की पर्याय आत्मा से होती है। शरीर, इन्द्रिय, मन से नहीं। वह तो अभी जीव-अजीव का भेद कराते हैं। समझ में आया? ओहोहो! क्या कहते हैं? देखो!

जो वास्तव में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणवाला होने के कारण,... कौन? शरीर। उसकी पर्याय वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की होती है, वह शरीर की शरीर के कारण से होती है। **सशब्द होने के कारण...** और शब्द परमाणु हैं न, परमाणु। **सशब्द होने के कारण तथा संस्थान-संघातादि पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण...** पहले गुण लिये। परमाणु शरीर वास्तव में स्पर्श, रस गुणवाले होने के कारण। अब पर्याय लेते हैं। यह शरीर, यह वाणी, यह सब कर्म आदि जो सब वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवाले पदार्थ हैं। गुण-गुण। और उसकी पर्याय सशब्द-यह आवाज / शब्द उठते हैं, वह पर्याय है। द्रव्य

की-जड़ की पर्याय है। पुद्गल की पर्याय है। आत्मा से नहीं उठती, आत्मा नहीं बोलता। आत्मा के कारण शब्द की पर्याय नहीं होती।

मुमुक्षु : भाव तो आते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव आते हैं, वह दूसरी बात है।

मुमुक्षु : भाव से ही वाणी होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। यहाँ यह बात कहते हैं। झरियाजी! भाव भाव के पास रहे। उसकी पर्याय में रहे और शब्द की पर्याय जड़ में उठती है। भाव से शब्द की पर्याय उठती है? यह तो बताना है। समझ में आया? यह पहले बतलाना है। जीव-अजीव दोनों की भिन्नता में भूल कहाँ? यह हमारा भाव है तो वाणी में पर्याय होती है, (ऐसा माने वह) मिथ्यादृष्टि है। अजीव की पर्याय अजीव से होती है, उसमें जीव मात्र निमित्त है। निमित्त का अर्थ—वह होनेवाली तो उससे होती है। यह है तो होती है, (माने) तो निमित्त नहीं रहा। अतः आत्मा से हुई है तो निमित्त नहीं रहा, उपादान हो गया। समझ में आया?

शरीर और शरीरी के संयोग में,... शरीरी अर्थात् जीव। **जो वास्तव में स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण...** जड़ के हैं और यह भाषा की पर्याय जड़ की है। और **संस्थान...** देखो! यह आकार हुआ न? सबका आकार ऐसा... ऐसा... ऐसा... ऐसा...। वह सब जड़ की पर्याय में जड़ की पर्याय से आकार हुए हैं, आत्मा से नहीं। यह क्या है? 'संस्थान' आया वह क्या है?

मुमुक्षु : आत्मा चला जाता है तो शरीर की पर्याय?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की पर्याय दूसरी होती है। वह दूसरी पर्याय एकरूप रहती है। पर्याय भिन्न-भिन्न होती है। नहीं, आत्मा से वह पर्याय हुई ही नहीं, वह तो यहाँ बतलाना है। इसलिए तो यहाँ से लिया है। जीव-अजीव से नवतत्त्व लेंगे। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। पहले अपने १५४ से मोक्षमार्ग का अधिकार चला। आया था। तुम आये, तब मार्ग चला था। पहले से। और कक्षा चली तो १५४ से चला।

यह संस्थान। देखो! इस संस्थान की पर्यायरूप परिणत होने के कारण, यह जड़ पर्यायोंरूप परिणत होता है। आत्मा की पर्याय भी नहीं और आत्मा की पर्याय से वह होती भी नहीं। आहाहा! यह अनादि का बड़ा भ्रम है न? यह तो बताते हैं। अनादि अज्ञानी—अजीव और जीव एक साथ रहते हैं, संयोग में। (ऐसा मानता है कि) मैं हूँ तो यह पर्याय हुई, देखो! ऐसा हुआ... ऐसा हुआ... ऐसा हुआ... तो सब संस्थान वह पर्याय है। संस्थान—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, ये गुण हैं और संस्थान, शब्द वह परमाणुओं की पर्याय है—पुद्गल की पर्याय है, वह पर्याय पुद्गल से हुई है, आत्मा से नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसके चमत्कार की? किसकी?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ फटा नहीं, उसकी पर्याय होनेवाली थी। यह तो निमित्त की बात है। फटा-फटा! किसी से शिवलिंग फटता होगा? बहुत बड़ी गहरी बात है। किसी के परमाणु की पर्याय का उत्पाद उसमें होता है? दूसरा उत्पाद करा दे तो उसने क्या किया?

मुमुक्षु : फिर उसने मदद की।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, फिर मदद क्या की? जिसमें उत्पाद की शक्ति न हो तो दूसरा उत्पाद करा नहीं सकता और स्वयं से उत्पाद हो तो पर की अपेक्षा की क्या आवश्यकता है?

मुमुक्षु : यह तो कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आ गया। पंचाध्यायी में भी ऐसा कहते हैं कि तुझे निमित्त का क्या काम है? उसके कारण वह पर्याय उत्पन्न होती है, उसमें निमित्त... निमित्त करे क्या? क्या काम है तुझे?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : रखी थी क्या? पुद्गल की पर्याय होनेवाली थी। रखे क्या?

समन्तभद्राचार्य के मन्त्र से हुई है ? घटना सच्ची हो सकती है। घटना बराबर है परन्तु उससे हुई है, ऐसा नहीं है। घटना तो ऐसी हो सकती है। देव में भी शक्ति है कि मनुष्य को रोगादि कर दे, परन्तु उसका पाप का उदय हो तो। इस कारण से होता है, परन्तु शब्द ऐसा देते हैं कि देव में ऐसी शक्ति है। परन्तु वह तो निमित्तपने का अर्थ ही यह है कि वहाँ होनेवाली थी, तब निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराते हैं। समझे ? शरीर में रोग, निरोग, आड़ा शरीर कर दे, टेढ़ा कर दे, दाँत ऐसे (विचित्र) कर दे परन्तु उसमें उसका पाप का उदय परमाणु की पर्याय से होनेवाला हो, तब देव को निमित्त कहा जाता है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं कर सकता। अपना कर सकता है। पर का क्या कर सके ? भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्र वीतराग अनन्त वीर्यवाले दूसरे की पर्याय को क्या कर सकते हैं ? अज्ञानी ने अपना शल्य माना है कि मुझसे उसमें हुआ है। अनेकान्त हुआ। उससे होता है, मुझसे नहीं, इसका नाम अनेकान्त। उससे भी होता है और मुझसे भी होता है, (इसे) फुदड़ीवाद (कहते हैं)।

मुमुक्षु : देखने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या देखने में आता है ? ऐसा कि देखने में तो ऐसा आता है कि बन्दूक गयी बन्दूक। समझे ? बन्दूक को ? गोली अन्दर गयी तो छिद्र पड़ते हैं। देखने में तो ऐसा आता है। यह भ्रम है। वह परमाणु की पर्याय ऐसी उत्पन्न होने के कारण से उत्पन्न हुई है। गोली से नहीं। सेठ ने प्रश्न किया था, उसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिया। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ऐसा मानने के लिये हुकम है या....

पूज्य गुरुदेवश्री : हुकम नहीं। वस्तु ऐसी है। वस्तु ऐसी है। तर्क-फर्क नहीं। वस्तु ऐसी है। ऐसा जाने नहीं तो मिथ्याज्ञान होगा। दुःखदायक दृष्टि होगी।

मुमुक्षु : यह तो हुकम हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हुकम नहीं। वस्तुस्वरूप है। ठीक कहते हैं। अंग्रेजी आती नहीं और ऐसा करते हैं। क्या दवाब से हुकम है? शोभालालभाई! भाई ठीक कहते हैं। धीरे से। कि ऐसा हुकम है न? दवाब से हुकम है।

मुमुक्षु : ऐसा कहा थोड़े ही जाता है? वीतराग की आज्ञा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस आज्ञा का अर्थ (यह कि) वस्तु ऐसी है। ऐसी हमने जानी है, ऐसा तुम जानो तो सम्यक् होगा, नहीं तो मिथ्या होगा।

मुमुक्षु : आज्ञा हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : आज्ञा का अर्थ क्या? वह है, ऐसा जानो। यह आज्ञा। आज्ञा दूसरी क्या होगी?

मुमुक्षु : हुकम कहो या आज्ञा कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु है, ऐसा हम कहते हैं। हम कहते हैं; इसलिए मानो इसमें ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : न माने तो सजा तो होगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सजा भी कही, वह तो पदार्थ में ऐसी अवस्था है। तो मानते हैं या मुझसे हुई तो उसकी दृष्टि में असत्य आया। यह असत्य की सजा उसे हुई। समझ में आया? क्या कहा? कहो! पहला शब्द। **सशब्द होने के कारण...** शब्द पड़ा है न? आचार्य महाराज कहते हैं, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य टीका करते हैं। कि यह शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यह परमाणु परमाणु का गुण है। कायम रहनेवाली शक्ति। और शब्द है, वह उसकी पर्याय है। किसकी? इस पुद्गल की। वह पुद्गल की पर्याय शब्द की है। परन्तु आत्मा से-मुझसे हुई है, ऐसा माने तो मिथ्याज्ञान असत् दृष्टि हुई। तो उसे पापदृष्टि होने से दुःखरूप दृष्टि आयी। वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा न माने और विपरीत माने, विपरीत मान्यता का उसे दण्ड है। कोई भगवान का दण्ड-बण्ड है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : आचार्य को....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न? कल इसकी बहुत ही बात आ गयी। पुद्गल की शक्ति से होता है। हमारे से तो कुछ नहीं हुआ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई बोलता नहीं। परमाणु की पर्याय होती है। क्या आत्मा बोल सकता है? १७३ में आया न? परसों दिन में दोपहर में बताया न? पूनम, पूनम। वाणी स्वशक्ति से बनी है। हमारे से नहीं। हमने शास्त्र बनाये ही नहीं। हम कौन? हम तो अरूपी आत्मा हैं। रूपी में घुस जाये कि रूपी को बना दे।

मुमुक्षु : महाराज! समझ में नहीं आता। जड़ चेतन को जगाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; जगाता नहीं। यह जागता है, तब उसे निमित्त कहा जाता है। ऐसा है। जगाता नहीं।

मुमुक्षु : आपका उपदेश जगाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। इस बात में कुछ माल नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसा नहीं। ... क्या देखा है? उसकी ज्ञान की उत्पादरूप पर्याय उसमें होती है, तो वाणी को निमित्त कहा जाता है। निमित्त का अर्थ—वाणी वहाँ है तो होता है, ऐसा नहीं। उसके पास ज्ञानगुण है। यह वर्ण गुण है। वर्ण, गन्ध, रस। तो उसकी सशब्दपर्याय, संस्थानपर्याय। देखो! यह आकार है न आकार! सब आकार ऐसे-ऐसे। वह सब आकृति पुद्गल परमाणु की पर्याय है। अपने से हुई नहीं। आत्मा कर्ता और वह कार्य है ही नहीं। समझ में आया? इसी प्रकार शब्द में। यह संस्थान में आया। शब्द में। अपने से होती नहीं। उसमें परमाणु में उस समय में वैसी पर्याय-उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। एक समय में भगवान ने पदार्थ के तीन अंश देखे हैं। है, ऐसे देखे हैं। किया-बिया कुछ नहीं। तो पुद्गल में वह पर्याय उसके कारण से उत्पन्न होती है तो उसका उपादान तो वही है। आत्मा उसका उपादान नहीं। समझ में आया? यह बात तो यहाँ कहते हैं। शरीर में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श यह परमाणु है, वह उसकी कायम की चीज़ है। और शब्द है, वह उसकी वर्तमान पर्याय है तो वह पर्याय पुद्गल

से होती है; आत्मा से नहीं। आत्मा से होती है, ऐसा माननेवाले अजीव को जीव मानते हैं। अजीव की पर्याय मुझसे होती है, ऐसा माननेवाले अजीव को जीव मानते हैं। छहढाला में आता है न? सात तत्त्व की भूल। सात तत्त्व की भूल छहढाला में आती है। छहढाला है न, उसमें भूल आती है और यह मोक्षमार्गप्रकाशक में भी लिया है।

पुद्गल और जीव दोनों की पर्याय एक समय में स्वतन्त्र होती है तो उसमें यह उपादान उसका, वह तो निमित्त है। निमित्त का अर्थ—है तो यहाँ होता है, ऐसा नहीं। होवे तो उसके कारण से, परन्तु उसके कारण यहाँ हुआ है—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। यह निमित्त का अर्थ क्या करते हैं कि मुझसे हुआ ही नहीं। यह निमित्त का अर्थ।

मुमुक्षु : विकल्प आता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प तो आता है। उसमें क्या कहा? उसमें क्या आया? विकल्प आया तो आया। वाणी तो वाणी से हो गयी।

मुमुक्षु : ज्ञान में तो आया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ज्ञान में आया? ज्ञान तो उसके पास रहा। वाणी में क्या ज्ञान आया? उसके पास ज्ञान रहा। उसके पास रहा। उसरूप परिणमने की योग्यता से परिणम रहा है। ज्ञान से परिणम रहा है? जड़ में ऐसा ही परिणमन होने की पर्याय है। ज्ञान से, नहीं। यह भी नहीं। ऐसा भी नहीं। वह परमाणु शास्त्र होने की (योग्यता) थी, तब विकल्प आया, ऐसा भी नहीं है। तो वह कर्ता और विकल्प कर्म हो जाये, ऐसा भी नहीं है। और ज्ञान में ख्याल आया कि ऐसा कहूँ, तो ज्ञान का ख्याल है तो वहाँ शब्दरूप परिणमता है, ऐसा भी नहीं। बिल्कुल नहीं। समझे? सेठ! यह तम्बाकू में गप्प मारा, ऐसा यहाँ नहीं चलता।

मुमुक्षु : ऐसा नहीं चलता?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं चलता। शोभालालभाई! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : पिता ने पुत्र को चलाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं (चलता नहीं), माना है, चलावे कौन? पैसा होवे न तो ऐसा-ऐसा लगे। आहाहा! ऐई! भगवानदास सेठ आये, भगवानदास सेठ! ऐसा देखकर मुँह फटे! एक तो बड़ी मूँछें! गूँज पड़े उसके घर की। इतनी आमदनी! और बुन्देलखण्ड के बड़े राजा।

मुमुक्षु : सम्मेदशिखर की यात्रा का भाव आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन कर सके पर का...

मुमुक्षु : किसी का एहसान मानना, किसी का उपकार मानना।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपकार-बुपकार सब व्यवहार से मानने का है। किसी का उपकार है नहीं और अपकार किसी का है नहीं।

मुमुक्षु : हम आपका उपकार मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बोलने का है, ऐसा विकल्प आता है। उसे समझ में स्वयं से ही आया तो निमित्त है, ऐसा विकल्प आता है। परन्तु उससे उसमें कुछ हुआ है, इस बात में किंचित् भी सत्य नहीं है।

मुमुक्षु : ऐसा माने तो उसने उपकार माना, ऐसा कहा जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने उपकार ही माना नहीं। पर से मुझमें हुआ है, ऐसा माननेवाला पर का उपकार ही नहीं समझा। क्योंकि पर ऐसा कहता है कि मुझसे तुझमें कुछ हुआ ही नहीं। गजब बात, भाई! यह विनय की भाषा है। विकल्प ऐसा आता है, वह विनय की भाषा है। भाषा तो भाषा के कारण से निकलती है, और भाषा हुई तो यहाँ ज्ञान की पर्याय... आत्मा है ज्ञानगुण कायम है। ज्ञान की पर्याय होती है तो, उसकी गुण की पर्याय विशेष। सामान्य का विशेष उसमें हुआ। वाणी का विशेष क्या आया? पुद्गल के गुण, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, यह सामान्य। यह भाषा की पर्याय हुई, वह उसका विशेष। तो उसके विशेष से यहाँ विशेष हुआ, ऐसा नहीं है। ऐसा है, भाई! भाईसाहब! यह ऐसा सत्य का मार्ग है। हुकम या बलजोरी से नहीं।

मुमुक्षु : पर के लक्ष्य का कर्ता नहीं, यह दिमाग में आ जाये तो (बेड़ा पार हो जाये)।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाप्त! जो परिणमता है, वह कर्ता। उसमें आया न? एक परिणाम उसके दो द्रव्य कर्ता (नहीं होते) देखो! ऊपर द्रव्यदृष्टि है चोका (पाटिया) द्रव्यदृष्टि के ऊपर चौका है। आड़ा-आड़ा। एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नहीं। एक परिणाम के दो द्रव्य कर्ता नहीं। जड़ की पर्याय का कर्ता जड़ है। आत्मा की पर्याय का कर्ता आत्मा है। जड़ की पर्याय के दो कर्ता नहीं हैं। जड़ भी कर्ता और आत्मा भी कर्ता, (ऐसा) तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : ऐसा ही मान रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मान रहे हैं, यही भ्रम निकालने के लिये कहते हैं न, देखो! अन्तिम गाथा में देखो। **इस प्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसकी योग्यता है तो आता है। इस कारण से वहाँ आता है, ऐसा भी नहीं है। यह तो अजब लीला है। समझ में आया?

मुमुक्षु : नट-नागर की बाजी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'नट-नागर की बाजी, क्या समझे ब्राह्मण काजी', यह आनन्दघनजी में आता है। समझ में आया?

'किस्सा एक समय में ठाणे, उपजे विनसै तब ही,
उलट-पुलट ध्रुव सत्ता राखे या हम सुनी न कबही।'
अब धु नट नागर की बाजी, क्या समझे ब्राह्मण काजी।

ब्राह्मण वेद कौन जाने और काजी कुरान कौन जाने इस बात को? यह तो सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने वीतरागदेव ने कहा, उसमें जानने में आता है। दूसरे में यह बात नहीं है। क्या जाने ब्राह्मण, काजी।

एक समय में सभी पदार्थ बदलते हैं। एक समय में ध्रुव रहते हैं - स्थिरता। और उपजे-विनशे तब ही। नयी पर्याय से उपजते हैं और पुरानी पर्याय का व्यय होता है। उलट-पुलट ध्रुवसत्ता राखे। उपजे-विनशे, उलट-पुलट ध्रुवसत्ता राखे, या हम सुनी न

कबही। ऐसी बात हमें वीतराग सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं सुनने में आयी नहीं। क्या जाने ब्राह्मण काजी। यह वेदान्त और कुरान को क्या खबर है कि एक-एक द्रव्य में एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों अंश हैं। कौन जाने? समझ में आया? आहाहा!

कहा, यहाँ से लो भाई! जीव-अजीव का इकट्ठा होता है और फिर पुण्य-पाप का लेना है। सेठी!

मुमुक्षु : यह घोंटने जैसा है। ...आपके द्वारा प्रवचन हो रहे हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल भाव उसे स्पर्शते नहीं। वाणी को आत्मा के भाव स्पर्शते नहीं, छूते नहीं, अड़ते नहीं। वाणी आत्मा के भाव को स्पर्शती नहीं, छूती नहीं। निर्णय कर लो! समझ में आया?

प्रत्येक पुद्गल आदि का कार्य उत्पाद है। उत्पाद कहो या कार्य कहो। अपनी पर्याय से कार्य करता है। दूसरा पदार्थ क्या करे? एक परमाणु में, यह होंठ है न होंठ। होंठ कहते हैं न? उससे भी भाषा नहीं बोली जाती। आत्मा से तो नहीं परन्तु होंठ से भी नहीं। यह होंठ भिन्न है और भाषा भिन्न है। भाषा सूक्ष्म है। यह (होंठ) स्थूल है। यह (होंठ) हिलते हैं तो भाषा की पर्याय होती है (यह बात) बिल्कुल झूठ है।

मुमुक्षु : जीभ से तो (भाषा) होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीभ से (भाषा) हो, यह भी झूठ है।

मुमुक्षु : ...चक्कर में पड़ जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चक्कर में पड़ जाते हैं। खबर नहीं न, परन्तु अनन्त पुद्गल है या नहीं? या एक-दो-तीन और असंख्य है? अनन्त है। तो अनन्त-अनन्त पुद्गल अनन्तरूप रहकर अपना उत्पाद का कार्य करते हैं या दो इकट्ठे होकर करते हैं? वह पदार्थ भिन्न है, शब्द की पर्याय भिन्न है, जीभ के परमाणु भिन्न हैं। सब अपनी-अपनी पर्याय को करते हैं। कोई किसी की पर्याय को करे... भाषा की पर्याय को (अन्य) जड़ नहीं कर सकता या आत्मा नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : सब इकट्ठी होकर तो होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, काम करो भाई! भगवानलाल शोभालाल की कम्पनी।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बुद्धि... बुद्धि आत्मा में है, पर्याय पर्याय पर्याय में है। ऐसा कहते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति है। भगवान का हुकम नहीं। जोर नहीं। हम कहते हैं, ऐसा मानो नहीं तो... नहीं तो जेल में, ऐसा नहीं। भगवान! तुम आत्मा हो न! तो तेरी समाप्ति तेरी पर्याय में है। समझ में आया? तेरी समाप्ति तेरे सत् के अंश में समाप्तपने की सीमा, तेरी पर्याय में तेरी सीमा है। परमाणु की द्रव्य-गुण की सीमा उसकी पर्याय में सीमा है। अपनी पर्याय की सीमा उल्लंघकर किसी की पर्याय करने जाये और किसी की पर्याय अपने में से हो, (ऐसा) तीन काल-तीन लोक में नहीं होता।

मुमुक्षु : कोई बन्धन में पड़े हैं, वे तो रुष्ट हो जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वे रुष्ट हो जाते हैं। उनके कारण से। उसमें अपने को क्या है?

मुमुक्षु : उसका धर्म है, उसे वन्दन करने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह धर्मी हो तो न? धर्म हो तो उसे वन्दन करने का भाव आये बिना रहता ही नहीं। वह तो विकल्प आता ही है। उसमें क्या? सम्यग्दृष्टिसहित धर्मी और मुनि हो.... यह (अज्ञानी) तो कर्ता मानते हैं कि हम भाषा के कर्ता हैं। हम किसी का करते हैं। हम मन्दिर बनाते हैं, हमने ऐसा किया, हमने शिष्य बनाये। कौन बनावे? किसी की पर्याय कोई बनाता नहीं। ...मिथ्यादृष्टि। ईश्वर को जगत का कर्ता माने और जैन साधु ऐसा माने कि मैं छह काय की दया पाल सकता हूँ, शरीर की रक्षा कर सकता हूँ, दोनों एक वर्ग के मिथ्यादृष्टि हैं। एक वर्ग के मिथ्यादृष्टि हैं।

यह तो अपने आ गया है। कर्तापने, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आ गया है। आहाहा! समझ में आया? जैन में जन्में परन्तु जैन क्या कहते हैं अथवा वस्तु क्या है, (इसकी) खबर नहीं तो धर्म कहाँ से होगा? समझे? बाहर से मूंड मुंडाकर बैठे परन्तु.... यह तो केशलोंच मैंने किया। परमाणु की पर्याय होती है, उसमें तूने क्या किया? समझ में आया?

कौन करे? अँगुली बाल को स्पर्श भी नहीं करती। तीन काल में अँगुली बाल को स्पर्श भी नहीं करती और बाल निकलते हैं, वे उनकी पर्याय के कारण से निकलते हैं। आत्मा माने कि मैंने किया। लोग कहे, आहाहा! क्या है परन्तु? वह तो अज्ञान हुआ। पर का कार्य मैंने किया, वह तो मिथ्यादृष्टि अजीव की पर्याय को अपनी मानी, वह तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? भाई! यह सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : गहरी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गहरी ऐसी। ऐसी बात है। जैसी है, वैसी यह है। दूसरी है नहीं। लोगों को, समाज को यह बात मिली नहीं और ऐसी बात, क्रियाकाण्ड करना, ऐसा करना घुस गया।

मुमुक्षु : सुनने में क्यों नहीं आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु समाज की योग्यता नहीं थी तो सुनने में नहीं आयी। क्या कहते हैं? देखो! उपादान क्या कहते हैं उपादान? शब्द तो उससे हुए हैं। पुद्गल में शब्द हुए और संस्थान-संघात मिल गये। एकता हुई। **पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण...** कौन? पुद्गल। वह पुद्गल अपनी पर्यायोंरूप परिणति होने के कारण, देखो! भाषा कितनी स्पष्ट है! शरीर, यह वाणी (उसका) ऐसा... ऐसा... ऐसा... सब आकार हुए हैं। (वे) सब आकार पुद्गल की पर्याय की परिणति होने से हुए हैं। आत्मा के कर्म से नहीं। और आत्मा ने भाव किये थे तो कर्म बँधे थे, ऐसा भी नहीं है। और कर्म है तो ऐसी पर्याय हुई, ऐसा भी नहीं है।

मुमुक्षु : यही दलील गले नहीं उतरती।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दो और दो = चार है। तो दलील क्यों नहीं उतरती? पुद्गल अनन्त है या नहीं? या एक है? अनन्त है तो अनन्त रहकर उत्पाद होता है या मिलकर उत्पाद होता है। मिलकर होता है तो अनन्त रहे नहीं। और अनन्त रहकर उत्पाद होता है तो दूसरे से होता नहीं।

मुमुक्षु : मिलकर एक हुए तो अनन्तपना किसलिए चला गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : चला गया। सब मिलकर एक पर्याय हुई तो उस पर्याय में, अनन्त की अनन्त होना चाहिए, और एक पर्याय को अनन्त द्रव्यों ने की तो द्रव्य एक हो गये। द्रव्य पृथक् रहा नहीं। समझ में आया?

अनन्त द्रव्य की अनन्त पर्याय भिन्न होना चाहिए। उसकी जगह अनन्त की असंख्य पर्याय मिलकर होवे तो अनन्त द्रव्य का तो नाश हो गया। स्वतन्त्र अनन्त है, भिन्न-भिन्न, उनका अस्तित्व तो रहा ही नहीं। समझ में आया? अरे! यह कैसा धर्म! भाई कहे।

मुमुक्षु : उल्टे प्रकार का भुक्का उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग प्रकार का है। ऐई!

मुमुक्षु : यह चतुर होने की कॉलेज है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूर्खाई निकालने के लिये कॉलेज है। मूर्खता भरी हुई है न, मूर्खता! साधु नाम धराकर भी मूर्ख बुद्धि रखता है कि हम भाषा बोलते हैं तो बोली जाती है। शरीर ऐसा चलाते हैं। शरीर की पर्याय तो कहते हैं कि पर्यायरूप से परिणत तो पुद्गल हुआ है। तुझसे हुआ है? तू कौन? तेरा तेरे अस्तित्व में है, उसके अस्तित्व में तेरा घुस गया है? या उसके अस्तित्व में तुझसे पर्याय हो? वीतरागस्वरूपी भाव। समझ में आया?

यह और वीतराग की वाणी कहता था न इसलिए। वाणी ही वीतराग की नहीं। वह सब समझाने की बात है। इसीलिए लोग गड़बड़ करते हैं न? यह भगवान की वाणी नहीं। अब सुन तो सही! यह तो निमित्त से कथन है। भगवान जड़ के हैं? वाणी तो जड़ है। भगवान क्या जड़ हैं? सोनगढ़ के नाम से लोग अभी बहुत ही बड़ी गड़बड़ करते हैं। परन्तु यह कौन कहते हैं? यह कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने दो हजार वर्ष पहले कहा है और अनादि से यही बात चली आती है। बात त्रिकाल एकरूप है। दूसरी बात तीन काल में होती ही नहीं। ओहोहो! समझ में आया? लो! अभी तो यहाँ अटका! शरीर और शरीरी दोनों भिन्न चीज है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव तो शरीर नहीं और इसमें शरीरी कहाँ से आया? शरीर में भी शरीरी जीव को शरीरवाला, ऐसा कहा गया है। संक्षिप्त भाषा करने के लिये निमित्त से कथन किया गया है। समझ में आया? यह वास्तव में यह शरीर स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, वे उसके गुण हैं। शब्द उसकी पर्याय है और संस्थान उसकी पर्याय है। संस्थान। यह देखो! ऐसे-ऐसे होता है।

मुमुक्षु : संस्थान अर्थात् हालत।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकार। संस्थान अर्थात् आकार। यह आकार। यह आकार है न, देखो न! भिन्न-भिन्न आकार हुए न? एक-एक रग में कितने आकार हैं। देखो! यहाँ... यहाँ... यहाँ... किसी को कुछ, किसी को कुछ। सब परमाणु स्कन्ध के आकार होते हैं, वह पुद्गल का परिणमन है। आत्मा ने बिल्कुल किया नहीं। तब कोई कहे कि पूर्व के कर्म हैं या नहीं? परन्तु कर्म भिन्न चीज़ है। कर्म के रजकण भिन्न हैं, यह रजकण भिन्न हैं। कर्म से यह हुआ है, ऐसा भी नहीं। वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा था। आहाहा! समझ में आया?

संस्थान-संघातादि.... आदि अर्थात् कुछ भी आकृति हो, ऐसे विस्तार आदि सब **पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण...** छोटे-बड़े आकार होते हैं न? शरीर के टुकड़े हो जायें, वापस इकट्ठे हो जायें, पतला हो जाये। शरीर में ऐसे बल पड़े, शरीर है न तो बल पड़ते हैं न? इन सबकी आकृतिरूप परिणमन, वह पुद्गल की पर्याय है। समझ में आया? यह जीभ भी (मुँह के) अन्दर ऐसे-ऐसे घूमती है, आकार। जीभ का आकार घूमता है न? खाते समय ऐसे सीधी नहीं रहती। यह आकृति पुद्गल की पर्याय से होती है। आत्मा की इच्छा से ऐसी होती ही नहीं।

मुमुक्षु : ....का भाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव आत्मा के पास रहे। उसमें क्या? उसे स्पर्श किया है? जीभ के अनन्त परमाणु के स्कन्ध हैं। यह कहते हैं कि स्कन्ध के संस्थान-संघात इकट्ठे हुए, उत्पाद-नाश हुआ, वह सब जड़ की पर्याय है। आत्मा से नहीं। ओहोहो! अभी तो जीव-अजीव की भिन्नता का भान नहीं। उसे पुण्य से आत्मा भिन्न बतलाना, वह तो दूसरी चीज़ रह गयी। यह आगे कहेंगे।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, बाहर से नहीं। अपने से पर्याय होती है। इतनी बात है। यह अनन्त गुण की विशेषरूप पर्याय अपने से होती है। मन से नहीं, वाणी से नहीं, शरीर से नहीं, कर्म से नहीं, देव-गुरु-शास्त्र से भी नहीं। जिसके पास जो सामान/ पूँजी है, उसका विशेष होता है। यह पहले पूर्व में आ गया है न, १२५ (गाथा) में आ गया। ऐसा कि उसमें हित-अहित आदि की विशेष पर्याय नहीं दिखती तो सामान्य ज्ञान उसमें नहीं है। जिसमें विशेष दिखता हो, उस विशेष का सामान्य होता है। जड़ में ज्ञान की पर्याय का विशेष नहीं है तो सामान्य ज्ञान भी नहीं। समझ में आया? यह पहले आ गया। यह तो वहाँ से मैंने संक्षिप्त करके लिया है। आता है न! यह तो ऊपर से कह गये न! वह तो यहाँ १२६-१२७ में बात लेनी है। समझ में आया?

वह तो जड़ में, किसी जड़ की पर्याय में ज्ञान का विशेषपना नहीं दिखता, तो ज्ञानगुण का सामान्यपना भी उसमें नहीं है। जड़ में पर्याय शब्द की संस्थान-आकृति दिखती है तो उसमें सामान्य वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श दिखता है। जिसका विशेष हो, उस प्रकार का सामान्य होता है। जड़ में ज्ञान की पर्याय का विशेष नहीं तो ज्ञान का सामान्यगुण भी नहीं है। इसी प्रकार जड़ में जो शब्द आदि की जो पर्याय होती है, वह विशेष है। तो विशेष जड़ है तो उसके गुण वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श भी जड़ है।

आत्मा में जो ज्ञानादि की विशेष पर्याय होती है, तो सामान्य भी ज्ञानगुण है। सामान्य गुण है, उसकी विशेष पर्याय है। विशेष जाति हो, उस जाति का सामान्य होता है। समझ में आया? कहो, सेठी!

मुमुक्षु : वाणी तो है आत्मा के साथ।

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ है।

मुमुक्षु : जड़ है तो आत्मा के ऊपर प्रभाव की छाप पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई (छाप प्रभाव की) पड़ती नहीं। कौन कहता है पड़ती है? भगवान इनकार करते हैं। पड़ती ही नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसका उपादान है तो ख्याल आता है। वह तो निमित्त चीज़ है, उससे प्रभाव-प्रभाव पड़ता नहीं। मिथ्यादृष्टि ने माना है। अभी बात चलती नहीं। ऐसी गड़बड़ हो गयी है, ऐसी गड़बड़। पानी भी आत्मा ने पीया नहीं, फिर कहाँ प्रश्न है? भगवान की वाणी ही नहीं। यह तो आया न? परसों के दिन १७३ गाथा में दोपहर में आया था।

मुमुक्षु : सब लोग बोलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बोलने में आता है। निमित्त कौन, ऐसा बोलने में आता है। आरोप से कथन है। वाणी तो वाणी की है। यह कहा न? सशब्द होने के कारण, कौन? जड़। **संस्थान, संघातादि...** इकट्ठे होना-पृथक् होना। **पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य है, वह पुद्गलद्रव्य है;...** लो! पुद्गलद्रव्य है। सब पुद्गलद्रव्य है। भाषा पुद्गल, भगवान की वाणी तो निमित्त से कही जाती है। वाणी भगवान को होती है? भगवान जड़वाले हैं? वे कहते हैं न कि अरर्र! भगवान की वाणी नहीं? अरे! भगवान की वाणी कहकर गाली देता है? भगवान तो अरूपी चैतन्यघन हैं। उनके पास वाणी कहाँ से आयी? वे बाहर में आ गये? आहाहा!

अभी तो रूपी-अरूपी में भी किसकी पर्याय कैसे होती है और कौन निमित्त है, इसकी भी खबर नहीं, किसी का अंश किसी में मिला देना, मूढ़ है। मिथ्याज्ञान है, असत् ज्ञान है, पापदृष्टि है।

मुमुक्षु : व्याप्य-व्यापक है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से व्याप्य-व्यापक होगा? अपनी पर्याय में हो, फिर प्रश्न क्या है? एक परमाणु दूसरे परमाणु में व्याप्य-व्यापक नहीं होते। व्याप्य कहो या अवस्था कहो, व्याप्य कहो या उत्पाद कहो। उत्पाद, वह व्याप्य है और द्रव्य, वह व्यापक है। यह व्याप्य-व्यापक अपने में होता है या (पर में होता है)? कर्ता-कर्म कहो या व्याप्य-व्यापक कहो। आहाहा! या उत्पाद और ध्रुव कहो। ध्रुव व्यापक, पर्याय व्याप्य, उत्पाद से। वस्तु का अनादि स्वभाव है, किसी ने किया नहीं। भगवान ने कहा, हुकम दे दिया कि यह मानो नहीं तो जेल होगी। ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : ऐसा नहीं मानो तो चौरासी में (घूमना पड़ेगा)।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तु ऐसी है। ऐसा नहीं माने तो—तुम्हारी दृष्टि में विपरीतता है, इसलिए जायेगा। समझ में आया? आहाहा! परिणमन की अपनी योग्यता से परिणमता है। उसकी योग्यता प्रमाण वह जानता है। अपने कारण से। श्रोता अपनी योग्यता से सामान्य ज्ञान में से विशेषरूप योग्यता उस समय में होती है, ऐसा जानता है। बस। वाणी से कहते हैं, यह भी निमित्त का कथन है। क्या किसी का विशेष कोई सामान्य बिना का होता है? उसका ज्ञानगुण सामान्य है। उसकी विशेष पर्याय होगी। सामान्य वहाँ है तो उससे यहाँ विशेष हुई? आहाहा! पूरी मोटी वस्तु ही अनन्त पदार्थ का नाश होता है दृष्टि में। दृष्टि में। वस्तु तो कहाँ चली जाती है! कहो, समझ में आया? ऐई, देवीलालजी! क्या है यह? यह भगवान की पूजा-बूजा फिर करना या नहीं? अष्टद्रव्य। निर्णय तो कर! क्रिया भी बीच में होनेवाली जड़ से होती है। तेरा तो शुभभाव, तेरा तो शुभभाव, बस! वह क्रिया उससे (जड़ से) होती है, तुझसे नहीं। समझ में आया? अरे, भगवान!

अभी जड़ से दृष्टि उठाना मुश्किल पड़ती है, तो उसके पुण्य के विकल्प से दृष्टि उठाकर मुझमें पुण्य ही नहीं। समझ में आया? जिसे अपने अतिरिक्त दूसरे पदार्थ और दूसरे से अपने में कार्यकारण माना, उसने सब विपरीत माना है। वह जड़ कारण और मेरी पर्याय कार्य। मेरी पर्याय कारण और जड़पर्याय कार्य। सब विपरीत घोटाला!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात की। स्वरूप कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास सब विपर्यास हो गया उसे। तत्त्व क्या है? वस्तु यह तो शान्ति से, धीरज से भेदज्ञान करने की बात है। जीव-अजीव से भेदज्ञान करने की बात है। भेद तो कब होगा कि मेरी पर्याय मुझसे, उसकी पर्याय उससे, तब भेद होगा। अभी तो अजीव और जीव से भेद करने की बात है। पश्चात् पुण्य और पाप से भेद करने की बात स्वभाव की है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : यहाँ आ पड़े तो मोक्ष इतना कठिन पड़ेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन! लो! यह कहते हैं कि यहाँ आ पड़े तो मोक्ष भारी कठिन पड़ेगा। कठिन हो गया। आ पड़े, अब इसमें से निकलना किस प्रकार? विष्टा को अमृत माना था। क्या कहे कि विष्टा अपने बहुत ही है, बहुत ही है। ऐसा है? यहाँ कहते हैं कि भगवान! तेरी चीज़ में पुद्गल का परिणमन तुझसे कभी हुआ ही नहीं। भूल निकालने के लिये कहते हैं या भूल रखने के लिये कहते हैं? यह कहा न। **जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि...** मार्ग की प्रसिद्धि के लिये कहा जाता है। भगवान अमृतचन्द्राचार्य... भाई! '**सम्यग्ज्ञानिना मार्गप्रसिद्धयर्थ प्रतिपादित इति**'। संस्कृत में, नीचे हिन्दी में है। भावार्थ के ऊपर है। कहो, समझ में आया?

यह वास्तव में गुण और पर्याय से **परिणत होने के कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य है, वह पुद्गलद्रव्य है;...** वह पुद्गलद्रव्य है। वह अपना आत्मद्रव्य नहीं और आत्मा की पर्याय भी नहीं। समझ में आया? शरीरादि पर्याय हो, आत्मा को निमित्त कहते हैं। निमित्त कहते हैं तो निमित्त है तो वह हुई है। तो निमित्त रहा नहीं। निमित्त का अर्थ यह कि वह चीज़ होती है स्वयं से, तब सामने संयोग है, उसे निमित्त कहा जाता है। निमित्त है तो उसमें पर्याय हुई। उसमें पर्याय हुई तो अपने निमित्त से हुई, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह तो शरीर की बात चलती है। बाह्य में भी सब, यह लड्डू बँधते हैं, ऐसा होता है, ढेबरा, पूड़ी सब, चक्कर, गोल सब पुद्गल की पर्याय परिणमती है। पुद्गल होकर परिणमती है। आत्मा की इच्छा वहाँ परिणमावे, ऐसा तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : थोड़ा ज्ञान जरूरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हें... यह ज्ञान आवश्यक, बिना इसके सत्य की खबर नहीं पड़ती। कहते हैं, इतना ज्ञान आवश्यक है। जड़ से भिन्न चैतन्य की पर्याय ऐसा। संक्षिप्त में संक्षिप्त है। इन्द्र, चक्रवर्ती को भी भान है। उसमें भान है। छियानवें हजार स्त्रियाँ चक्रवर्ती को है, करोड़ों अप्सरायें इन्द्र को है। है भान, हमारी पर्याय हमसे उठती है पर्याय, उससे हमारे से कुछ है नहीं। ऐसा इन्द्र को भान है। सम्यग्दृष्टि है। भेदज्ञान है। भेद का अर्थ- भिन्न। शरीर की पर्याय शरीर से, मुझसे नहीं। चक्रवर्ती भी सम्यग्दृष्टि हो। लड़ाई करने

जाये, घुड़सवार होकर जाते हैं न। हजार देव तो सेवा करते हैं। तिमित गुफा थी। गुफा शोधते हैं न? हाथ में दण्ड है। एक दण्ड, हजार देव सेवा करते हैं। वह पर्याय मुझसे हुई नहीं, ऐसा मानते हैं। मुझसे हुई नहीं। मेरी पर्याय मेरी सीमा उल्लंघकर बाहर नहीं जाती। उसकी पर्याय उसकी पर्याय की सीमा उल्लंघकर दूसरे को स्पर्श नहीं करती। ओहोहो! यह पुद्गल आया। यह पुद्गल की व्याख्या की, शरीर। समझ में आया?

आदि सब लेना, हों! अकेला शरीर नहीं। यह तो शरीर की बात की है। औदारिकशरीर सम्बन्धी संघात, वर्णन आदि सब, सब लेना। और सब बाहर की भी पुद्गल की पर्याय, अक्षर पढ़ना, अक्षर लिखना, शीशपेन घुमाना, वह सब पुद्गल की पर्याय है। आत्मा उसे नहीं करता। कहो, समझ में आया? यह शरीर की एकता होती है न, परमाणु, वह बराबर हो, ऐसे... ऐसे.... ऐसे करो तो शरीर अच्छा रहेगा। कुछ है नहीं। तेरी कल्पना की मर्यादा कल्पना। शरीर की पर्याय में परिणमन हो, वह शरीर के कारण से। तेरी कल्पना से उसमें कुछ भी फेरफार हो, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। समझ में आया?

विकल्प तो आता है। ज्ञानी को भी क्षुधा तो आती नहीं? क्षुधा तो। परन्तु वह आहार आना, (वह) विकल्प आया तो आता है, ऐसा नहीं है। और उसमें जठर का उपशम होना, वह आहार आया, तो हुआ ऐसा भी नहीं है। वह पर्याय ऐसी उत्पन्न होने की थी, तो आहार को निमित्त कहा गया है। विकल्प आया तो आहार आया और क्षुधा मिट गयी, ऐसा नहीं है। संघात आया न संघात। पुद्गल (का) इकट्ठा होना, वह आत्मा की पर्याय है? नहीं; वह तो पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल की पर्याय इकट्ठी होती है, वह पुद्गल एक गाथा का अर्थ हुआ। अब १२६ गाथा। देखो! '**पोग्गलदव्वभवाहोंति गुणा पज्जया य बहू**'

अब आत्मा। स्पर्श, रस, रंग, गन्ध, वर्ण, गुणरहित आत्मा। आत्मा में **स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणरहित होने के कारण, अशब्द...** उसमें शब्द था न? आत्मा में शब्द होने का कारण नहीं है। अर्थात् शब्द होने का कोई कारण नहीं है। आत्मा शब्दरहित है।

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि-अनन्त। आत्मा में शब्द है? शब्द में आत्मा है? दो भिन्न चीज़ है। यह उसको लगे, दो कारण लगाओ, परन्तु दो कारण का अर्थ क्या? अपने से होता है तो वह दूसरी चीज़ है, तो उसे आरोप उससे दिया जाता है। नहीं। जैसा निमित्त मिले, वैसी पर्याय होती है। अच्छा! चले जाओ चार गति में भटकने को।

मुमुक्षु : भगवान की वाणी खिरती है....

पूज्य गुरुदेवश्री : खिरती है तो वाणी खिरती है, ऐसा कहा न? वह तो वाणी खिरती है। आत्मा खिरता है? आहाहा! आत्मा खिरता है उसमें? भगवान खिरता है वाणी में? खिरते हों तो भगवान का ज्ञान क्षीण हो जाये। वह तो वाणी खिरती है, जड़। अनन्त रजकण परमाणु। भाषा होने की योग्यता से भाषा की पर्याय होती है। भगवान की वाणी है या जड़ की? जैन का क्या? जीव-अजीव यह भी सुना नहीं।

मुमुक्षु : .... देर लगेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : देर लगेगी तो भले लगे।

मुमुक्षु : आत्मा जिस भाव से... क्रिया होती है तो... अन्दर जाने का भाव हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव हुआ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं कर सकता तो वहाँ तो भाषा भी नहीं कर सकता। भाषा होने की हो वह होती है। शरीर भी अपने परिणमन से गति करने का हो तो हो। परन्तु भाव आया तो शरीर की गति हुई, ऐसा नहीं है। भाव हुआ तो वाणी निकलती है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : भगवान की वाणी थी तो भाव आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसा भी नहीं।

मुमुक्षु : क्रिया से तो पकड़ में आता है, भावक्रिया से पकड़ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, बिल्कुल किसी ने पकड़ा नहीं। भाव भाव में रहे, भाषा भाषा में रही।

मुमुक्षु : क्रिया....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। जड़ की क्रिया जड़ में, आत्मा की क्रिया आत्मा में।

मुमुक्षु : अनुकूल अर्थात् एकरूप हो गये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अनुकूल का अर्थ क्या? भाषा जैसे भाव थे, वैसी भाषा परन्तु भाषा भाषा के कारण निकली है। भाव के कारण नहीं। यह तो कहते हैं, यहाँ बतलाना है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन? किसका? यह तो व्यवहार के विकल्प आते हैं। पूज्य व्यवहार से कहा जाता है। शुभभाव आता है न? इस कारण से। आत्मा तो, यह भगवान की प्रतिमा भी जड़ है। परन्तु निक्षेप करते हैं तो यह भगवान, ऐसा शुभभाव आता है। वह अपने में शुभभाव है। परन्तु शुभभाव के कारण मन्दिर बने, ऐसा नहीं है और मन्दिर है तो शुभभाव आया, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्रों में तो आता है, मन्दिर बनाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो भाषा आती है। विकल्प होनेवाला हो तो होता है। आत्मा का कर्तव्य है? आत्मा कर सकता है? आहाहा! भारी गड़बड़, भाई! अभी तो भगवान की वाणी की दिक्कत उठे। यहाँ कहते हैं कि वाणी जड़ की है, ले।

मुमुक्षु : वे कहते हैं कि जादू...

पूज्य गुरुदेवश्री : जादू करे, नहीं। ठीक है।....थोड़ी देर लगेगी। ऐसा कहते हैं। नहीं समझ में आये, ऐसा नहीं कहते। कहो, समझ में आया? निर्णय करने का बहुत ही खिचड़ा होता है न, तो उसमें से निकालना। अशब्द होने के कारण, कौन? आत्मा अशब्द है। देखो! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि आत्मा में अशब्द है। और शब्द में आत्मा का अभाव है। अत्यन्त अभाव है। शब्द की पर्याय में भगवान आत्मा का अत्यन्त अभाव है। भगवान आत्मा ने शब्द की पर्याय का अत्यन्त अभाव है। कौन किसे करे? आहाहा!

व्यवहार से बोलने में आता है। दोपहर में आया न? व्यवहारिक दृष्टि। वह तो व्यवहार से कथन किया गया, निमित्त से। अपने भाव की पर्याय करता है। बस, बस। अपने अस्तित्व में। दूसरे के अस्तित्व के क्षेत्र में क्या सीमा है अन्दर की अपनी कि उसमें घुसे?

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-गुणरहित होने के कारण, अशब्द होने के कारण,... कौन? आत्मा। **अनिर्दिष्टसंस्थान होने के कारण...** उसमें कोई संस्थान नहीं कि ऐसा संस्थान कहने में आता है। **तथा अव्यक्तत्वादि पर्यायोंरूप से परिणत होने के कारण...** इन्द्रियग्राह्य नहीं, ऐसी पर्यायरूप से परिणत है। इन्द्रियग्राह्य नहीं, ऐसी पर्याय से परिणत है। **इन्द्रिय ग्रहण योग्य नहीं...** लो! आत्मा इन्द्रिय ग्रहणयोग्य नहीं; शब्द इन्द्रिय ग्रहणयोग्य है। पुद्गल इन्द्रिय ग्रहणयोग्य। दोनों चीज़ भिन्न है। दोनों को किसी का कुछ लेना-देना नहीं है। समझ में आया?

मोक्षमार्गप्रकाशक में यह लिया है। अजीव से अजीव होता है, (उसमें) तेरा तो निमित्त है। वह तो अंश मिला देता है तेरा। मेरे अंश से उसका हुआ और उसके अंश से मेरा हुआ। कहो, समझ में आया? **चेतनागुणमयपने के कारण...** लो! कैसा भगवान है आत्मा? भगवान का अर्थ सब आत्मा, हों! **चेतनागुणमयपने के कारण रूपी तथा अरूपी अजीवों से विशिष्ट (भिन्न) ऐसा जीवद्रव्य है।** लो! भगवान आत्मा चेतनागुणमयपने के कारण उसकी पर्याय भी चेतनामय है। वह रूपी पुद्गल से भिन्न है। अरूपी आकाशादि से भी भिन्न है। अपने से भिन्न पाँच द्रव्य है न? रूपी पुद्गल और अरूपी यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। यह रूपी और अरूपी अजीवों से **विशिष्ट=भिन्न; विलक्षण; खास प्रकार का।** भिन्न ऐसा जीवद्रव्य है, लो! दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं।

अभी जीव और अजीव भिन्न का भास न हो, भिन्न की खबर न हो, उसे धर्म, चलो करो सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो, प्रौषध... क्या है? मूढ़ है। मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? लो! विशेष बात करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २९, गाथा-१२६-१३०
दिनांक - २४-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण ३, गुरुवार

१२६-१२७ गाथा। पंचास्तिकाय; नौ पदार्थ का वर्णन चलता है। कल यह अधिकार पूरा हुआ। **इस प्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद...** है? जीव, वह रूपी-अरूपी अजीवों से भिन्न है। जीव रूपी पुद्गल और अरूपी धर्मास्ति आदि काल, उनसे चैतन्यद्रव्य भिन्न है। यह वास्तविक भेद यथार्थरूप से भेद भिन्न है।

सम्यग्ज्ञानियों के.... सच्चे ज्ञानियों के **मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु,...** जड़ और चैतन्य, जड़ की पर्याय जड़ से होती है, चैतन्य की पर्याय चैतन्य से होती है। कल आया था न, समठाण आदि। सब शरीर की पर्याय का काल परमाणु से होता है। यहाँ अस्तित्व सिद्ध करना है। वह अस्तित्व किससे है? अपने आत्मा का अस्तित्व जड़ का, द्रव्य-गुण-पर्याय से भिन्न है। ऐसी वास्तविक भिन्नता, वास्तव में दोनों भिन्न है। इसलिए ऐसा नहीं कि एक जीव और एक अजीव और एक जीवसहित अजीवसहित जीव को, ऐसी गड़बड़ करते हैं न, बहुत ही। यह पुद्गलसहित जीव, ऐसा जीव, ऐसी बहुत ही बात करते हैं। एक अकेला जीव है। दो साथ में हैं। है ही नहीं।

जीव और अजीव तीनों काल भिन्न है। वह सचेतन पुद्गल, यह झूठ है। सचेतन पुद्गल कहाँ से आया? यह कोई कहता है। आत्मा सचेतन पुद्गल है, दूसरे अचेतन पुद्गल हैं, ऐसा नहीं, वास्तविक जीव और अजीव। द्रव्य-गुण-पर्याय अपने-अपने में तीनों काल भिन्न ही है। **सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु,...** कोई कहता है कि अकेला आत्मा ही जगत में है। और कोई कहता है कि अकेला अजीव ही है। जीव-बीव कोई दिखता नहीं। ऐसा नहीं है। रूपी-अरूपी, रूपी-अरूपी से भिन्न; रूपी पुद्गल अरूपी आकाश, धर्मास्ति आदि अरूपी से आत्मा भिन्न। कल आया था।

आत्मा रूपी और अरूपी अजीव से भिन्न। अजीव के दो प्रकार, एक रूपी अजीव और एक अरूपी अजीव। रूपी अजीव यह पुद्गल, अरूपी अजीव धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। कहो, समझ में आया? इन पाँच से भगवान आत्मा

अत्यन्त भिन्न अनादि का है। इस **मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।** लो! आचार्य महाराज अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा भिन्न बतलाने के लिये, भिन्न है, ऐसे ज्ञानी की प्रसिद्धि के लिये भिन्न बतलाया।

मुमुक्षु : अभी भिन्न है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी भिन्न है, अभी की बात है। सिद्ध की बात कहाँ है? शरीर की पर्याय शरीर में है। आत्मा की पर्याय आत्मा से अभिन्न ही है। कहो, समझ में आया? बहुत ही गड़बड़ होती है न, यह कहाँ से हुआ? वाणी जिनवाणी है या नहीं? वाणी जिनवाणी है या नहीं? जिनवाणी है या नहीं? जिनवाणी है नहीं और वाणी जिन की है नहीं। वाणी, वाणी की है; जिन, जिन के हैं। समझ में आया? जिन, जिन के हैं, वाणी, वाणी की है। वाणी क्या जिन की हो जाती है? और जिन क्या वाणी के हो जाते हैं? जिन की वाणी खिरती है न? जिन की नहीं खिरती। जिन में से निकलती है तो खिरती है? परमाणु की पर्याय होकर खिरती है। ओहोहो!

निकलती है, दूसरा क्या खिरता है? बाहर आवे न भणकार। क्या है?

मुमुक्षु : वाणी कहाँ से आती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वाणी जड़ में से आती है। कहाँ से आवे? आत्मा में भरी है? आत्मा में परमाणु की खान है?

मुमुक्षु : भाषा पर्याप्ति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा पर्याप्ति जड़ में है। उस पर्याप्ति से भी नहीं आती। भाषा पर्याप्ति भिन्न है। नामकर्म है। आदि सूक्ष्म है। दोनों भिन्न चीज़ है। कभी भी भिन्न किया भी नहीं। कब क्या भिन्न है। खबर भी नहीं। ऐसा करूँ, ऐसा बनाऊँ। कौन करे भाई! परपदार्थ के लिये आत्मा पंगु है। पंगु, पंगु, पंगु। है ही नहीं। अपने स्वरूप में वह है नहीं। और उसके स्वरूप में यह है नहीं। अत्यन्त भिन्न अभी या हमेशा और तीनों काल में।

अब भावार्थ। इसका थोड़ा भावार्थ लेते हैं।

अनादि मिथ्यावासना के कारण... अनादि मिथ्या गन्ध, रुचि अभिप्राय के कारण **जीवों को स्वयं कौन है,...** स्वयं कौन है, **उसका वास्तविक ज्ञान नहीं है...** स्वयं कौन है, कैसे है, किस प्रकार है, खबर नहीं।

मुमुक्षु : धर्म.... कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म किसका? धर्म करनेवाला कौन है, इसकी खबर नहीं तो धर्म कहाँ से होगा? धर्म करनेवाला कैसा है, किस प्रकार है और धर्म क्या पर्याय है, द्रव्य है या गुण है।

मुमुक्षु : भगवान ने आचारांग कहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आचारांग कहे हैं। आचारांग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान नहीं कहा? ऐसे के ऐसे उल्टे उठते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का आचारांग में वर्णन नहीं? पहले वर्तन का कथन किया है और दृष्टि का तो बारह अंग में कहा है। ऐसा कल आया है? दृष्टि का विषय बारह अंग में दृष्टिबाद में और आचारांग के कथन पहले। सम्यग्दर्शन बिना आचारांग कहाँ से आया? समझ में आया? जेठाभाई! यहाँ बड़े-बड़े पण्डित पढ़े, समझ में आया? बैल परवाने (धोते) बैठते हैं। कुछ खबर नहीं क्या चीज़ है। आहाहा! पण्डिताई की यह चीज़ नहीं है। यह तो वस्तु की अन्तर्दृष्टि की और अन्तर रुचि की चीज़ है। समझ में आया?

ओले गिरे हों, उस पर लिख दिया और लिखे और भाषण भी दे दिया, पचास-पचास हजार, लाख को, इसलिए होशियार है - ऐसा नहीं। यह चीज़ ऐसी नहीं है। चीज़ चीज़ में है, चीज़ पर में तीन काल में नहीं है। भाषा आत्मा कर सकता है, दूसरे को समझा सकता है, यह वस्तु में नहीं है। आहाहा!

कहते हैं, अनादि मिथ्या वासना के कारण जीवों को स्वयं कौन है, इसका वास्तविक ज्ञान नहीं है, ऐसे तो कहते हैं कि हम जीव हैं, जीव हैं परन्तु जीव है तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में उसकी सीमा-मर्यादा है। पर की सीमा पर में है। समझ में आया? यह अँगुली हिले, यह हिले, यह तो इसके कारण से हिलती है। हिले बिना रहती नहीं। कोई कहे कि उसके कारण से हिलती है तो फिर तुम बन्द कर दो, तो

हिले? परन्तु कौन बन्द करे? उसके कारण से हिलती है तो उसके कारण से बन्द होगी। उसमें दूसरे का अधिकार है ही नहीं। दूसरे कार्य करके हट जाये तो दूसरे ने कार्य नहीं किया, ऐसा मानना। ऐसा है ही नहीं। यह तो वाणी, शरीर, उसकी पर्याय में जो रहनेवाली क्रिया है, वह तो होगी ही। होगी ही। वह कहाँ अपने आत्मा से होती है।

ऐसे **जीवों को स्वयं कौन है, उसका वास्तविक ज्ञान नहीं है और अपने को शरीरादिरूप मानते हैं।** किस कारण से? अपना अस्तित्व कैसा है, ऐसा जानने में नहीं आया तो कहीं भी अपना अस्तित्व मानना तो चाहिए। अपना वास्तविक स्वरूप कैसा है, ऐसा ज्ञान में लिया नहीं तो कहीं भी अपने अस्तित्व का अस्तित्व मानना तो पड़ेगा ही। यह शरीर मैं हूँ, वाणी मैं करता हूँ, शरीर को हिलाता हूँ, वाणी बोलता हूँ, कर्म बाँधता हूँ, ऐसे पर को अपना माना है। कहो, समझ में आया?

अपनी चीज़ भिन्न है, उसका ज्ञान नहीं तो अपने अस्तित्व की सत्ता का स्वीकार तो कहीं करना पड़ेगा न? अपनी सत्ता का स्वीकार नहीं कि मैं ज्ञायक अकेला चैतन्य भिन्न हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं। अपना अस्तित्व शरीर मैं हूँ, यह मैं करता हूँ, यह करता हूँ, उसकी प्रसिद्धि से मेरी प्रसिद्धि, मेरा अस्तित्व, उससे है। बोलता हूँ कि मैं आत्मा, चलता हूँ तो मैं आत्मा, कर्म बाँधूँ तो मैं आत्मा। ऐसे पर के अस्तित्व में अपना (अस्तित्व) मान रखा है। समझ में आया?

अपने को शरीरादिरूप, शरीर, वाणी, कर्म, **उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्य का यथार्थ भेद दर्शाकर...** भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा अथवा कुन्दकुन्दाचार्य आदि सन्त, जिन्हें ऐसा ज्ञान स्वयं कौन है, ऐसा नहीं तो पर को अपना माने बिना नहीं रहते। स्वयं अपना भिन्न क्या है, वह जानने में आया नहीं तो पर में अपनापना माने बिना रहता नहीं। **उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्य का यथार्थ भेद दर्शाकर...** उन्हें भेद बताया, भाई! शरीरादि रूपी है, आकाशादि अरूपी है। वह तुझमें नहीं है। तेरा अरूपी ज्ञानघन भिन्न तत्त्व है। तुझे और पर को कुछ सम्बन्ध नहीं है। **उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्य का यथार्थ भेद दर्शाकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कराने के हेतु...** लो!

मुक्ति का मार्ग... मुक्ति का मार्ग **मोक्ष का उपाय, प्राप्त कराने के हेतु यहाँ जड़-**

पुद्गल-द्रव्य के... जड़ पुद्गलद्रव्य के, **और चेतन जीवद्रव्य के...** शरीरादि जड़ पुद्गलद्रव्य के और चैतन्य जीवद्रव्य के, **वीतराग सर्वज्ञ कथित....** सर्वज्ञ परमात्मा परमेश्वर वीतराग ने कहे हुए **लक्षण कहे गए।** उसके-जीव के लक्षण और जड़ के लक्षण कहे गये हैं। समठाण, शब्द इत्यादि तो जड़ की पर्याय है। वह तो जड़ के लक्षण हैं, तुझसे वे कहाँ से आये? तेरा लक्षण तो ज्ञान है। आत्मा ज्ञान से जानने में आता है। आत्मा ज्ञाता है। दोनों को वीतराग सर्वज्ञ से कहा गया है। ऐसे लक्षण कहे गये हैं।

जो जीव उन लक्षणों को जानकर,... जड़ की पर्याय जड़ का लक्षण है अजीव का, ज्ञानलक्षण से आत्मा जानने में जाता है, आत्मा। ऐसे **जो जीव उन लक्षणों को जानकर,...** दोनों के लक्षण जीव। जाननेवाला तो आत्मा है न? लक्षण दोनों के, जाननेवाला एक। जड़ का लक्षण जाननेवाला जड़ है? जड़ का लक्षण और चैतन्य का लक्षण जाननेवाला तो आत्मा ही है। दोनों के लक्षण जाननेवाला तो एक है। लक्षण दो के, जाननेवाले दो—ऐसा नहीं है, एक ही है। समझ में आया?

जो जीव उन लक्षणों को जानकर,... देखो! जड़ का लक्षण समठाण आदि, शब्द आदि, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श आदि वह तो उसका तत्त्व है और मेरा तत्त्व उससे भिन्न है। दोनों के लक्षण जाननेवाला एक जीव। समझ में आया?

अपने को स्वतःसिद्ध... दोनों का लक्षण जानकर अपने को स्वतःसिद्ध अपने से है। शरीर से, कर्म से, परद्रव्य से नहीं है। कोई ईश्वर से नहीं है, अपने से स्वयंसिद्ध है। **अपने को स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र द्रव्यरूप से पहिचानकर,...** स्वतन्त्र द्रव्यरूप से पहिचान। मैं तो पदार्थ स्वतन्त्र हूँ। अनादि स्वयंसिद्ध, पर्याय में भी बिगड़ना, सुधरना, वह स्वयं से होता है। स्वतन्त्र हूँ। मेरी पर्याय और गुण-द्रव्य स्वतन्त्र है। समझ में आया? **एक स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र द्रव्यरूप से पहिचानकर, भेदविज्ञानी अनुभवी होता है,...** लो! पर से भिन्न जानकर, दो के लक्षण भिन्न जानकर, अपना आत्मा पर से भिन्न है तो अपने द्रव्य पर लक्ष्य जाने से स्वयं को भेदज्ञान-अनुभव होता है। कहो, समझ में आया? क्योंकि पर से भिन्न और मेरे लक्षण से वह भिन्न, दोनों को जाना तो अपनी पर्याय-द्रव्य-गुण पर से भिन्न। पर्याय का लक्षण जाना तो पर्याय के बाद द्रव्य क्या है, यह जाना, द्रव्य-गुण

क्या है, यह ज्ञान से पहिचानने में आया? अकेले पर्याय के नहीं, पर्याय-गुण और द्रव्य तीनों को जानने में आवे तो लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाता है। तो भेदविज्ञानी होता है। समझ में आया?

पर से भिन्न करके स्वयं अनुभवी होता है, वह मुक्ति, मुक्तिमार्ग का उपाय है। वह मुक्ति का मार्ग है। पर से अपना आत्मा पर्याय तो भिन्न है परन्तु एक समय की पर्याय और द्रव्य-गुण भी पर से तो भिन्न हैं। तो द्रव्य कितना है, कैसा है? ऐसे अपने आत्मा को पर से भिन्न पहिचानकर अपने आत्मा का **भेदविज्ञानी अनुभवी होता है, वह निजात्मद्रव्य में लीन होकर,...** लो! वह अपने में लीन होकर अपने को पर से भिन्न जाना, वह अपने में लीन होकर, लो! पहले जाना भी भिन्न और अपने में लीन हुआ वह चारित्र। समझ में आया?

पर में लीन होना वह नहीं, राग-द्वेषादि विकार, क्योंकि वह तो पर्याय है, द्रव्य में है नहीं तो द्रव्य को पर से भिन्न जानकर भेदविज्ञानी अनुभवी होता है, यह करने का है। करने की यह चीज़ है। **वह निजात्मद्रव्य में लीन होकर, मोक्षमार्ग को साधकर...** निजात्मद्रव्य में लीन होकर मोक्षमार्ग को साधकर, अपना ज्ञायकस्वभाव चिदानन्द प्रभु आनन्द का धाम नित्यानन्द जिसमें आनन्द ही भरा है। ऐसा द्रव्य, ऐसा गुण, ऐसी जब अपनी दृष्टि आनन्दवन आनन्द भुवन भगवान, आनन्द के भुवन भगवान आत्मा की ओर दृष्टि हुई तो पर्याय में भी अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो, उसका नाम भेदज्ञान अनुभव कहा जाता है। वह सच्चा ज्ञान है। समझ में आया?

निजात्मद्रव्य में लीन होकर, मोक्षमार्ग को साधकर... वह लीन होकर मोक्षमार्ग को साधकर, दूसरा साधना है ही नहीं। ज्ञायक चैतन्य नित्यानन्द जिसके आनन्द का स्वाद एक समय में निर्भर—पूरा आनन्द से भरपूर; पर्याय में कभी आनन्द लिया नहीं। क्योंकि पर से भिन्न जाना नहीं, भिन्न नहीं जाना तो द्रव्य में पूर्णानन्द है, ऐसी पहिचान नहीं हुई। समझ में आया?

जब दृष्टि ने परद्रव्य का लक्ष्य छोड़ा (और) अपने ज्ञानलक्षण से लक्ष्य होनेवाला भगवान, उसमें दृष्टि लगाकर, जो आत्मा पर से भिन्न जाना तो उसमें पर्याय में आनन्द

का अनुभव हुआ तो जाना कि पूरा आत्मा आनन्दमय है। मैं पूरा आत्मा अनादि-आनन्दमय हूँ। अतीन्द्रिय आनन्दमय हूँ। उसमें लीन होकर, आनन्द में लीन होना, वह चारित्र है। चारित्र कोई दुःखरूप नहीं। चारित्र को कष्ट सहन करना पड़े, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा पर से भिन्न एक पर्याय में जरा राग और दुःख है, उतना नहीं क्योंकि भिन्न जाना तो पर्याय से भिन्न जाना परन्तु सर्व द्रव्य भी भिन्न है। एक पर्याय जितना द्रव्य नहीं। ऐसी सत्ता, ज्ञान, आनन्द सत्तारूप द्रव्य, उसे पर से (भिन्न) अनुभव कर, मुक्ति अपने में लीन होकर **मोक्षमार्ग को साधकर...** देखो! यह मोक्ष का उपाय साधकर **शाश्वत निराकुल सुख का भोक्ता होता है।** शाश्वत् निराकुल, आकुलता बिना आनन्द का भोक्ता होता है। लो! समझ में आया?

कौन सी दो चीज़ है, दो में कहाँ से हटना और कहाँ जाना और उसमें लीन होना, वही मोक्ष का मार्ग है। और मोक्ष के मार्ग से मोक्ष पूर्ण निराकुल आनन्द की प्राप्ति होती है। आहाहा! समझ में आया? **मोक्षमार्ग को साधकर शाश्वत निराकुल सुख का भोक्ता होता है।** वह शाश्वत् सुख प्रगट हुआ तो अन्दर शाश्वत् अपना सुख, उसका अनुभव पूर्ण हुआ। पूर्ण हुआ और वैसा का वैसा अनादि (रहेगा), सादि से उत्पन्न हुआ सादि अनन्त काल फिर रहता है। सच्चा आनन्द प्रगट हुआ, अनन्त काल रहेगा। शाश्वत् में से आनन्द आया, शाश्वत् काल रहता है।

वह अपना चैतन्य पर से भिन्न, राग से भिन्न, गुण-गुणी का भी दृष्टि में भेद नहीं। गजब बात, भाई! समझ में आया? कहो, बेरियाजी! यह क्या करना, क्रमबद्ध में लोग उलझते हैं। यह क्रमबद्ध में करना क्या? परन्तु क्रमबद्ध में करना, 'मैं करता हूँ'—ऐसी बुद्धि का नाश होता है। क्रमबद्ध में 'मैं करता हूँ'—ऐसी बुद्धि का नाश होता है और अकर्ताबुद्धि उत्पन्न होती है, उसका नाम क्रमबद्ध माना का जाता है। ऐसा नहीं होता है, होता है, होता है परन्तु होता है किसमें (तो) तू कौन है? समझ में आया?

क्रमबद्ध में लोग कहे, स्वच्छन्दी बना देते हैं। ऐसा मानते हैं। स्वच्छन्द बने तो समझे नहीं। रोक सकता है, क्या? होता है, ऐसी उसकी दृष्टि नहीं रहती। उसे रोका जा सकता है, इसका अर्थ यह है। क्रमबद्ध माननेवाले की क्रम होता है, उस पर दृष्टि नहीं

होती। पर्याय होती है, अपनी अर्थपर्याय होती है, पर में होती है और अपने में होती है। होती है परन्तु क्रमबद्ध माननेवाले की दृष्टि, क्रमबद्ध माना कब कहा जाता है कि मैं पर का करूँ और राग का करूँ, ऐसी बुद्धि का नाश हो जाये। इसका अर्थ यह कि ज्ञातादृष्टा हो जाये, तब उसने क्रमबद्ध माना, जाना कहलाये। माना है कहाँ? ऐसे क्रमबद्ध... क्रमबद्ध करे तो कहाँ से चले? समझ में आया?

क्रमबद्ध का अर्थ—होता है। होता है, उसमें करना कहाँ से आया? कर्तृत्वबुद्धि अनादि से उसे बनाऊँ... बनाऊँ... बनाऊँ... बनाऊँ... अपने में बना, पर में बना, इस बुद्धि का प्रवेश ज्ञायक के ऊपर होता है। ज्ञायक के ऊपर प्रवेश होता है। बनाऊँ, यह बुद्धि छूट जाती है। है उसका ज्ञातादृष्टा रह जाता है। यह इसका नाम क्रमबद्ध जाना और माना कहलाता है। नहीं तो माना नहीं कहलाता। करूँ... करूँ - ऐसी बुद्धि है और क्रमबद्ध माने, यह कहाँ से आया? मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसा करूँ, क्रमबद्ध तो होता है, उसमें कर्तृत्व—'मैं करूँ'—ऐसी बुद्धि का अभाव और अकर्तापने की बुद्धि का उत्पाद। अकर्तापने की उत्पत्ति का उत्पाद ज्ञातादृष्टा के आश्रय से होता है। भारी सूक्ष्म बात! वस्तु की खबर नहीं, पदार्थ क्या है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी है। समकित (उसे है जिसे) कर्तृत्व नहीं। उसे क्रमबद्ध की श्रद्धा है। अज्ञानी को श्रद्धा कहाँ है? करूँ... करूँ... तो उसकी बुद्धि है। सेठी! क्रमबद्ध की मान्यता किसे होती है? क्रमसर होता है। क्रमसर होता है, तो क्रमसर होता है तो करूँ - ऐसी बुद्धि कहाँ से आयी? समाधान तो होता नहीं उसे। मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसा करूँ, इसमें ऐसा कर दूँ, उससे मुझमें ऐसा आ जाये। ऐसी बुद्धि तो पड़ी है। उसमें क्रमबद्ध कहाँ आया? आस्था तो है नहीं, मानता तो नहीं। समझ में आया? प्रवीणभाई! भारी गड़बड़ चली है।

क्रमबद्ध शब्द नहीं था, तब तक मूढ़पना था। क्रमबद्ध आया तो वापस, अरे! यह क्या? होता है, होता है तो होने दो न? परन्तु होने देना किसे? पर को होने देना तुम्हारे अधिकार की बात है या पर का रोक दे? पर की पर्याय तो होती है, चलती जाती है। तुम्हारे से टिकती है और तुम्हारे से बनती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : और अपने में भी, बने तो बनने दो, उसका अर्थ क्या? राग आता है तो, आता है तो उसकी दृष्टि कहाँ है? राग के ऊपर नहीं, पर्याय के ऊपर नहीं, पर के ऊपर नहीं, गुणभेद के ऊपर नहीं। अखण्ड ज्ञायकमूर्ति आत्मा है, उस ओर सावधानी से जुटकर पर का अकर्ता हुआ, तब उसकी क्रमबद्ध की मान्यता सच्ची हुई। वह तो ज्ञातादृष्टा हो गया। अमरचन्दभाई! आहाहा! बात ऐसी, वस्तुस्थिति ऐसी है। समझ में आया? निजात्मद्रव्य में लीन होकर कहो या क्रम में कर्तृत्वबुद्धि छूटकर अपना ज्ञातास्वभाव पूरा ज्ञान का भण्डार, पूरी जानने की क्रिया, वह ज्ञान की भी क्रमसर होनेवाली पर्याय, ज्ञानगुण की भी क्रमसर होनेवाली पर्याय, राग की भी क्रमसर होनेवाली पर्याय, पर की भी क्रमसर होनेवाली पर्याय, कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी। मैं ज्ञानपर्याय करूँ, ऐसा भी विकल्प नहीं। राग को करूँ, ऐसा तो नहीं परन्तु मैं पर्याय को करूँ, ऐसी बुद्धि छूट गयी। ज्ञातादृष्टि की और दृष्टि झुक गयी, पर्याय निर्मल होती है। बस! धर्मचन्दजी! समझ में आया? गड़बड़ बहुत ही है तो बहुत ही स्पष्टीकरण करना पड़ता है। हें? आहाहा! अरे, भगवान! तेरी वास्तविक चीज़ का पता जहाँ आया, वहाँ तू गड़बड़ करता है! हाँ... अच्छा! हमारे मीठालालजी हैं न! मीठा! मीठालाल है मीठा! भाई! तेरा स्वरूप तो, यहाँ सर्वज्ञता सिद्ध करना है।

सर्वज्ञ है, किसका करते हैं? किसका करते हैं, किसका रोकते हैं? जानते हैं। वैसा ही तू है। सर्वज्ञस्वभाव जाननेवाला-देखनेवाला तू है, बस इतना ही यहाँ सिद्ध करना है। जानना-देखना किसे? सबको। किसमें रहकर? अपने में रहकर। पर में रहकर नहीं, अपनी ज्ञानपर्याय में रहकर और वह पर्याय द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न हुई, उसका जानना-देखना रह गया। सर्वज्ञ पूर्ण जानते हैं, ज्ञानी अल्प जानते हैं, परन्तु जानना-देखना दोनों का एक समान है। समझ में आया? यहाँ राग आता है। तो भी जानता है। भगवान को राग नहीं तो नहीं जानते इतना। परन्तु जानना-देखना, यह क्रमबद्ध में सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया या नहीं? कान्तिभाई! क्या है यह सब? सुधरे हुए लोग वापस यह सब गड़बड़ करे, क्रमबद्ध हो क्रमबद्ध। क्रमबद्ध क्रमबद्ध का अर्थ क्या? क्रमबद्ध तो बड़ी महान महत् चीज़ है।

अकेला ज्ञानस्वभाव सिद्ध किया। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, इतना निर्णय हुआ (तो) जानने की पर्याय उत्पन्न होती है बस! राग लाना है या राग छोड़ना है या राग करना है, यह कुछ नहीं रहता, इसका नाम क्रमबद्ध को माना कहा जाता है। ऐसे शब्द बोलने से क्या करे?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह वीतरागता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। निर्मल पर्याय को करूँ, ऐसे विकल्प को भी स्थान नहीं है। समझ में आया? **निजात्मद्रव्य में लीन होकर, मोक्षमार्ग को साधकर...** बस, ऐसा जहाँ ज्ञातादृष्टा हुआ, कर्तापना छूट गया, परम सत्स्वभाव की एकाग्रता होते-होते राग छूट जायेगा, केवलज्ञान हो जायेगा। शाश्वत् सुख का भोक्ता हो जायेगा। समझ में आया? परन्तु जिसे करना है न, अथवा करना छोड़ना है, करना रोकना है, उसे यह बात नहीं जँचती। सेठी! करना और करना छोड़ना, दोनों आत्मा में नहीं है।

पर का करना और पर का छोड़ना, राग को करना और राग को छोड़ना, दोनों आत्मा में नहीं है। ऐसी दृष्टि हो तो क्रमबद्ध उसे बैठती है, नहीं तो बैठती नहीं। झाँझरीजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका करना? राग का करना है? राग का छोड़ना है? जानना-देखना है।

मुमुक्षु : राग आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है, करना नहीं। आता है और दूसरे तो परज्ञेयरूप से जानना है। सूक्ष्म विषय है। आता है तो आओ, उसे तो आत्मा जानता है। आया, जैसे पर है, वैसे आया, देखा तो राग भिन्न जाना, राग को करना नहीं, राग को छोड़ना नहीं। स्वभाव में कहाँ है राग को करना और छोड़ना। ऐसी दृष्टि हो तो क्रमबद्ध माना कहा जाये, नहीं तो बात करते हैं। है? क्या? धोखाबाजी करते हैं। ठीक कहते हैं। अपनी

बात में ठगाता है, अपने को ठगता, कर्तव्य के नाम से। बहुत सूक्ष्म बात है।

सर्वज्ञ भगवान किसे.... यह तो अपने आ गया, **'दिट्ठी जहेव णाणं'** यह दृष्टि देखती है, क्या करे दृष्टि? क्या करे? देखे! ऐसा है, खड्डा पड़ा, निकला, ढ़ेर हुआ, आँख खड्डा करती है? ढ़ेर करती है? आत्मा क्या राग बनाता है? आत्मा राग छोड़े, यह वस्तु में नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : राग हो तो हो, जानता है। मेरे स्वभाव में राग है ही नहीं। मैं तो राग का, राग का ज्ञान मेरे सन्मुख होकर मुझसे पर्याय में उसमें मुझे जानता हूँ, उसमें राग व्यवहार से जानने में आ जाता है। आहाहा! ऐसा क्रमबद्ध का अकर्तापना, ज्ञातापना उसकी सिद्धि फल है। क्रमबद्ध का फल यह है। यह फल आये बिना क्रमबद्ध माने, उसने माना ही नहीं। समझे? सौगन्धचन्दजी! यहाँ चक्की के पड़ नहीं हिलाना। रोटी-बोटी बनाना हो तो लाओ चक्की के पाट हिलाओ, रोटी बनाओ, ऐसा लाओ, अमुक करो, समझ में आया या नहीं?

यह तो रजकण-रजकण परद्रव्य है। अपनी पर्याय से आते-जाते हैं, बदलते हैं, टूटते हैं। टूटते हैं, उसमें आत्मा का अधिकार क्या है? और अपनी पर्याय में दोष का राग आया तो क्रमबद्धवाले की दृष्टि राग पर है भी नहीं तो पर्यायबुद्धि गयी, वहाँ कर्ताबुद्धि हुई, क्रमबद्ध की बुद्धि हुई (नहीं)। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक स्व-परप्रकाशक चैतन्य हूँ, अपने को जानने में पर का जानना अपने को जानने में आ जाता है। पर का जानना अलग करना पड़े, ऐसा भी नहीं है। समझ में आया?

देखो! उसमें थोड़ा यह आया, क्रमबद्ध का भी। उसमें लीन होना है। सावधान ज्ञान की पर्याय द्रव्य की ओर ढली है, ढली कहते हैं न? बस! ढली, वह ढली। क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञान-ज्ञायक पर ढली। ढली, गयी, झुकी, बस हो गया। फिर राग आता है तो जानता है। परवस्तु होती है तो जानता है। इस प्रकार अपनी पर्याय हुई, उसे भी जानता है। मैं कर्ता हूँ, ऐसी बुद्धि है ही नहीं। समझ में आया? बात बहुत सूक्ष्म है। लो! १२६-१२७ हो गयी।

इस प्रकार अजीव पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ। इसका अर्थ जीव और अजीव दो का व्याख्यान। कल जीव का व्याख्यान पूरा हुआ, यह अजीव का, दोनों का पूरा हुआ। पहले जीव का कहा गया है। पहले भिन्न।

दो मूलपदार्थ कहे गये। कौन? दो। जीव और अजीव। **अब (उनके) संयोगपरिणाम से निष्पन्न होनेवाले...** संयोग परिणाम से निष्पन्न होनेवाले **अन्य सात पदार्थों के उपोद्घात के हेतु...** देखो! पुण्य-पाप अथवा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष तथा पुण्य और पाप। ये सात। ये सात, इनके संयोग परिणाम से, भाषा ऐसी है। क्या है? जीव और अजीव संयोग परिणाम से, संयोग की अस्ति में अपने से पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध और संयोग के अभाव में अपने से संवर, निर्जरा और मोक्ष। इतनी भी अपेक्षा आयी तो संयोग परिणाम से निष्पन्न सात पदार्थ कहे गये हैं। मोक्ष भी संयोग परिणाम से निष्पन्न होनेवाले सात पदार्थ। समझ में आया?

अपनी पर्याय अपने में, द्रव्य-मोक्ष के परिणाम जड़ में। संवर के परिणाम अपने में और द्रव्य संवर के परिणाम परमाणु में। ये दो द्रव्य, उनकी सात पर्यायें। सात पर्याय में—सात पर्याय आत्मा की है और सात जड़ की है। समझ में आया? **(उनके) संयोगपरिणाम से निष्पन्न...** होनेवाले **अन्य सात पदार्थों के उपोद्घात...** उनका उपोद्घात करते हैं। समझ गये? यह कहेंगे। सूचनिका-सूचन, सूचन। **जीवकर्म और पुद्गलकर्म के चक्र का वर्णन किया जाता है।** जीवकर्म अर्थात् जीव का कार्य, और पुद्गल का चक्र वर्णन किया जाता है। पर्याय की बात करते हैं न! जरा संवर, निर्जरा फिर कहेंगे। सूचन। यह सूचन किया गया है। यह अब कहेंगे। उपोद्घात करते हैं न, इस पुस्तक में यह कहा गया है। ऐसी पहले सूचना करते हैं। प्रस्तावना करे न, क्या करे? प्रस्तावना।

गाथा में संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं ले। गाथा में तो एक दूसरे के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से परिभ्रमण करता है, ऐसा लेंगे। फिर लेंगे। स्वाधीन और निधन। अनादि-अनन्त अभव्य के संसार, भव्य के संसार अनादि सान्त। बस इतना।

गाथा - १२८-१३०

उक्तौ मूलपदार्थौं । अथ संयोगपरिणामनिर्वृत्तेतरसप्तपदार्थानामुपोद्घातार्थं जीवपुदगल-कर्मचक्रमनुवर्ण्यते ।

खो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ।। १२८ ।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।। १२९ ।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।। १३० ।।

यः खलु संसारस्थो जीवस्ततस्तु भवति परिणामः।
परिणामत्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गतिः।। १२८ ।।
गतिमधिगतस्य देहो देहादिन्द्रियाणि जायन्ते।
तैस्तु विषयग्रहणं ततो रागो वा द्वेषो वा ।। १२९ ।।
जायते जीवस्यैवं भावः संसारचक्रवाले।
इति जिनवरैर्भणितोऽनादिनिधनः सनिधनो वा।। १३० ।।

इह हि संसारिणो जीवादनादिबन्धनोपाधिवशेन स्निग्धः परिणामो भवति । परिणामामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म । कर्मणो नारकादिगतिषु गतिः । गत्यधिगमनाद्देहः । देहादिन्द्रियाणि । इन्द्रियेभ्यो विषयग्रहणम् । विषयग्रहणाद्रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां पुनः स्निग्धः परिणामः । परिणामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म । कर्मणः पुनर्नारकादिगतिषु गतिः । गत्यधिगमनात्पुनर्देहः । देहात्पुन-रिन्द्रियाणि । इन्द्रियेभ्यः पुनर्विषयग्रहणम् । विषयग्रहणात्पुना रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां पुनरपि स्निग्धः परिणामः। एवमिदमन्योन्यकार्यकारणभूतजीवपुद्गल-परिणामात्मकं कर्मजालं संसारचक्रे जीवस्या-नाद्यनिधनं अनादिसनिधनं वा चक्रवत्परिवर्तते । तदत्र पुद्गलपरिणामनिमित्तो जीवपरिणामो जीव-परिणामनिमित्तः पुद्गलपरिणामश्च वक्ष्यमाण-पदार्थबीजत्वेन संप्रधारणीय इति ।। १२८-१३० ।।

संसार तिष्ठें जीव जो रागादि युत होते रहें।
रागादि से हो कर्म आस्रव करम से गति-गमन हो ।।१२८।।

गति में सदा हो प्राप्त तन-तन इन्द्रियों से सहित हो।
इन्द्रियों से विषयग्रहण अर विषय से फिर राग हो।।१२९।।
रागादि से भवचक्र में प्राणी सदा भ्रमते रहें।
हैं अनादि अनन्त अथवा, सनिधन जिनवर कहे।।१३०।।

अन्वयार्थ :— [यः] जो [खलु] वास्तव में [संसारस्थः जीवः] संसारस्थित जीव है। [ततः तु परिणामः भवति] उससे परिणाम होता है। (अर्थात् उसे स्निग्ध परिणाम होता है), [परिणामात् कर्म] परिणाम से कर्म और [कर्मणः] कर्म से [गतिषु गतिः भवति] गतियों में गमन होता है।

[गतिम् अधिगतस्य देहः] गति प्राप्त को देह होती है, [देहात् इन्द्रियाणि जायंते] देह से इन्द्रियाँ होती हैं, [तैः तु विषयग्रहणं] इन्द्रियों से विषयग्रहण और [ततः रागः वा द्वेषः वा] विषयग्रहण से राग अथवा द्वेष होता है।

[एवं भावः] ऐसे भाव, [संसारचक्रवाले] संसारचक्र में [जीवस्य] जीव को [अनादिनिधनः सनिधनः वा] अनादि-अनन्त अथवा अनादि-सान्त [जायते] होते रहते हैं—[इति जिनवरैः भणितः] ऐसा जिनवरों ने कहा है।

टीका:—इस लोक में संसारी जीव से अनादि बन्धनरूप उपाधि के वश स्निग्ध परिणाम होता है; परिणाम से पुद्गलपरिणामात्मक कर्म; कर्म से नरकादि गतियों में गमन; गति की प्राप्ति से देह; देह से इन्द्रियाँ; इन्द्रियों से विषयग्रहण; विषयग्रहण से राग-द्वेष; राग-द्वेष से फिर स्निग्ध परिणाम; परिणाम से फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म; कर्म से फिर नरकादि गतियों में गमन; गति की प्राप्ति से फिर देह; देह से फिर इन्द्रियाँ; इन्द्रियों से फिर विषयग्रहण; विषयग्रहण से फिर राग-द्वेष; राग-द्वेष से फिर पुनः स्निग्ध परिणाम। इस प्रकार वह अन्योन्य [१]कार्यकारणभूत जीवपरिणामात्मक और पुद्गलपरिणामात्मक कर्मजाल संसारचक्र में जीव को अनादि-अनन्तरूप से अथवा अनादि-सान्तरूप से चक्र की भाँति पुनः-पुनः होते रहते हैं।

---

१. कार्य अर्थात् नैमित्तिक और कारण अर्थात् निमित्त। [जीवपरिणामात्मक कर्म और पुद्गलपरिणामात्मक कर्म परस्पर कार्यकारणभूत अर्थात् नैमित्तिक-निमित्तभूत हैं। वे कर्म किसी जीव को अनादि-अनन्त और किसी को अनादि-सान्त होते हैं।]

इस प्रकार यहाँ (ऐसा कहा कि), पुद्गलपरिणाम जिनका निमित्त है, ऐसे जीवपरिणाम और जीवपरिणाम जिनका निमित्त है, ऐसे पुद्गलपरिणाम अब आगे कहे जानेवाले (पुण्यादि सात) पदार्थों के बीजरूप अवधारना।

भावार्थः—जीव और पुद्गल को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप से परिणाम होता है। उस परिणाम के कारण पुण्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्णन अगली गाथाओं में किया जायेगा।

प्रश्नः—पुण्यादि सात पदार्थों का प्रयोजन जीव और अजीव इन दो से ही पूरा हो जाता है, क्योंकि वे जीव और अजीव की ही पर्यायें हैं। तो फिर वे सात पदार्थ किसलिए कहे जा रहे हैं।

उत्तरः—भव्यों को हेय तत्त्व और उपादेय तत्त्व (अर्थात् हेय और उपादेय तत्त्वों का स्वरूप तथा उनके कारण) दर्शाने के हेतु उनका कथन है। दुःख, वह हेय तत्त्व है, उसका कारण संसार है, संसार का कारण आस्त्रव और बन्ध दो हैं (अथवा विस्तारपूर्वक कहे तो पुण्य, पाप, आस्त्रव और बन्ध चार हैं) और उनका कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। सुख, वह उपादेय तत्त्व है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है और उनका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। यह प्रयोजनभूत बात भव्य जीवों को प्रगटरूप से दर्शाने के हेतु पुण्यादि [१]सात पदार्थों का कथन है॥ १२८-१३०॥

---

१. अज्ञानी और ज्ञानी जीव पुण्यादि सात पदार्थों में से किन-किन पदार्थों के कर्ता हैं, तत्सम्बन्धी आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में निम्नोक्तानुसार वर्णन है :—

अज्ञानी जीव निर्विकार स्वसंवेदन के अभाव के कारण पापपदार्थ का तथा आस्त्रव-बन्धपदार्थों का कर्ता होता है; कदाचित् मन्द मिथ्यात्व के उदय से, देखे हुए—सुने हुए—अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबन्ध द्वारा, भविष्य काल में पाप का अनुबन्ध करनेवाले पुण्यपदार्थ का भी कर्ता होता है। जो ज्ञानी जीव है वह, निर्विकार-आत्मतत्त्वविषयक रुचि, तद्विषयक ज्ञप्ति और तद्विषयक निश्चल अनुभूतिरूप अभेदरत्नत्रयपरिणाम द्वारा, संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है; और जीव जब

गाथा - १२८ से १३० पर प्रवचन

खो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।।१२८।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।।१२९।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।।१३०।।

यहाँ तो यहाँ से शब्द उठाया है। 'संसारत्व जीव' पश्चात् टीकाकार जरा अधिक लेंगे। अनादि बन्ध के वश, इतना थोड़ा डालेंगे। देखो! यह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बतलाते हैं, हों! यहाँ लोग बहुत ही गड़बड़ करते हैं। देखो! पंचास्तिकाय में ऐसा लिखा है, '**कम्मादो हो हि गदिसु गदी**' लो! भव्य और अभव्य दोनों की बात।

टीका:-इस लोक में संसारी जीव से... जीव से स्निग्ध परिणाम होते हैं, ऐसा

पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय में स्थिर नहीं रह सकता, तब निर्दोषपरमात्मस्वरूप अर्हंत-सिद्धों की तथा उनका (निर्दोष परमात्मा का) आराधन करनेवाले आचार्य-उपाध्याय-साधुओं की निर्भर असाधारण भक्तिरूप ऐसा जो संसारविच्छेद के कारणभूत, परम्परा से मुक्तिकारणभूत, तीर्थंकरप्रकृति आदि पुण्य का अनुबन्ध करनेवाला विशिष्ट पुण्य उसे अनीहितवृत्ति से निदानरहित परिणाम से करता है। इस प्रकार अज्ञानी जीव पापादि चार पदार्थों का कर्ता है और ज्ञानी संवरादि तीन पदार्थों का कर्ता है।

[यहाँ ज्ञानी के विशिष्ट पुण्य को संसारविच्छेद के कारणभूत कहा वहाँ ऐसा समझना कि—वास्तव में तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ही संसारविच्छेद के कारणभूत हैं, परन्तु जब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपूर्णदशा में होता है, तब उसके साथ अनिच्छितवृत्ति से वर्तते हुए विशिष्ट पुण्य में संसारविच्छेद के कारणपने का आरोप किया जाता है। वह आरोप भी वास्तविक कारण के—सम्यग्दर्शनादि के—अस्तित्व में ही हो सकता है।]

कहना है। समझ में आया? पाठ में है न, '**संसार जीवो तदो कोइ परिणामो**' पहला पद है। संसारी जीव को परिणाम होते हैं। कैसे होते हैं, यह स्पष्टीकरण किया कि **संसारी जीव से अनादि बन्धनरूप उपाधि के वश...** इतने शब्द लिये। कर्म से नहीं, कर्म के वश। हाँ... वे उपाधि के वश होते हैं। उपाधि तो पर है। पर के वश होता है। कर्म से नहीं परन्तु उपाधि के वश होता है। तो परिणाम स्निग्ध राग-द्वेष होते हैं। ऐसा बताया है।

पाठ ऐसा है न, '**ततो दु होदि परिणामो**' संसार में जीव रहा तो परिणाम होते हैं। तो परिणाम की व्याख्या की, उपाधि कर्म, कर्म की उपाधि के वश होकर। कर्म जड़ है, उपाधि परवस्तु। उसके वश होकर, जीव में स्निग्धता मिथ्यात्व राग-द्वेषभाव आत्मा करता है।

मुमुक्षु : स्निग्ध अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्निग्ध अर्थात् चिकनाईवाले। राग-द्वेष मिथ्यात्व। मिथ्यात्व और राग-द्वेष स्निग्धता। वे चिकने भाव हैं। बन्ध का कारण बतलाना है न? **स्निग्ध परिणाम होता है।**

स्निग्ध अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष। **उपाधि के वश...** इतना लिया। स्निग्ध परिणाम चिकने राग-द्वेष मिथ्यात्व होते हैं। वश लिया। उपाधि के वश लिया, हों! **परिणाम से पुद्गलपरिणामात्मक कर्म,...** यह निमित्त कहते हैं, अब। वहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बताते हैं, वहाँ आगे की देखो! इस प्रकार से होते हैं, इस प्रकार से होते हैं। यह तो यह है तो वहाँ उसके कारण से होते हैं, उसका निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बताते हैं। व्यवहार।

मुमुक्षु : व्यवहार-विभावपरिणति किसकी?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव की। जीव के विभावपरिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं से कर्मरूप होता है। पहले कर्म लेते हैं। **परिणाम से पुद्गलपरिणामात्मक कर्म,...** पुद्गल परिणामस्वरूप आठ कर्म। वह पुद्गल परिणामस्वरूप कर्म है, वह आत्मा ने किये नहीं। आत्मा ने तो अपने स्निग्ध परिणाम किये—मिथ्यात्व और राग-

द्वेष बस, इतना। देखो! परिणाम होते हैं, **परिणाम से पुद्गलपरिणामात्मक कर्म,...** उससे अर्थात् निमित्त से पुद्गल परिणामस्वरूप कर्म है। पुद्गल परिणामस्वरूप कर्म है, उसमें परिणाम निमित्त पड़े। समझ में आया?

इन परिणाम से अर्थात् निमित्त से, ऐसा लेना। निमित्त उसमें वहाँ आठ कर्म होने की पर्याय की योग्यता से पुद्गल परिणाम का कार्य जड़ में होता है। यह तो परिणाम कहे न निमित्त से। परिणाम कहो या जीव के मिथ्यात्व और राग-द्वेष निमित्त और वहाँ पुद्गल के परिणामरूपी कार्य जड़ में नैमित्तिक, जड़ के कारण से वहाँ हुआ। इस कारण से नहीं। वह तो निमित्त है। समझ में आया? नैमित्तिक जड़ की अवस्था, उपादान उसका। वहाँ राग का उपादान जीव, मिथ्यात्व का उपादान जीव, निमित्त पर को वह। समझ में आया? **परिणाम से पुद्गलपरिणामात्मक कर्म,...** सब यह बात ले!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ बात यह कहते हैं, निमित्त-निमित्त सम्बन्ध दो के संयोगपरिणाम से ऐसा होता है, यह बताते हैं। कर्म के कारण परिणाम है और परिणाम के कारण कर्म, यह तो पहले से निषेध किया। अलग तो बता दिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र है। बताया न! मिथ्यात्व, राग-द्वेष होने में स्वतन्त्र जीव है और कर्म होने में पुद्गल स्वतन्त्र है। कर्म होने की पर्याय में पुद्गल स्वतन्त्र है और राग-द्वेष किये तो कर्म होना पड़े, ऐसा नहीं। आहाहा! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : निमित्त-नैमित्तिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्बन्ध बस। बस इतना। पृथक्-पृथक् स्वयं अपनी पर्याय में निमित्त-निमित्त कैसा होता है, यह बताया है। लो! आया न, अब आयेगा, देखो! **कर्म से नरकादि गतियों में गमन,...** यह तो निमित्त से कथन है। यह तो पहले आ गया। नरकगति में अपनी योग्यता से जाता है, यह तो पहले आ गया है। समझ में आया?

चार गति की उदयभाव की पर्याय अपने से अपने में है। कर्म के कारण उदयभाव

चार गति का है, ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया? यहाँ तो होता है, उसमें निमित्त कौन, इतना बतलाना है। कहीं कर्म नरकगति में ले जाता है, जड़? जड़ की पर्याय से जीव को नरकगति में जाना पड़े? बिल्कुल नहीं।

मुमुक्षु : पूर्व में भाव तो किये हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव तो वर्तमान है, पूर्व नहीं, वर्तमान। नरकगति में जाने का भाव है। पूर्व भाव कौन कहता है? वर्तमान में नरकगति की योग्यता उदय से अपने में है। तो चला जाता है, अपनी क्रिया से जाता है। नरकगति के उदय से काम नहीं। निमित्त है। समझ में आया? यह भगवान कर्म से नरकगति में कहते हैं और तुम इनकार करते हो? यहाँ तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध कहते हैं। नरक में कर्म परद्रव्य, आत्मा को अपनी पर्याय में खींचकर ले जाये? कर्म में ताकत है? अपनी शक्ति नरक में जाने की न हो और कर्म नरक में जाने की शक्ति बना दे, ऐसा नहीं होता। अपने में शक्ति है, तो नरकगति में क्या किया? अपने से ही जाता है। वह तो निमित्तमात्र भिन्न चीज़ है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : विरुद्ध ही है। अज्ञानी करता है या नहीं अनादि से? वह करता है या नहीं? कौन करता है? जड़। यह तो पहले आ गया।

मुमुक्षु : अज्ञान फँसा देता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान अपना। कौन अज्ञान? दूसरे का अज्ञान है? उसका अज्ञान। अज्ञान कोई जड़ नहीं है। उसका बेभान उसे अज्ञान में फँसाता है? उसे भान नहीं। अपना अज्ञान है, किसी दूसरे का अज्ञान है? स्वयं से बँधता है, राग से।

मुमुक्षु : कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन कुछ नहीं। सब सीधा सट्ट हो गया है अब तो। नये हों उन्हें जरा, सुना न हो उसे नया (लगे)।

मुमुक्षु : बालकों को पढ़ाते हो। आप पढ़ाते हो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : बालकों को पढ़ाते हैं, यहाँ तो बूढ़ा कोई नहीं। सब बालक ही है। समझनेवाले विद्यार्थी हैं न, विद्यार्थी।

मुमुक्षु : सत्य, पवित्र अधिक है....

पूज्य गुरुदेवश्री : अधिक है, ऐसा कुछ नहीं। बहुत सरल है। आत्मा क्या है, आत्मा तो सरल है, सीधा है। यह रहा—उपस्थित है। कहो, समझ में आया? नरकादि गति, देखो! चारों गतियाँ ली न? कर्म से चार गति में जाता है, यह निमित्त से कथन लिया। किसी द्रव्य से किसी द्रव्य की पर्याय कभी भी तीन काल में... यह तो ऐसा चक्रभाल बतलाना है न? संसार चक्रभाल में, देखो! संसार के चक्र में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से क्या होता है, यह बतलाना है। समझ में आया?

कर्म से नरकादि नरक, मनुष्य, देव, स्वर्ग, निगोद। निगोदादि गति में गमन। यह सबमें लेना। समझ में आया? परद्रव्य निमित्तमात्र है। परद्रव्य से परद्रव्य में क्रिया तीन काल में नहीं होती। यह तो पहले सिद्ध किया। पर के परिणाम पर का कर्तृत्व है, ऐसा नहीं है। अज्ञान से भी अपने को भूलकर अपने परिणाम अज्ञान करे तो इस कारण से नरक में (जाये)। श्रेणिक राजा तो ज्ञानी थे। लो! समकिती थे। क्षायिक समकिती, तीर्थंकरगोत्र (बाँधा), वह भी अपनी गति की योग्यता से वहाँ जाते हैं। गति की योग्यता के परिणाम अपने स्वत:सिद्ध हैं। गति का उदयभाव अपने में है। गति-कर्म तो भिन्न है। इस कारण जाते हैं। यह तो निमित्त बतलाना है। समयसार में ऐसा है। सबमें आता है।

आवे, **नरकादि गतियों में गमन,...** लो! किससे? कर्म से। उसके ऊपर भार दे। कर्म से... अरे! सुन न, भाई! पहले ही बता दिया, बन्ध के वश, अपने वश अपने परिणाम है। क्या पर के वश परिणाम होते हैं? और **गति की प्राप्ति से देह,...** लो! गति हुई तो वहाँ देह मिलेगी, ऐसा कहते हैं। देह तो जड़ है। गति देह के कारण से उदय हुई है। गति है, वहाँ देह होगी। यह शरीर नहीं रहेगा, ऐसा बताते हैं। गति है अपनी पर्याय के कारण से मिली है और वहाँ देह जड़ आयी और परमाणु के पिण्ड की शरीररूप होने की योग्यता हुई।

मुमुक्षु : पर्याय में निमित्त-निमित्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्येक निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बतलाना है। चक्र बतलाना है न? **देह से इन्द्रियाँ,...** देखो! देह मिली-इन्द्रियाँ; इन्द्रियों से विषय ग्रहण, विषय ग्रहण का अर्थ क्या? विषय ग्रहण कर सकता है? विषय के ऊपर लक्ष्य से यह है मेरा यह विषय, यह शब्द, यह रूप, यह गन्ध, यह रस, यह स्पर्श, शरीर के विषय का वहाँ ही लक्ष्य जायेगा।

इन्द्रियों से विषयग्रहण,... विषय का लक्ष्य करेगा। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, **विषयग्रहण से राग-द्वेष,...** वहाँ राग-द्वेष ही है। यह ठीक है और यह अठीक है। ऐसे शब्द ठीक हैं और ऐसे शब्द अठीक हैं। ऐसा रूप ठीक है और ऐसे रूप अठीक हैं, ऐसी वाणी ठीक है। ऐसे **विषयग्रहण से राग-द्वेष,...** कहो, समझ में आया? इन **राग-द्वेष से फिर स्निग्ध परिणाम,...** मिथ्या परिणाम। वह भी परिणाम वे ही हुए। यह चक्र... संसार चक्र आलम्बी। आहाहा! **राग-द्वेष से फिर स्निग्ध परिणाम,...** ऐसा लिया है। देखो! कर्म से नहीं। यह राग-द्वेष, यह चिकने भाव हैं। **परिणाम से फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म,...** ऐसा वापस चक्र आया। यह परिणाम निमित्त और नये कर्म स्वयं से बँधते हैं। **कर्म से फिर नरकादि गतियों में गमन,...** और चार गतियों में जाना। एक में से दूसरी में।

मुमुक्षु : चक्र में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चक्र में अनादि से पड़ा है। यह बताना है, निगोद से लेकर अनादि से, **गति की प्राप्ति से फिर देह,...** गति मिली तो वहाँ देह होगी ही। **देह से फिर इन्द्रियाँ,...** यहाँ इन्द्रियाँ कहा क्योंकि उसका लक्ष्य तो पर के ऊपर है न? इन्द्रियों से वापस विषय ग्रहण, शुभ-अशुभ... हों! भगवान की वाणी प्रतिमा भी विषय, भगवान भी विषय, हाँ! समवसरण में विराजमान भगवान भी इन्द्रिय का विषय है। वहाँ लक्ष्य जायेगा तो राग होगा। लक्ष्य यहाँ आत्मद्रव्य क्या है, वह तो खबर नहीं।

मुमुक्षु : आत्मा का शरीर में... कहाँ जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ जाये? बाहर जाये। यह तो कहा न बाहर जाये। यह तो

कहते हैं। अन्दर में प्रवेश न करे तो कहाँ जाये? बाहर जाये। यह तो दूसरा सिद्ध हो गया। इन्द्रियों से वापस विषय (ग्रहण), स्त्री, कुटुम्ब का विषय हो या देव-गुरु-शास्त्र की वाणी की मूर्ति या भगवान साक्षात् हो, परन्तु इन इन्द्रियों से वह परद्रव्य देखने में आयेंगे। शुभ-अशुभराग होगा। समझ में आया?

विषयग्रहण से फिर राग-द्वेष, राग-द्वेष से फिर पुनः स्निग्ध परिणाम। लो! चक्र। **इस प्रकार वह अन्योन्य कार्यकारणभूत...** देखो! अन्योन्य कार्यकारणभूत, निमित्त, देखो! नीचे (फुटनोट) है। **कार्य अर्थात् नैमित्तिक और कारण अर्थात् निमित्त।** नीचे फुटनोट है। **जीव परिणामात्मक कर्म और पुद्गलपरिणामात्मक कर्म, जीव परिणामात्मक कर्म,...** जीव के राग-द्वेषरूप परिणामरूपी कार्य और पुद्गल के परिणामरूपी जड़ का कार्य, **परस्पर कार्यकारणभूत अर्थात् नैमित्तिक-निमित्तभूत हैं।** कार्य वह नैमित्तिक और कारण वह निमित्त, **भूत है,...** बस। **वे कर्म किसी जीव को अनादि-अनन्त और किसी को अनादि-सान्त होते हैं।** अब स्पष्टीकरण आयेगा। पाठ में है न, पाठ में।

अभव्य को अनादि अनन्त, भव्य को अनादि सान्त। स्वभाव के ऊपर दृष्टि करेगा, तब उसका स्वयं काम होगा। जब तक कर्म के ऊपर दृष्टि है, तब तक संसारचक्र (चालू रहेगा)। अभव्य को अनादि-अनन्त, भव्य को अनादि सान्त। स्वभाव पर दृष्टि करेगा, तब उसका स्वयं काम होगा। जब तक कर्म के ऊपर दृष्टि है, तब तक संसारचक्र चलेगा।

कार्यकारणभूत जीवपरिणामात्मक... जीव के परिणामस्वरूप और पुद्गल के परिणामस्वरूप **कर्मजाल....** कर्मजाल, देखो! जीव परिणामस्वरूप कर्म और पुद्गल परिणामस्वरूप कर्मजाल है। विकारी परिणाम भी कर्मजाल है, जड़ के परिणाम जड़ की जाल है। **संसारचक्र में जीव को अनादि-अनन्तरूप से...** ऐसे संसारचक्र में जीव को अनादि-अनन्त रूप से अभव्य, **अनादि-सान्तरूप से...** भव्य। **चक्र की भाँति...** चक्र की भाँति। चक्र, किसी का चक्र रुक जाता है, किसी का चक्र चालू ही रहता है, ऐसा का ऐसा। **पुनः-पुनः होते रहते हैं।** लो! **अनादि-सान्तरूप से चक्र की भाँति पुनः-पुनः होते रहते हैं।** भव्य को भी अनादि, जब तक अन्त न आवे, तब तक घूमा करता है।

अभव्य भी घूमता है। भगवान का-तीर्थंकर का आत्मा भी ऐसा का ऐसा अनादि से सान्त घूमा, है अनादि? संसारचक्र... समझ में आया?

देखो! इस कथन की शैली में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कारण-कार्यभाव कहा है। समझ में आया? वह व्यवहारनय का सम्बन्ध बतलाया है। टोडरमलजी कहते हैं न, व्यवहारनय का लक्षण ऐसा है, एक कारण को दूसरे में कार्य बना दे। कारण-कार्य को एक-दूसरे को, एक भाव को दूसरे भाव में; इस प्रकार परस्पर लगा दे, उसका नाम व्यवहार। ऐसी श्रद्धा करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञान करना, परन्तु ऐसा श्रद्धान कर ले कि इस कारण से यह कार्य हुआ, इस कार्य में यह कारण पड़ा, ऐसे एक-दूसरे के कारण बतावे, निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा है। समझ में आया?

व्यवहार आता है न भाई में! टोडरमल (जी)! वह तो व्यवहार अभूत, उसमें से निकालकर सम्बन्ध कहा है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध को ऐसा मान ले कि निमित्त से यहाँ होता है, वहाँ से यहाँ हुआ, ऐसा है ही नहीं, मात्र निमित्त की उपस्थिति ज्ञान कराने के लिये है। ऐसा मान ले कि उससे आत्मा की गति हुई और कर्म आत्मा को गति में ले जाता है। तो वह कारण-कार्य दूसरे को दूसरे में माना, यह मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहाँ से सूझे? यह तो कोई कर्म के कारण यहाँ हो और वहाँ के कारण यहाँ हो कभी अपने में आने की फुर्सत मिले ही नहीं। यह तो अपने कारण से अपने में है, तो अपनी दृष्टि लगा दे, हट जाये विकार। कर्म भी बँधते नहीं, कर्म के कारण बँधते नहीं। समझ में आया? इतना स्पष्ट कर्म का स्पष्टीकरण उन्होंने किया, वह वस्तु की स्थिति बताने के लिये। व्यवहारनय ऐसा है कि पर को कारण-कार्य में मिलाकर कहता है। है या नहीं? उसे तो मिथ्यात्व होता है, यह उनको नहीं बैठता वर्तमान में। गड़बड़... अपनी श्रद्धा नहीं बैठती उन्हें। देखो!

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को तथा कारण-कार्य आदि में किसी को किसी में मिलाकर कथन करता है। इसलिए ऐसे श्रद्धा से मिथ्यात्व है। इसलिए उसका त्याग करना। उस श्रद्धा का त्याग करना। और निश्चयनय उसका यथार्थ

निरूपण करता है, ऐसा किसी का किसी में मिलाता नहीं है, इसलिए वह श्रद्धान सम्यक् होता है। इसलिए ऐसा श्रद्धान करना। निश्चय का श्रद्धान करना, व्यवहार के श्रद्धान में कारण-कार्य लगाकर उसका श्रद्धान छोड़ना। है ऐसा मानना, निमित्त है परन्तु उससे होता है, ऐसा श्रद्धान छोड़ना। २५५ से शुरु है। २५६ में पूरा होता है। बहुत सरस लिया है। यह तो सबमें आया है। शास्त्र की (अर्थ करने की) पद्धति है न उसमें, वाँचन करने की। उसमें आया है। शुरुआत में, शुरुआत में आया है। परद्रव्य का निरूपण। देखो! देखो! श्रद्धान छोड़कर, यह न? यह तो पहले से वहाँ से लिया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तुमको नहीं मिला था न! देखो! व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को, कारण-कार्य में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है। यह तो त्याग, यह तो अपने चलता था वह। वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है। समय हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०, गाथा-१२८-१३०

दिनांक - २५-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण ४, शुक्रवार

यह पंचास्तिकाय के नौ पदार्थ का कथन चलता है। यह आया। देखो! १३० गाथा - टीका की यह अन्तिम तीन लाईनें हैं। **इस प्रकार यहाँ (ऐसा कहा कि), पुद्गलपरिणाम जिनका निमित्त है,...** किसका? जीव के परिणाम में। ऐसे जीव परिणाम। द्रव्य दो हैं। जीव और अजीव। दोनों के परस्पर निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से सात परिणाम उत्पन्न होते हैं। समझ में आया?

इस प्रकार यहाँ ऐसा कहा है कि, आया? इसे नहीं आया है। **पुद्गलपरिणाम जिनका निमित्त है, ऐसे जीवपरिणाम...** उस जीव परिणाम में तो, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, (ऐसी) सात पर्यायें आती हैं। और जीव परिणाम जिनका निमित्त है। पुद्गल के, **ऐसे पुद्गलपरिणाम...** उसमें सात पर्याय है। **अब आगे कहे जानेवाले (पुण्यादि सात) पदार्थों के बीजरूप अवधारना।** पारस्परिक परिणाम के सम्बन्ध उसके बीज उससे सात पर्याय उत्पन्न होती हैं। देखो इसका भावार्थ। इसका भावार्थ है।

जीव और पुद्गल को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप से... जब जीव के परिणाम निमित्त तो पुद्गल के परिणाम नैमित्तिक; पुद्गल के परिणाम निमित्त तो जीव के परिणाम नैमित्तिक **जीव और पुद्गल को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूप से परिणाम होता है। उस परिणाम के कारण पुण्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं,...** वे परिणाम ही पुण्यादि पदार्थ हैं। कहो, समझ में आया? क्या शोभालालभाई? समझ में नहीं आया? कहाँ गये? सेठ आये नहीं? सेठ न आवे न, सेठ को देरी लगती है।

जीव और जड़ दो पदार्थ द्रव्य है। परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में सात पर्याय जीव में और सात पर्याय पुद्गल में उत्पन्न होती है। कहो, समझ में आया? क्या कहा? फिर से, जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य दो पदार्थ हैं, वस्तु। अब वस्तु में जीव के परिणाम में सात पर्याय उत्पन्न होती है। पुण्य परिणाम, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। ये सात परिणाम में पुद्गलपरिणाम निमित्त है और पुद्गल के सात

परिणाम में—द्रव्यपुण्य, द्रव्यपाप, द्रव्यास्रव, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यबन्ध और द्रव्यमोक्ष, उसमें पुद्गल के परिणाम में जीव के परिणाम निमित्त हैं। कहो, अब समझ में आया या नहीं? मांगीरामजी!

मुमुक्षु : निमित्त का कुछ चलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चलता नहीं, ऐसा कहाँ कहा? है। यदि अपने परिणाम होते हैं तो, सद्गुरु को निमित्त कहा जाता है। वह भी यहाँ तो पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध जो है, ये चार विकारी भाव, उनमें पुद्गल के वर्तमान परिणाम निमित्त है। विद्यमान। संवर, निर्जरा, मोक्ष में वे परिणाम अभावरूप निमित्त हैं। समझ में आया? पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध ये जीव में चार परिणाम होते हैं, वह विकार है। कर्म के उदय का निमित्त-वहाँ विद्यमान निमित्त है और यहाँ संवर, निर्जरा, मोक्ष अपनी पर्याय में अपने से होते हैं, तब कर्म के निमित्त का अभावरूप निमित्त।

मुमुक्षु : चार सद्भावरूप, तीन अभावरूप।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन अभावरूप। तीन में, अभावरूप। सूक्ष्म बात! आत्मा में सात परिणाम होते हैं। शुभभाव-अशुभभाव दोनों मिलकर आस्रव। अटकना बन्ध; संवर निर्मल पर्याय; निर्जरा विशेष शुद्ध पर्याय; मोक्ष पूर्ण शुद्ध पर्याय। यह सात परिणाम वह जीव में होते हैं। उसमें पुद्गल का निमित्त विद्यमान, शुभ-अशुभ, आस्रव और बन्ध, उसमें विद्यमान निमित्त है। चार, चार में। और संवर, निर्जरा, मोक्ष में निमित्त का अभाव। उसके अभावरूप निमित्त है। लो! समझ में आया?

द्रव्य अपने-अपने परिणाम का कर्ता है। निमित्त कहना, वह दूसरी कौन चीज़ उपस्थित है, उसका ज्ञान कराना है। सात परिणाम का कर्ता जीव। शुभ, अशुभ, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, सात पर्याय का कर्ता आत्मा—जीव। और पुद्गलपरिणाम में द्रव्य आस्रव, द्रव्यबन्ध, द्रव्यपुण्य, द्रव्यपाप और द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यमोक्ष। उसके परिणाम को करनेवाला पुद्गल। अमरचन्दभाई! क्या है? देखो! यह नौ तत्त्व की बात चलती है। नौ पदार्थ लिखा है न? **नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग प्रपंचक वर्णन...** है। प्रपंच का अर्थ विस्तार। समझ में आया? १५४ गाथा से अपने लिया था। यह तो पहले नौ पदार्थ का बीच में से छोड़ दिया था। देखो भावार्थ।

जीव और पुद्गल को... पुद्गल अर्थात् यहाँ अकेले कर्म पुद्गल लेना। दूसरे पुद्गल को नहीं लेना। **जीव और पुद्गल को परस्पर...** परस्पर **निमित्त-नैमित्तिकरूप से परिणाम होता है।** निमित्त-नैमित्तिकरूप से परिणाम; कर्ता-कर्म से नहीं। जीव परिणाम कर्ता और पुद्गल में कार्य, पुद्गलपरिणाम कर्ता और जीव परिणाम में कार्य— ऐसा नहीं। कर्ता-कर्म भिन्न चीज़ है और निमित्त-नैमित्तिक भिन्न चीज़ है।

मुमुक्षु : परिणाम पर्याय।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणाम कहो या पर्याय कहो, इतनी खबर नहीं? परिणाम कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो, दशा कहो, वर्तमान भाव कहो, सबका एक अर्थ है। समझ में आया? यह तो अभी नौ तत्त्व की बात चलती है और नौ किसे कहते हैं? हें? वहाँ आगे अभी बाधामण्डल! बाधामण्डल अर्थात् क्या है? अभी जो नौ तत्त्व मूल बात! पहली साधारण। उसमें जीव और जड़ दो द्रव्य है, पदार्थ। उनके परिणाम, पर्याय, अवस्था, दशा सब एक अर्थ में है। जड़ में भी परिणाम होते हैं, चैतन्य में भी (परिणाम) होते हैं। क्योंकि पर्याय को यहाँ परिणाम कहा गया है। परिणाम को पर्याय और पर्याय को परिणाम कहो, वह एक ही बात है। भाव कहो, वर्तमान परिणाम कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो, सब एक ही बात है। तो जीव में, जीवद्रव्य है, वस्तु ध्रुव, उसमें चार परिणाम विकारी होते हैं। शुभ-अशुभ, आस्रव और बन्ध। (तथा) संवर, निर्जरा, मोक्ष अविकारी परिणाम होते हैं। सात। कर्म में सात होते हैं। यहाँ शुभभाव उसमें निमित्त हुआ तो द्रव्यपुण्य अथवा नया पुण्य आया। नया पुण्य आया, वह द्रव्यपुण्य, द्रव्यपाप, द्रव्य आस्रव - रजकण आते हैं, द्रव्यबन्ध और संवर, निर्जरा यहाँ आती है तो उसके कारण रजकण उदय में आये नहीं, रुक जाये अथवा आस्रव नहीं, उसे कहते हैं कि द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा कर्म के रजकण खिर गये, वह द्रव्यनिर्जरा। पूर्णरूप से कर्म खिर गये, वह मोक्ष। यह सात पर्याय परिणाम पुद्गल में होते हैं। और सात परिणाम पर्याय जीव में होते हैं। परस्पर निमित्त-निमित्त सम्बन्ध; कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। समझ में आया?

जीव और पुद्गल को परस्पर... परस्पर। **निमित्त-नैमित्तिकरूप से परिणाम होता है। उस परिणाम के कारण...** पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षपदार्थ उत्पन्न होते हैं। **उस परिणाम के कारण उत्पन्न...** अर्थात् कि परिणाम स्वयं ही पदार्थ है।

जिनका वर्णन आगे की गाथाओं में किया जायेगा। बाद में आयेगा। जीव-अजीव आये। अब पुण्य-पाप पदार्थ १३१ गाथा से शुरु होंगे।

अब जरा अन्दर जयसेनाचार्य की टीका में से प्रश्न लिये हैं। प्रश्न। कहो, सेठ! समझ में आया? लो! क्या समझ में आया (कहे) तो जवाब देना पड़ेगा। शोभालालभाई! जवाब देना पड़ेगा। सेठ! हाँ करने में भी जवाबदारी है न? दो पदार्थ हैं, द्रव्य—अनादि अनन्त। जीव और जड़। अभी यहाँ पुद्गल परमाणु की बात लेनी है न? द्रव्य है, तो पारस्परिक अपने परिणाम जीव में सात प्रकार के होते हैं, तब पुद्गलकर्म को निमित्त कहा जाता है और पुद्गल में सात परिणाम होते हैं। जड़ में जड़ के कारण से पर्याय (होती है), उसमें जीव के परिणाम को निमित्त कहा जाता है। कर्ता कर्म कोई नहीं।

मुमुक्षु : परस्पर उपकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपकार करे, यह कहाँ से आया? उपकार का अर्थ यह तो निमित्त है, उसका नाम उपकार। निमित्त है, उसका नाम उपकार कहा जाता है। उपकार कौन करे और अपकार कौन करे? कहो, समझ में आया? अब देखो! टोडरमलजी ने नौ पदार्थ और मोक्षमार्ग यहाँ से विशेष खास लिये हैं। कितनी ही बात अन्यत्र से ली है। उसमें प्रयोजनभूत नौ तत्त्व कहते हैं न? हाँ, प्रयोजनभूत शब्द यहाँ से लिया है। यह जयसेनाचार्य की टीका में से। प्रयोजनभूत ऐसा शब्द कहाँ से आया? यहाँ से लिया है, जयसेनाचार्य की टीका में से।

प्रश्नः-पुण्यादि सात पदार्थों का प्रयोजन जीव और अजीव इन दो से ही पूरा हो जाता है,... शिष्य का प्रश्न है। भगवान! पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये सात पर्यायें। सात पर्याय कहो या पदार्थ कहो, अवस्था कहो, भाव कहो। समझ में आया? एक समय की पर्याय को पदार्थ भी कहते हैं। तद्अर्थ शब्द बोलते हैं, ऐसा वहाँ है न? वहाँ भाव है न भाव! संवर। यह शब्द था। संवर पर्याय है या नहीं? वस्तु है या नहीं? और सातों को पदार्थ कहते हैं। पदार्थ कोई द्रव्य को ही कहते हैं, ऐसा नहीं है। पर्याय को भी पदार्थ कहते हैं। नौ पदार्थ हैं या नहीं? सात तो पर्याय है। पर्याय को भी यहाँ पदार्थ कहा गया है। अनादि से चलता है। यह कोई नयी बात नहीं है। नौ पदार्थ हैं न? देखो, ऊपर। **नौ पदार्थ पूर्वक मोक्षमार्ग प्रपंच वर्णन।**

पुण्यादि सात पदार्थों का... देखो! शुभभाव भी पुण्यपदार्थ, अशुभभाव पापपदार्थ। दो होकर आस्रवपदार्थ, रुक जाना अबन्धस्वभावी, वहाँ राग में रुक जाये वह भावबन्धपदार्थ और शुद्धि का होना वह संवर पर्यायरूप पदार्थ। शुद्धि की वृद्धि होना, वह शुद्धरूप पर्यायरूप पदार्थ और पूर्ण शुद्धि होना, वह मोक्षरूप पदार्थ। समझ में आया? सम्प्रदाय में जन्मे परन्तु सम्प्रदाय क्या, वह खबर नहीं। शोभालालभाई! इन सेठियाओं को भी खबर नहीं, उनको भी खबर नहीं। इन सेठियाओं को तो सामने बैठानेवाले हैं। आओ... आओ... आओ...! सामने बैठो। (परन्तु) समझते क्या हैं? कुछ नहीं।

मुमुक्षु : समझने के लिये तो आगे बैठे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगे बैठे तो अभी तक क्या किया? दिगम्बरधर्म में जन्म लिया और चलती नहीं? समझ में आया? जीव और पुद्गल में सात पदार्थों का प्रयोजन। शिष्य पूछता है। जीव-अजीव दो से ही पूरा हो जाता है। दो द्रव्य से दूसरी चीज़ सात पदार्थ है नहीं। दो की अवस्था है। तो दो कहने में सात आ जाते हैं। सात से कहाँ प्रयोजन की आवश्यकता है, ऐसा शिष्य का प्रश्न है। दो में आ जाते हैं। दो के अतिरिक्त कोई तीसरी चीज़ जीव और जड़ दो के परिणाम हैं (तो) दो में आ गया।

सात परिणाम दो से भिन्न ऐसे नौ का करना तो सात से क्या प्रयोजन है? सात पर्याय का। पर्याय तो द्रव्य की है। जीव की पर्याय सात और जड़ की पर्याय सात, वह तो पर्याय है, अवस्था है। द्रव्य कहीं दूसरा नहीं है।

मुमुक्षु : आस्रव बन्ध निर्जरा क्रिया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रिया है। पर्याय कहो या क्रिया कहो। राग, आस्रव-बन्ध राग की क्रिया है। राग की क्रिया कहो, या रागपदार्थ कहो या रागपर्याय कहो या रागपरिणाम कहो या राग अवस्था कहो।

मुमुक्षु : पदार्थ.....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये तो यह बात ठीक खुली। पर्याय को यहाँ पदार्थ कहते हैं। वहाँ कहा नहीं? देखो! थोड़ी देर लगेगी। है नहीं न! थोड़ी देर लगेगी। देखो!

आया है न भाई! प्रश्न देखो।

पुण्यादि सात पदार्थों का... देखो! पुण्यादि सात पदार्थ। उन्हें पदार्थ कहते हैं। अभी अर्थ किया न? पद शब्द का अर्थ उसमें है। संवर शब्द अर्थ, वह पर्याय है। निर्जरा शब्द शुद्धि, वह पर्याय है। पर्याय को पदार्थ कहते हैं। द्रव्य को भी पदार्थ कहते हैं और पर्याय को भी पदार्थ कहते हैं। तीनों को पदार्थ (कहते हैं)। तीनों को भाव कहते हैं, पर्याय कहते हैं, अवस्था कहते हैं। द्रव्य को भी अवस्था और पर्याय को भी अवस्था। यहाँ अवस्था साथ में है, उसे पदार्थ कहते हैं।

नौ पदार्थ किसे कहते हैं? नौ तो नाम सुना है या नहीं? नौ तत्त्व। तो नौ तत्त्व में सात तो पर्याय आयी, जीव और अजीव दो द्रव्य आये। सात तो पर्याय आयी। एक समय की पर्याय है। विकारी पर्याय वह क्रिया है। राग की क्रिया, वह आस्रव, पुण्य-पाप की क्रिया वह पर्याय, वह पदार्थ। संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय वह क्रिया। वह शुद्ध पदार्थ। शुद्ध पर्याय, पदार्थ। समझ में आया?

मुमुक्षु : भाववान और भाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : दो पदार्थ हैं। पर्याय पदार्थ है या नहीं? एक समय की अवस्था है। और एक समय की अवस्था में भी अनन्त-अनन्त धर्म स्वभाव भरा है। उस पर्याय में भी अनन्त स्वभाव भरा है। अपनी पर्याय से, दूसरी पर्याय से नहीं, द्रव्य-गुण से नहीं। एक पर्याय में अनन्त सप्तभंगी उठती है। अमरचन्दभाई! एक पर्याय में अनन्त सप्तभंगी उठती है। अनन्त द्रव्य से पर्याय नहीं, अनन्त गुण से पर्याय नहीं, दूसरी पर्याय से नहीं, वर्तमान पर्याय अनन्त है, उसमें एक-एक पर्याय दूसरी पर्याय से नहीं है। अस्ति-नास्ति ऐसी अनन्त सप्तभंगी। पदार्थ, पर्याय, वस्तु है न? शाश्वत् नहीं परन्तु एक समय का सत् है या नहीं? सत् है, कोई असत् चीज़ नहीं है।

यह तो भाई ने पूछा न कि पदार्थ क्या? तो पदार्थ सिद्ध किये। एक समय की पर्याय, पदार्थ क्या कि उसमें अनन्त धर्म है। एक समय की पर्याय में अनन्त-अनन्त शक्ति है। स्वयं से है, पर से नहीं, द्रव्य से नहीं, गुण से नहीं, दूसरी पर्याय से नहीं। ऐसा अस्तिधर्म, उसमें अनन्त है। पर्याय ऐसी। समझ में आया? अभी यह बात चलती नहीं। बाहर से या लोक सेवा और यह बात चलेगी, अथवा यह बाह्य क्रिया भक्ति, पूजा करना

और व्रत, नियम ले लेना। परन्तु क्या चीज़ है? व्रत क्या है, पूजा क्या है? किसकी पर्याय है? कहाँ उत्पन्न होती है? कौन उसमें निमित्त है? कितने काल वह पर्याय रहती है? द्रव्य कितने काल रहता है?—(इसकी कुछ) खबर नहीं। चलो अन्धदौड़ से, दिखानेवाला अन्धा और चलनेवाला भी अन्धा। पलाय, चलो।

मुमुक्षु : एक बार प्रश्न तो ऐसा रखा था कि...

पूज्य गुरुदेवश्री : धीरे-धीरे उल्टे रास्ते है। यह रास्ता नहीं। रास्ता यह नहीं। कोई राग मन्द हो उसमें, परन्तु उसकी भी इसे खबर नहीं कि राग मन्द हो तो भी शुभभाव कहा जाता है। उसे तो ऐसा कि यह शरीर में आहार दो दिन नहीं किया तो हमारे निर्जरा हो गयी। तेरा काल गया। निर्जरा कहाँ से आयी? समझ में आया? अपवास-बपवास करते हैं या नहीं?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बेकारी थी। गयी कहाँ से? बेकार नहीं थी और बेकार हुए, ऐसा नहीं। सेठी!

नौ पदार्थ, देखो! ऊपर नाम है। **नौ पदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग प्रपंच वर्णन।** यह उसमें से मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में बहुत अधिकार लिये हैं। एक शब्द भी उनके घर का नहीं है। टोडरमलजी ने शास्त्र का सामान्य थोड़ी बात का विशेष स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने लिखा है, किसी जगह सामान्य अथवा विशेष कहूँगा। बाकी तो मैं शास्त्र की ही बात करता हूँ। हमारे घर की कोई (बात नहीं)। पंचास्तिकाय में से नौ पदार्थ लिये हैं और मोक्षमार्ग यहाँ से लिया है। निश्चय-व्यवहार। समझे?

कितने ही पुष्टि करने के लिये अन्यत्र से लिये हैं, प्रवचनसार, समयसार,... लोग-स्वयं से कोई दूसरा बड़ा हो जाये और हम पण्डित हैं और हम रह जायें? नहीं, जाओ, वे अप्रमाणिक हैं (ऐसा कहे)। अरे! कोई भी आठ वर्ष का बालक हो और यथार्थ बात कहे तो वह प्रमाण है। सम्यग्दृष्टि बालक हो सम्यग्दृष्टि। आठ वर्ष का बालक क्या, आठ वर्ष की लड़की हो। बात करे अन्दर की कि मार्ग ऐसा है। उसका वचन प्रमाण है। समझ में आया?

सम्यग्ज्ञानी का वचन प्रमाण है। आठ वर्ष की लड़की है और हम सौ-सौ वर्ष के हैं और हम बड़े-बड़े करोड़पति हैं। तो ऐसा वहाँ नहीं चलता। आठ वर्ष की लड़की पिताजी को कहे, पिताजी! तुम खोटा करते हो। क्यों बहिन? तुम राग से धर्म मानते हो, वह तो विकल्प है। निर्विकल्प (वस्तु है), मानना पड़ेगा। ऐसा नहीं कि हम अस्सी वर्ष के हो गये और यह बड़े-बड़े विद्वान हो गये तो मेरी भूल निकालते हैं? अरे! भूल तो ढेढ-हरिजन भी निकाले। उसमें क्या? समझ में आया? वह तो स्वीकार करना पड़े न? उसमें क्या?

पुण्यादि सात पदार्थों का... लो! सात पदार्थ। ऊपर नौ पदार्थ कहते हैं न? जीव-अजीव तो दो द्रव्य पदार्थ हैं, सात पर्याय पदार्थ हैं। दो द्रव्य पदार्थ हैं, सात पर्याय पयार्थ हैं। पर्याय पदार्थ कहो या परिणामरूपी पदार्थ कहो। कहो, समझ में आया? यह **प्रयोजन,...** शिष्य का प्रश्न है, हों! **जीव और अजीव इन दो से ही पूरा हो जाता है, क्योंकि वे जीव और अजीव की ही पर्यायें हैं।** जीव और अजीव की ही पर्याय है। दूसरे की नहीं। **तो फिर वे सात पदार्थ किसलिए कहे जा रहे हैं?** शिष्य का प्रश्न है। वह सात पर्याय तो जीव की ही है। जीव-अजीव की ही है। कोई दूसरी चीज़ नहीं (कि) कोई तीसरा द्रव्य है। **तो सात पदार्थ किसलिए कहे जा रहे हैं?** ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आचार्य ने सामनेवाले का स्पष्टीकरण करने के लिये प्रश्न शिष्य के मुख में लिया।

उत्तर - भव्यों को... देखो! भव्यों को। अभव्य को नहीं। भव्यों को बात समझायी जाती है न? अभव्य को समझ में आती नहीं। पहले से (भव्यों को) शब्द लिया है।

भव्यों को.... लायक जीवों को, **हेय तत्त्व और उपादेय तत्त्व...** देखो! **(अर्थात् हेय और उपादेय तत्त्वों का स्वरूप तथा उनके कारण) दर्शाने के हेतु...** उनका कथन है। भव्यों को छोड़नेयोग्य क्या, आदरनेयोग्य क्या अर्थात् उपादेय क्या और हेय क्या, (यह) दर्शाने के लिये और उनके कारण दर्शाने के लिये, हेय का कारण कौन और उपादेय का कारण कौन?

हेय-उपादेय का स्वरूप क्या? और हेय-उपादेय का कारण क्या? समझ में आया? **दर्शाने के हेतु...** उनका कथन है। अब सिद्धान्त लिया। **दुःख वह हेय तत्त्व है,...** देखो! समझो। दुःख, वह हेयतत्त्व है। प्राणी को दुःख छोड़नेयोग्य चीज़ है। दुःख।

आत्मा की पर्याय में दुःख, आकुलता। दुःख, वह हेयतत्त्व है, छोड़नेयोग्य है। लोगों को दुःख नहीं चाहिए। सुख चाहिए। (दुःख), वह हेयतत्त्व हो गया। अपनी पर्याय में जो आकुलता उत्पन्न होती है, वह दुःख है, हेयतत्त्व है। **उसका कारण संसार है,...** दुःख वह हेय और उसका कारण संसार। देखो! कहा था न, **तत्त्वों का स्वरूप तथा उनके कारण...** कोष्ठक में लिया है। समझ में आया? **उसका कारण संसार है,...** उस दुःख का कारण वह संसरणं दशा है।

संसार का कारण आस्रव और बन्ध दो हैं... यह संसशरणं—भटकने का भाव, उसका कारण पुण्य-पापरूपी आस्रव। अबन्ध भगवान राग में रुक जाता है, वही आस्रव और बन्ध ही संसार का कारण है। कहो, समझ में आया? तीन ओर से बात ली है। दुःख तो हेयतत्त्व है। एक बात। उसका कारण संसार। उसका अर्थ यह संसरणदशा, आत्मा में जो संसरणदशा है, वह दुःख का कारण है। और संसार का कारण वही आस्रव और बन्धभाव है। दोनों पर्याय है। पुण्य-पाप की पर्याय, वह आस्रव दुःखरूप है। संसार है, हेय है। और बन्ध। आत्मा अबन्धस्वभावी राग में रुक जाता है, उतना बन्ध। वह आस्रव-बन्ध ही संसार का कारण है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : पुण्य-पाप से तो आस्रव-बन्ध होता है, यहाँ पुण्य-पाप...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आ गया न! आ गया। आस्रव और बन्ध में पुण्य-पाप आ गया। यह है, देखो! **(अथवा विस्तारपूर्वक कहे तो पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध चार हैं)...** सात में लो तो आस्रव में पुण्य-पाप आ गया। नौ (पदार्थ) में लो तो विस्तार में चार आ गये। पाँच पर्याय लो, दो द्रव्य और पाँच पर्याय—आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। वह पाँच होती है। विस्तार करो तो आस्रव में से पुण्य-पाप दूसरे दो पुण्य-पाप, सात पर्यायें हो गयीं। सात हो गयीं। समझ में आया?

बहुत सरस अधिकार है। जयसेनाचार्य ने बहुत सरस बात की है। भाई! तुझे दुःख चाहिए? तो कहे, नहीं। दुःख कहाँ है, वह तुझे खबर नहीं परन्तु दुःख चाहिए है? तो कहे, नहीं। तो दुःख हेय है। दुःख छोड़नेयोग्य है। दुःख का कारण संसरणदशा है। स्वभाव में से निकलकर संसरण-विकार परिणाम में (जाना), वह संसार है। वह संसार दुःख का कारण है। और वही संसार आस्रव-बन्ध का कारण संसार है। समझ

में आया? **(अथवा विस्तारपूर्वक कहे तो पुण्य, पाप, आस्त्रव और बन्ध चार हैं)...** संसार का कारण। लो! संसार का कारण पुण्यपरिणाम है। वह विकारी संसरणदशा है न?

मुमुक्षु : है तो सही परन्तु! जोर चलता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से अज्ञानी का जोर चला आता है। हेय है, दु:खरूप है, संसाररूप है, उसके कारणरूप है, इतना तो सिद्ध किया। पुण्यपरिणाम हेयरूप है। क्योंकि दु:खरूप है। वह संसार का कारण संसरण है। संसार का कारण शुभभाव है, आस्त्रवभाव है। वर्तमान में चलता है। दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प है, वह धर्म है। (ऐसा लोग मानते हैं)। खबर नहीं होती। व्यवहारधर्म तो जिसे निश्चयधर्म होता है, उसे शुभभाव में व्यवहारधर्म का आरोप किया जाता है। निश्चय से तो वह धर्म नहीं है। निश्चय से तो अधर्म है।

मुमुक्षु : पूरा फेरफार है। सोनगढ़ का है, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ का होगा? आत्मावलोकन में स्पष्ट कहा है, मिश्र धर्म में ऐसे श्रावकों को अधर्म और धर्म दो है, ऐसी बात ली है। पाठ में ली है, अधम्म। पंचाध्यायी में लिया है। संवर, निर्जरा के अतिरिक्त भाव रहता है, वह अधर्म है। उसमें क्या है? समझ में आया? पहले (संवत्) १९८५ के वर्ष में सभा में कहा था—जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव धर्म नहीं है। धर्म से बन्ध नहीं है। तब क्या? धर्म विरुद्ध है। उसमें समझ लो न? ८५ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? ३५। बोटाद में बड़ी सभा थी। बोटाद के सम्प्रदाय में थे न? हमारा नाम बहुत ही प्रसिद्ध था न? हम व्याख्यान करने बैठें तो लोग चींटियों की तरह आते थे। चींटियाँ। बहुत ही लोग। ८५ के वर्ष पौष माह। बहुत ही लोग पूरा भरचक। व्याख्यान में आवे तो खिड़की है न खिड़की—बाहर पूरी गली भर जाती थी। नाम तो बहुत ही प्रसिद्ध था न? हम तो, पहले से... उसमें दो नामधारी साधु बैठे थे। उसमें हमने कहा कि जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव धर्म नहीं है। धर्म से विरुद्ध है। धर्म से बन्ध नहीं होता। और जिस भाव से बन्ध होता है, वह धर्म नहीं है। तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : कल्याण तो हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कल्याण उससे होगा? या राग का अभाव करने से कल्याण होता है।

मुमुक्षु : बन्ध में लाभ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध में बिल्कुल लाभ नहीं होता। वह यहाँ कहेंगे। परम्परा.... पुण्य से बिल्कुल तीर्थंकरगोत्र का बन्ध पड़ा है, वह तो जड़ प्रकृति है। क्या उससे आत्मा का कल्याण होता है? सेठ! निर्णय करना पड़ेगा। अभी तक बहुत ही गप्प चलायी है। प्रकृति जड़ है। क्या अजीव प्रकृति आत्मा को शान्ति देती है? जिस भाव से प्रकृति बँधती है, वह शुभभाव तो राग है। राग वीतरागभाव का कारण होता है? केवलज्ञान का कारण होता है? ...नन्दजी! हें... खलबलाहट हो गयी! खड़े हो गये, भाग गये। वोसरे... वोसरे... भाग गये। सभा तो बड़ी थी। ऐसा कि ऐसा सत्य का मार्ग नहीं चाहिए। हमें यह बात रुचती नहीं। ८५ में।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके बिना जरा बैठे नहीं। धर्म नहीं। धर्म है, वह आत्मा की शान्ति का कारण है। धर्म बन्ध का कारण होता ही नहीं। धर्म बन्ध का कारण हो तो मोक्ष कब होगा? और बन्ध का कारण है तो धर्म कहाँ से होगा? बन्ध का कारण बन्धरूप है। मोक्ष का कारण मोक्षरूप है।

मुमुक्षु : मीठी जबान....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें मीठी जीभ क्या है? बात समझने में मिठास है, नहीं समझने में अज्ञान है। कहो, समझ में आया? और इसका कारण, अब देखो! उसका कारण। किसका? आस्रव और बन्ध का। कितना भेद लिया! एक तो दुःख हेय है, एक बात। दुःख हेय है, **उसका कारण संसार है,...** विकार, संसरण दशा, उसका कारण आस्रव-बन्ध है और उसका कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र है। चार स्पष्ट बात ली है। समझ में आया?

आत्मा आनन्दमूर्ति है। आत्मा का स्वभाव तो अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है। उसे भूलकर पर्याय में आनन्द से उल्टी विकारी दशा दुःखरूप है। उसका स्वभाव तो सच्चिदानन्द

आनन्द है। पर्याय में आनन्द से उल्टी दशा दुःख है, आकुलता है। उस आकुलता का कारण संसरण दशा है। उस संसरण का कारण आस्रव और बन्धभाव है। आस्रव-बन्ध का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। एक बात को चार में लगाया। समझ में आया?

वास्तव में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, वह दुःख है। लो! मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, वही दुःख है।

मुमुक्षु : ....आस्रव कम....

पूज्य गुरुदेवश्री : हें? आस्रव तो उसमें कम हुए हैं। यहाँ कहाँ आया? यहाँ कहाँ आया? आत्मा में आया? वह तो रजकण... जड़ में। आत्मा में क्या है? जड़ की पर्याय हुई। भाव न करे अर्थात् क्या? ....परमाणु में आनेवाली ताकत नहीं थी। उसमें कहाँ आया? वह तो उसके कारण से नहीं आये। आत्मा ने भाव नहीं किये, तो रुक गये? ऐसा नहीं है। उसके कारण से आनेवाले नहीं थे, उसे द्रव्यास्रव से रुके, ऐसा कहा जाता है। ओहोहो! देखो! पूरा संसार दुःख को हितकर नहीं मानता। यह तो बराबर है। तो दुःख कहाँ है, इसकी खबर नहीं। संयोग में निर्धनपना मानता है। ऐसा दरिद्रपना... जिसमें आनन्द है, उसकी दशा में ही दुःख है। दुःख नहीं संयोग में, दुःख नहीं स्वभाव में। दुःख उसकी पर्याय में (होता) विपरीत भाव है। विपरीत पर्याय है, उसका नाम दुःख है। पर में दुःख नहीं, स्वभाव में दुःख नहीं। पर में सुख नहीं, स्वभाव सुख से खाली नहीं।

आनन्द-इस आनन्दस्वभाव को उल्टा माना, वह पुण्यपरिणाम, पापपरिणाम वही मैं, उतना ही मैं, वही मेरा कार्य, वही मेरा सर्वस्व अधिकार तो वही भाव दुःखरूप है। उस दुःखरूप को यहाँ संसार कहा। उस संसार का कारण पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध कहा। वही बन्ध का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। जो परविषय करके, स्वविषय को छोड़कर, पुण्य-पाप को विषय बनाकर, वही मैं हूँ—ऐसी मिथ्याश्रद्धा, उसका ज्ञान करना, स्व का ज्ञान छोड़ना - मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष में एकाकार होना, वह मिथ्याचारित्र है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र ही आस्रव-बन्ध है, संसार है, दुःख है, इसलिए वह हेय है।

स्त्री, पुत्र छोड़ना है? वे तो छूटे ही पड़े हैं। वे अन्दर में कहाँ घुस गये हैं? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। मिथ्याचार तो यह कि जो अपने स्वभाव में नहीं, उसे अपना मानना और अपना स्वभाव श्रद्धा में भूल जाना, इसका नाम मिथ्यादर्शन। पुण्य और पाप का भाव अपने स्वभाव में नहीं है, उसे अपना मानना, वह मिथ्यादर्शन है। उसका पूरा स्वभाव विषय करनेयोग्य है, वह विषय छोड़कर जिस ज्ञान ने अकेले राग-द्वेष को विषय किया (तो वह) मिथ्याज्ञान है। और पूरे स्वभाव में तो विकल्प है नहीं। पुण्य-पाप उत्पन्न हुए और वही आचरण किया, वह मिथ्याचारित्र है।

मुमुक्षु : मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं बदलते। फिर से कहो, ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा अपना नित्यानन्द प्रभु, उसकी स्वविषय करके प्रतीति करे तो सम्यग्दर्शन। उसका विषय छोड़कर पुण्य-पाप का विषय करके, वही मैं हूँ, वही। पर की बात एक ओर रखो। उसका नाम मिथ्यादर्शन और ज्ञान की पर्याय स्वविषय न करके अकेले पुण्य-पाप को ज्ञेय करके ज्ञान रुक गया, उसका नाम मिथ्याज्ञान और पुण्य-पाप के विकल्प स्वरूप में हैं नहीं। उसके विपरीत भाव करके, उसका आचरण करना, वर्तन करना, लीन होना, वेदन करना, इसका नाम मिथ्याचारित्र है। समझ में आया? लो! यह एक बात की। दुःख की। हेय कहा। दुःख हेय है और संसारपरिणाम भी हेय है। और उसके पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध भी हेय है और उनका कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, वह भी हेय है। समझ में आया?

अब **सुख वह उपादेय तत्त्व है,...** आनन्द, वह आदरणीय है। समझ में आया? उस आनन्द की पर्याय प्रगट करना, वह उपादेय है। आनन्द—लोग आनन्द ही चाहते हैं या नहीं? पूर्ण आनन्द-अनाकुल शान्ति, पूर्ण शान्ति वह सुख, वही उपादेय है। हेय करनेयोग्य है, इसलिए उसे दुःखरूप है, हेय करनेयोग्य, व्यय करनेयोग्य, इसलिए उसे हेय कहा। समझ में आया? उत्पन्न करनेयोग्य है, इसलिए उसे उपादेय कहा। क्या उत्पन्न करना है? पूर्ण आनन्द। आनन्द उत्पन्न करना, वह उपादेय है। सुख, वह उपादेय तत्त्व है।

उसका कारण मोक्ष है,... मोक्ष में ही सुख है। दूसरे में सुख है नहीं। संसारपरिणाम

दु:ख, मोक्षपरिणाम सुख। समझ में आया? **मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है...** मोक्ष का उपाय संवर और निर्जरा। शुद्धस्वभाव, वह तो उपादेय है ही। परन्तु पूर्ण शुद्ध प्रगट करना है, तो उपादेय है। अंगीकार करनेयोग्य है। उत्पन्न करके अंगीकार करनेयोग्य है। दु:ख, राग-द्वेष, पुण्य-पाप व्यय करनेयोग्य है, इसलिए हेय है। उत्पन्न करनेयोग्य है, इसलिए उपादेय है। **मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है...** देखो! संवर और निर्जरा मोक्ष का कारण है। आस्रव और पुण्य-पाप भाव, बन्ध का कारण है, हेय है। यह उपादेय। **और उनका कारण...** संवर, निर्जरा का कारण **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बिना संवर-निर्जरा नहीं होती। समझ में आया? और क्या संवर-निर्जरा का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहार है? समझ में आया? संवर, निर्जरा का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय है।

मुमुक्षु : बारहवें गुणस्थान में।

पूज्य गुरुदेवश्री : बारहवें गुणस्थान में, वह तो पूर्ण की बात है। यहाँ तो चौथे (गुणस्थान) से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अंश उत्पन्न होता है। चौथे से तीन का अंश उत्पन्न होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र की व्याख्या ही अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न? स्वस्वभाव पूर्णानन्द प्रभु, उसका विषय करके, अनुभव करके प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन और उसका वेदन करना, वह ज्ञान। और उसका विषय करके ज्ञान करना वह सम्यग्ज्ञान और उसके विषय में लीन होना - द्रव्य में लीन होना, वह चारित्र। गजब बात! यह तो अभी नौ पदार्थ की बात चलती है। अभी मूल एकड़ा की!

मुमुक्षु : एकड़ा ही सीखनेवाले हैं साहिब!

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी एकड़ा सीखनेवाले हैं? ७६-७७ वर्ष हुए न? सच्ची बात है। सेठी को ७७ वर्ष चलता है। ७७ न? शरीर को चलता है न? आत्मा को क्या है? कहाँ तुम जयपुर के! तुमको बड़ा खानदान कहते हैं। उन्होंने ऐसा सुना नहीं। यह

बात चलती ही नहीं थी। बाहर की बात—यह ऐसा करो और ऐसा करो। ऐ... भगवान की प्रतिमा को नहाये बिना छूते नहीं। ऐसा करते नहीं। जय भगवान! परन्तु क्या है अब? एक बार हम गये न, हम ऊपर चढ़े भगवान-ऐ... छूते नहीं। क्या है परन्तु अब तुझे? झगड़ा.... झगड़ा... झगड़ा... ऐसा कि स्नान किये बिना छूआ नहीं जाता। सुन न! तेरी अपेक्षा भी हम अधिक स्नान करते हैं। वापस ऐसे के ऐसे! आहाहा! झगड़ा! मूर्ति के और पूजा के झगड़े। वह तो एक शुभभाव होता है, वहाँ मूर्ति, पूजा इत्यादि निमित्तरूप से आते हैं। समझ में आया? परन्तु उसमें झगड़ा! हम बड़े भगत हैं। देखो! ऐसे। नहा-धोकर आवे उसमें क्लेश किसलिए करता है?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। यह तो हम ऊपर चढ़े न, है न मन्दिर में कोई खड्गासन भगवान ऊपर है, कोई मन्दिर में। तो हम ओटला के ऊपर चढ़े। ओटला समझते हो? वेदी में चढ़े। आगे भगवान थे इसलिए। अरे! छूते नहीं, खड़े रहना। अरे! कहा, ऐसे के ऐसे। कुछ भान नहीं होता, क्रियाकाण्ड न अकेला, मूर्ति की पूजा करे और कहे कि हम भगत हैं। और उसे बराबर ऐसा कि विवेक से (करते हैं)। क्लेश... क्लेश... क्लेश।

मोक्ष का कारण संवर और निर्जरा है... संवर-निर्जरा का अर्थ शुद्धपर्याय प्रगट करना और शुद्धि में वृद्धि होना, इसका नाम निर्जरा। **और उनका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।** देखो! मोक्षमार्ग आ गया। यह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संवर-निर्जरा का कारण है? ....यह तो कहे, देखो! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संवर-निर्जरा का कारण है, सातवें गुणस्थान तक। भाई! गजब किया है न? कोई पूछनेवाला नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने ऊपर घात करता है, उसे खबर नहीं। देखो! अब आचार्यदेव स्पष्टीकरण करते हैं। **यह प्रयोजनभूत बात भव्य जीवों को...** देखो! यह शब्द आया। शिष्य ने प्रश्न किया था कि प्रयोजन तो दो से चलेगा। सात से क्या?—सात

तो उसकी पर्याय है। तो कहे, नहीं। यह दु:ख बतलाना है, दु:ख हेय कराना है। दु:ख का कारण संसार है, संसार का कारण पुण्य-पाप आस्रव-बन्ध है। उसका कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। मिथ्या। इस कारण सात पर्याय प्रयोजनभूत है। (वह) बतलाना चाहिए। इसके बिना यह समझ नहीं सकता। कहो, समझ में आया?

यह प्रयोजनभूत बात... देखो! अब आचार्यदेव स्वयं कहते हैं। वह तो शिष्य के मुख में प्रश्न स्वयं रखा है न? **यह प्रयोजनभूत बात भव्य जीवों को प्रगटरूप से दर्शाने के हेतु...** प्रगट यह शुभभाव, यह आस्रव, यह बन्ध, यह संवर, यह निर्जरा, यह मोक्ष। पर्याय ख्याल में आ जाये। इस कारण वह प्रयोजनभूत है। सात पर्यायसहित दोनों द्रव्य प्रयोजनभूत है। देखो न! यहाँ उसे प्रयोजनभूत कहा न? श्वेताम्बर प्रयोजनभूत नहीं कहते। नौ को मानो (परन्तु) प्रयोजनभूत है, उसका नहीं कहते। यह इसमें से लिया है। प्रयोजनभूत क्या है? (यह कहा है)। अकेले घट को जाना और घट लाल है और पीला है और काला है और अमुक है। उसमें क्या आया? प्रयोजनभूत अजीव क्या है? अपने सम्बन्ध में निमित्त, पर्याय क्या है? राग। उसमें क्या होता है - पर्याय। बस वह प्रयोजनभूत। समझ में आया?

यह प्रयोजनभूत बात भव्य जीवों को प्रगटरूप से दर्शाने के हेतु... देखो! प्रगटरूप से, खास उसे ख्याल में आ जाये, (कि) यह पर्याय पुण्य और यह पर्याय पाप है। दोनों होकर आस्रव-बन्ध, दोनों होकर बन्ध वही दु:ख, वही हेय। उसकी श्रद्धा से लाभ मानना, वह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। ऐसा समझाने के लिये, बराबर। **प्रगटरूप से दर्शाने के हेतु पुण्यादि सात पदार्थों का कथन है।** लो! पुण्यादि सात पदार्थों के कथन हैं न? नीचे (फुटनोट में) थोड़ी बात है, देखो! नीचे (फुटनोट में चिह्न) २ है। नोट में है, नोट में।

अज्ञानी और ज्ञानी जीव पुण्यादि सात पदार्थों में से किन-किन पदार्थों के कर्ता हैं, तत्सम्बन्धी... अब कर्ता किसका है, वह बताते हैं अब। आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में निम्नानुसार वर्णन है। बहुत सरस बात की है।

अज्ञानी जीव निर्विकार स्वसंवेदन के अभाव के कारण... यहाँ कारण दिया।

कारण कर्म-फर्म तो है ही नहीं। कर्म तो निमित्त कर्म में है। यहाँ कहाँ है ? अज्ञानी जीव निर्विकारी स्वसंवेदन आत्मा आनन्द, उसके आनन्द का वेदन। स्वसंवेदन-स्वसंवेदन, स्व अर्थात् अपना वेदन, आनन्द का वेदन, अनाकुल आत्मा की शान्ति का वेदन। देखो! आत्मा अनाकुल और आनन्दरूप है। उसका अभाव अज्ञानी को अभाव। स्वसंवेदन नहीं। अपने आनन्द का वेदन हो तो **पुण्य-पाप पदार्थ का कर्ता नहीं होता। उसके अभाव के कारण पापपदार्थ का...** पाप पदार्थ अर्थात् ? अशुभभाव। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, क्रोध, मान, माया।

तथा आस्रव-बन्धपदार्थों का कर्ता होता है;... पुण्य का फिर लेंगे। **आस्रव-बन्ध पदार्थों का कर्ता होता है;...** अज्ञानी को अपने आनन्द के वेदन की खबर नहीं और वेदन में पूरा आत्मा आनन्दमय पड़ा है, उसकी दृष्टि नहीं। आनन्द का वेदन नहीं तो वेदन होवे तो पूरा आत्मा आनन्दमूर्ति है, ऐसी दृष्टि हो तो वह पुण्य-पाप का कर्ता नहीं होता। अपनी रचना, शान्ति की रचना का कर्ता होता है। अज्ञानी अपने निर्विकार आनन्द-जो नित्य आनन्द, ध्रुव आनन्द, उस ओर झुकने से पर्याय में जो आनन्द का भान, उसका अज्ञानी को अभाव है। पाप पदार्थ का-अशुभभाव का कर्ता होता है। अज्ञानी अशुभभाव का कर्ता होता है। क्योंकि आत्मा के आनन्द का तो भान नहीं। आनन्द का भान हो तो आनन्द की पर्याय का कर्ता हो। अथवा संवर, निर्जरा, मोक्ष का कर्ता हो। वह तो है नहीं, खबर नहीं। समझ में आया ? क्या ?

पापपरिणाम के, पाप पदार्थ है न ? पापपरिणाम। वह अरूपी पापपरिणाम, उसे यहाँ पदार्थ कहा। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, राग-द्वेष, रति-अरति, आस्रव। आस्रव में पुण्य-पाप इकट्ठे आ गये। **तथा बन्धपदार्थों का कर्ता होता है;...** अब जरा पुण्य को पृथक् करके बताते हैं। **कदाचित् मन्द मिथ्यात्व के उदय से,...** मन्द मिथ्यात्व। वाह! मन्द मिथ्यात्व।

अनन्तानुबन्धी का मन्द मिथ्यात्व, मन्द भाव। **देखे हुए....** देखे हुए। आत्मा को तो अज्ञान में देखा नहीं। बाहर देखे पदार्थ। सुने हुए बाहर पदार्थ। **अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षारूप...** क्योंकि अज्ञानी को स्वसंवेदन में आनन्द का तो अभाव है, तो उसके **देखे हुए—सुने हुए—अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षारूप...** बस वह।

यह होवे तो ठीक, यह होवे तो ठीक, यह होवे तो ठीक। निदानबन्ध द्वारा, निदान करता है। हेतु वहाँ बाँधता है। स्वभाव के ऊपर नहीं, शुभभाव के ऊपर हेतु पड़ा है। वह हेतु पड़ा है, अच्छा फल मिलेगा। हम शुभभाव करते हैं (तो) अच्छा फल मिलेगा। हेतु वहाँ है। भविष्य में पाप का अनुभव करनेवाला। है न? भविष्य काल में तो उसमें पाप का अनुबन्ध होगा। पुण्यपदार्थ का भी कर्ता होता है। अज्ञानी शुभभाव का कर्ता है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, करुणा, कोमलता, सेवा, इस भाव का कर्ता मिथ्यादृष्टि है। भविष्य में पाप बाँधेगा। रोग लगेगा। क्या करता है? राग करता है। बहुत अच्छा करता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : निदान बँधेगा...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह निदान हेतु ही है निदान। हेतुबन्ध द्वारा, हेतु वहाँ पड़ा है न? राग में हेतु पड़ा है। भोग में हेतु पड़ा है। स्वभाव के अनुभवरूप भोग नहीं, वहाँ अच्छा है या मिठास है। राग में मिठास है। **निदानबन्ध द्वारा....** भविष्य में वापस पाप करेगा। अभी थोड़ा पुण्य बाँधता है, भविष्य में वापस पाप करके जाओ। नरक में चला जायेगा। भारी कठिन! समझ में आया? पुण्यपदार्थ का कर्ता,...

मुमुक्षु : आकांक्षा।

पूज्य गुरुदेवश्री : आकांक्षा ही है। आनन्द की भावना नहीं।

मुमुक्षु : तो भी वह कषाय...

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी कषाय है, परन्तु राग है, मन्द कषाय है न? मन्द है न? **और जो ज्ञानी जीव है...** देखो! यह अज्ञानी की बात की। आत्मा आनन्दस्वरूप की दृष्टि नहीं, निर्विकल्प चैतन्य के श्रद्धान का ज्ञान नहीं, ऐसे पुण्य-पाप यह... यह... क्रिया और यह भाव, इसकी मान्यता है। समझ में आया? यह बड़े-बड़े नेता कहलाते हैं न? हम सेवा करते हैं, पाप बाँधकर भविष्य में भटकनेवाले हैं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : इन्द्र बन जायेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्र-बिन्द्र नहीं बने, इन्द्र का घोड़ा बन जायेंगे। घोड़ा अर्थात् यह देव है परन्तु वह घोड़ा का रूप धारण करता है। घोड़ा का रूप धारण करना पड़ता

है। हाथी का रूप धारण करे, ऐसे चाकर-नौकर हो। वापस भविष्य में पाप बाँधकर जाये नीचे। चार गति में भटकने। समझ में आया? कहाँ गये वासुदेवभाई? है या नहीं? ठीक। कहो, समझ में आया? यह कहा न? **भविष्य काल में पाप का अनुबन्ध करनेवाले पुण्यपदार्थ का भी कर्ता होता है।** भविष्य में पाप बाँधेगा। मिथ्यात्वभाव है। जाओ चौरासी में भटकने।

आत्मा परमानन्द है, उसका तो आदर नहीं। यह दया, दान का भाव आया, सेवा का आया। (उसका) आदर करता है। हम बहुत ही करते हैं, सब हम बहुत ही करते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात झूठ है। नहीं, कहते हैं कि देखो! ऐसा होगा तो स्वतन्त्रपर्याय हुई। मूढ़ है। कोई गुलाम ऐसा विचार भी नहीं। बड़ा गुलाम रहा। गुलामी किसे कहते हैं? ऊपर राजा राज करे तो गुलामी है? वह तो परिणाम मन्द हो तो ऐसा होता है। उसमें क्या है?

मुमुक्षु : नक्शा ही बदल डाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; नक्शा बदल गया। जेल में गया, इसलिए बदल गया है? तुम्हारी बात करते हैं। जेल में गये न? महीने-महीने गये थे। एक-एक महीने, दो महीने। कहो, समझ में आया? ज्ञानी किस भाव का कर्ता है? उसकी बात करेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१, गाथा-१२८-१३१
दिनांक - २६-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण ५, शनिवार

नौ पदार्थ का अधिकार चलता है। नीचे (फुट) नोट चलता है। (फुट) नोट १२८ से १३० गाथा का नोट चलता है। नीचे नोट है न? अज्ञानी और ज्ञानी किस पदार्थ का कर्ता होता है, उसी बात है। पहले अज्ञानी आ गया। फिर से, देखो! पैराग्राफ है न? हिन्दी में १९३वें पृष्ठ पर नीचे है।

अज्ञानी जीव निर्विकार स्वसंवेदन के अभाव के कारण... अपना स्वरूप निर्विकार आनन्द शुद्ध, उसका अन्तर स्वसंवेदन के अभाव के कारण **पापपदार्थ का कर्ता होता है;...** पापपदार्थरूप परिणमन-कर्ता होता है। **आस्रव-बन्धपदार्थों का कर्ता होता है;...** आत्मा आनन्द और ज्ञायक स्वसंवेदन में आया नहीं तो वह बन्ध और आस्रव और पुण्य-पाप का कर्ता, बुद्धि में वही वर्तता है।

कदाचित् मन्द मिथ्यात्व के उदय से,... अपने परिणाम में मिथ्यात्व का मन्द उदय हो। **देखे हुए—सुने हुए—अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षारूप निदानबन्ध द्वारा,...** उसका हेतु इस राग पर पड़ा है। स्वभाव में वेदन का अभाव है। तो वह **आकांक्षारूप निदानबन्ध द्वारा, भविष्य काल में पाप का अनुबन्ध करनेवाले पुण्यपदार्थ का भी कर्ता होता है।** पुण्य पदार्थ ऐसा है कि भविष्य में भी पाप परम्परा करेगा। दृष्टि वहाँ रहेगी तब तक। अब यहाँ तक आया था। अर्थ।

जो ज्ञानी जीव है वह,... सम्यग्दृष्टि, देखो! उसमें क्या लिखा है? स्पष्टीकरण है। **निर्विकार-आत्मतत्त्वविषयक रुचि,...** देखो! इसका नाम अभेद रत्नत्रय परिणाम कहा है। कोई कहे कि भेद रत्नत्रयात्मक से संवर-निर्जरा का कर्ता होता है। तो यहाँ निषेध करते हैं। चौथे से सातवें तक भेदरत्नत्रय-व्यवहाररत्नत्रय, ऐसा कहते हैं। और उससे संवर और निर्जरा होती है। ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि **निर्विकार-आत्मतत्त्वविषयक रुचि,..** ज्ञायक शुद्ध निर्विकार अनाकुल ऐसा जो आत्मतत्त्वस्वभाव, उस सम्बन्धी रुचि उस निश्चय अभेदरत्नत्रय में निश्चय सम्यग्दर्शन है। समझ में आया?

निर्विकार-आत्मतत्त्व-निर्विकारी आत्मस्वभाव। शुद्ध ज्ञायक वीतरागस्वभाव,

उस सम्बन्धी रुचि, **तद्विषयक ज्ञप्ति...** वह आत्मा निर्विकार तत्त्व, उस सम्बन्धी उसका ज्ञान, वह निश्चयज्ञान और **तद्विषयक निश्चल अनुभूतिरूप...** तत्सम्बन्धी निर्विकारी भगवान ज्ञायकभाव स्वभाव, उस सम्बन्धी निश्चय अनुभूति, अनुभवन, निर्विकल्प अन्तर अनुभवन। वह अभेद रत्नत्रय परिणाम। उसे अभेद निश्चय रत्नत्रय परिणाम कहा गया है। कहो, समझ में आया? अभेद रत्नत्रय परिणाम द्वारा **संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है;...**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। देखो! उसमें है या नहीं, क्या कहा? शुद्ध ज्ञायकद्रव्य वस्तुस्वभाव, उस सम्बन्धी सम्यक् रुचि। निश्चय सम्यक्त्व; उस सम्बन्धी ज्ञप्ति, स्व का ज्ञान। निश्चय ज्ञान कहो या यह भेदज्ञान कहो। और **तद्विषयक अनुभूति...** उस सम्बन्धी आत्मा निर्विकार, उस सम्बन्धी स्वरूप की स्थिरता। अनुभूतिरूप चारित्र। अभेद रत्नत्रय, ये तीनों अभेद रत्नत्रय हैं। चौथे गुणस्थान में भी अंश है। नहीं तो संवर, निर्जरा का कर्ता नहीं होता। देखो! समझ में आया?

अभेदरत्नत्रयपरिणाम द्वारा,... पूर्ण शुद्ध निर्मल भगवान अनाकुल आनन्दरस स्वभाव, उस सम्बन्धी रुचि, उस सम्बन्धी ज्ञान, उस सम्बन्धी अनुभूति, वह अभेद रत्नत्रय परिणाम हुए। वह पर्याय है। वह निश्चयरत्नत्रय, वह परिणाम है, पर्याय है, विषय है। क्या? उसका विषय आत्मा।

मुमुक्षु : अभेद रत्नत्रय अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न? दो बार, अभेद अर्थात् निश्चय। अपना निर्विकारी आत्मभाव। तत्त्व अर्थात् भाव। निर्विकारी ज्ञायक आनन्दस्वभावभाव। उस सम्बन्धी अन्तर रुचि। वह अभेद सम्यग्दर्शन। पर्याय द्रव्य के साथ अन्दर अभेद हुई। और उस सम्बन्धी ज्ञप्ति-ज्ञान, स्वभाव सम्बन्धी और स्वभाव सम्बन्धी की अनुभूति। उस अभेद स्वरूप सन्मुख की पर्याय अभेद हुई। भेदरत्नत्रय जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह भेद है, विकल्प है, आस्रव है। समझ में आया? लो! यह जयसेनाचार्य में से ऐसा निकला। लोग कहते हैं कि यहाँ व्यवहाररत्नत्रय है, चौथे (गुणस्थान) से छठवें-सातवें तक। है इसमें? देखो! देवीलालजी! क्या कहा?

अभेदरत्नत्रयपर्याय... पर्याय कहो, परिणाम कहो, अवस्था कहो। उस बार यह **संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है;...** अमरचन्दभाई! अभी यह बड़ी चर्चा बाहर में चलती है। अभी उल्टी, उल्टे का अर्थ। वह तो कहते हैं, व्यवहाररत्नत्रय अकेला चौथे, पाँचवें, छठवें में होता है। अकेला व्यवहाररत्नत्रय। निश्चय नहीं। अभेद रत्नत्रय नहीं। और वह व्यवहाररत्नत्रय, वही मोक्ष का मार्ग और संवर-निर्जरा का करनेवाला वह है। देवीलालजी! इस बोल से निर्णय करना, हों! इस बन्ध के कारण को संवर का कारण बताते हैं। यही पहला मोक्षमार्ग है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि परम्परा मोक्ष का कारण यह है। साक्षात् कारण निश्चय है। सातवें से थोड़ा लिया है। आठवें से होता है और परम्परा व्यवहार है, ऐसा है ही नहीं। साक्षात् अभेद रत्नत्रय, संवर, निर्जरा का कर्ता है। धर्मचन्दजी! यह देखो! यह बात बहुत ही चलती है। तुम्हारे हिन्दी में, हिन्द में बहुत ही गड़बड़ चलती है।

मुमुक्षु : बिना दूल्हे की की बारात।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? हाँ, दूल्हा नहीं, सच्ची बात है। हमारे (गुजराती में) कहते हैं वर बिना की जान (बारात)। वर बिना की जान। तो यहाँ कहते हैं कि वह तो शास्त्र में मोक्षमार्ग नाम पड़ा न? व्यवहार और निश्चय। तो व्यवहाररत्नत्रय पहले, उससे संवर-निर्जरा होकर आगे बढ़ते-बढ़ते सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभव हो जाये तो वह निश्चय अभेद रत्नत्रय। यहाँ तो कहते हैं जहाँ से संवर, निर्जरा पर्याय प्रगट हुई, उसका कर्ता अभेद रत्नत्रय परिणाम है, वहाँ से कर्ता कहा गया है। समझ में आया?

अभेद रत्नत्रय अर्थात् आत्मा ज्ञायकभाव निर्मल, निर्विकारी तत्त्व कहा न? आत्मा निर्विकारी तत्त्व है। अचल निर्दोष वीतराग समस्वभावी आत्मा उस सम्बन्धी निर्विकल्प रुचि। वह विषय कहलाये न? विषय अर्थात् उस सम्बन्धी राग बिना का निर्विकल्प ज्ञान। अन्तर ज्ञायक का ज्ञान और ज्ञायक में अनुभूति। वह तीनों निर्विकार अभेद रत्नत्रय वीतरागी पर्यायरूप परिणाम है। उसके द्वारा **द्वारा, संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है;...** समझ में आया?

मोक्ष का कर्ता अभेद रत्नत्रय परम्परा, साक्षात् निश्चय। यहाँ तो कहते हैं कि मोक्ष की पर्याय और संवर, निर्जरा की पर्याय का कर्ता अभेद रत्नत्रय परिणाम द्वारा ही

कर्ता होता है। सेठी! समझ में आया? बहुत ही शास्त्र के वाँचनवाले ऐसा मानते हैं। हमने शास्त्र में से ऐसा निकाला है, ऐसा निकाला है। टोडरमलजी ने निकाला है, ऐसा नहीं। पण्डित जयचन्द्रजी ने निकाला है ऐसा नहीं, बनारसीदासजी ने निकाला है ऐसा नहीं। हमने निकाला है। चौथे से छठवें तक व्यवहाररत्नत्रय होता है। सातवें तक होता है, यह तो और ऐसा कहते हैं। बारहवें (गुणस्थान में) निश्चय होता है। यहाँ तो कहते हैं, जहाँ से संवर-निर्जरा की पर्याय उत्पन्न हुई, उसका करनेवाला परिणमनेवाला अभेद रत्नत्रय है। देवीलालजी! समझ में आया?

अभी शास्त्र का अर्थ कैसे है, उसे समझने की तैयारी नहीं और अपनी कल्पना से अर्थ करते हैं। यशोविजयजी कहते हैं। 'जाति अन्ध का दोष नहीं आकरो जो जाने नहीं अर्थ, जाति अन्ध।' समझे? जन्मान्ध। जन्मान्ध तो कुछ देखता नहीं बेचारा! क्या करे? जाति अन्ध का रे दोष नहीं आकरो। जो जाने नहीं अर्थ, मिथ्यादृष्टि रे इससे आकरो। करे अर्थ का अनर्थ। वह अन्ध तो कुछ देखता नहीं। यह मिथ्यादृष्टि अन्धा अर्थ के अनर्थ करता है। आहाहा! जयसेन आचार्य में से आधार लेकर हमारे पण्डितजी ने डाला है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : है। नहीं, पहले इतना सब नहीं था। पहले तो समुच्चय था। व्यवहार-निश्चय, व्यवहार-निश्चय। परन्तु यह तो अब पहले व्यवहार होता है, ऐसे तर्क बहुत आते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : लाओ यहाँ। लाओ तुम्हारे यहाँ लाना, वहाँ जयपुर ले जाना, ऐसा नहीं। आहाहा! मीठालाल है न! धीरे-धीरे मीठा बोले। देखो!

अभेदरत्नत्रयपरिणाम द्वारा,... वास्तविक स्व-आश्रय। स्व-आश्रय। अभेद शब्द से आत्मा ज्ञायक निर्विकारी तत्त्व, उसकी स्वरूप सम्बन्धी रुचि, उस सम्बन्धी ज्ञान और उस सम्बन्धी अनुभूति-स्थिरता। वह अभेदरत्नत्रय कहो, निश्चयरत्नत्रय कहो, यथार्थ मोक्षमार्ग कहो, वह पूरे **संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है;...** लो! देखो!

चौथे, पाँचवें, छठे में संवर-निर्जरा है या नहीं? समझ में आया? संवर-निर्जरा है या नहीं? तो संवर-निर्जरा का कर्ता व्यवहाररत्नत्रय है, भेदरत्नत्रय? वह तो पराश्रित भाव है। भेदरत्नत्रय स्व-पर प्रगटे, वह भाव है। मैल है, आस्रव है, उदयभाव है। तो वे कहते हैं नहीं। वह तो क्षयोपशम, क्षायिक, औपशमिकभाव है। बहुत गड़बड़, बहुत गड़बड़! सामने किसी को ज्ञान नहीं होता। सुननेवाले! और यह सब ऐसा का ऐसा चलता है। ओहोहो! वाह! वाह! अच्छा निकाला!

यहाँ कहते हैं कि वह **संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थों का कर्ता होता है;...** स्वशुद्ध चैतन्य निर्विकारी स्वभाव, स्व कहो या निर्विकारी आत्मतत्त्व कहो। आत्मतत्त्व। आत्मा का निर्दोष त्रिकाली आनन्द पवित्र स्वभाव। उस सम्बन्धी श्रद्धा, ज्ञान और अनुभूति वह परिणाम द्वारा, संवर-निर्जरा और मोक्ष के परिणाम का कर्ता आत्मा होता है। समझ में आया? भेदरत्नत्रय से संवर, निर्जरा और मोक्ष का कर्ता नहीं। भेदरत्नत्रय से मोक्ष की परिणति नहीं होती। भेदरत्नत्रय से संवर, निर्जरा की परिणति नहीं होती, ऐसा कहते हैं लो! समझ में आया?

और जीव पहले से संवर, निर्जरा का कर्ता अभेद रत्नत्रय है, पूरा मोक्ष होने में अभेद रत्नत्रय परिणाम मोक्षपर्याय का कर्ता हैं। कहो, समझ में आया? और **जब पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय में...** देखो! **पूर्वोक्त।** इस अभेद रत्नत्रय को ही निश्चयरत्नत्रय कहा। निश्चय का स्वआश्रय। अकेला ज्ञायकभाव परमनिर्दोष, उसके आश्रय से दृष्टि ज्ञान लीनता हुई, उसे अभेद रत्नत्रय कहो या निश्चयरत्नत्रय कहो, वह **निश्चयरत्नत्रय में स्थिर नहीं रह सकता...** स्थिर नहीं रह सकता है, तब **तब निर्दोषपरमात्मस्वरूप अर्हंत-सिद्धों की...** भक्ति करता है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

असाधारण भक्तिरूप,... समझ में आया? **निर्दोषपरमात्मस्वरूप अर्हंत-सिद्धों की भक्ति करते हैं। तथा उनका (निर्दोष परमात्मा का) आराधन करनेवाले आचार्य-उपाध्याय-साधुओं की निर्भर असाधारण भक्ति...** बहुत ही उल्लास, विकल्प से असाधारण भक्ति वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है, इस कारण उसे असाधारण कहा।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हुआ। उसमें फिर स्थिर नहीं रह सकता। थोड़ा हुआ तो है, परन्तु अन्दर स्थिर नहीं रह सकता तो अरिहन्त, सिद्ध की भक्ति का शुभभाव आता है और अरिहन्त सिद्ध का आराधन करनेवाले आचार्य-उपाध्याय-साधु की भक्ति का भाव करता है, करता है अर्थात् आता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? यह परम्परा अर्थात् इसका अभाव करके जायेगा, इस कारण से। समझ में आया? **असाधारण भक्तिरूप ऐसा जो संसारविच्छेद के कारणभूत,....** है तो शुभभाव। परम्परा विच्छेद के कारण का आरोप आया। संसार विच्छेद का कारण तो अन्दर निश्चयरत्नत्रय है, परन्तु शुभभाव में संसार विच्छेद का आरोप आया। अभी कहेंगे। आगे कहेंगे, आगे। स्पष्टीकरण करेंगे। नीचे (फुटनोट में) फिर भाई-पण्डितजी स्पष्टीकरण करेंगे पीछे-पीछे। **असाधारण भक्तिरूप ऐसा जो संसारविच्छेद के कारणभूत, परम्परा से मुक्तिकारणभूत,...** देखो!

तीर्थंकरप्रकृति आदि पुण्य का अनुबन्ध करनेवाला विशिष्ट पुण्य... यह लेना है, भाव लेना है। **परम्परा से मुक्तिकारणभूत, तीर्थंकरप्रकृति आदि पुण्य...** आहारकशरीरादि। बँध जाये। **अनुबन्ध करनेवाला...** इस पुण्य का अनुबन्ध करनेवाला, खास पुण्य से **अनिहत वृत्ति से....** ज्ञानी। अनिहित वृत्ति से, उसमें निदान था। भाव नहीं कि मैं करूँ परन्तु अनिहित वृत्ति से ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। **निदानरहित परिणाम से करता है।** लो! हेतु उसका यह हो, वह मुझे लाभदायक है, ऐसे निदानरहित परिणामकर्ता अर्थात् परिणमता है। ज्ञानी भी शुभपरिणामरूप परिणमता है। उसे यहाँ कर्ता कहने में आया है। समझ में आया?

संवर, निर्जरारूप परिणमता है और मोक्षरूप परिणमता है। ऐसे निर्विकल्प अनुभव के उपयोग में स्थिर न रह सके, तब ऐसे भावरूप पुण्यभाव (आते हैं)। जिससे तीर्थंकरप्रकृति बँधे, ऐसे शुभभाव का कर्ता होता है। कहो, समझ में आया? **इस प्रकार अज्ञानी जीव पापादि चार पदार्थों का कर्ता है...** स्पष्टीकरण कर दिया, योगफल। अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव, बन्ध का कर्ता होता है। संवर, निर्जरा, मोक्ष का नहीं। अपने ज्ञायकभाव का स्वसंवेदन निर्विकल्प ज्ञानचेतना के अभाव से अज्ञानी पाप-पुण्य और आस्रव, बन्ध के परिणाम का कर्ता होता है। इन चार प्रकार के परिणाम के परिणमनरूप दशा है। ज्ञानी संवर आदि तीन पदार्थों का कर्ता है। संवर, निर्जरा और

मोक्ष। पुण्य को कहा परन्तु अनिहित वृत्ति से, उसे छोड़ दिया। संवर, निर्जरा और मोक्ष का ही कर्ता है।

मुमुक्षु : अनिहित वृत्ति से अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा बिना। अनिहित वृत्ति से (अर्थात्) इच्छा नहीं कि ऐसा करूँ, (परन्तु) आये बिना रहती नहीं। कहो, समझ में आया ? देखो ! इसका स्पष्टीकरण पीछे फुटनोट में किया है। पीछे के पृष्ठ में फुटनोट। विच्छेद, विच्छेद कहा न ? उसका स्पष्टीकरण करते हैं। (नीचे) फुटनोट है न ?

यहाँ ज्ञानी के विशिष्ट पुण्य को... खास पुण्य को, **संसारविच्छेद के कारणभूत कहा...** वहाँ शुभभाव को कहा न ? जिससे तीर्थंकरगोत्र बँधे आदि, उस भाव को संसार विच्छेद के कारणभूत कहा है। **वहाँ ऐसा समझना कि—वास्तव में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र...** अभेद रत्नत्रय निश्चय। वह संसार विच्छेद के कारणभूत है। संसार की पर्याय के पापादि का नाश करनेवाला तो निश्चयरत्नत्रय है, **परन्तु जब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपूर्णदशा में होता है,...** पूरी दशा नहीं है, अपूर्ण दशा है। दर्शन-ज्ञान तो है परन्तु चारित्र में अभी अपूर्णदशा है। तब उसके साथ अनिहितवृत्ति, अनिहितवृत्ति का अर्थ किया। अनिश्चितवृत्ति से, इच्छा बिना वृत्ति से वर्तता हुआ, **विशिष्ट पुण्य में संसारविच्छेद के कारणपने का आरोप किया जाता है।** वास्तव में तो निश्चयरत्नत्रय संसार विच्छेद के कारणभूत है। शुभभाव में आरोप से संसार विच्छेद का कारण कहा गया है। **वह आरोप भी वास्तविक कारण के—सम्यग्दर्शनादि के—अस्तित्व में ही हो सकता है।** देखो !

वह आरोप भी वास्तविक अर्थात् आत्मा निर्दोष, निर्विकारी की रुचि, ज्ञान और रमणता ऐसी भूमिका में जो शुभभाव आया, उसे आरोप दिया जाता है। अज्ञानी के शुभभाव में भी संसार विच्छेद का आरोप भी नहीं कहा जाता।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन हो गये हैं। राग का अभाव। उसका राग का अभाव। उस भाव से बँधा है, वह राग का अभाव करेगा। प्रकृति उसके कारण से नाश होगी। भाव

का नाश करके हो जायेगा। ज्ञानी को शुभभाव में आरोप आया। क्योंकि उसकी दृष्टि वहाँ नहीं है, स्वसंवेदन में है। अनिहितवृत्ति से आया। उसका अभाव करके वीतरागता हो जायेगी। तो उसे परम्परा का आरोप दिया गया है। अज्ञानी को आत्मा के स्वद्रव्य का आश्रय, दृष्टि ज्ञान नहीं (तो) उसका चाहे जितना शुभभाव हो, संसार विच्छेद का आरोप भी उस पुण्यपरिणाम में नहीं आता। समझ में आया?

क्योंकि स्वद्रव्य के आश्रय से ही भव का अभाव होता है। तीन काल-तीन लोक में विकल्प के आश्रय से भव का अभाव नहीं होता। सेठी! निर्दोष, निर्विकार आत्मतत्त्व। तत्त्व कहो या भाव कहो। त्रिकाली ज्ञान, आनन्दस्वभाव के आश्रय से ही दृष्टि, ज्ञान और लीनता, वही भव के अभाव का कारण है। ज्ञानी को शुभभाव बीच में आया तो आरोप दिया गया कि परम्परा कारण संसार विच्छेद का है। वास्तव में तो है ही नहीं। यह आरोप भी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि स्वसंवेदन, अपने द्रव्य के आश्रय से दृष्टि—ज्ञान किये हों, उसे शुभभाव में ऐसा आरोप आता है। स्वद्रव्य का आश्रय नहीं, अकेला शुभराग होता है। चाहे तो पंच महाव्रत का हो या अट्ठाईस मूलगुण हो, उस भाव में परम्परा संसार विच्छेद के कारण का आरोप भी नहीं आता। बराबर है? देखो! यह स्पष्टीकरण अभेद रत्नत्रय संवर-निर्जरा का कारण यहाँ से, हाँ, चौथे में उतने अंश में संवर, निर्जरा है या नहीं? या भेदरत्नत्रय-व्यवहाररत्नत्रय से संवर-निर्जरा होते हैं? व्यवहाररत्नत्रय तो उदय भाव है, राग है, विकल्प है। ओहोहो!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। सातवें में कहो या आठवें में कहो या बारहवें में। खबर है। कोई और तेरहवें में पूरा। बहुत ही गड़बड़ हो गयी है। नहीं, नहीं, चारों का एक मत नहीं उसमें। अज्ञानी के अनेक मत होते हैं। समझ में आया? फिर विकल्प आता है, उसे भेदरत्नत्रय कहते हैं। समझ में आया? क्या है? क्या चरणानुयोग में आता है? शुभभाव की बात चलती है। चरणानुयोग में पाप से बचने के लिये शुभभाव की बात चलती है। परन्तु उस शुभभाव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान अपना शुद्धस्वभाव, ऐसी दृष्टि न हो तो अकेले शुभभाव में संसार विच्छेद का आरोप भी कहा नहीं जाता।

भगवान आत्मा ज्ञान चिदानन्दस्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर प्रभु ने जैसा आत्मा

देखा, तो आत्मा किसे कहते हैं ? शरीर, वाणी इस जड़ को आत्मा कहते हैं ? और दया, दान के परिणाम को आत्मा कहते हैं ? वह तो आस्रव है। पुण्य-पाप परिणाम तो आस्रव है, वह आत्मा नहीं। आत्मा निर्दोष स्वभावभाव। देखो! इसलिए विशेषण दिया। निर्विकार आत्मतत्त्व। समझ में आया ? पुण्य-पाप का विकल्प जो भाव है, वह तो आस्रव है। बन्ध का कारण है। उससे रहित निर्दोष, निर्विकारी आत्मतत्त्व भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु की अन्तररुचि, उस सम्बन्धी ज्ञान, उस सम्बन्धी लीनता, साक्षात् संवर, निर्जरा मोक्ष का कारण है। अमरचन्दभाई! यह बात है।

'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ' आता है या नहीं ? भाई! (छह) ढाला में आता है। छहढाला में (आता है)। यह बात ही, परन्तु व्यवहार करते-करते क्या निश्चय बिना व्यवहार कहते ही नहीं। यहाँ तो यह कहते हैं। स्वचैतन्य ज्ञायकभाव निर्दोष स्वभावभाव। पुण्य, पाप व्यवहाररत्नत्रय सदोष भाव है, रागभाव है, उदयभाव है। सम्यग्दृष्टि को होता है परन्तु वह भाव स्वभावभाव है, वह नहीं। अरे! ऐसे निर्णय का भी ठिकाना नहीं! आहाहा! इस गहरे कुँऐं की गम्भीरता का इसे कहाँ से पता लगे ? यह गम्भीर पदार्थ! ओहोहो! कितना आनन्द चैतन्य... सबसे निर्दोष, कहा न ? निर्दोष, निर्विकार आत्मतत्त्व। निर्विकार आत्मभाव, त्रिकाल स्वभावभाव, निर्विकार निर्दोष आत्मतत्त्व। पुण्य, दया, दान के विकल्प सब राग। वे तो आस्रवतत्त्व हैं। उनसे रहित निर्विकारी अपना भगवान महान सत्ता धाम आनन्द, उस सम्बन्धी रुचि, ज्ञान और रमणता, वह अभेद रत्नत्रय—निश्चयरत्नत्रय है। संवर, निर्जरा, मोक्ष का परिणामवाला वह।

मुमुक्षु : यह तो एकान्त हो गया, अनेकान्त नहीं हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त यह। ऐसा है और व्यवहाररत्नत्रय से नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। व्यवहार से है और निश्चय से भी है, ऐसा अनेकान्त है ही नहीं। उस अभेद रत्नत्रय से संवर, निर्जरा, मोक्ष का कर्ता है। भेद रत्नत्रय से संवर, निर्जरा, मोक्ष का कर्ता नहीं। इसका नाम अनेकान्त है। परस्पर विरुद्ध शक्ति, देखो! परस्पर विरुद्ध शक्ति का नाम अनेकान्त है। वह इसमें है। एक वस्तु को वस्तुपने को निपजानेवाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर (विरुद्ध) दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

विरुद्ध अस्ति-नास्ति। अपने अभेद रत्नत्रय से एक ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार से कहा, वह कथनमात्र है। है नहीं। आहाहा! अभी तो यह घड़ी हो गयी वह। डाल दिया नहीं। उसकी अनसमझ से डाल दिया है। सेठ! व्यवहारनय से नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहारनय से भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारनय तो श्रुतज्ञान की एक पर्याय है। जाननेयोग्य बराबर हुआ, वहाँ राग है, ऐसा ज्ञान हुआ तो सम्यग्ज्ञान का अंश है। समझ में आया? जैसा त्रिकाली ज्ञायक का ज्ञान हुआ, ऐसा व्यवहार का ज्ञान हुआ। राग है, भेद है। उसका ज्ञान भी व्यवहारनय श्रुतज्ञान का एक अंश है। नय है। निश्चयनय श्रुतज्ञान का अंश है, वैसे व्यवहारनय भी श्रुतज्ञान का अंश है, परन्तु जानने के लिये है। आदरने के लिये नहीं। आहाहा! समझ में आया?

व्यवहार को न जाने और न माने तो वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है और व्यवहार को आदरणीय माने तो भी एकान्त मिथ्यादृष्टि है। यह बात है। सर्वथा बन्ध का कारण है। सर्वथा बन्ध का कारण है। यह यहाँ आयेगा। कलश-टीका आयेगी न? सर्वथा बन्ध का कारण। समझ में आया? अलम्-अलम् है न? कहाँ गया अलम्? यह बतायेगा। देखो! क्या कहते हैं, देखो!

द्रव्य क्रिया, सिद्धान्त को पढ़ो, लिखो इत्यादि किंचित् न अस्ति। शुद्ध जीवस्वरूप अनुभव सर्वथा मोक्षमार्ग है। अन्य समस्त मोक्षमार्ग सर्वथा है नहीं। यह बारह गाथा आते-आते देर लगी न? आवे तब आवे न? बाकी तो ऐसा स्पष्ट किया है! समझ में आया? शुद्ध जीव को, अनुभवी को इतना मोक्ष का कारण है। समयसार उपरान्त जिस जीव को स्वरूप का अनुभव नहीं, उसे दूसरा, द्रव्यक्रिया—सिद्धान्त को वाँचन करो, लिखो, वह किंचित् भी मोक्षमार्ग नहीं है। राग है, बन्धमार्ग है। समझ में आया? उसका ज्ञान करना है, वह भी श्रुतज्ञान का अंश है। जाननेयोग्य है। आहाहा! समझ में आया? शुद्ध जीवस्वरूप अनुभव मोक्षमार्ग सर्वथा है। जयपुर की ढूंढारी भाषा में वहाँ छे, लिखा है। हों! है। अन्य समस्त मोक्षमार्ग सर्वथा है नहीं। लो! आगे भी वही मोक्षमार्ग है, उससे अधिक कोई मोक्षमार्ग कहे, ऐसे अभेदरत्नत्रय से दूसरा कोई मोक्षमार्ग कहे (तो वह) बहिरात्मा है। ...

मुमुक्षु : पंच महाव्रत पालता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पालता है? बीच में आते हैं। पाले कौन? कहा न? अनिहित वृत्ति से शुभभाव पंच महाव्रत आदि मुनि को आये बिना नहीं रहते। आते अवश्य हैं। वहाँ पालना है, आस्रव का रक्षण करना है? बच्चे को पालनकर बड़ा करना, ऐसा है। सेठी! आता है। व्यवहार के साथ कहने में आता है। आता है इसका अर्थ क्या? अनिहितवृत्ति से, निश्चयरत्नत्रय में स्थिर न हो (तब) ऐसा भाव अवश्य आता है। व्यवहार... राग शुभभाव, उसमें आरोप भी आता है कि संसार विच्छेद का परम्परा कारण है, ऐसा भी आरोप आता है। यह निश्चयरत्नत्रय की अभेद की दृष्टि हो तो। समझ में आया? तो शुभभाव आता है। है बन्ध का कारण।

भगवान आत्मा ज्ञायक चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव ने जैसी वस्तु देखी, वैसी वस्तु की अन्तर्दृष्टि ज्ञान और रमणता एक ही मोक्ष का मार्ग है। कोई बीच में विकल्प... जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव भी मोक्षमार्ग नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव भी मोक्षमार्ग नहीं है। वह भाव बन्धमार्ग। तेरे पास तेरी पूँजी पड़ी है, महानिधान, उसकी तो तू दृष्टि करता नहीं, निहारता नहीं और यह गड़बड़ क्रियाकाण्ड चरणानुयोग में कहा है, यह सब कहा है। निश्चय की भूमिका में कैसा व्यवहार होता है, उसका ध्यान (ख्याल) कराया है। व्यवहारनय से कहते हैं कि पालन करो। पालता है, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया?

देखो! यह अलम्-अलम् में है, हों! न समयसार, न परम किंचित् अस्तिहलो। हलोमा।.....समझ में आया? वास्तविक **वह कारण के—सम्यग्दर्शनादि के—अस्तित्व में ही हो सकता है।** नहीं तो आरोप भी नहीं होता। लो, यह पूरा हो गया। १३१ गाथा। १३० गाथा पूरी हुई। १३१ गाथा। **अब पुण्य-पापपदार्थ का व्याख्यान है।** पुण्य किसे कहते हैं, पाप किसे कहते हैं, यह व्याख्या। पश्चात् आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष चलेगा। पश्चात् मोक्षमार्ग, पाप के व्याख्यान के बाद। कहो, समझ में आया?

गाथा - १३१

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।। १३१ ।।

मोहो रागो द्वेषश्चित्तप्रसादः वा यस्य भावे ।
विद्यते तस्य शुभो वा अशुभो वा भवति परिणामः ।। १३१ ।।

पुण्यपापयोग्यभावस्वभावाख्यापनमेतत् ।

इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः । विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ । तस्यैव मन्दोदये विशुद्धपरिणामता चित्तप्रसादपरिणामः । एवमिमे यस्य भावे भवन्ति, तस्यवश्यं भवति शुभोऽशुभो वा परिणामः । तत्र यत्र प्रशस्तरागश्चित्तप्रसादश्च तत्र शुभः परिणामः, यत्र तु मोहद्वेषावप्रशस्तरागश्च तत्राऽशुभ इति ।। १३१ ।।

मोह राग अर द्वेष अथवा हर्ष जिसके चित्त में।
इस जीव के शुभ या अशुभ परिणाम का सद्भाव है।।१३१।।

अन्वयार्थ :— [यस्य भावे] जिसके भाव में [मोहः] मोह, [राग] राग, [द्वेषः] द्वेष, [वा] अथवा, [चित्तप्रसादः] चित्तप्रसन्नता [विद्यते] है, [तस्य] उसे [शुभः वा अशुभः वा] शुभ अथवा अशुभ [परिणामः] परिणाम [भवति] है।

टीका :— यह, पुण्य-पाप के योग्य भाव के स्वभाव का (—स्वरूप का) कथन है।

यहाँ, दर्शनमोहनीय के विपाक से जो कलुषित परिणाम, वह मोह है; विचित्र (-अनेक प्रकार के) चारित्रमोहनीय का विपाक जिसका आश्रय (-निमित्त) है। ऐसी प्रीति-अप्रीति, वह राग-द्वेष है; उसी के (-चारित्रमोहनीय के ही) मन्द उदय से होनेवाले जो विशुद्ध परिणाम, वह [१]चित्तप्रसादपरिणाम (-मन की प्रसन्नतारूप परिणाम) है। इस प्रकार यह (मोह, राग, द्वेष अथवा चित्तप्रसाद) जिसके भाव में है, उसे अवश्य शुभ अथवा अशुभ परिणाम है। उसमें, जहाँ प्रशस्त राग तथा चित्तप्रसाद है, वहाँ शुभ परिणाम है और जहाँ मोह, द्वेष तथा अप्रशस्त राग है, वहाँ अशुभ परिणाम है ॥१३१॥

१. प्रसाद = प्रसन्नता; विशुद्धता; उज्ज्वलता।

गाथा - १३१ पर प्रवचन

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो।।१३१।।

टीका :— यह, पुण्य-पाप के योग्य भाव के स्वभाव का (-स्वरूप का) कथन है। है ? १९४ पृष्ठ, पीछे टीका है।

टीका :— यह, पुण्य-पाप के योग्य, भाव! हों! भाव की बात। आत्मा में पुण्यभाव और पापभाव जो दोष है, बन्ध का कारण है, वह किसे कहना, उसकी यहाँ पहिचान कराते हैं। **पुण्य-पाप के योग्य भाव के स्वभाव का...** देखो! ऐसे भाव के स्वभाव का अर्थात् स्वरूप का कथन है।

यहाँ, दर्शनमोहनीय के विपाक से जो कलुषित परिणाम, वह मोह है;... आत्मा में पुण्य परिणाम मेरा धर्म है, पापभाव में मुझे मजा आता है—ऐसा मिथ्यात्वभाव, वह अशुभभाव है। वह मोह है। पापपरिणाम और उसमें मुझे मजा आता है। पुण्यपरिणाम वह मेरा धर्म है और अल्पज्ञपना, वह मेरा पूर्ण तत्त्व है—ऐसी जिसकी दृष्टि है, उसे मोह अर्थात् मिथ्यात्व कलुषित परिणाम कहा जाता है। वह मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यादर्शनशल्य।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या अन्तर है ? यह या दूसरा ? कहा न ? यह एक बात की है। आत्मा में जो पापभाव होता है—हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, उसमें मुझे मजा आता है, आनन्द आता है, वह मिथ्यात्वभाव है। और दया, दान, पुण्य के परिणाम होते हैं, वह धर्म है, परमार्थ धर्म है, वह मिथ्यात्वभाव है। और आत्मा में अल्पज्ञ, अल्प दर्शी, अल्प वीर्य जो अल्प पर्याय है, उसे पूर्ण तत्त्व मानना, वह मिथ्यात्व है। अल्प में पूर्ण को मानना और पुण्य को धर्म मानना और पाप में मजा मानना, इसका नाम कलुषित मिथ्यात्वभाव है। कहो, समझ में आया ? परपदार्थ की बात नहीं करते। विकार और अल्पज्ञ। समझ में आया ? इस प्रकार का विकार और एक अल्पज्ञ, अल्पदर्शी, अल्पवीर्य, इतना ही मैं हूँ, इतनी ही दृष्टि रखी है, उसमें मुझे मजा है, वही मिथ्यात्व कलुषित भाव है।

बाहर पैसा मेरा और मकान मेरा मानना तो कहीं रह गया। वह तो धूल रह गयी कहीं। पैसा कहाँ आत्मा में घुस गया है! वह तो बाहर है, खबर है। यहाँ जेब में लाये हैं? कहाँ है? यहाँ पैसे लाये हैं? जेब में हैं? कहाँ है? गुंजा समझते हो? जेब, जेब। है? यहाँ पैसा है? हम पैसेवाले हैं, ऐसी अपने पास ममता है। यह ममता, वही पाप है और उस पाप में मुझे मजा है, यह मिथ्यात्वभाव है। धूल में रुपये दान में... दान तो राग की मन्दता करे तो होता है। पैसा हो या न हो, उसकी बात कहाँ करते हैं। एकेन्द्रिय को भी पुण्यभाव नहीं होता? यहाँ पैसा नहीं है, मुनि को दान नहीं? अमरचन्दभाई! यह निगोद के जीव, नित्यनिगोद। मनुष्य होता है, पुण्यभाव-शुभभाव होता है, उसमें क्या है? कषाय की मन्दता होती है, शुभभाव होता है। पैसा भी नहीं। आहार-पानी देने के लिये कुछ नहीं। पुण्य भी नहीं। एक शरीर के अतिरिक्त मन और वाणी भी नहीं। तो क्या आया? भाव तो अपनी कषाय की मन्दता से होता है। कहो, समझ में आया?

दर्शनमोहनीय के विपाक से जो कलुषित परिणाम। यह तो कर्म के निमित्त से लिया, परन्तु परिणाम में अपना सम्बन्ध किया तो उसमें कलुषित परिणाम मिथ्यात्व हुआ, उसे मोह कहते हैं। समझ में आया? मिथ्यादर्शन शल्य। मिथ्याश्रद्धा, विपरीत अभिप्राय। एक बात। वह अशुभभाव है। यहाँ अशुभ की बात पहले की। शुभ को बाद में लेंगे।

वह पापभाव है। मोह एक पापभाव है। पापभाव जिसका स्वभाव है, स्वरूप है, लो! **(-अनेक प्रकार के) चारित्रमोहनीय का विपाक जिसका आश्रय (-निमित्त) है।** परिणाम में। जीव में शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं, चारित्रमोहनीय का विपाक जिसका आश्रय है, देखा! पहले दर्शनमोहनीय के विपाक से कलुषित परिणाम, ऐसा कहा था। यहाँ स्पष्टीकरण कर दिया। **चारित्रमोहनीय का विपाक जिसका आश्रय (-निमित्त) है।** समझ में आया? उसमें ऐसा लेना। दर्शनमोहनीय का उदय, मिथ्यात्व परिणाम करता है तो उसे निमित्त कहा जाता है। समझ में आया? **ऐसी प्रीति-अप्रीति वह राग-द्वेष है;...** लो! यह राग और द्वेष। दया, दान का भाव वह पुण्य, राग और दूसरा द्वेष। तथा स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी के प्रति प्रेम, वह अशुभराग। समझ में आया?

उसी के (-चारित्रमोहनीय के ही) मन्द उदय से... है न? **ऐसी प्रीति-अप्रीति वह राग-द्वेष है; मन्द उदय से होनेवाले जो विशुद्ध परिणाम वह...** पुण्य है। राग में भी,

यह तो पहले आया, वह अशुभ है। मन्द उदय से, राग का मन्द भाव हो—दया का, दान का, विशुद्ध परिणाम, वह शुभ पुण्य है, पुण्यबन्ध का कारण है। धर्म नहीं, संवर-निर्जरा नहीं। **चित्तप्रसादपरिणाम...** देखो! **चित्त की प्रसन्नता; विशुद्धता; उज्ज्वलता।** यह सब शुभभाव है। **(-मन की प्रसन्नतारूप परिणाम) है। इस प्रकार यह (मोह, राग, द्वेष अथवा चित्तप्रसाद) जिसके भाव में है, उसे अवश्य शुभ अथवा अशुभ परिणाम है।** लो! जिसके भाव में ऐसे भाव हैं। उसे शुभ और अशुभ (परिणाम हैं)। राग-द्वेष अकेले स्त्री, कुटुम्ब, अगाड़ी है, वह अशुभ है। द्वेष को यहाँ अशुभ गिनने में आया है। मोह-मिथ्यात्व अशुभ है। दया, दान आदि में राग की मन्दता हो तो वह शुभ है।

इस प्रकार यह (मोह, राग, द्वेष अथवा चित्तप्रसाद) जिसके भाव में है,... जो आत्मा की पर्याय में वह है, **उसे अवश्य शुभ अथवा अशुभ परिणाम है।** कहा जायेगा। दोनों पुण्य और पाप के भाव हैं। पुण्य और पाप तत्त्व है। ज्ञायकतत्त्व भिन्न आत्मा। निर्दोष स्वभावभावरूपी ज्ञायकभाव, उसमें परिणमन में यह शुभ और अशुभभाव हो, (वह) बन्ध का कारण है। समझ में आया? धर्म का किंचित् कारण नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति, विकल्प, वह पुण्यपरिणाम। हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत, विकल्प, वह पापपरिणाम, जिसके परिणाम में पुण्य और पापभाव दोनों बन्ध का कारण है। समझ में आया? **उसमें, जहाँ प्रशस्त राग तथा चित्तप्रसाद है,...** देखो! स्पष्टीकरण करते हैं। जिसमें शुभराग है, दया, दान, भक्ति, पूजा और चित्त की प्रसन्नता, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति उल्लास, प्रसन्नता, ऐसे शुभपरिणाम। वे शुभपरिणाम हैं, पुण्यपरिणाम हैं। पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म नहीं। समझ में आया? अभी तो बहुत ही गड़बड़ चलती है। सारे वीतरागमार्ग में.... दया, दान, व्रत, तप, भक्ति करो, वह धर्म है। भगवान कहते हैं कि वह राग मन्द हो तो पुण्य है। धर्म-बर्म नहीं। धर्म संवर, निर्जरा है। यह तो पुण्य-पापतत्त्व की बात चलती है। पुण्य-पाप, (वह) संवर-निर्जरा नहीं है। संवर, निर्जरा, (वह) पुण्य-पाप नहीं है। समझ में आया? सात पदार्थ की व्याख्या चलती है। जीव और अजीव दो द्रव्य हैं। दो के संग से सात पर्याय जीव में और सात पर्याय जड़ में है। यहाँ जीव की बात चलती है और जहाँ मिथ्यात्वभाव है, द्वेषभाव है और **अप्रशस्त राग (अशुभ) है, वहाँ अशुभ परिणाम है।** लो! शुभ-अशुभपरिणाम की व्याख्या। समझ में

आया? इतना भी समझ में नहीं आता? कहो, आहाहा! कितने होशियार?

आत्मा में जितना विपरीत मिथ्यात्व का भाव है कि पुण्य-परिणाम में धर्म है। वह पुण्य-परिणाम दया, दान, वह संवर है - ऐसी मान्यता का भाव, मिथ्यात्वभाव है, वह अशुभभाव है और पर के प्रति द्वेष करना, वह अशुभभाव है और स्त्री, परिवार के प्रति राग करना, वह अशुभभाव है तथा देव-गुरु-शास्त्र के प्रति, सच्चे के प्रति उल्लास करना, भक्ति, चित्त की प्रसन्नताभाव, वह शुभ है। शुभ और अशुभ दोनों बन्ध का कारण है। कर्म का उदय किसने कहा? सुना नहीं? वह तो निमित्त है। उदय किसने कहा? जैन में कर्म की विपरीतता घुस गयी है। और एक पुण्यपरिणाम से धर्म होता है, ऐसी विपरीतता घुस गयी है। अनादि की है और वर्तमान में ऐसा कहनेवाले मिले तो पुष्टि हो गयी। सेठी! यह बड़े पुराने वृद्ध व्यक्ति हैं, इन्हें भी विपरीतता घुस गयी। यह तो यहाँ आकर जरा बदले। नहीं तो, नहीं... नहीं, यह क्या? प्रवीणभाई! ...यह तो पूर्व की बात है। देखो! अनादि काल से...

मुमुक्षु : चमक होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चमक होती है। चमक होती है न? लोहे को जंग लग जाता है न, फिर चमक होती है न? अरे! सुन तो सही! यहाँ तो कहते हैं कि जितने दया, दान, व्रत, भक्ति विकल्प, तप मैंने किया, ऐसा विकल्प उठता है, वे सब पुण्यपरिणाम हैं। वह पुण्यपरिणाम है, उससे पुण्य बँधेगा। आत्मा को धर्म बिल्कुल नहीं होगा। अनादि से यह करता है और करता आया है। अपना स्वभाव पुण्यपरिणाम से भिन्न है। उसकी दृष्टि किये बिना, उसका अनुभव किये बिना कभी भी संवर-निर्जरा नहीं होते।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तप से क्या? क्या तप? यह मैं नहीं, ऐसा विकल्प वह शुभ है। तप क्या? शुभपरिणाम है, यदि राग मन्द किया हो तो। मान के लिये किया हो तो अशुभभाव है। अपवास-बपवास पन्द्रह किये और मेरी, क्या कहलाती है? सांझी बाँटते हैं वह? इकट्ठे होकर साँझी बाँटते हैं न? प्रभावना करे, सांझी या ऐसा कुछ करे, दे ऐसा दे। ओहोहो! और पच्चीस लोग पूछने आवे। ओहो! बहिन! बहुत उपवास...

सोंठ-बोंठ चोपड़े और करे... ओहो! वह तो अकेला पापभाव है। जगत में मान लेने का भाव है। और ऐसी कोई विधवा महिला हो, पाँच-पच्चीस हजार खर्च करना हो, पति से या किसी पुत्र से, वह तो पापभाव है। परन्तु राग मन्द किया हो तो पुण्य है। धर्म तो नहीं।

धर्म तो आत्मा आनन्दकन्द, शुद्ध द्रव्य में दृष्टि लगाये बिना धर्म की पर्याय द्रव्य में से आती नहीं। समझ में आया? अनादि से माना है और लोगों ने पुष्टि की है। हाय! हाय! महिलायें यह सब वर्षीतप करे और फिर खर्च करावे, पाँच, दस हजार.... पाँच, दस हजार खर्च। आहाहा! और नहीं तो वह व्यक्ति मर जाता है न? फिर न सोये तो। छाती न कूटे तो, विपरीतता पड़ी है यह? ऐसी महिलायें रूलावे।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी जानता नहीं। वहाँ पाप है। इसी प्रकार यह जरा अपवास-बपवास करे, लंघण। और वापस दो-पाँच हजार खर्च करावे तो, आहाहा! पुजाये-पुजाये बापू! धूल में भी तप नहीं। अब सुन न! तप किसे कहना? तुझे खबर नहीं है।

भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव जैन परमेश्वर जिन्हें सौ इन्द्र पूजते हैं। वे भगवान कहते हैं कि भगवान! तेरी चीज़ इन दया, दान, पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न अन्दर है। ऐसी दृष्टि किये बिना तुझे धर्म तीन काल में संवर-निर्जरा होती नहीं। समझ में आया? भगवानभाई! यह भगवानभाई यहाँ पड़ाव डाला है। हाँ, वह मिथ्यात्व है, बापू! वह बड़ा मिथ्यात्व है। प्रत्येक मिथ्यात्व साथ में है।

यहाँ तो कहते हैं, हें! सर्वत्र घूम आवे। ऐसा कि यहाँ धर्म भी महँगा हो गया, ऐसा। तेल महँगा, गुड़ महँगा, अनाज महँगा, धर्म महँगा हो पड़ा, ऐसा कहते हैं। यहाँ धमाल है। समझ में आया? सब महँगा हो गया। धर्म भी महँगा हो गया है। धर्म तो दुर्लभ ही है। अनादि से दुर्लभ है। अपना है, इसलिए सुलभ है; नहीं प्राप्त किया, इसलिए दुर्लभ है। यह बात है। स्वयं से प्राप्त होता है, उसमें किसी की आवश्यकता नहीं। विकल्प की आवश्यकता नहीं, मन की आवश्यकता नहीं, पैसे की आवश्यकता

नहीं... नहीं। किसी की आवश्यकता नहीं। वह अपने आत्मा से प्राप्त होता है। उसे तो सुलभ को दुर्लभ मानता है। और यह लक्ष्मी-बक्ष्मी धूल अनन्त बार मिली। अनन्त बार मिली और अनन्त बार गयी। वह तो पुण्य हो तो आवे, उसमें क्या है? धूल में है? समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, **प्रशस्त राग तथा चित्तप्रसाद है, वहाँ शुभ परिणाम, शुभभाव है और जहाँ मोह, द्वेष तथा अप्रशस्त राग है, वहाँ अशुभ परिणाम है।** यह उसका— शुभाशुभपरिणाम का स्वरूप। इसमें निर्णय करना चाहिए। नौ तत्त्व की श्रद्धा करने में पुण्य-पाप का तीसरा स्वरूप किस प्रकार का है, उसमें इसे समझकर श्रद्धा करना चाहिए। यह नौ तत्त्व की श्रद्धा कराते हैं। पुण्यतत्त्व को संवर माने और संवरतत्त्व भूल जाये। मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? बात करके कितना स्पष्ट किया है। देखो!

यहाँ तो कहे, चित्त प्रसन्नता शुभभाव है। नामकर्म में आता है.... चार कारण से शुभभाव है, वह शुभ है। उससे पुण्य बँधता है। नामकर्म से पुण्य बँधता है, लो! यह चार बोल अपने तत्त्वार्थसूत्र में आते हैं न? चार प्रकार से पुण्य बँधता है। नामकर्म। ....काया की सरलता, वचन की सरलता, मन की सरलता, अविसंवाद—किसी को ठगना नहीं। ऐसे चार भाव आते हैं। चार से पुण्य बनता है पाप। नामकर्म का पुण्य बँधता है। समझ में आया? आता है? नामकर्म में आता है। शुभ नामकर्म बँधता है न? काया, वाणी, मन, वह तो जड़ है, परन्तु उसमें सरल परिणाम रखना, (वह) पुण्यभाव है। समझ में आया? यह कहते हैं। यह ज्ञानार्णव में आता है। ज्ञानार्णव क्या कहलाता है? देखो! ज्ञानसागर, वह हमारे वीरजीभाई के पिताजी थे न? वह क्रियाकाण्ड में माननेवाले। यह जहाँ ८२ में (संवत् १९८२ में) बोल आया,... काया, मन और वाणी के परिणाम अन्दर सरल हों, (वह) पुण्यबन्ध है, धर्म नहीं। महाराज! कुछ बात तो कहो। अकेले एकान्त में आये थे। क्या बात है? ...वह तो निमित्त है परन्तु अन्दर सरलता के परिणाम हों काया सम्बन्धी, भाषा सम्बन्धी शुभ नाम देखो! तुम्हारे ज्ञानसागर में लिखा है।

यह प्रौषध करे और सामायिक करे। कहाँ तेरे प्रौषध और सामायिक! अभी वस्तु की खबर नहीं, आत्मा कौन है, क्या कर सकता है, कैसा ज्ञाता-दृष्टा है? क्या कर

सकता है, खबर नहीं। यह तेरे प्रौषध और सामायिक कहाँ से आये? प्रौषध और सामायिक तो पंचम गुणस्थान में होते हैं। अभी सम्यग्दर्शन की तो खबर नहीं। सेठी! वे बड़े-बड़े थे। वीरजीभाई के पिताजी, बड़े व्रत! बत्तीस सूत्र, प्रचलित सूत्र कहलाते। बत्तीस सूत्र कहलाते हैं न? साधु-आर्यिका को पढ़ावे। जामनगर में बड़े... वे जहाँ दो व्याख्या सुने, वहाँ उलझन में आ गये। ८२ के वर्ष, ३८ वर्ष हुए। एक दिन जहाँ व्याख्यान सुना यह... देखो तो ज्ञानसागर में, तुम्हारे जामनगर से प्रकाशित हुआ है, पूनातर की ओर से। तीन योग की सरलता पुण्यबन्ध का कारण है। तीन योग में सरलता धर्म है, ऐसा उसमें लिखा नहीं... समझ में आया? ....

शुभ और अशुभ नौ तत्त्व में शुभ-अशुभ किसे कहते हैं, उसका स्वरूप बताया। उसे ऐसा समझना, उसे संवर-निर्जरा नहीं समझना। उसे पूरा आत्मा नहीं समझना। दया, दान आदि का राग आया, राग मन्द प्रसन्नता, उसे पुण्य समझना। साथ में मिथ्यात्वादि भाव, उसे पाप समझना। ज्ञायकभाव को जीव समझना। और संवर, निर्जरा दूसरी चीज़ है, वह आगे नौ तत्त्व में विस्तार से कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १३२

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ।। १३२ ।।

शुभपरिणाम: पुण्यमशुभ: पापमिति भवति जीवस्य।
द्वयो: पुद्गलमात्रो भाव: कर्मत्वं प्राप्त: ।। १३२ ।।

पुण्यपापस्वरूपाख्यानमेतत् ।

जीवस्य कर्तु: निश्चयकर्मतामापन्न: शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भवति भावपुण्यम् । एवं जीवस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नोऽ-शुभपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापम् । पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टिप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम् । पुद्गलस्य कर्तुनिश्चियकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवाशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम् । एवं व्यवहारनिश्चयाभ्यामात्मनो मूर्तममूर्तञ्च कर्म प्रज्ञापितमिति ।। १३२ ।।

शुभभाव जिय के पुण्य हैं अर अशुभ परिणति पाप हैं।
उनके निमित से पौद्गलिक परमाणु कर्मपना धरें।।१३२।।

अन्वयार्थ :— [जीवस्य] जीव के [शुभ परिणामः] शुभपरिणाम, [पुण्यम्] पुण्य हैं और, [अशुभः] अशुभ परिणाम, [पापम् इति भवति] पाप हैं; [द्वयोः] उन दोनों के द्वारा [पुद्गलमात्रः भावः] पुद्गलमात्र भाव, [कर्मत्वं प्राप्तः] कर्मपने को प्राप्त होते हैं। (अर्थात् जीव के पुण्य-पापभाव के निमित्त से साता-असातावेदनीयादि पुद्गलमात्र परिणाम व्यवहार से जीव का कर्म कहे जाते हैं)।

टीका :— यह, पुण्य-पाप के स्वरूप का कथन है।

जीवरूप कर्ता के [१]निश्चयकर्मभूत शुभपरिणाम द्रव्यपुण्य को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यापुण्यास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे शुभपरिणाम 'भावपुण्य' हैं। (सातावेदनीयादि द्रव्यपुण्यास्त्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें जीव के शुभपरिणाम निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव'

१. जीव कर्ता है और शुभपरिणाम उसका (अशुद्धनिश्चयनय से) निश्चयकर्म है।

प्रसंग के पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभपरिणाम को भी 'भावपुण्य' ऐसा नाम है।) इस प्रकार जीवरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत अशुभपरिणाम द्रव्यपाप को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपापस्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे अशुभपरिणाम 'भाव पाप' हैं।

पुद्गलरूप कर्ता के [२]निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम (-साता-वेदनीयादि खास प्रकृतिरूप परिणाम)—कि जिनमें जीव के शुभपरिणाम निमित्त हैं वे—द्रव्यपुण्य हैं। पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम (-असातावेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम)—कि जिनमें जीव के अशुभ-परिणाम निमित्त हैं वे—द्रव्यपाप हैं।

इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय द्वारा आत्मा को मूर्त अथवा अमूर्त कर्म दर्शाया गया।

भावार्थ :— निश्चय से जीव के अमूर्त शुभाशुभपरिणामरूप भावपुण्यपाप जीव का कर्म हैं। शुभाशुभपरिणाम द्रव्यपुण्यपाप का निमित्तकारण होने के कारण मूर्त ऐसे वे पुद्गलपरिणामरूप (साता-असातावेदनीयादि) द्रव्यपुण्यपाप व्यवहार से जीव का कर्म कहे जाते हैं॥१३२॥

प्रवचन नं. ३२, गाथा-१३२

दिनांक - २७-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण ६, रविवार

पंचास्तिकाय, १३२ गाथा चलती है। भगवान तीर्थंकरदेव ने जो नौ पदार्थ का विस्तार कहा, उसका विस्तार चलता है। यह १३२वीं गाथा आयी है। पुण्य-पाप के स्वरूप का कथन। नौ पदार्थ है न, नौ तत्त्व। जीव-अजीव यह दो द्रव्य हैं, द्रव्य। द्रव्य अर्थात् वस्तु। जीव-अजीव दो पदार्थ। उनके संयोग में सात पर्याय उत्पन्न होती है। जीव में सात पर्याय—पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। जड़ में सात पर्यायें कर्म में उत्पन्न होती हैं। यह दो कर्म मिलकर नौ तत्त्व कहे गये हैं।

---

२. पुद्गल कर्ता है और विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम उसका निश्चयकर्म है (अर्थात् निश्चय से पुद्गल कर्ता है और सातावेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम उसका कर्म है।)

नौ तत्त्व है, यह समझे बिना उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती और सच्ची श्रद्धा बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना उसे कोई व्रत, तप, संवर नहीं होता। सब अज्ञान होता है। तो कहते हैं, पुण्य और पाप भगवान तीर्थंकरदेव परमात्मा ने क्या स्वरूप कहा कि जो पुण्य और पापभाव दोनों हेय हैं। समझ में आया? हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं। धर्म नहीं। पुण्य और पाप दोनों भाव धर्म नहीं है परन्तु है, उन्हें जाननेयोग्य है। सम्यग्दृष्टि को भी पुण्य आदि, पाप का भाव आता है। वह जाननेयोग्य है। आदरनेयोग्य नहीं। उस पुण्य-पाप का क्या स्वरूप है, वह बताते हैं। देखो! गाथा १३२।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो।।१३२।।

टीकाः-जीवरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत शुभपरिणाम... देखो! इतने शब्द की व्याख्या। आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड पूर्ण स्वरूप आत्मा है। उसकी पर्याय में जीव कर्ता होकर, कर्ता होकर पुण्यपरिणाम का रटनेवाला होकर आत्मा में शुभभाव पुण्य होता है। समझ में आया? देखो! **जीवरूप कर्ता के...** जीव कर्ता है। करनेवाला है **निश्चयकर्मभूत...** आत्मा की पर्याय में, अवस्था में। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का जो विकल्प उठता है, वह राग है, वह पुण्य है, वह निश्चय से आत्मा का कार्य है। समझ में आया? क्या? सेठी! क्या हुआ?

मुमुक्षु : सर्वथा हेय बताया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सर्वथा हेय।

मुमुक्षु : आश्रय करनेयोग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय-बाश्रय करनेयोग्य बिल्कुल नहीं। पुण्यभाव आश्रय करनेयोग्य माने, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। वह जैन है नहीं। उसे जैन की, वीतराग की आज्ञा क्या है, उसकी खबर नहीं।

मुमुक्षु : आता तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है तो आज्ञा है रखने की? उसमें क्या आया? यह तो कल आ गया। समझ में आया? यहाँ कहते हैं कि जीवरूप कर्ता, अपना निश्चयकर्म

अर्थात् कार्यभूत। आत्मा की पर्याय में होता है, इस कारण निश्चय और शुभभाव है, वह कार्य है। आत्मा की दया का, अहिंसा का, सत्य का, अचौर्य का, ब्रह्मचर्य का, अपरिग्रह के, दान इत्यादि के भाव, भक्ति, व्रत, पूजा ऐसा जो राग आता है, वह निश्चय से कर्ता आत्मा का कार्य है। है वह पर्याय। वह शुभरागरूपी विकारी पर्याय, उसे पुण्य कहते हैं। किसलिए पुण्य कहते हैं, यह भी यहाँ थोड़ा ले लेंगे। समझ में आया? खबर नहीं होती, क्या पर्याय है? बेरियाजी! पर्याय सिद्ध में भी लागू पड़ गयी। पर्याय पीछा नहीं छोड़ती। पर्याय तो अपना स्वभाव है। विकारी हो या अविकारी हो, प्रत्येक आत्मा के पर्याय परिणाम अवस्था कहो, पर्याय कहो, वह उसका धर्म है। धर्म का नाम उसका स्वभाव है। पर्याय न हो तो द्रव्य नहीं होता, द्रव्य न हो तो पर्याय नहीं होती। परन्तु खबर नहीं। वस्तु ऐसे ऐसी अन्धाधुन्ध चले और मान ले।

भगवान आत्मा द्रव्य है। अनन्त गुण का पिण्ड, पदार्थ। उसकी पर्याय में परिणमन है। पलटना-अवस्था होती है। उसमें यह पुण्यपरिणाम एक अवस्था है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप ऐसा जो विकल्प उठता है, वह बाहर की क्रिया नहीं है। राग उठता है, वह शुभपरिणाम-पुण्य है। जिससे सातावेदनीय आदि बन्ध पड़ता है। धर्म नहीं। **निश्चय कर्मभूत...** देखो! यह निश्चय से आत्मा का कार्य है। कौन? शुभपरिणाम, शुभभाव, शुभपर्याय, शुभविकारी दशा वह आत्मा में, आत्मा से कर्ता होकर शुभपरिणाम आत्मा की पर्याय में होते हैं। उसका कर्ता आत्मा है। कहो, समझ में आया?

वह शुभपरिणाम निश्चयकर्मभूत द्रव्यपुण्य को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं... क्या कहते हैं, जो शुभभाव हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, दया, आदि नये पुण्य सातावेदनीय, उच्चगोत्र, लम्बा आयुष्य इत्यादि। जिसका लम्बा हो—नारकी का तो सात है। मनुष्य आदि का। ऐसा आयुष्य और नामकर्म पुण्य-यशकीर्ति इत्यादि। ऐसी जड़ प्रकृति बँधती है, उसमें शुभपरिणाम निमित्त पड़ता है। उसे निमित्त कहा जाता है। कहो, समझ में आया? शुभपरिणाम, जो जीव का निश्चय कार्य है। यह द्रव्यपुण्य। द्रव्यपुण्य समझ में आता है? जड़... जड़। कर्म में सातावेदनीय आदि रजकण जो पड़े, रजकण धूल बारीक आठ कर्म हैं, उनमें चार कर्म अघाति में पुण्य हैं आधे। दूसरे पाप हैं। और चार घातिकर्म तो अकेले पाप ही हैं।

मुमुक्षु : घात करनेवाले...

पूज्य गुरुदेवश्री : घात करनेवाले नहीं। ऐसा नहीं कहते। पाप है, ऐसा कहते हैं। कर्म अपनी पर्याय का घात नहीं करते। कहनेमात्र हैं। कर्म तो जड़ हैं। परपदार्थ अपनी पर्याय को घात करे, ऐसा कभी नहीं होता। घातिकर्म घात करे। यह नाम आया। भिखारी का लक्ष्मीचन्द नाम आया तो लक्ष्मीचन्द हो गया? भिखारी को लक्ष्मीचन्द नाम नहीं देते। ऐसा यह नाम है। वह परमाणु की पर्याय का नाम घातिकर्म कहा गया है। आत्मा अपनी पर्याय को उल्टा होकर घात करता है, तब वह घातिकर्म निमित्त कहे जाते हैं। इस कारण से घाति कहने में आया है। आहाहा! घात अपने से अपनी पर्याय में (होता है)। पर से होता है? समझ में आया? दोपहर में आता है। अपने परिणाम अपने में होते हैं, पर के परिणाम पर में हैं।

जैन सम्प्रदाय में जन्मे, परन्तु जैन परमेश्वर क्या कहते हैं, नहीं खबर अपने को, नहीं खबर त्यागी को। जय नारायण, ऐसा चले। 'जय नारायण' भटकने का हो। चार गति में भटकेगा। कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा अपने अन्तर आनन्द और ज्ञातादृष्टा स्वभाव में से अस्थिर होकर जो पुण्य के शुभपरिणाम होते हैं, वह आत्मा का निश्चय से यथार्थ से कार्य है। वह शुभकार्य नये द्रव्यपुण्य को निमित्त है। सातावेदनीय आदि नये कर्म बँधते हैं, उसमें यह शुभपरिणाम निमित्त है। समझ में आया?

द्रव्यपुण्य को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं, इसलिए 'द्रव्यापुण्यास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके)... देखो! यह आया? द्रव्यपुण्य जड़ में परमाणु में होता है। सातावेदनीय जड़, अजीव मिट्टी, सूक्ष्म धूल है। उस धूल में जो सातावेदनीय है, वह जड़ के पुण्यप्रकृति परिणाम कहे जाते हैं। जड़ के परिणाम, हों! उस **'द्रव्यापुण्यास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके)...** यह निमित्त जो जड़-पुण्य होता है, उसका अनुसरण-अनुलक्ष करके शुभपरिणाम को पुण्य कहा गया है। समझ में आया? यह विवाद है न! पहला निमित्त, पहला निमित्त। पहला निमित्त क्या है? यह बदल दिया। पण्डितजी ने पक्ष लिया, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

अरे! भगवान! तत्त्व क्या है, नव तत्त्व में द्रव्य कितने और पर्याय कितनी, यह तो

खबर नहीं होती! भगवान जाने! भगवान तो जानते हैं न! तुझे क्या खबर है? नव तत्त्व भगवान ने कहे, उसकी यथार्थ श्रद्धा आत्मज्ञानपूर्वक होती है। तो सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन बिना कोई व्रत, तप, संयम होता ही नहीं। सब बाल (तप), अज्ञान तप है। मूर्खता से भरपूर, अज्ञान मूर्खता है। यह तो खबर नहीं। क्या है? कहते हैं कि नौ तत्त्व में जो पुण्यपरिणाम है, वह शुभभाव, वह नये जड़कर्म में निमित्त पड़ता है। जड़कर्म पुण्य है तो पुण्य का अनुलक्ष करके शुभभाव को भी पुण्य कहा। ऐसा यहाँ सम्बन्ध लगाया है। यहाँ शुभभाव से, वहाँ पुण्य का निमित्त नहीं लगाया। सेठी! यह फिर से कहते हैं न?

शुभभाव हुआ, उससे वहाँ द्रव्य पुण्य बँधा तो उसे पुण्य कहा, ऐसा यहाँ नहीं कहा। नया जो जड़ द्रव्य पुण्य बँधता है, सातावेदनीय, उच्च गोत्र, देवाधिदेव का लम्बा आयुष्य इत्यादि। समझ में आया? वह जड़ की-परमाणु की पर्याय है। द्रव्य पुण्य परमाणु पुद्गल अजीव मिट्टी मूर्त धूल की पर्याय है। उसे पुण्य कहा तो उसमें जो भाव निमित्त पड़ा, उसका अनुलक्ष करके, उसे अनुसरण कर शुभभाव को भी पुण्य कहा है। अमरचन्दभाई! यह दूसरी गति से बात है। यहाँ से लगाया है, यहाँ से नहीं। कर्म पुण्य बँधाता है, इसलिए भाव को पुण्य कहा गया है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....भाव तो पहले है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले नहीं। पहले कहाँ से आये? कौन कहता है पहले?

मुमुक्षु : ...हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, हुए बुए नहीं। सब एक साथ है। कहाँ से आये?

मुमुक्षु : शुभ होने पर भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, इतना सिद्ध करना है। एक समय में, एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में जब द्रव्य पुण्य बँधता है, जड़ में जड़ के परिणाम होते हैं, पुण्यरूप परिणाम जड़ में, जड़ में जड़ के परिणाम। यह अपेक्षा लेकर शुभभाव को आत्मा में शुभभाव हुआ। दया, दान, व्रत, तप का विकल्प जो शुभराग, उसे भगवान कहते हैं कि द्रव्य पुण्य का अनुलक्ष करके उसे पुण्य कहा है। समझ में आया? पहले-पश्चात् नहीं।

सेठी! क्या हुआ? और पहले वहाँ हुए और यहाँ कहाँ से आये? यह विवादी प्रश्न है। पहले निमित्त हुआ और फिर नैमित्तिक हुआ, ऐसा कोई निकालता है। ऐसा है ही नहीं। साथ में है। स्वतन्त्र नहीं, साथ है। स्वतन्त्र तो है परन्तु दोनों एक समय....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह नहीं। भाव तो द्रव्यपुण्य में निमित्त है। इस कारण उसे पुण्य कहा। पश्चात् कहा गया। द्रव्य पुण्य में शुभपरिणाम निमित्त है। नये बँधते हैं, वह शुभपरिणाम में निमित्त है नहीं। उसे पुण्य कहा गया है। ऐसी बात है। समझ में आया?

आत्मा में तो अनन्त गुण आनन्द सच्चिदानन्द सिद्ध समान आत्मा है। द्रव्य वस्तु वस्तु। पर्याय में जितने दया, दान, व्रत के परिणाम आते हैं, वह शुभराग है, पुण्य है। तो कहते हैं कि उसे पुण्य क्यों कहा? कि सातावेदनीय आदि जड़ कर्म पुण्य बँधता है, उसका अनुलक्ष करके शुभभाव को पुण्य कहा गया है। वे नये (कर्म) बँधते हैं, वह शुभपरिणाम में निमित्त है, ऐसा नहीं। क्या? यहाँ तो बहुत अन्तर है। नये कर्म बँधते हैं, वे शुभपरिणाम में निमित्त हैं, ऐसा नहीं। परन्तु नये बँधते हैं, उनमें शुभपरिणाम निमित्त है। शुभपरिणाम निमित्त है। शुभपरिणाम में नये कर्म निमित्त हैं, ऐसा नहीं। समझ में आया? यहाँ तो इतना सिद्ध करना है कि भगवान आत्मा अपनी पर्याय में जो जितने परिणाम दया, दान, व्रत, यह तप में राग मन्द करने से हो तो, शुभपरिणाम हो तो उसे पुण्य क्यों कहा? वह नये सातावेदनीय परमाणु में से बँधते हैं, वह पुण्य बँधता है। पुण्य बँधता है, उसका अनुलक्ष करके शुभभाव को पुण्य कहा गया है। शुभभाव में द्रव्य पुण्य निमित्त है, ऐसा नहीं है। परन्तु द्रव्यपुण्य के कारण शुभभाव को पुण्य कहा गया है। बस इतना। और शुभभाव नये द्रव्यकर्म बँधते हैं, वह स्वयं के कारण से बँधते हैं, उसमें शुभपरिणाम निमित्त है। कहो, समझ में आया? लो! यह पण्डित व्यक्ति है और गम्भीर व्यक्ति यह तो हमारे पण्डित में गिना जाता है। कहो, समझ में आया?

यह १३२वीं गाथा चलती है। इस गाथा सम्बन्धी चर्चा बहुत ही चली थी। बारह दिन। फिर से कहते हैं। यहाँ भावपुण्य और द्रव्यपुण्य दो की बात चलती है। भावपुण्य आत्मा के परिणाम हों, उसे भावपुण्य कहते हैं। कौन से परिणाम? दया, दान, अहिंसा,

व्रत, भक्ति, पूजा, सेवा, अनुकम्पा ऐसे भाव वह भावपुण्य है। राग की मन्दता है। भावपुण्य है। किसे भावपुण्य निमित्त पड़ता है? नये सातावेदनीय आदि बँधते हैं, उनमें भावपुण्य निमित्त है। परन्तु जो द्रव्यपुण्य कहे गये हैं, बँधते हैं, इस कारण शुभ को भावपुण्य कहा गया है। समझ में आया?

पहले-बाद की यहाँ बात है ही नहीं कि द्रव्यपुण्य पहले और भावपुण्य बाद में, भावपुण्य पहले और द्रव्यपुण्य बाद में। एक समय में दोनों साथ में होते हैं। सबमें एक साथ होते हैं न! आगे-पीछे होते हैं। समझ में आया? बल्लभदासभाई! समझ में आया इसमें? ऐई! जयन्तीभाई! भगवान जाने क्या होगा, खबर नहीं होती। अन्ध के अन्ध ऐसे के ऐसे। करो सामायिक और करो प्रौषध और करो प्रतिक्रमण। धूल में भी तेरे सामायिक नहीं। अब सुन न! अभी दृष्टि मिथ्यात्व है, अज्ञान क्या है, मिथ्यात्व क्या है, इसकी तो खबर नहीं। सम्यग्दर्शन क्या है, यह भी खबर नहीं। सम्यग्दर्शन तो है नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं, उसकी भी खबर नहीं। हो गये व्रत, संयम और महाव्रत और दया, दान। भगवानभाई! यह सब पुराने लोग हैं। यह जयन्तीभाई और यह बल्लभदासभाई। देखो! जामनगर के पुराने लोग हैं न? आहाहा! अरे रे! कुछ खबर नहीं होती!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ नौ तत्त्व का क्या रूप है, क्या स्वरूप है। उसमें हेय कौन है, उपादेय कौन है। खबर नहीं होती। समझ में आया? और (ऐसा कहे कि) उसे सम्यग्दर्शन है, मान लो। अब व्रत ले लो तो संयम हो गया। धूल में भी नहीं। मूढ़ है। बाल-मूर्खता भरे व्रत, मूर्खता बाल अज्ञानी के वे तप हैं। वैसे व्रत, तप में कोई संवर, निर्जरा है नहीं। सेठी! अब तो बहुत ही सुनते आये हैं न? अब क्या कठिन पड़ता है?

क्या कहा? देखो! यहाँ आचार्यदेव ने इतने नये बोल लिये कि आत्मा तो पवित्रधाम अनन्त गुण का पुंज आत्मा भगवान है। उसे आत्मा ज्ञायकभाव (कहते हैं)। अब उसकी पर्याय का नाम आत्मा कहा। अब पर्याय में कैसे भाव को पुण्य कहा और इसे पुण्य क्यों कहा? दो बोल है। उसकी पर्याय में, भाव में जितने दया, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव होते हैं, वे शुभपरिणाम है। शुभपर्याय है, विकारी पर्याय है, मलिन दशा है, उपाधिभाव है, वह शुभपरिणाम भावपुण्य कहा गया है। भावपुण्य। भावपुण्य क्यों?

कि आत्मा की पर्याय में होता है, अवस्था में। इसलिए भावपुण्य कहा गया है। वह भावपुण्य निमित्त नये सातावेदनीय आदि नये कर्म बँधते हैं, वह द्रव्यपुण्य। तो द्रव्यपुण्य का लक्ष्य करके, अनुसरकर है तो समय एक ही। शुद्ध भाव को पुण्य कहा गया है। द्रव्यपुण्य को अनुसरकर कहा गया है। द्रव्यपुण्य भावपुण्य में निमित्त से है, ऐसा नहीं। भावपुण्य द्रव्यपुण्य में निमित्त है। द्रव्यपुण्य भावपुण्य को निमित्त है, ऐसा नहीं। परन्तु द्रव्यपुण्य को पुण्य कहा तो उस पुण्य का अनुलक्ष करके शुभभाव को भावपुण्य कहा गया है। समझ में आया? इतना यहाँ कहा। समझ में आया?

वास्तव में तो यह शुभभाव है, वह आत्मा का स्वभाव है ही नहीं। समझ में आया? वह तो विकार है, विभाव है, मैल है, जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम, क्रोध, पाप मैल है, उसी प्रकार दया, दान, अहिंसा, विकल्प, पुण्य मैल है। धर्म नहीं। अज्ञानी को खबर नहीं। वह धर्म। दूसरे को धर्म कहे, मिथ्यात्व का सेवन करे, मिथ्यादृष्टि की पुष्टि करे और माने कि हमने धर्म किया। कहो, जयन्तीभाई! क्या किया? अभी तक क्या किया है?

मुमुक्षु : प्रातिहार्य मिले न?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रातिहार्य मिले। धूल में से मिले। उसमें आत्मा को क्या हुआ? धर्म नहीं। हो गया। ....पुण्यबन्ध... भवकट्टी का नाश न हो। दया, दान, परिणाम से चार गति में परिभ्रमण करेगा। समझ में आया? वह हेय है। जयसेनाचार्य में लिखा है। उसमें से सब लिया है। जयसेनाचार्य की टीका में १३३ गाथा शुरु करके तो यह हेय की बात की द्रव्यभाव की। उसमें से सब मोक्षमार्गप्रकाशक (में लिया है)। समझ में आया?

शुभपरिणाम 'भावपुण्य' हैं। देखो! कोष्ठक में। **सातावेदनीयादि...** नये कर्म बँधते हैं न शुभभाव से? नये कर्म बँधते हैं। शुभभाव से संवर, निर्जरा नहीं होती। संवर, निर्जरा तो आत्मा अखण्डानन्द शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति, उसका अन्तर में अवलम्बन करके भगवान परमानन्द अपनी ही ज्योति, उसकी अन्तर में दृष्टि करके जब निर्मल पर्याय होती है, उसे भगवान संवर, निर्जरा कहते हैं। समझ में आया? बाकी थोथेथोथा पुण्य और पाप के परिणाम करे, बन्ध करे और चार गति में भटके। समझ में आया?

सातावेदनीयादि.... आदि शब्द से ? सातावेदनीय, नामकर्म, गोत्र, आयुष्य। ऊँचा मनुष्य, आयुष्य और स्वर्गादि। **द्रव्य पुण्यास्त्रव....** द्रव्य पुण्यास्त्रव कहा, **जो प्रसंग बनता है, उसमें...** द्रव्य पुण्यास्त्रव कौन ? नये आते हैं वे। यह नये आते हैं, उसमें यहाँ पूर्व की बात नहीं है। जो शुभभाव नये परमाणु स्वयं के कारण से आते हैं, **सातावेदनीयादि द्रव्यपुण्यास्त्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें प्रसंग बनता है...** परमाणु में कर्म की पर्याय **उसमें जीव के शुभपरिणाम निमित्तकारण हैं...** द्रव्य पुण्यास्त्रव जो आता है, उसमें जीव के शुभपरिणाम निमित्त हैं। **इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उसके...** द्रव्य पुण्यास्त्रव जो रजकण आये, उसे अनुसरकर, लक्ष्य करके, पीछे-पीछे का अर्थ बाद में पर्याय हुई, ऐसा नहीं। उसे द्रव्य पुण्य कहा, तो यहाँ शुभ को भावपुण्य कहा गया। साथ-साथ में। पीछे-पीछे अर्थात् साथ में नाम लिया। सेठ हो तो उसका नाम नौकर देते हैं।

उसके निमित्तभूत... किसके निमित्तभूत ? नये द्रव्य पुण्यास्त्रव आते हैं। नये जड़कर्म का बन्ध आता है, वह द्रव्यपुण्य, **उसके निमित्तभूत शुभपरिणाम को भी 'भावपुण्य' ऐसा नाम है।** भावपुण्य ऐसा नाम है। भावपुण्य आत्मा की विकारी पर्याय है। जड़कर्म पुण्य की विकारी पर्याय है। पुद्गल की विकारी पर्याय है। दोनों भिन्न-भिन्न चीज़ है। द्रव्यपुण्य जड़ की पर्याय है। भावपुण्य जीव की विकारी पर्याय है। दोनों चीज़ भिन्न-भिन्न है। समझ में आया ? भगवान जाने भावपुण्य क्या होगा और द्रव्यपुण्य क्या होगा ? समझ में आया ? भगवान तो जानते हैं। वह भगवान बतलाते हैं।

इस प्रकार जीवरूप कर्ता के... एक बोल चला। पुण्यपरिणाम की बात। उसे शुभभाव पुण्य क्यो कहा ? कि द्रव्यपुण्य आता है, वह द्रव्यपुण्य वास्तव में जड़ की पर्याय है, उसका लक्ष्य करके उसे भावपुण्य कहा गया है। नहीं तो विकारी भाव है, उसे पुण्य कैसे कहा ? द्रव्यपुण्य के कारण उसे भावपुण्य कहा। समझ में आया ? खास बात है इसलिए उसमें से एक व्यक्ति कहता है। देखो! पहले निमित्त, उसके पीछे-पीछे नैमित्तिकभाव। ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : समयभेद नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समयभेद नहीं।

मुमुक्षु : कालभेद।

पूज्य गुरुदेवश्री : कालभेद भी कहाँ है ? वह तो द्रव्यपुण्य सातावेदनीय में कहा तो यहाँ भावपुण्य उसमें निमित्त है। तो द्रव्यपुण्य वहाँ निमित्त है, तो यहाँ भावपुण्य कहा गया है। वास्तव में विकारी परिणाम को भावपुण्य क्यों कहा ? कि जिस द्रव्यपुण्य का उसमें निमित्त पड़ा। और द्रव्यपुण्य को पुण्य कहा, इस कारण इसे भावपुण्य कहा। बस यह बात है। आहाहा! देखो! अमृतचन्द्र आचार्य महाराज ने ऐसा शब्द लिया है। पाठ में लिया है, अनुसरकर, **'द्रव्यपुण्यास्त्रव' प्रसंग के अनुसरण करके...** ऐसा पाठ है। अमृतचन्द्राचार्य की टीका। समझ में आया ? ऐसी बात यह समझना। इसकी अपेक्षा तो पाल न दया और व्रत, हो जायेगा कल्याण। इसलिए तो बेचारा मर गया, ऐसा का ऐसा। अनन्त काल चला गया। उसमें भी कहीं इसके जन्म-मरण नाश हुए नहीं। देवीलालजी! क्या है ? करो भक्ति भगवान की! कर डालो। वह कहे पालो दया, वह कहे करो यात्रा, वह कहे करो व्रत, दूसरा कहे कर डालो अपवास। सब मूढ़ के मूढ़ हैं। उसमें धर्म मानते हैं वे। भाव शुभ है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : अज्ञानी के शुभभाव की क्या कीमत है ? ज्ञानी के शुभभाव भी बन्धनरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बन्धनभाव... यह तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है न, इसे शुभभाव है उसमें तो कुछ लाभ है नहीं। चार गति... सम्यग्दृष्टि को शुभभाव आता अवश्य है भक्ति का, व्रत का, परन्तु उसे राग-पुण्य बन्ध का कारण जानता है। अपने आत्मा की शान्ति और धर्म का कारण नहीं मानता। अज्ञानी उसे धर्म मानता है। कहो, भीखाभाई!

मुमुक्षु : मान्यता....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तो उसके लिये तो नौ पदार्थ बतलाते हैं। यह आत्मा के सन्मुख होकर नौ पदार्थ जैसे हैं, वैसे उन्हें मानना, तो उसका नाम सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया ? भगवान क्या कहते हैं ? भगवान क्या ? नौ तत्त्व के नाम भी अभी बहुतों को नहीं आते। वापस जीव-अजीव बोल जाये, परन्तु किसे कहते हैं ? समझ में आये बिना वापस उसे समझाये। यह भीख माँगने की टेव है, कहते हैं। भीखालाल है न ? समझ में आया ? भीखालाल नाम है न ?

यहाँ तो भगवान कहते हैं कि किसी की पर्याय का कोई करनेवाला है ही नहीं। भीखाभाई की याचना कहाँ आयी? कहो, समझ में आया? यह पुण्यपरिणाम की बात की। पुण्यपरिणाम है। अरूपी विकारी आत्मा में भाव होते हैं। अहिंसा के, दया के, दान के, अनुकम्पा के, सेवा के, भगवान के नाम स्मरण के। वे सब शुभराग हैं। पुण्यभाव हैं, पुण्यबन्ध का कारण हैं। संवर, निर्जरा नहीं। वह नया पुण्य बँधता है, उसे पुण्य कहा गया। उसे अनुसरकर शुभभाव को पुण्य कहा गया है। बस! समझ में आया? सेठ! पूछे तो यह कहना आयेगा या नहीं? इनकार करते हैं तुम्हारे। राजमलजी कहे, आता नहीं। इतनी हिम्मत भी थोड़ी नहीं आयी? कि कह सके। इतनी बार तो बात की।

आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है। किसी ने बनायी नहीं। अकृत्रिम पदार्थ आत्मा। उसकी पर्याय में इतना भाव दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का आया, उसे भावपुण्य क्यों कहा? उस भाव को पुण्य क्यों कहा? कि उसके निमित्त से नया द्रव्य पुण्य बँधता है। उसे अनुसरकर उसे भावपुण्य कहा गया है। बस, इतनी बात है, लो! यह भावपुण्य आत्मा का निश्चय कार्य है। यह आ गया निश्चय कर्म। भावपुण्य आत्मा का निश्चय कार्य है और द्रव्यपुण्य, वह परमाणु का निश्चय कार्य है। समझ में आया?

इस प्रकार... अब पाप की बात लेते हैं। **जीवरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत...** कर्म अर्थात् कार्यभूत अशुभपरिणाम। हिंसा का भाव, भूत का भाव, चोरी का, विषय का, परिग्रह का, क्रोध, मान, माया, लोभ, भोग-वासना सब अशुभभाव हैं, पापभाव हैं। मलिनभाव पापभाव हैं। वह **जीवरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत है।** कर्म अर्थात् कार्य। वह जीव का निश्चय कार्य है। अपनी पर्याय का वह कार्य है। जीव में पाप होता है। कोई जड़ में नहीं। पुण्य भी जीव में होता है, पर में नहीं। अपना आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय। द्रव्य अनन्त गुण का पिण्ड, गुण अनन्त शक्तियाँ, उसकी पर्याय, हालत-हालत में पाप भाव होते हैं। पुण्य भी उसकी हालत में और पाप भी उसकी हालत में / पर्याय में (होते हैं)। समझ में आया?

कहते हैं, **जीवरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत...** कर्म अर्थात् कार्य। **अशुभपरिणाम द्रव्यपाप को निमित्तमात्ररूप से...** नये पाप बँधते हैं न? ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, असातावेदनीय, नरक आयुष्य आदि। वह पापकर्म का बन्ध है।

उसमें यह पापपरिणाम निमित्त कहने में आता है। नया बन्ध पड़ता है, उसमें पापपरिणाम अशुभभाव निमित्त कहने में आता है। समझ में आया?

वह अशुभपरिणाम **द्रव्यपाप को निमित्तमात्ररूप से...** द्रव्य-पाप अर्थात् जड़। असातावेदनीय, ज्ञानावरणीय कर्म बँधे वह जड़, वह द्रव्यपाप। मिट्टी, धूल, अजीव। उसे अशुभपरिणाम निमित्त हुए, वह भाव जीव का पाप। जीव के भावरूपी पाप। वह अरूपी विकारी भाव। और जड़कर्म है, रूपी, मूर्त जड़ पर्याय। कर्म की जड़पर्याय। समझ में आया? ऐसी बात भी सुनी न हो। जयन्तीभाई! चलती कहाँ है पूरे दिन मूढ़ते हैं, यह करो और यह करो। अपवास कर डालो, आम्बेल कर डालो। सामायिक करो, प्रोषध करो। परन्तु तू कौन है? क्या करता है, यह तुझे कुछ खबर है? (आत्मा के) भान बिना। समझ में आया? मिथ्यादर्शन में धर्म कर लो! श्रद्धा तो विपरीत है। भान तो है नहीं। क्या पुण्य, क्या पाप, क्या बन्धन, क्या जड़। जड़ में निमित्त कौन है? समझ में आया?

तो कहते हैं, निश्चय जीव का कार्य पापपरिणाम है। हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष पापपरिणाम है। अरूपी जीव के परिणाम हैं। जीव का कार्य है। जीव में होता है। जीव स्वतन्त्र होकर पापपरिणाम को करता है। समझ में आया? कर्म-बर्म की यहाँ बात नहीं की, हों! पूर्व के कर्म निमित्त हैं, वह साधारण बात दोनों में ली ही नहीं। पुण्य में भी पूर्व के कर्म निमित्त हैं, यह बात ही नहीं ली। पाप में भी पूर्व के कर्म निमित्त हैं, यह बात ही नहीं ली। पापपरिणाम होते हैं, नये असाता आदि बँधे, उसमें पापपरिणाम निमित्त कहे जाते हैं। ऐसा लिया है।

अमृतचन्द्राचार्य की शैली भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। भगवान के पेट (अभिप्राय) खोलकर जो बात की, उसे टीका में स्पष्ट कर दिया। समझ में आया? अशुभपरिणाम, कौन? कि जीव का निश्चय कार्य है, वास्तव में जीव का पापपरिणाम कार्य है। विकल्प पाप का हिंसा, झूठ, चोरी, विषय इत्यादि, वह अशुभपरिणाम द्रव्य पाप को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असातावेदनीय को **निमित्तमात्रपने...** क्योंकि जड़ पर्याय भिन्न है, यह पापपरिणाम भिन्न है। निमित्त का अर्थ कारणभूत है। नये जड़कर्म बँधें, उसमें पापपरिणाम निमित्तरूप कारण है। पाप के परिणाम में पूर्व के कर्म निमित्त

हैं, यह बात यहाँ नहीं ली है। नये कर्म में तो निमित्त है। नये कर्म पाप के परिणाम में निमित्त है, ऐसा है ही नहीं। भारी गड़बड़, भाई! समझ में आया?

नया बन्ध पड़ता है, वह अशुभपरिणाम में निमित्त है, ऐसा है नहीं। नया बन्ध पड़ता है, उसमें अशुभ पापपरिणाम निमित्त है। यहाँ पाप को पाप क्यों कहा? यह कहते हैं, देखो! **इसलिए 'द्रव्यपापस्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके)...** वह द्रव्य पाप बँधा, उस द्रव्य पापास्त्रव का प्रसंग बना, वहाँ परमाणु की पर्याय बनी, असातावेदनीय जड़ में बना, उस **'द्रव्यपापस्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे अशुभपरिणाम 'भाव पाप' हैं।** ऐसा कहा गया है। कहो, समझ में आया?

उदय की बात है ही नहीं। यह तो कहा न पहले? उदय का क्या काम है? स्वयं से परिणाम होते हैं, उसका क्या काम है? यह परिणाम स्वयं से हुए, उसमें नया बन्ध पड़ा, वह परिणाम उसे निमित्त पड़े और जो बन्ध हुआ, वह पुण्य का बन्ध हुआ, तो यहाँ शुभभाव को पुण्य कहा। अशुभपरिणाम निमित्त नये असाता के बँधे, वह पाप। तो यहाँ अशुभपरिणाम को पाप कहा। बस, इतनी बात है। समझ में आया? पूर्व को पूर्व के पुण्य की बात है ही नहीं। पूर्व की यहाँ बात है ही नहीं।

यहाँ तो शुभभाव परिणाम हुए तो अपने राग की मन्दता करने से दया, दान, व्रत के शुभभाव हुए। इस परिणाम में पूर्व के कर्म की बात ली ही नहीं। वे परिणाम नये बन्ध में निमित्त हैं और नये बन्ध में पुण्य पड़ा तो शुभपरिणाम को पुण्य कहा, पाप पड़ा तो अशुभपरिणाम को पाप कहा। बस इतनी बात ली गयी है। समझ में आया? दो बोल हो गये। भावपुण्य, द्रव्यपुण्य, भावपाप, द्रव्यपाप। भावपुण्य-भावपाप, वह जीव की पर्याय है, द्रव्यपाप-द्रव्यपुण्य वह कर्म की, पुद्गल की जड़ पर्याय। उस जड़ की पर्याय का करनेवाला आत्मा नहीं और आत्मा के पुण्य-पापभाव को करनेवाला कर्म जड़ नहीं। समझ में आया?

अब पुद्गल की बात लेते हैं, देखो! जीव की ली, अब पुद्गल की। **पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत...** देखो! पुद्गलकर्ता। कौन कर्ता? यह सातावेदनीय बँधती है, सातावेदनीय, उच्चगोत्र ऐसे पुण्य के परमाणु बँधते हैं। उस पुण्य की पर्याय का कर्ता

कौन? तो कहते हैं। वह पुद्गल कर्म है। जड़ पुण्य की पर्याय का कर्ता निश्चय से पुद्गलकर्म है। वह पुद्गल का निश्चय कार्य है। कौन? जो सातावेदनीय बँधी, उच्च गोत्र बँधा, वह पुद्गल का निश्चय कार्य है। जड़ की पर्यायरूपी कार्य, वह पुद्गल का निश्चय कार्य है। आत्मा का नहीं। समझ में आया?

पुद्गलकर्म नये परमाणु, रजकण हैं न? धूल। आठ कर्म मिट्टी। वह मिट्टी है। यह जैसे मिट्टी, वैसे आठ कर्म अन्दर सूक्ष्म धूल है। बारीक मिट्टी। **पुद्गलरूप कर्ता के...** वह पुद्गल कर्ता होकर **निश्चयकर्मभूत...** नीचे (फुटनोट में है।) लिखा है। **पुद्गल कर्ता है और विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम उसका निश्चयकर्म है...** देखो! **(अर्थात् निश्चय से पुद्गल कर्ता है और सातावेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम उसका (पुद्गल का कर्म है।)** यह पुद्गल का कार्य है।

आठ कर्म में सातावेदनीय आदि चार कर्म जो अघाति के बँधते हैं, वह पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल की पर्याय जो साता आदिरूप हुई, उसका निश्चय से कर्ता पुद्गल है। पुद्गल के पुण्यपरिणाम, जड़ की पर्याय में हुए, सातावेदनीय जड़ की पर्याय वह पुद्गल का निश्चय कार्य है। कुछ खबर नहीं होती.... और हो जाये समझे बिना धर्म।

मुमुक्षु : समझ नहीं पड़ती तब आँसु पड़ते है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब आँसु पड़ते है न? कहो, समझ में आया? पहले जीव की बात की। शुभ-अशुभभाव को पुण्य-पाप क्यों कहा? और किसमें वह पुण्य-पाप निमित्त पड़े। उसका नाम कैसे पड़ा, इसकी बात पहले कर दी। अब यह पुण्यपरिणाम जो जीव में हुए, वहाँ जड़ में सातावेदनीय बँधे, उच्च गोत्र बँधे, वह पुद्गल का निश्चय कार्य है। आत्मा उसे बाँधता नहीं। आत्मा अरूपी है, वह (कर्म) तो जड़, मिट्टी, धूल है। धूल की पर्याय आत्मा कहाँ से करे? लोग कहते हैं न आत्मा अकत्ता और विकत्ता, आत्मा कर्म को करे और आत्मा कर्म को भोगे। मूढ़ है, ऐसा कहाँ से लाया? जड़ की पर्याय आत्मा करे? जड़ की पर्याय आत्मा भोगे? समझ में आया? यह तो निमित्त का कथन है। निमित्त का कथन आयेगा। समझ में आया?

आठ कर्म हैं। उनमें चार कर्म अघाति, वे दो प्रकार से हैं। पुण्य और पाप। चार

घाति, अकेले पाप। मिट्टी, धूल, हों! आठ कर्म जड़ रजकण है। तो वह **पुद्गलरूप कर्ता का...** निश्चय कार्य। वह पुद्गल का कार्य। और पुद्गल को कार्य होगा? जीव को कार्य होगा? अरे, सुन न! वह पुद्गल का कार्य है। क्या कहते हैं यह? पुद्गल की पर्याय है।

मुमुक्षु : हैरान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हैरान किया तुम्हारे भाव ने। किसी ने हैरान किया नहीं। जैचन्दभाई! अपने आप हैरान हो गया न, कर्म ने हैरान किया, (ऐसा) मूढ़ मानता है। जैचन्दभाई! तुमने कर्म देखे हैं? कर्म कहाँ हैं? कर्म तुमको हैरान कर गये? कर्म तो जड़ हैं। जड़ की पर्याय आत्मा को हैरान कर सकती है? यह मानता है। मूढ़-मिथ्यादृष्टि जैन नहीं है। उसे वीतरागमार्ग की खबर नहीं है, ऐसा कहते हैं। वे कहाँ गये? क्या कहते हैं? हैरान हो गये। हैरान हो गये। दोनों इकट्ठे थे तब प्रसन्न होंगे मानो मजा होगा, धूल में। दो भाई इकट्ठे हों तब मजा होगा। धूल में भी मजा नहीं। कल्पना है, कल्पना के घोड़े। धूल में मजा कहाँ था वहाँ? पाँच-पच्चीस लाख पैसा (रुपया) हो या दस लाख धूल हो, वह सब दुःखी के सरदार हैं। समझ में आया? हैरान... हैरान... हैरान... हैरान। हैरान भाव में, हों! पर के कारण नहीं। अपनी पर्याय में कल्पना दौड़ावे, ऐसे हम पैसेवाले हैं, हम सुखी हैं। हमारे पैसे आते हैं। मूढ़ है। पर के पैसे कहाँ तेरी चीज़ है। वह तो जड़ है। मानते हैं कि हम सुखी हैं। मूढ़ है। प्रतिकूलता में हैरान हो गये। वह भी तेरी (स्वयं की) मूढ़ता से हैरान हुआ है। क्या प्रतिकूल संयोग से हैरान होता है। समझ में आया?

पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत.... हों! कार्य निश्चय। जड़ में कार्य होता है। पर्याय उसकी जड़ का कार्य है। खबर नहीं जड़ का कार्य है या नहीं? कार्य तो आत्मा करे। कहीं जड़ करता होगा? अरे! भगवान! सुन तो सही! कोई भी जड़ कार्य बिना एक समय में भी नहीं रहता। कार्य कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो। वस्तु-परमाणु कायम रहकर उसकी पर्याय होती है। वह जड़ का कार्य है। वह कर्म का कार्य पुद्गल का है। आत्मा का नहीं। समझ में आया?

निश्चर्य कर्मभूत... कहाँ गये मलूकचन्दभाई! वह पैसे में याद आये? तुम्हारा लड़का, दु:ख का सरदार है। धूल में करोड़, दो करोड़ हो गये, लो! कहाँ गये वृद्ध। यह वृद्ध रहे। यह इनके मामा के पुत्र के पास पन्द्रह करोड़ हैं। लो न! यह प्रेमचन्दभाई का मामा। पन्द्रह करोड़। एक दिन की तीस, चालीस हजार की आमदनी। धूल में भी सुख नहीं। हैरान-हैरान गोवा में है। मूढ़! पैसा तो धूल है। वह तो मिट्टी अजीव पुद्गल है। उसके कारण तुझमें सुख कहाँ से आ गया?

मुमुक्षु : ऐसा मानते थे कि पैसे में सुख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं कि मूढ़ है। और मानते थे (कि) पैसे में सुख है। व्यर्थ का मूढ़ होकर! मोहनभाई! दोनों अलग पड़े न तो ऐसे अन्दर से खदबद... खदबद... खदबद...। दोनों भाई अलग हुए। वह छोटा अलग पड़ा और कुछ पैसा हो गया, बड़ा पागल हो गया। मस्तिष्क अस्थिर हो गया। एक जगह। आहाहा! यह छोटे को कुछ हुआ। उस बड़े को कुछ हुआ था।

ऐसी की ऐसी दुनिया चलती जाती है। क्या पर के कारण होता है? समझ में आया? आहाहा! यहाँ कहते हैं कि पुद्गल जो मिट्टी रजकण है, 'विहूयरयमला' नहीं आता लोगस्स में। यह उसमें अपने दिगम्बर में भी आता है। विहूरयमला रय=सूक्ष्म धूल है। आठ कर्म की मिट्टी। उसे रज कहा जाता है। रय 'य' का 'ज' होता है। और मल, यह पहले कहा राग-द्वेष, दया-दान के परिणाम वे मैल भावकर्म हैं। वह पापपरिणाम भावकर्म है। उस भावकर्म को मल कहा है, जड़कर्म को रज कहा है। दोनों चीज़ें अलग हैं। मल, वह अपनी पर्याय में (होता है)। यह पुण्य-पाप के भाव वह मैल है और जड़कर्म बँधता है, वह रज है। सूक्ष्म मिट्टी, यह मिट्टी है न? यह स्थूल है। वह आठ कर्म की सूक्ष्म मिट्टी है सूक्ष्म। कार्मण रजकण। धूल अजीवतत्त्व है, मिट्टी है। उस मिट्टी में जो कर्म की पर्याय होती है, वह पुद्गलकर्ता होकर होती है, ऐसा कहते हैं। ओहोहो! स्वतन्त्र! कर्ता की व्याख्या स्वतन्त्र। उसमें भी कर्ता होकर किया न? स्वतन्त्र। कर्ता की व्याख्या स्वतन्त्र।

आत्मा पुण्य और पाप के परिणाम करे, वह स्वतन्त्र होकर करता है। कर्म है तो

पुण्य-पाप करता है, ऐसा नहीं। और आत्मा ने पुण्य-पाप किये तो कर्म उसके अवलम्बन से बँधकर पड़े हैं, ऐसा है ही नहीं। **पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत विशिष्ट-प्रकृतिरूप...** विशिष्ट अर्थात् खास। जैसे कि साता आदि परिणाम। किसके परिणाम? जड़ के। जड़ में सातावेदनीय आदि पर्याय हुई, वे पुद्गल के परिणाम हैं। परिणाम कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो, दशा कहो, हालत कहो या कार्य कहो। समझ में आया?

पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृति... खास प्रकृति परिणाम, ऐसा। सातावेदनीय आदि मुख्य प्रकृति। विशिष्ट कहा न? यहाँ विशिष्ट का अर्थ मुख्य। मुख्य प्रकृतिरूप परिणाम। साता अर्थात् उच्च गोत्र लें, **कि जिनमें जीव के शुभपरिणाम निमित्त हैं...** देखो! सातावेदनीय पर्याय हुई, वह कर्म का कार्य है। निश्चय से कर्म का कर्तृत्व है - **कि जिनमें...** जिनमें अर्थात् सातावेदनीय कर्म बँधा, उसमें। **जीव के शुभपरिणाम निमित्त हैं...** कहो, समझ में आया?

वे—द्रव्यपुण्य हैं। जड़ को द्रव्यपुण्य कहते हैं। जड़-जड़ रजकण, मिट्टी, धूल। जो पाप होता है न, यह पैसा आदि मिलते हैं, वह निमित्त से कहने में आता है। इसके विकल्प में पुरुषार्थ है नहीं। यह धूल आती है न? पाँच-पचास लाख। वह धूल आती है, उसमें पूर्व का द्रव्यपुण्य निमित्त कहने में आता है। उसके राग से और पुरुषार्थ पैसा आता है, ऐसा तीन काल तीन लोक में नहीं है। ऐसे द्रव्यपुण्य को जड़ का कार्य कहा जाता है। ओहोहो! उसे कैसे खबर पड़े कि मुझे सातावेदनीयरूप से बन्धन... खबर की कहाँ आवश्यकता है? खबर हो तो एक ही द्रव्य सिद्ध होगा।

भगवान ने तो छह द्रव्य देखे हैं। भगवान ने ज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश और काल असंख्य। ऐसा भगवान ने केवलज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। जाननेवाला एक ही द्रव्य है और दूसरे पदार्थ नहीं, ऐसा है नहीं। अनन्तगुणे जड़ हैं। आत्मा से तो अनन्तगुणे परमाणु हैं। इस जगत में परमाणु हैं, वे अनन्तगुणे हैं। जितनी संख्या जीव की है, उससे अनन्तगुणे परमाणु की संख्या है। अनादि से है। जो खबरवाला द्रव्य है तो अकेला आत्मा सिद्ध होगा और अनन्तगुणे परमाणु साबित नहीं होंगे। उस परमाणु में अपनी पर्याय होने की ताकत है। वास्तव में उसके द्रव्य में वह पर्यायशक्ति पड़ी है। आहाहा! और यह आया,

लो! यह द्रव्य पुण्य होने की पर्याय में परमाणु में अन्दर गुण में शक्ति पड़ी है। उस रूप काल आया तो द्रव्यपुण्यरूप पर्याय हो गयी। कार्य का कारण में कथंचित् सत्त्व है। कारण में सत्त्व न हो और अध्धर से कार्य हो जाये, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? ऐसी बात है।

आत्मा में भी जो पुण्य-पाप के परिणाम हुए, वह परिणाम की शक्ति की योग्यता तो अन्दर थी। गुण है, उसमें क्षणिक पर्याय की ऐसी एक-एक पर्याय की भिन्न-भिन्न योग्यता है। सब गुण में विकार होने की योग्यता नहीं है। उसमें भी भिन्न-भिन्न क्षणिक अवस्था है। जो अवस्था होने की योग्यता है, उसमें उस जाति की शक्ति है। कारण में थोड़ा सत् है। कार्य बिल्कुल नया होता है, ऐसा नहीं है। भारी सूक्ष्म तत्त्व, भाई!

मुमुक्षु : सत्य बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर है न? इतनी उस जाति की पर्याय की योग्यता, गुण तो अनन्त पर्याय का पिण्ड है, परन्तु ऐसी एक पर्याय की योग्यता है। पुण्यरूप होता है, पापरूप होता है। समझ में आया?

और परमाणु में भी ऐसी शक्ति पड़ी है तो पुण्यरूप पर्याय होती है, पापरूप पर्याय होती है। अन्दर पड़ी है। पर्यायरूप होना, वह अनन्त परमाणु का स्कन्ध है। परमाणु में ऐसी योग्यता तो पड़ी है; नहीं तो स्कन्धरूप कहाँ से हो? समझ में आया? कर्मरूप पर्याय तो प्रत्येक परमाणु की होती है या नहीं? कोई ऐसा खास गुण नहीं कि गुण के कारण अन्दर कर्म की पर्याय हो। परन्तु उसमें ऐसी पर्याय होने की योग्यता है। समझ में आया? यह द्रव्यपुण्य। किसे द्रव्यपुण्य कहा? सातावेदनीय आदि बँधे, उसमें भगवान आत्मा के शुभपरिणाम निमित्त हुए, उसे द्रव्यपुण्य कहा गया। जड़ का कार्य, मिट्टी का कार्य।

पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत... अब पाप लेते हैं। जड़ का पाप, हों! **पुद्गलरूप कर्ता के निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृति...** समझे न? विशिष्ट अर्थात् खास। विशिष्ट अर्थात् असाता आदि। असाता आदि परिणाम जड़ में पड़ते हैं, **वेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम—कि जिनमें जीव के अशुभ-परिणाम निमित्त हैं...** लो!

नये पाप के परिणाम जड़ से होते हैं, उसमें आत्मा के पापपरिणाम निमित्त कहे जाते हैं। इसमें कितना याद रखना? फावाभाई! संसार की पाप की बात कितनी याद रखता है? हाँ! वर्तन की सीधी याद आवे एकदम! जहाज की। अभी छोड़ दिया है तो भी। जिसकी जिसे रुचि, उसे उसकी यादगिरी रहे बिना नहीं रहती। समझ में आया?

यहाँ तो पदार्थ नौ तत्त्व क्या है, उसकी बात चलती है। जड़पाप और जड़पुण्य परमाणु की पर्याय का कार्य है। परमाणु का कार्य है। भावपुण्य और भावपाप वह जीव का निश्चय से कार्य है। समझ में आया? भाषा एक-एक देखो तो यहाँ है तो और दूसरी जगह ऐसा कहा तो विरोध होगा? कि पुण्य-पाप के परिणाम जीव का स्वभाव नहीं। जीव पुण्य-पापरूप परिणमता ही नहीं। यह तो दृष्टि की अपेक्षा.... सम्यग्दर्शन हुआ— 'मैं चैतन्यस्वरूप ज्ञायक हूँ' ऐसी दृष्टि हुई तो फिर पुण्य-पाप के थोड़े परिणाम होते हैं, उसे कर्म का कार्य है, ऐसा कहकर निकाल दिया। परन्तु पहले इसमें है नहीं और नहीं करता तो निकालने का कहाँ से आया? समझ में आया?

पहले से ही कह दे कि पुण्य-पाप पर के, पुण्य-पाप पर के, कर्म के कारण वे भाव... वह तो मूढ़ है। अभी तो तेरी पर से भिन्न पड़ने की ताकत नहीं। यहाँ पुण्य-पाप का विकल्प, उससे मेरी चीज़ भिन्न है। निर्णय करने के बाद, बाद, पहले से (कहे कि) पुण्य-पाप जड़ है। पुण्य-पाप जड़ है तो मर जायेगा। समझ में आया? पूनातर! किसी दिन आवे, उसमें कितनी सूक्ष्म बात! इसमें याद कहाँ रहे? यह तो साधारण बात है। उसमें कहीं ऐसी बात है नहीं। आहाहा! लो! यह इसे द्रव्य-पाप कहते हैं। किसे? उस परमाणु को। असातावेदनीय और ज्ञानावरणीय जड़ की पर्याय मैं भगवान आत्मा के अशुभपरिणाम निमित्त हुए, उसे पाप कहा। पाप के अनुलक्ष से पाप कहने में आये। इतनी बात। देखो!

इस प्रकार व्यवहार... देखो! **तथा निश्चय द्वारा आत्मा को मूर्त अथवा अमूर्त कर्म दर्शाया गया।** व्यवहार द्वारा मूर्त कर्म का करनेवाला निमित्तरूप से कहा। निश्चय से अपने परिणाम का कर्ता कहा गया। समझ में आया? इसका भावार्थ कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १३३

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं ।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ।। १३३ ।।

यस्मात्कर्मण: फलं विषय: स्पर्शैर्भुज्यते नियतम् ।
जीवेन सुखं दु:खं तस्मात्कर्माणि मूर्तानि ।। १३३ ।।

मूर्तकर्मसमर्थनमेतत् ।

यतो हि कर्मणां फलभूत: सुखदु:खहेतुविषयो मूर्तो मूर्तैरिन्द्रियैर्जीवेन नियतं भुज्यते, तत: कर्मणां मूर्तत्वमनुमीयते । तथाहि-मूर्तं कर्म, मूर्तसम्बम्धेनानुभूयमानमूर्तफल-त्वादाखुविषवदिति ।। १३३ ।।

जो कर्म का फल विषय है, वह इन्द्रियों से भोग्य हैं।
इन्द्रिय विषय हैं मूर्त इससे करम फल भी मूर्त है।।१३३।।

अन्वयार्थ :— [यस्मात्] क्योंकि [कर्मण: फलं] कर्म का फल [विषय:] जो (मूर्त) विषय वे, [नियतम्] नियम से, [स्पर्शै:] (मूर्त ऐसी) स्पर्शनादि-इन्द्रियों द्वारा [जीवेन] जीव से [सुखं दु:खं] सुखरूप से अथवा दु:खरूप से [भुज्यते] भोगे जाते हैं, [तस्मात्] इसलिए [कर्माणि] कर्म [मूर्तानि] मूर्त हैं।

टीका :— यह, मूर्त कर्म का समर्थन है।

कर्म का फल जो सुख-दु:ख के हेतुभूत मूर्त विषय, वे नियम से मूर्त इन्द्रियों द्वारा जीव से भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म के मूर्तपने का अनुमान हो सकता है। वह इस प्रकार :— जिस प्रकार मूषकविष मूर्त है, उसी प्रकार कर्म मूर्त है, क्योंकि (मूषकविष के फल की भाँति) मूर्त के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आनेवाला ऐसा मूर्त उसका फल है। [चूहे के विष का फल (-शरीर में सूजन आना, बुखार आना आदि) मूर्त है और मूर्त शरीर के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता है—भोगा जाता है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि चूहे का विष मूर्त है; उसी प्रकार कर्म का फल (-विषय) मूर्त है और मूर्त इन्द्रियों के सम्बन्ध द्वारा अनुभव आता है—भोगा जाता है, इसलिए अनुमान हो सकता है कि कर्म मूर्त है] ॥१३३॥

प्रवचन नं. ३३, गाथा-१३३-१३४
दिनांक - २९-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण ९, मंगलवार

नौ पदार्थ की व्याख्या में पुण्य-पाप की व्याख्या हुई। उसके फल की जरा बात करते हैं। १३३,

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि।।१३३।।

टीका :— यह, मूर्त कर्म का समर्थन है। कर्म अन्दर है, आठ कर्म, वह मूर्त है, मूर्त-रूपी है। उसकी बात यहाँ सिद्ध करते हैं। आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त है। उसका फल भी बाहर से विषय अनुकूल-प्रतिकूल मिले, वह भी मूर्त है। यह बात सिद्ध करते हैं। मूर्त द्वारा भोगने में आते हैं तो कर्म मूर्त है। ऐसा कहते हैं, देखो!

कर्म का फल जो सुख-दुःख के हेतुभूत मूर्त विषय... कर्म है जो साता-असाता आदि कर्मबन्ध पड़ा है, वह मूर्त है, अजीव है, रूपी है। क्यों? कि कर्म का फल तो आत्मा में सुख-दुःख के परिणाम जो होते हैं, सुख-दुःख का भाव होता है, उसके हेतुभूत मूर्त विषय है। समझ में आया?

आत्मा में यह मुझे ठीक है, मुझे अठीक है - ऐसी जो कल्पना, सुख-दुःख की कल्पना —है तो दोनों दुःख। सेठी! दोनों दुःख हैं। सुख यह। देखो न! यह लोग मानते हैं, यह सुख। लकड़ी का घोड़ा किया तो बालक मानता है कि यह लकड़ी का घोड़ा, तो यह घोड़ा ले। इसी प्रकार भगवान आत्मा अपने अतीन्द्रिय आनन्द सुख को भूलकर, अपने अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव को भूलकर, कर्म के फलरूप जो इष्ट-अनिष्ट विषय, उनमें सुख-दुःख की कल्पना करता है, वह सुख-दुःख को भोगता है तो कर्म का फल जड़ है, इन्द्रिय द्वारा भोगता है तो कर्म जड़ है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया?

कर्म का फल जो... इतना। **सुख-दुःख के हेतुभूत...** कर्म का फल कौन? कि सुख-दुःख की जो कल्पना होती है कि यह लक्ष्मी मुझे मिली, निर्धनता हुई। अरे रे!

शरीर में रोग आया, अरे! ठीक नहीं। निरोगता हो तो ठीक—ऐसी अज्ञानी की कल्पना अपने अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप स्वभाव को छोड़कर, पूर्व के कर्म के फलरूप प्राप्त हुए इष्ट-अनिष्ट पदार्थ, उस ओर की सुख-दुःख की कल्पना होती है, उसमें हेतुभूत पूर्व के कर्म से प्राप्त इष्ट-अनिष्ट पदार्थ। कहो, समझ में आया? समझ में आया या नहीं?

कर्म के फल जो सुख-दुःख, वह यहाँ कर्म का फल नहीं। कर्म का फल जो सुख-दुःख—ऐसा नहीं परन्तु कर्म का फल इतना। जो, क्या कर्म का फल? कि अपनी पर्याय में जीव आनन्द को भूलकर अपने आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है, उसे भूलकर, जो सुख-दुःख की कल्पना करनेवाला जीव, उसे हेतुभूत निमित्त-मूर्तविषय, वह कर्म का फल मूर्त विषय है। यह पाँच-पच्चीस लाख धूल मिले, स्त्री-कुटुम्ब मिले, बँगला-बँगला मिले, निर्धनता मिले, सरोगता हो, वह सब मूर्त कर्म का बाह्य फल है। ऐ, जैचन्दभाई!

अनुकूल-प्रतिकूल बाह्य संयोग वह कर्म का फल है, इष्ट-अनिष्ट विषय जड़ मिले, वह कर्म का फल है। वह अपने सुख-दुःख की कल्पना में निमित्त है। समझ में आया? कर्म का फल, भगवान आत्मा का फल तो आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्दमय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। सत्-चिदानन्द। सत्-शाश्वत्। चिद् अर्थात् ज्ञान और अणीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा है।

मुमुक्षु : वह आत्मा कैसा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भान बिना का नहीं ऐसा। यह दुःख भोगता है या नहीं इस कल्पना में? अन्दर उल्टा स्वभाव है—अतीन्द्रिय आनन्द। समझ में आया? पूर्व के कर्म जो पुण्य-पाप बँधे हैं, उसके पापकाल में बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल जगत कहे, ऐसी चीज़ का मिलना। वह पूर्वकर्म का फल। उसमें अज्ञानी अपने आनन्द को भूलकर सुख-दुःख की कल्पना करता है, उसमें इष्ट-अनिष्ट विषय निमित्त पड़ते हैं। वे कराते नहीं। समझ में आया?

प्रतिकूल संयोग आये तो दुःख उत्पन्न कराते नहीं। दुःख में निमित्तभूत है। मानता है कि अरे! मुझे निर्धनता, मैं अकेला हो गया, मैं विदुर, मैं बाँझ, मैं निर्धन,

दरिद्र—ऐसी अज्ञानी की कल्पना में प्रतिकूल चीज़ें निमित्त कही जाती है। कोई प्रतिकूल चीज़ दुख को कराती नहीं और जो अनुकूल है। शरीर सुन्दर, इज्जत, कीर्ति, पाँच - पचास लाख धूल। धूल अर्थात् यह पैसा। यह हो तो अज्ञानी मूढ़ मानता है कि मैं सुखी हूँ। ऐसी जो कल्पना, उस कल्पना में मिले हुए विषय निमित्त कहलाते हैं। वे विषय पूर्व के मूर्त कर्म का फल है। बराबर है, मोहनभाई! भाई! सुविधा में तो सब बराबर लगता है। असुविधा में कठिन लगता है, ऐसा कहते हैं। सुविधा हो शरीर सुन्दर, इन्द्रियाँ अच्छी, कुटुम्ब अच्छा, पैसा, इज्जत, कीर्ति, सब बराबर है। पूर्व के पुण्यकर्म का फल है। अपनी कल्पना करता है तो मानता है कि मैं सुखी हूँ। सुखी है नहीं। वह तो दुःख है। कल्पना तो दुःख है परन्तु माना हुआ है न कि उससे मैं सुखी हूँ। अभी तो हमारे सबसे बादशाही है। समझ में आया?

तो कहते हैं कि कर्म का फल, जो आत्मा में सुख-दुःख के परिणाम होना, उसके हेतुभूत मूर्त विषय, **वे नियम से मूर्त इन्द्रियों द्वारा जीव से भोगे जाते हैं,...** वे विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, वे नियम से मूर्त इन्द्रियों द्वारा, निमित्त है न निमित्त? मूर्त इन्द्रियों द्वारा भोगे जाते हैं। भोगता है तो सुख-दुःख के परिणाम, परन्तु यहाँ इन्द्रियों द्वारा उसकी कल्पना हुई न (कि) यह मुझे ठीक है, यह मुझे अठीक है, ऐसी कल्पना का भाव अज्ञानी का, उसे सुख-दुःख की कल्पना में पूर्व के कर्म का फल निमित्त कहा जाता है। कहो, समझ में आया? यह अनेकान्त में लेख है। इस श्रीमन्ताई का। यह श्रीमन्ताई का लेख है और एक बुजुर्गों को। समझ में आया? लिया है, यह रखो तुम्हारे पास।

यह मूर्त विषय लड्डू, पैसा, निर्धनता, रोग, सड़ा हुआ शरीर, शरीर में दाने-दाने में कीड़े पड़े। दाना-दाना समझते हो? शीतला होती है न, शीतला? शीतला कहते हैं। जीवांत पड़ती है जीवांत। वह प्रतिकूलता मूर्त कर्म का फल है। वह इन्द्रिय द्वारा कल्पना से मैं दुःखी हूँ, ऐसा भोगने में आता है। तो कर्म मूर्त है और उसका फल मूर्त है। इन्द्रियाँ—मूर्त द्वारा भोगने में आये, इसलिए कर्म मूर्त, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा!

इसलिए कर्म के मूर्तपने का अनुमान हो सकता है। इस कारण कर्म में मूर्तपना है, ऐसा अनुमान हो सकता है। समझ में आया? क्यों अनुमान हुआ? मूर्त कर्म का फल

मूर्त और लक्ष्य करके इन्द्रिय मूर्त द्वारा भोगने में आया, तो कर्म मूर्त है तो उसका फल मूर्त इन्द्रियों के द्वारा सुख-दुःख की कल्पना भोगना, उसमें वह निमित्त हुए। तो इन्द्रियों द्वारा भोगने में आता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? यह श्रीमन्ताई का भोगना क्या है? श्रीमन्ताई पूर्व के पुण्य का फल है और इन्द्रियों द्वारा कल्पना करके हम सुखी हैं, मूढ़ ऐसा मानता है। उसमें मूढ़ लिखा नहीं, हों!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय रस की सूरण गाँठ। भगवान आत्मा देह में विराजमान अतीन्द्रिय आनन्द की सूरण गाँठ। यह गाँठ सुनी है सूरण की? पूरी सूरण की गाँठ। ऐसे भगवान इस देह के रजकण से भिन्न, वाणी से भिन्न, कर्म के रजकण यह सूक्ष्म धूल है, उससे भिन्न, चैतन्य आनन्दरस का कन्द है। खबर नहीं कभी भी। क्या है? मैं हूँ। भगवान आत्मा आनन्द देह में विराजमान सबका आत्मा, हों! अतीन्द्रिय शान्तरस, अनाकुल आनन्दरस की भेली है। हमारे भेली किसे कहते हैं? समझ में आया? गुड़ की भेली आती है। ध्रुव आनन्दरस की भेली को भूलकर अनादि से अज्ञानी मूर्त कर्म का फल मूर्त के ऊपर लक्ष्य करके इन्द्रिय द्वारा सुख-दुःख की कल्पना करता है। तो मूर्त का फल मूर्त और इन्द्रियों द्वारा भोगा जाता है, इस कारण से कर्म में मूर्तपने की सिद्धि हुई। शोभालालभाई! बराबर है? ऐ सेठ! यह समझ में आता है? ध्यान पड़ता है परन्तु याद नहीं रहता। हें? हाँ... क्या मिला? धूल मिली, उसमें भी क्या हुआ? कर्म से पैसा आया श्रीमन्ताई (मिली), तो उसमें आत्मा में क्या आया? आत्मा पाँच-पचास लाख करोड़ पैसा, तो उसके पास क्या आया? लाओ। वह तो अरूपी है, उसके पास 'मेरे हैं', ऐसी ममता आयी। चीज़ तो वहाँ रह गयी। साथ में लाये हैं सेठ? ये दोनों सेठिया बैठे हैं। हम वहाँ कानपुर की सम्हाल करते हैं, यह सेठ सबके ऊपर अब ध्यान रखते हैं। यह सब ममता है।

कहते हैं, भगवान! एक बार सुन तो सही! कि तुझमें आनन्द है, भाई! तू तो सिद्ध जैसा अतीन्द्रिय आनन्दमय है। सिद्ध भगवान को आनन्द है। परमात्मा शरीरी अरिहन्त और सिद्ध हुए। अरिहन्त और सिद्ध भगवान। जैसे अतीन्द्रिय आनन्द अनन्त चतुष्टय प्रगट हुआ। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य। ऐसे तेरे आत्मा में अन्दर में बेहद ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य पड़ा है। उसकी रुचि बिना, उसके आश्रय

बिना, उसके अवलम्बन बिना, उसके अनुभव बिना मूर्त धर्म का फल मूर्त मिला। उसका लक्ष्य करके मुझे ठीक-अठीक है, ऐसी कल्पना को अज्ञानी आनन्द को भूलकर भोगता है। समझ में आया? कुछ तो मजा होगा या नहीं वहाँ? हें? जैचन्दभाई! पाँच-पच्चीस लाख की पूँजी हो, पाँच-छह लाख की आमदनी हो तो उसमें कुछ तो सुख होगा या नहीं?

मुमुक्षु : अभी तक ऐसा ही मानते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी तक ऐसा माना है। हाँ... यह ठीक कहा। यह कहते हैं कि अभी तक माना था। भाई! ऐसा कहते हैं कि अब क्या है? आहाहा! कौन दे और कौन ले? अनन्त काल का अनजाना भटकता हुआ, भटकता भिखारी। अनन्त काल का अनादि.... अनादि.... अनादि.... अनादि.... अनादि.... आत्मा है। उसे कोई आदि है? है... है... तत्त्व अनादि-अनन्त भगवान अपना निज स्वरूप तो त्रिकाली है, उसकी खबर बिना यह इष्ट-अनिष्ट पदार्थ देखकर कूद पड़ता है। जैसे वे पतंगे दीपक देखकर, दीवा (गुजराती में) कहते हैं न? कूद पड़ते हैं। इसी प्रकार मूर्त विषय को देखकर अज्ञानी कूद पड़ता है खड्डे में पड़े वैसे कल्पना के खड्डे में पड़ता है। समझ में आया? हाँ, तो क्या? है? है क्या? शरीर तुम्हारा नहीं, कर्म तुम्हारा नहीं। बाहर की चीज़ तुम्हारी नहीं। कल्पना के खड्डे में पड़े। इसलिए अब निर्णय करना कि यह कल्पना का खड्डा नुकसानकारक है। अन्दर आनन्दधाम भगवान है। अतीन्द्रिय आनन्द का धाम जिसका स्वाद इन्द्रों के इन्द्रासन में हैं नहीं। ऐसा भगवान आत्मा मैं हूँ, ऐसी रुचि कराने के लिये यह बात करते हैं। समझ में आया? तात्पर्य तो यह बतलाना है और ऐसा-ऐसा भी यह बतलाना है। अमूर्त भगवान आत्मा का अन्दर अमूर्त आनन्द, उसकी रुचि किये बिना अपने में आनन्द का पोषण किये बिना बाहर के विषय में इन्द्र हो, नरेन्द्र हो, वह कूद पड़ते हैं तो कहते हैं कि मूर्त का फल मूर्त में भोगने में आता है, तो कर्म मूर्त है, ऐसा सिद्ध हो गया। समझ में आया?

ओ भीखाभाई! कितना सुख होगा मकान में? अब भाई! वह तलहटी की अपेक्षा अभी मकान बड़ा है। तलहटी या क्या कहलाती है? तलाटी। तलहटी तो पर्वत के नीचे तलहटी कहलाये।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तलहटी। मजदूरी करने की। कहो, समझे।

अब दृष्टान्त देते हैं। **वह इस प्रकार :—** कर्म मूर्त कैसे है ? कि मूर्त उसके फल में इन्द्रियों द्वारा भोगने में आता है। अब इसका दृष्टान्त देते हैं। **जिस प्रकार मूषकविष मूर्त है,...** चूहा-चूहा। चूहे का जहर है न ? जहर। रात्रि में चूहे नहीं काटते ? फूंक मारते हैं चूहे। फूं...फूं... फूंफ मारे, उस समय खबर नहीं पड़ती। अन्दर से चमड़ी काट जाये। खुल्ले पैर रह गये हों तो फूंफ... फूंप...। उस समय इसे दु:ख नहीं होता। सवेरे जहाँ ऐसे नजर के वहाँ एकदम लाल। अरे! यह क्या ? फिर उसका जहर चढ़े तो सूजन जाये। सूजन। हमारी भाषा में सोजा-सोजा। सूजन हो जाती है।

जिस प्रकार मूषकविष... मूषक अर्थात् चूहे का जहर **मूर्त है, उसी प्रकार कर्म मूर्त है, क्योंकि (मूषकविष के फल की भाँति)...** चूहे के जहर के फल की भाँति। मूर्त के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता ऐसा मूर्त उसका फल है। मूर्त के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता हुआ ऐसा मूर्त उसका फल है। क्या ? कि **चूहे के विष का फल (-शरीर में सूजन आना, बुखार आना आदि)...** बहुत काट गया हो न, बुखार आ जाये। पैर में (काटा हो) तो चल नहीं सकते, हों! सवेरे इतनी (सूजन) चढ़ जाये। एक घण्टे, दो घण्टे... सवेरे उठे तो आहाहा! विष मूर्त है तो शरीर में सूजन, बुखार इत्यादि मूर्त में होता है। तो **मूर्त है और मूर्त शरीर के सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता है...** समझ में आया ? कौन ? वह फल। चूहे का जहर। **सम्बन्ध द्वारा अनुभव में आता है—भोगा जाता है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि चूहे का विष मूर्त है;...** लो! चूहे का जहर मूर्त है। क्योंकि शरीर द्वारा भोगने में—भोगने में तो राग-द्वेष आये, परन्तु उसमें निमित्त पड़े न ? एकदम लाल... उसी प्रकार कर्म का फल (विषय) मूर्त है, लो! यहाँ तो स्पष्ट कहा है। बाहर का मिले, तब मिलता है। बाह्य पदार्थ। कर्म का फल, विषय पाँच इन्द्रिय के शब्द, दुनिया प्रशंसा करे, सुन्दर रूप देखने को मिले, सुगन्ध अच्छी मिले, भोजन में खाने-पीने का अच्छा मिले और सरस-सुन्दर-सुन्दर मखमल की गद्दी... यह सब कर्म के फल—संयोग है। **और मूर्त इन्द्रियों के सम्बन्ध द्वारा अनुभव आता है, इसलिए**

अनुमान हो सकता है कि कर्म मूर्त है। लो! जैसे चूहे का जहर मूर्त है, वैसे कर्म के फल मूर्त हैं। चूहे का फल जहर वह शरीर द्वारा, मूर्त द्वारा भोगने में आया, वह जहर है; उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा उसका फल जड़ भोगने में आया, कर्म मूर्त है, उसका अनुमान हो सकता है। यह कर्म की सिद्धि की। कर्म है या नहीं? कि तू है और कर्म नहीं तथा कर्म है और तू नहीं? दोनों है। समझ में आया? ऐसा किसलिए कहा? कि जो बाहर की सामग्री मिलती है, वह तेरे वर्तमान प्रयत्न से नहीं। वर्तमान में तेरी विचक्षणता और समझण बहुत ही हो तो बहुत ही प्राप्त की जा सकती है, ऐसा नहीं। बाहर में मिले, वह तो मूर्त कर्म का ही फल है। तेरा प्रयत्न उसमें कुछ भी काम नहीं करता। समझ में आया? जैचन्दभाई! वहाँ चतुराई काम नहीं करती कि मैं होशियार हूँ तो बारह महीने में पचास हजार पैदा करता हूँ, लाख पैदा करता हूँ, लाख। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....दान करते जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : दान करते जाये क्या? दान में राग मन्द हो तो पुण्य होता है। मान हो तो पाप होता है, उसमें क्या है?

मुमुक्षु : आश्रम खुले?

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रम खुले? कौन खोले? राग मन्द हो तो पुण्य होता है। आश्रम खोलने में, प्रभावना में पैसे में मन्द राग हो। तृष्णा मन्द हो, पुण्य होता है। उसमें धर्म कहाँ है? उसके द्वारा कोई धर्म नहीं होता। पचास लाख, करोड़ मिले न, पचास लाख खर्च किये तो धर्म हो गया, धूल में भी धर्म नहीं। यह और दूसरी बात की किसी को मान न भी हो। धर्म की प्रभावना हुई तो उसमें राग की मन्दता हुई, पुण्यबन्ध हुआ, शुभभाव हुआ। परन्तु उससे कोई धर्म होता है (ऐसा नहीं है)। कि पाँच-पचास लाख के मन्दिर बनाये तो धर्म हुआ है (ऐसा नहीं है।) और वहाँ धर्म करेगा, उसे कुछ भाग मिलेगा, ऐसा भी नहीं है। सेठी!

मुमुक्षु : ...लाभ ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ ले तो उसके पास रहा। तुम्हारे क्या आया? तुम्हारे पास कहाँ आया? भाई! बात तो ऐसी है। उसके कारण से तो हुआ है। उसके कारण से

शुभभाव किया तो पुण्य हुआ। धर्म तो अपने स्वभाव की दृष्टि करने से वहाँ धर्म होता है। मन्दिर और देरासर के ऊपर लक्ष्य करने से धर्म नहीं होता।

मुमुक्षु : ....करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करते हैं? स्वयं से शुभभाव करते हैं। निमित्त कौन हुआ? बाह्य यहाँ मन्दिर निमित्त पड़ा। पड़ा तो उससे नहीं हुआ तो इससे कैसे होगा? उस समय का भाव इसने किया कि मन्दिर हो तो दुनिया लाभ ले। ऐसा अपना भाव उस समय में करनेवाला था, तो उसका नाम पुण्य। इतना पुण्य हुआ, बस। फिर कोई करे तो यहाँ थोड़ा लाभ मिलेगा...

मुमुक्षु : वह तो पाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पुण्य है, परन्तु वहाँ पुण्य करता है, उसका यहाँ लाभ है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ...पर का लाभ मिले...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं है। पर का लाभ पर से अपने में लाभ मिले, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : आशीर्वाद तो देता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दे आशीर्वाद।? किसी का आशीर्वाद किसी को फलता है? ऐसा है गाँधीजी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या वर्णन है? शास्त्र में कहीं है नहीं। पुण्य हो ऐसा है। मोक्ष कहाँ से आया? है ही नहीं। पंच महाव्रत पाले तो भी मोक्ष नहीं तो फिर मन्दिर बनावे तो मोक्ष कहाँ से आया? भाई! यहाँ तो बात... भाव आवे, भगवान की प्रतिमा आदि की भक्ति करे तो शुभभाव है। पुण्य होगा परन्तु उससे कोई संवर, निर्जरा, मोक्ष हो जाये, यह बात है (नहीं)। और वहाँ किसी को मोक्ष हुआ तो करनेवाले को लाभ हुआ... वह तो स्वयं की पर्याय से अपने द्रव्य के आश्रय से लाभ हुआ है। बात बहुत विचित्र है।

लोगों ने ऐसी मान ली है, अपने नफा एक लाख करोड़, उसमें से जितने लोग वहाँ धर्म करेंगे, उसमें से अपने को दसवाँ प्रतिशत तो मिलेगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से करे तो भी क्या है? उसके परिणाम प्रमाण उसे मिलेगा। हो, उसके परिणाम में जैसे भाव किये, उसके पुण्य का फल उसे है। दूसरे ने वह भाव किया था, उसमें सब मिले। बहुत लाभ हो तो ऐसे भाव जिस प्रमाण में किये थे, उतना पुण्य बँधा। उसमें है दूसरे से कोई मर जाये और वहाँ जाये और यहाँ बहुत लोभ करे तो उसका फल वहाँ जाये, ऐसा नहीं है सेठ! निर्णय करना चाहिए, हाँ, सबको। यह देखो अपने देरियाजी स्पष्टीकरण करते हैं। इन सेठियाओं का, अरे! यह पैसेवाले इतने खर्च करे तो इन्हें कुछ नहीं मिले? यहाँ बड़ी नसियाँ बनायीं, ऐसा बनाया। लो! उसमें से कुछ यहाँ लाभ होगा या नहीं? तो कहे, बिल्कुल नहीं। बात ऐसी है। जिस प्रकार जिसने भाव किये हों, करते... करते... करते,... लोग लाभ ले ऐसा। ऐसे भाव किये, वैसा उसे पुण्य (बँधता है)।

मुमुक्षु : मान से किया हो तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो बात यहाँ है नहीं। मान से क्या, परन्तु भाव अच्छे किये हों, लोग लाभ ले, धर्म की प्रभावना स्वाध्याय करे शास्त्र से, ऐसे ऐसे जैसे भाव हों, तत्प्रमाण पुण्य बँधता है। परन्तु दूसरे से पुण्य आ जाता है, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : हमारी बिरादरी नहीं चलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिरादरी नहीं चलती... निर्णय करना चाहिए। १३३ गाथा हुई, लो! समझ में आया? बाहर के अनुकूल-प्रतिकूल फल मिलना, वह अपने पूर्व के पुण्य-पाप के फल हैं। और वे इन्द्रिय द्वारा भोगने में आये मूर्त, पूर्व के कर्म मूर्त हैं, इतना सिद्ध किया। अर्थात् वह कर्म मैं नहीं और उसका फल भी मैं नहीं। और भोगने में विकल्प आया सुख-दुःख, वह वास्तव में मेरी चीज़ में नहीं है। ऐसा अन्तर अनुभव निर्णय कराने के लिये यह बात करते हैं। मात्र बात ही नहीं कि ऐसा है... ऐसा है... ऐसा है। समझ में आया?

भगवान! बाहर की चीज़ तुझसे भिन्न है, उसका कारण कर्म भी उससे भिन्न है और तुझे इन्द्रिय द्वारा भोगने की कल्पना हुई, वह सुख-दुःख की कल्पना भी तेरे स्वभाव से वास्तव में भिन्न है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....अमूर्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अमूर्त है। विकारी परिणाम अमूर्त है। विकारी परिणाम अमूर्त है, परन्तु वास्तव में स्थूल परिणाम है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दरस परिपूर्ण भरा है, ऐसा भगवान आत्मा, उसकी अन्तर्दृष्टि करना, वह सब यहाँ कहने का तात्पर्य है और फल है। समझ में आया? साथ में कर्म और फल भी साबित करते हैं। अस्ति से। आस्था तो सब करनी है या नहीं?

किसी के सामने देखना नहीं, ऐसा कहते हैं। अरे! मुझे बहुत प्रतिकूल दे दिया और मुझे सहायता करके बहुत ही अनुकूल दे दिया, इस बात में कुछ माल नहीं है। तेरे पूर्व के पुण्य-पाप से बाहर की सामग्री आती है, बस। और स्वभाव को भूलकर जितना तेरा अपराध हुआ, उतना अपराध सुख-दुःख की कल्पना करो, उतना तुझे नुकसान है। तेरे घर में टोटा पड़ता है। समझ में आया? तो यह पैसे मिले, उसका लाभ तो नहीं परन्तु सुख-दुःख की कल्पना का घाटा पड़ा।

भाई! वीतरागमार्ग ऐसा है। जगत को झट... इतना कठिन पड़े। यह बाह्य सामग्री! आहाहा! कितना सुख है, ऐई! मलूकचन्दभाई! यह सुख देखकर मैंने सवेरे पूछा। मुम्बई गये थे न क्या? बहुत जबाव नहीं दिया। सब अन्धेरे में मुम्बई जाते हैं। पैसा लेकर आयेंगे। वहाँ कहाँ पैसा इसकी जेब में आ पड़े थे कि ले आवे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसे खबर नहीं परन्तु लोग ऐसा मानते हैं। लोग ऐसा मानते हैं। है? लोग ऐसा मानते हैं। भाई! मेरा पुत्र! करोड़पति! वहाँ गया होगा तो कुछ लेने गया होगा। तो लायेगा कुछ तो लोग माने। यह तो चाहे जिस कारण से गया हो। वह तो वहाँ सामने भी देखे नहीं। हो...हा...! सब समझने जैसा है, बापू! बापू करे! बापू... बापू..! बापू वहाँ पैसे में कहाँ बैठे? कितना सुख होगा इन पैसेवालों को, ऐसा यह

कहते हैं। नहीं? दो लड़के बड़े करोड़पति हैं। एक-एक करोड़-करोड़ रुपये हैं। लो! धूल में भी नहीं लड़के को रुपये नहीं तो फिर बाप को कहाँ से आये? आहाहा!

यहाँ तो पूर्व के पुण्य की पाप की सामग्री मिले, उसका लक्ष्य करके इन्द्रिय से भोगे। क्या वह अतीन्द्रिय से भोगने में आता है? इन्द्रिय द्वारा लक्ष्य करके यह चीज़ ऐसी है, हैरान! हैरान! इन्द्रिय से पराधीन होकर हैरान हो गया। अपने को आप भूल के हैरान हो गया। यहाँ तो कर्म की सिद्धि की। ...कर्म जड़ साबित किये, फल जड़ साबित किया, सुख-दुःख की कल्पना साबित की। आत्मा के आनन्द से वह भाव विपरीत था। 'है' इतना सिद्ध किया। वह आस्रवतत्त्व है। सुख-दुःख की कल्पना, वह आस्रवतत्त्व है। कर्म जड़तत्त्व है। उससे मुझे सामग्री मिले, वह परवस्तु है। समझ में आया?

अकेला आत्मा ही है, अकेला जड़ ही है - ऐसा नहीं। आत्मा सर्वथा निर्मल ही है। पर्याय में अनादि संसार में निर्मल नहीं। विकारी भाव है। निर्मल हो तो अन्दर उसे आनन्द का अनुभव होना चाहिए। अन्दर आनन्दस्वभाव निर्मल है। पर्याय में निर्मल हो तो अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होना चाहिए। इसलिए उसकी दृष्टि पर के ऊपर है। सुख-दुःख को भोगता है। अपना आनन्द पड़ा रहता है।

गाथा - १३४

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि ।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ।। १३४ ।।

मूर्तः स्पृशति मूर्तं मूर्तो मूर्तेन बन्धमनुभवति ।
जीवो मूर्तिविरहितो गाहति तानि तैरवगाह्यते ।। १३४ ।।

मूर्तकर्मणोरमूर्तजीवमूर्तकर्मणोश्च बन्धप्रकारसूचनेयम् ।

इह हि संसारिणि जीवेऽनादिसन्तानेन प्रवृत्तमास्ते मूर्तकर्म । तत्स्पर्शादिमत्त्वादागामि मूर्तकर्म स्पृशति, ततस्तन्मूर्तं तेन सह स्नेहगुणवशाद्बन्धमनुभवति । एष मूर्तयोः कर्मणोर्बन्धप्रकारः । अथ निश्चयनयेनामूर्तो जीवोऽनादिमूर्तकर्मनिमित्तरागादिपरिणामस्निग्धः सन् विशिष्टतया मूर्तानि कर्माण्यवगाहते, तत्परिणामनिमित्तलब्धात्मपरिणामैः मूर्तकर्मभिरपि विशिष्टतयाऽवगाह्यते च । अयं त्वन्योन्यावगाहात्मको जीवमूर्तकर्मणोर्बन्धप्रकारः । एवममूर्तस्यापि जीवस्य मूर्तेन पुण्यपापकर्मणा कथञ्चिद्बन्धो न विरुध्यते ।। १३४ ।।

-इति पुण्यपापपदार्थव्याख्यानम् ।

मूर्त का स्पर्श मूरत, मूर्त बँधते मूर्त से।
आत्मा अमूरत करम मूरत, अन्योन्य अवगाहन लहें ।।१३४।।

अन्वयार्थ :— [मूर्तः मूर्तं स्पृशति] मूर्त मूर्त को स्पर्श करता है, [मूर्तः मूर्तेन] मूर्त मूर्त के साथ, [बंधम् अनुभवति] बन्ध को प्राप्त होता है; [मूर्तिविरहितः जीवः] मूर्तत्वरहित जीव, [तानि गाहति] मूर्त कर्मों को अवगाहता है और [तैः अवगाह्यते] मूर्तकर्म जीव को अवगाह हैं (अर्थात् दोनों एक-दूसरे में अवगाह प्राप्त करते हैं)।

टीका :—यह, मूर्तकर्म का मूर्तकर्म के साथ जो बन्ध प्रकार तथा अमूर्त जीव का मूर्तकर्म के साथ जो बन्ध प्रकार उसकी सूचना है।

यहाँ (इस लोक में), संसारी जीव में अनादि संतति से (-प्रवाह से) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है। वह, स्पर्शादिवाला होने के कारण, आगामी मूर्तकर्म को स्पर्श करता है; इसलिए मूर्त ऐसा वह उसके साथ, स्निग्धत्वगुण के वश (-अपनी स्निग्धरूक्षत्वपर्याय के कारण), बन्ध को प्राप्त होता है। यह, मूर्तकर्म का मूर्तकर्म के साथ बन्धप्रकार है।

पुनश्च (अमूर्त जीव का मूर्तकर्मों के साथ बन्धप्रकार इस प्रकार है कि), निश्चयनय से जो अमूर्त है ऐसा जीव, अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है ऐसे रागादिपरिणाम द्वारा स्निग्ध वर्तता हुआ, मूर्तकर्मों को विशिष्टरूप से अवगाहता है (अर्थात् एक-दूसरे को परिणाम में निमित्तमात्र हों ऐसे सम्बन्धविशेष सहित मूर्तकर्मों के क्षेत्र में व्याप्त होता है) और उस रागादिपरिणाम के निमित्त से जो अपने (ज्ञानावरणादि) परिणाम को प्राप्त होते हैं ऐसे मूर्तकर्म भी जीव को विशिष्टरूप से अवगाहते हैं (अर्थात् जीव के प्रदेशों के साथ विशिष्टतापूर्वक एकक्षेत्रावगाह को प्राप्त होते हैं)। यह, जीव और मूर्तकर्म का अन्योन्य-अवगाहस्वरूप बन्धप्रकार है। इस प्रकार अमूर्त ऐसे जीव का भी मूर्त पुण्यपापकर्म के साथ कथंचित् (-किसी प्रकार) बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होता॥१३४॥

इस प्रकार पुण्य-पापपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

गाथा - १३४ पर प्रवचन

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि।।१३४।।

टीका :—१३४ गाथा। **यह, मूर्तकर्म का मूर्तकर्म के साथ जो बन्ध प्रकार...** बन्ध का प्रकार। यह पूर्व के मूर्त कर्म के साथ नये मूर्त कर्म बँधते हैं, उसकी बात करते हैं। जड़ से जड़ बँधते हैं। पूर्व के कर्म हैं जड़, उनसे नये कर्म मूर्त के साथ मूर्त बँधते हैं। **तथा अमूर्त जीव का मूर्तकर्म के साथ जो बन्ध प्रकार उसकी सूचना है।** यहाँ दो सूचना बतलानी है।

यह पूर्व के कर्म जो हैं जड़, मिट्टी, धूल पड़ी है सूक्ष्म, उससे नये कर्म धूल से धूल बँधती है। रूपी से रूपी और आत्मा अरूपी। उसके साथ नये कर्म रूपी ही बँधते हैं। वे किस प्रकार से, यह बात यहाँ सिद्ध करनी है। मूर्त-मूर्त से बँधे हैं और अमूर्त मूर्त से बँधे हैं। दो बात सिद्ध करनी है। समझ में आया? **यहाँ (इस लोक में), संसारी जीव में अनादि संतति से (-प्रवाह से) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है।**

क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा अरूपी ज्ञानघन आदि शुद्ध निर्मल स्वभाव और पर्याय में मलिनता और उसके साथ कर्म अनादि सन्तान प्रवाह से चला आता है। आत्मा कभी कर्मरहित हुआ नहीं।

संसारी जीव में संसरण करते ऐसे आत्मा में अनादि प्रवाह से, ओहोहो! खान में जैसे पत्थर और सोना साथ में है, वैसे भगवान आत्मा के कर्म अनादि से साथ में है। पहले आत्मा कर्मरहित था और फिर कर्म हुए, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? खान में जैसे सोना और पत्थर साथ में है, तब पहले सोना पृथक् था और पत्थर फिर लगा, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? संसारी जीव को **अनादि संतति से (-प्रवाह से) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है।** देखो! मूर्त कर्म विद्यमान है। सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं तीन काल में नहीं होती। वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव जिन्होंने एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में, तीन काल-तीन लोक देखे और जाने, ऐसे परमेश्वर वीतराग तीर्थंकर के सिवाय कर्म की ऐसी जाति, इस प्रकार से किसी ने जानी नहीं और किसी ने कही नहीं और किसी के ख्याल में आयी नहीं। समझ में आया ?

अनादि संतति से (-प्रवाह से) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है। जड़ विद्यमान है। भगवान आत्मा भी विद्यमान है। उसके साथ वह कर्म भी अनादि प्रवाह... प्रवाह... प्रवाह... अनादि, हों! वह के वह कर्म नहीं। वह के वह रजकण नहीं। वर्तमान के जो कर्म के रजकण हैं, वे नहीं। परन्तु कर्म... कर्म... कर्म... कर्म प्रवाह से चले आते हैं। नये परमाणु आते हैं। पूर्व के चले जाते हैं। ऐसे कर्म का प्रवाह अनादि से साथ में चला आता है। समझ में आया ? वर्तमान में जो कर्म है, अनादि के वे ही कर्म रजकण हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? क्योंकि कर्म की स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी की है। उससे अधिक होते नहीं। तो किसी भी प्राणी के साथ ७० कोड़ाकोड़ी की स्थिति से अधिक कर्म उसके साथ होते ही नहीं। अभव्य हो या भव्य हो, अनन्त संसारी हो या एकावतारी हो। समझ में आया ?

आठ कर्म जड़ हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय की स्थिति अधिक में अधिक मिथ्यात्व की है। सत्तर कोड़ाकोड़ी। हमारी काठियावाड़ी भाषा में

सीतेर कहते हैं। सात और शून्य को हमारे सीतेर कहते हैं। तुम्हारे (हिन्दी में) सत्तर कहते हैं। उसे करोड़ से गुणे ७० कोड़ाकोड़ी। एक करोड़ को करोड़ से गुणे, ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी। सात और शून्य करोड़। उसे करोड़ से गुणा करने से ७० कोड़ाकोड़ी। ऐसी कर्म की स्थिति अधिक में अधिक हो तो इतनी होती है। इतनी अधिक स्थिति किसी जीव की नहीं होती। अभव्य अनन्त काल रोवे, कर्म की स्थिति अनन्त काल की नहीं है। नये बँधते हैं, पुराने खिरते हैं, नये बँधते हैं। ऐसा प्रवाह चला ही जाता है। जैसे पानी का प्रवाह है न? वह प्रवाह समा जाता है और नया उत्पन्न होता है, समा जाये, नया उत्पन्न हो। नये-नये उत्पन्न हों परन्तु प्रवाह ऐसा प्रवाह रहता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नये कर्म आते हैं। पुराने चले जाते हैं, नये आते हैं। पुराने चले जाते हैं। सर्वथा तो चले नहीं आते। थोड़े-थोड़े आते हैं और थोड़े जाते हैं। ऐसा प्रवाह चलता है। **अनादि संतति से (-प्रवाह से) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है।** ऐसा सिद्ध किया। देखो! इस आत्मा के साथ जड़कर्म हैं। साथ में, हों! है तो भिन्न। कर्म कर्म का कार्य करे, आत्मा आत्मा का कार्य करे। आत्मा का कार्य कर्म नहीं करता और कर्म का कार्य आत्मा नहीं करता। दोनों द्रव्य भिन्न हैं। दोनों वस्तु भिन्न है। किसी का कोई करे नहीं, परन्तु साथ में है। समझ में आया? गाय को नहीं करते? दो गाय के अन्दर रस्सी डाले। दो गाय को। अन्दर रस्सी डाले। आगे डाले। ऐसे दो हाथ हैं परन्तु हैं भिन्न-भिन्न। यह गाय भिन्न है, वह गाय भिन्न है। इसी प्रकार कर्म रजकण जड़ भिन्न, आत्मा भगवान भिन्न। परन्तु है दोनों एकक्षेत्र में एकसाथ।

मुमुक्षु : भाग जाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टान्त दिया है। भाग जाये कहाँ? यह तो दृष्टान्त दिया है। गधे के दो पैर नहीं बाँधते? बहुत दौड़नेवाला-भागनेवाला हो तो बाँधकर रखते हैं। वह इतने में और इतने में रहे। इसी प्रकार यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्धरूप से जड़ और आत्मा। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से अनादि से साथ में हैं, बस इतना। **वह, स्पर्शादिवाला होने के कारण,...** कौन? वह विद्यमान कर्म अनादि से पड़े हैं वे। उनके परमाणु में कर्म

में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है। जैसे यह शरीर मिट्टी है, उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है, वैसे उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श आठ कर्म सूक्ष्म मिट्टी है, सूक्ष्म मिट्टी धूल है।

स्पर्शादिवाला होने के कारण, आगामी मूर्तकर्म को स्पर्श करता है;... क्या कहते हैं? भविष्य के मूर्त कर्म को स्पर्श करता है, ऐसा। नये कर्म को स्पर्श, स्निग्धता-रूक्षता की ऐसी योग्यता और उसकी योग्यता के साथ सम्बन्ध होता है। यह कर्म के, अजीव के, अजीवतत्त्व है या नहीं? नौ तत्त्व में अजीवतत्त्व और जीवतत्त्व ऐसे भेद डालकर यहाँ समझाते हैं। समझ में आया? **वह, स्पर्शादिवाला होने के कारण,...** वह अर्थात् कौन? पूर्व में बाँधा हुआ कर्म। प्रवाह से चला आता है वह; रंग, गन्ध, रस, स्पर्शवाले हैं। तो **आगामी मूर्तकर्म को स्पर्श करता है;...** नये कर्म भी उसके साथ बँध में आ जाते हैं। स्पर्श के साथ बँध जाते हैं। **इसलिए मूर्त ऐसा वह वह उसके साथ,...** मूर्त ऐसा उसके साथ, **स्निग्धत्वगुण के वश...** देखो! **(-अपनी स्निग्धरूक्षत्वपर्याय के कारण),...** नये परमाणु अपनी स्निग्ध-रूक्ष, स्निग्ध-रूक्ष की योग्यता के कारण, **बन्ध को प्राप्त होता है।** पूर्व के साथ सम्बन्ध हो जाता है। कहो, समझ में आया या नहीं?

एक परमाणु अपनी दो पर्याय होती है और दूसरे में चार हो, ऐसा होवे तो, साथ में मिलकर यहाँ चार हो जाये, वह स्कन्धरूप कहने में आता है। इस प्रकार पूर्व के परमाणु में नये में अपने स्पर्श की स्निग्धता-रूखता के मेलवाला सम्बन्ध उसे हो तो बन्ध में आ जाता है। '**मुत्तो फासदि मुतं**' यह उसका अर्थ करते हैं। पहला शब्द है न? '**मुत्तो फासदि मुतं मुत्तो मुतेण बंधमणुहवदि**' पहली ही लाईन का अर्थ है। आहाहा! **इसलिए मूर्त ऐसा वह वह उसके साथ, स्निग्धत्वगुण के वश...** अपनी स्निग्ध-रूक्षत्व पर्याय के कारण से, उसमें दोनों डाला है, हों! वह तो स्निग्ध तो एक शब्द रखा है। स्निग्धता और रूक्षता दोनों के कारण से बन्ध को परमाणु में ऐसी योग्यता है, पुराने कर्म के साथ बँध जाते हैं। **यह, मूर्तकर्म का मूर्तकर्म के साथ बन्धप्रकार है।** लो!

देखो! पाठ में ऐसा है— '**बंधमणुहवदि**' मूर्त-मूर्त के साथ बन्ध को अनुभव करता है, अनुभव करता है, ऐसा पाठ है। अनुभव का अर्थ - ऐसा होता है। उसका नाम अनुभव है। ऐसा कहने में आता है। पाठ है न? '**मुत्तो मुतेण बंधमणुहवदि**' जड़ को अनुभव... अनुभव अर्थात् होना। बन्ध की परमाणु में ऐसी योग्यता हो नये कर्म जैसे

उसने दया, दान, भक्ति, काम, क्रोध, पापभाव किये, तत्प्रमाण ऐसे नये कर्म स्वयं की योग्यता से, स्निग्धता-रूक्षता की योग्यता से पूर्व के कर्म के साथ बँध जाते हैं। समझ में आया?

जड़ को ऐसी कैसे खबर पड़े? हें? अपना पर्याय धर्म है, उसका बहुत ही.... एक-एक परमाणु में कर्म होने की योग्यता है। समझ में आया? मूर्त कर्म, मूर्त कर्म के साथ बन्ध प्रकार है। ऐसा लिखा न? '**बंधमणुहवदि**' का अर्थ किया। मूर्त कर्म मूर्त को अनुभवता है। अनुभव का ऐसा अर्थ है। अनुभव का अर्थ यह कि बन्ध में बन्धरूप हो जाता है, इसका नाम अनुभव करता है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

पुनश्च (अमूर्त जीव का मूर्तकर्मों के साथ बन्धप्रकार इस प्रकार है कि),... अब यह तो ठीक, परन्तु यह भगवान अमूर्त और यह कर्म मूर्त, ऐसे दो लकड़े कहाँ से घुस गये? कर्म के साथ कर्म तो बँध हो, वह तो जड़ है। जड़ को स्पर्शवाला है। परन्तु अस्पर्शी आत्मा और स्पर्शवाले कर्म पुद्गल, उसके साथ कहाँ जुड़ान हो गया? उसका बँध कैसे हुआ? समझ में आया? अमूर्त जीव का, कितने ही कहते हैं न कि आत्मा तो निर्मल है, आत्मा तो। परन्तु कहाँ निर्मल? सुन तो सही! पर्याय में मलिनता न हो तो कर्म का निमित्तरूप सम्बन्ध कहाँ से रहा? समझ में आया? तेरी पर्याय में राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व पड़े हैं, पर्याय में। तूने किये हैं, वे पड़े हैं। पर्याय के कर्म। सब कर्म पड़े हैं, वे निमित्त हैं। दो चीज़ है।

आत्मा निर्मल है, निर्मल है। क्या निर्मल है? निर्मल तो वस्तु स्वभाव निर्मल है। पर्याय में निर्मल हो तो फिर कर्म और मलिनता कहाँ से आयी? समझ में आया? निश्चयनय से जो अमूर्त है, ऐसा जीव, देखो! भगवान आत्मा तो अमूर्त है। उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श आत्मा में नहीं। अरूपी आत्मा ज्ञानघन, रंग, गन्ध, रस, स्पर्श बिना की वह चीज़। अनादि-अनन्त भगवान आत्मा अमूर्त, अरूपी। आत्मा तो कहाँ गया इसमें? स्त्री, पुत्र, पैसे के कारण, इज्जत के कारण, पुण्य-पाप के कारण। आड़े को (हिन्दी में) क्या कहते हो? सम्बन्ध में घुस गया।

आत्मा अन्दर महान पदार्थ... महान पदार्थ (है)। जिसकी एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक देखे। ऐसी एक समय की पर्याय का, अनन्त पर्याय का पिण्ड

गुण, ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड द्रव्य। महान पदार्थ गुम हो गया। कोई चीज़ खो जाये तो शोधने जाते हैं। कहाँ गयी? कहाँ गयी? सोने की कोई चीज़ गिरती है न? ओहो! ...सोने की खो गयी। यह तू खो गया कहाँ? तेरी तुझे खबर है? खोवाई गयो (को) क्या कहते हैं? खो गया। पूरा आत्मपदार्थ खो गया। यह भी क्या बात करते हैं? यह बात करे तो ठीक, यह शरीर, वाणी, और यह धूल-बूल को। परन्तु पूरा पदार्थ चिदानन्द प्रभु अनन्त गुण का धाम परमात्मा जैसे सिद्ध हुए, वैसी परमात्म शक्ति की सम्पदावाला आत्मा है। प्रत्येक जीव। इसलिए तो कहते हैं कि परन्तु यह खो गये की खबर नहीं। समझ में आया? खो गया, उसकी खबर नहीं। जोरावर में हुआ था न? क्या? किसी का खो गया। उस लड़की का खो गया। कौन था? कोई यहाँ?... सोने का। बूट-बूट कुछ कहते हैं न? कांटेवाला हो। खो गया, खोजा परन्तु मिलता नहीं। उसमें जरा चरण करने गये तो उसके कपड़े में गिर गया (तो) पैर में लगा। वह हाथ आया, लो! कहा पैर से, सोने की बूट थी। कीरचन्दभाई की पुत्री को। पैर में खोज दिया।

इसी प्रकार आत्मा क्या है, ऐसी निर्मल कला प्रगट करे तो आत्मा को शोधे। यह तो खबर नहीं क्या है? यह जगत की विद्या, कीर्ति, शिक्षा। बी.ए., एल.एल.बी. के पूंछड़े लगावे। ऐ... माँगीरामजी! तुम्हारी लड़कियाँ तो पढ़ती हैं न वहाँ? सब लड़कियाँ। भाई की लड़की और तुम्हारी लड़की है न? ऐसे ऐसे पूंछड़े लगावे, पढ़े। पच्चीस वर्ष की। आहाहा! मानो होशियार हो गये। कहीं मानो नीचे पैर टिके नहीं। क्या है परन्तु? क्या हुआ? पागलपन हुआ। हम तो बस ऐसे—बाल खुले—हाथ में बैग, बैग रखे। क्या कहलाता है? एक हाथ में रखे और एक हाथ में ऐसा। क्या है परन्तु? कहाँ जाना है? क्या कहते हैं? हमारी नजर में तो मजा दिखता है और तुम तो कहीं पड़ने जाते हो दुर्गति में। बहुरुपिया हो गये।

कहते हैं न भगवान! तुम अरूपी हो, प्रभु! परन्तु **अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है, ऐसे रागादिपरिणाम द्वारा...** देखो! आत्मा अमूर्त है, ज्ञानानन्द है, तथापि **अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है...** किसका? रागादि परिणाम। आत्मा ने राग-द्वेष, दया, दान, पुण्य, पाप के भाव किये, वह राग, उसके पूर्व के कर्म निमित्त। पूर्व के। **अनादि**

मूर्तकर्म जिसका निमित्त है... जिसका अर्थात् ऐसे राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया-दान, भक्ति, व्रत, तप, सब विकल्प उठते हैं। राग, वह राग-द्वेष उठे,... वह सब विकार परिणाम तेरी पर्याय में तुझसे होते हैं। उसमें पूर्व के कर्म निमित्त कहे जाते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बताते हैं। **अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है ऐसे रागादिपरिणाम द्वारा...** कौन? आत्मा। वह अपने में राग-द्वेष द्वारा चिकना वर्तता हुआ। वह चिकनाई उसकी है। जड़ की चिकनाई जड़ में है। दो का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है, ऐसा कहना है। आत्मा में तो दया, दान, काम, क्रोध, पुण्य, पाप के भाव, वे राग है, वह चिकनाई है, द्वेष है, वह भी चिकनाई है। वह चिकनाई विकार, वह चिकनाई है।

उस चिकनाहट **द्वारा स्निग्ध वर्तता हुआ, मूर्तकर्मों को विशिष्टरूप से अवगाहता है...** देखो! चिकनाहट के कारण नये मूर्त कर्मों को खास एक-दूसरे के लिये परिणाम में निमित्तमात्र है। **एक-दूसरे को परिणाम में निमित्तमात्र हों, ऐसे सम्बन्धविशेष सहित...** सम्बन्ध विशेष। कर्म का उदय हो और राग, द्वेष आत्मा करे तो उसे निमित्त कहते हैं। यहाँ राग-द्वेष करे तो नये कर्म बँधे, उसमें राग-द्वेष निमित्त कहे जाते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नये में वह कुछ करता ही नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : चिपटता है या नहीं, ऐसा कहते हैं। स्निग्धता यहाँ उसका मूल तो स्निग्धता निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, यह कहा एक-दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक होना, इसका नाम अमूर्त के साथ मूर्त का बन्ध कहा गया है। उसके कारण से, हों! वहाँ राग-द्वेष की स्निग्धता हुई, परमाणु में उतनी स्निग्धता प्रमाण परमाणु आकर पूर्व कार्य सम्बन्ध है। आत्मा के साथ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। बस, अपने परिणाम किये विकार, नये कर्म में वह निमित्त पड़ा। अपने परिणाम किये, पूर्व के कर्म उसमें निमित्त

पड़े, बस इतना सम्बन्ध है। विशिष्ट कहा न! खास निमित्त-निमित्त सम्बन्ध ऐसा है। नहीं तो वहाँ तो धर्मास्ति और अधर्मास्ति दूसरे भी पड़े हैं।

जहाँ आत्मा है, वहाँ धर्मास्ति और अधर्मास्ति निमित्तरूप से पड़े हैं। परन्तु यह खास विशिष्ट निमित्त अर्थात् राग-द्वेष करे तो कर्म को निमित्त कहा गया है और राग-द्वेष करे तो नये कर्म में राग-द्वेष निमित्त कहने में आये। समझ में आया? भाई! नौ पदार्थ का अभ्यास करना चाहिए। यह नौ पदार्थ की व्याख्या करते हैं। पश्चात् मोक्षमार्ग की बात, अपने चल गयी है। लौकिक पदार्थ का ज्ञान करे, विज्ञान, नहीं आता? पदार्थविज्ञान। परन्तु यह तो भगवान का कहा हुआ पदार्थविज्ञान। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग अचिन्त्य सम्पदा के स्वामी, उनकी वाणी में से निकला है। उनकी वाणी कहने में निमित्त से कथन है।

ऐसे **मूर्तकर्मों को विशिष्टरूप से अवगाहता है...** देखो न! अवगाहते हैं, इसका अर्थ है न? पाठ में है सही न? **'जीवो मुतिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि'** ऐसा। अवगाहते हैं, ऐसा। पाठ में है। **अर्थात् एक-दूसरे को परिणाम में निमित्तमात्र हों, ऐसे सम्बन्धविशेष...** लो! इसका नाम विशेष सम्बन्ध। सहित मूर्त कर्मों के क्षेत्र में प्राप्त होता है। कहो, समझ में आया? मूर्त कर्मों के क्षेत्र में आत्मा प्राप्त हुआ। आत्मा के क्षेत्र में कर्म प्राप्त हुए। बस **और उस रागादिपरिणाम के निमित्त से...** जितने प्रमाण में जीव अपनी भूल को भूलकर राग-द्वेष और अज्ञान परिणाम के निमित्त से जितने परिणाम करता है, जितने निमित्त से। **अपने (ज्ञानावरणादि) परिणाम को प्राप्त होते हैं...** कौन? कर्म, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म अपनी पर्याय को कौन प्राप्त हुए? **ऐसे मूर्तकर्म भी जीव को विशिष्टरूप से अवगाहते हैं...** यह मूर्त कर्म भी जीव को अवगाहते हैं। आत्मा ने उनके साथ निमित्तरूप अवगाहन किया। उसके साथ निमित्तरूप से अवगाहन किया। समझ में आया?

इस प्रकार अकेला आत्मा ऐसा-ऐसा करे परन्तु, वास्तविक पर्याय क्या? मलिन क्या, निर्मल कैसे होती है, मलिन में निमित्त कौन है, कर्म क्या है? - खबर नहीं तो उल्टा हुए बिना रहे ही नहीं। किसी की निश्चय की ऐसी बात सुने तो अपने जैसे हैं,

हों! अरे! तुझे खबर नहीं। यह वीतराग की बात ऐसी है कि किसी के साथ उसका मिलान है ही नहीं। समझ में आया?

ऐसे मूर्तकर्म भी जीव को विशिष्टरूप से अवगाहते हैं (अर्थात् जीव के प्रदेशों के साथ...) कौन? **विशिष्टतापूर्वक...** खास निमित्त-निमित्त सम्बन्धपूर्वक। **एकक्षेत्रावगाह को प्राप्त होते हैं।** कर्म। आत्मा कर्म के क्षेत्र को प्राप्त। क्षेत्र में अर्थात् निमित्त-निमित्त सम्बन्धरूप। और कर्म आत्मा के निमित्त-निमित्तसम्बन्ध में रहता है, अनादि से रहता है।

यह, जीव और मूर्तकर्म का... देखो! यह भगवान आत्मा और मूर्त कर्म का, **अन्योन्य-अवगाहस्वरूप बन्धप्रकार है।** अन्योन्य-अवगाह, बस। अन्योन्य निमित्त सम्बन्ध से व्यापना, रहना—ऐसा बन्ध का प्रकार है। दूसरा कोई है नहीं, बस.... जीव रहे वहाँ कर्म और कर्म है वहाँ जीव निमित्त-निमित्त अवगाह करके रहते हैं। एक-दूसरे के परिणाम में निमित्त होते हैं। इतना सम्बन्ध है। कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। आत्मा ने राग-द्वेष किये तो, आत्मा ने कर्मबन्ध भी किया और कर्म उदय आये तो उसमें कार्य कर्म का आया न, आत्मा में कर्म ने राग-द्वेष किये, कराये - ऐसा नहीं है। कर्म दो काम नहीं करते और आत्मा दो काम नहीं करता। कर्म अपनी पर्याय को करता है और आत्मा अपनी विकारी पर्याय को करता है। बस! अपनी विकारी पर्याय को कर्म नहीं करता और कर्म की पर्याय को आत्मा विकारी पर्याय से नहीं करता। कितना याद रखना इसमें?

यह, जीव और मूर्तकर्म का अन्योन्य-अवगाहस्वरूप बन्धप्रकार है। इस प्रकार अमूर्त ऐसे जीव का भी... लो, है? अमूर्त होने पर भी **मूर्त पुण्य-पापकर्म के साथ...** देखो! पुण्य-पाप लेना है न? पुण्य-पाप की व्याख्या चलती है न? **पुण्य-पापकर्म के साथ कथंचित् (-किसी प्रकार) बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होता।** द्रव्य बन्ध निमित्तरूप है। सर्वथा बन्ध है नहीं। एकरूप नहीं। निमित्तरूप बन्ध व्यवहार से है। विरोध को प्राप्त नहीं होता। लो! (इस प्रकार) पुण्य-पाप की व्याख्या पूरी हुई। अब आस्रव पदार्थ की व्याख्या चलेगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १३५

अथ आस्रवपदार्थव्याख्यानम् ।

रोगो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।। १३५ ।।

रागो यस्य प्रशस्तोऽनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः ।
चित्ते नास्ति कालुष्यं पुण्यं जीवस्यास्रवति ।। १३५ ।।

पुण्यास्रवस्वरूपाख्यानमेतत् ।

प्रशस्तरागोऽनुकम्पापरिणतिः चित्तस्याकलुषत्वञ्चेति त्रयः शुभा भावाः द्रव्यपुण्यास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपुण्यास्रवः । तन्निमित्तः शुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपुण्यास्रव इति ।। १३५ ।।

अब आस्त्रवपदार्थ का व्याख्यान है।

हो रागभाव प्रशस्त अर अनुकम्प हिय में है जिसे।
मन में नहीं हो कलुषता नित पुण्य आस्रव हो उसे।।१३५।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिस जीव को, [प्रशस्तः रागः] प्रशस्त राग है, [अनुकम्पासंश्रितः परिणामः] अनुकम्पायुक्त परिणाम है; [च] और, [चित्ते कालुष्यं न अस्ति] चित्त में कलुषता का अभाव है; [जीवस्य] उस जीव को, [पुण्यम् आस्त्रवति] पुण्य आस्त्रवित होता है।

टीका :— यह, पुण्यास्त्रव के स्वरूप का कथन है।

प्रशस्त राग, अनुकम्पापरिणति और चित्त की अकलुषता—यह तीन शुभ भाव द्रव्यपुण्यास्त्रव को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' के प्रसंग का [१]अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे शुभभाव भावपुण्यास्त्रव हैं और वे

---

१. सातावेदनीयादि पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपुण्यास्त्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें जीव के प्रशस्त रागादि शुभभाव निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभभावों को भी 'भावपुण्यास्त्रव' ऐसा नाम है।

(शुभभाव) जिसका निमित्त हैं, ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के शुभकर्मपरिणाम (-शुभकर्मरूप परिणाम), वे द्रव्यपुण्यास्त्रव हैं॥१३५॥

प्रवचन नं. ३४, गाथा-१३५-१३६

दिनांक - ३०-०९-१९६४, भाद्र कृष्ण १०, बुधवार

अब आस्त्रव पदार्थ का व्याख्यान है। यह नौ पदार्थ का क्या स्वरूप है, यह बताते हैं। नौ पदार्थ जैसे हैं, वैसे मानना, इसका नाम 'तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्' है। तो उस सम्यग्दर्शन की व्याख्या में उसका विषय नौ क्या है, उसकी बात करते हैं। गाथा १३५।

रोगो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि।।१३५।।

टीका - यह पुण्य-पाप का अधिकार तो आ गया था। परन्तु एक गाथा में दोनों साथ ले लिये थे। पुण्य और पाप। यहाँ आस्त्रव अधिकार है तो उसका विस्तार से पुण्य और पाप दोनों आस्त्रव हैं, यह बताने के लिये उसमें विस्तार से कहते हैं। आस्त्रव में छह गाथा लेंगे।

टीका :— यह, पुण्यास्त्रव के स्वरूप का कथन है। प्रशस्त राग,... प्रशस्त राग, शुभराग, **अनुकम्पापरिणति...** परप्राणी को दुःख मिश्रित अनुकम्पा की पर्याय। यह सब शुभराग है, विकल्प है। प्रशस्त राग शुभ, उसका विषय प्रशस्त है, आगे कहेंगे। समझ में आया? १३६ गाथा में कहेंगे। उसका विषय प्रशस्त, देव-गुरु-शास्त्र आदि तो राग को भी प्रशस्त कहा गया है।

प्रशस्त अर्थात् शुभ। **अनुकम्पापरिणति...** परप्राणी को दुःखी देखकर अनुकम्पा के परिणाम, वह भी शुभपुण्य है। शुभपुण्य है। **चित्त की अकलुषता...** चित्त में कलुषिततारहित भाव अर्थात् शुभभाव। **यह तीन शुभ भाव द्रव्यपुण्यास्त्रव को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं...** यह तीन शुभभाव—नामस्मरण, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा अथवा विकल्प, णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं आदि स्मरण, वह सब

प्रशस्त राग, शुभराग है। समझ में आया? भगवान की भक्ति, पूजा का भी जो राग है, वह शुभराग, प्रशस्त राग है।

यह तीन शुभ भाव द्रव्यपुण्यास्त्रव को... नये जो द्रव्य पुण्य आने के परमाणु की जो योग्यता है, सातावेदनीय, उच्च गोत्र, नाम आयुष्य, वह रजकण उस समय उसका द्रव्य पुण्यरूप होने का काल है। किसका? जीव का नहीं, जड़ का। बराबर! द्रव्य पुण्यास्त्रव, नये परमाणु में पुण्यरूप पर्याय परमाणु में होने की योग्यता का कालवाला है, उसे द्रव्य पुण्यास्त्रव कहते हैं। **उसे निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं...** उसे यह शुभराग निमित्तमात्र कारण है। वह धर्म नहीं। अनुकम्पा, प्रशस्त राग, अकलुषितता, वह राग की मन्दतारूप शुभभाव है। और वह नये द्रव्य पुण्यास्त्रव, उसी समय में आनेवाले परमाणु की सातावेदनीय, उच्च गोत्र आदि पर्याय परमाणु में होनेयोग्य है। उसे यह शुभभाव निमित्त कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

यहाँ भाव की बात नहीं। पहले तो द्रव्य पुण्यास्त्रव कौन है? कि जिसमें रजकण की पुण्यरूप पर्याय होने की योग्यता है, वह आनेवाले है, उनमें यह शुभभाव निमित्त कहा जाता है। यहाँ तो स्वतन्त्र शुभभाव किया तो परमाणु द्रव्यपुण्यास्त्रव आये, ऐसा नहीं है। उन परमाणु में पुण्य की सातावेदनीय पर्याय होनेवाली थी, इसलिए यहाँ प्रसंग-प्रसंग लिया है न? उसका प्रसंग था। द्रव्य-पुण्य आने का परमाणु की पर्याय में प्रसंग—काल था। उसमें यह शुभभाव निमित्त पड़ा। जड़ को नहीं। जड़ की बात, इसलिए शुभभाव निमित्त हुआ। कौन सा जड़ भाव। पुराने कर्म या नये आते हैं वे? किसे पूछें? कितनी बात चली अब? अभी इतना भी नहीं कहते? लो! यह क्या कहा? सेठी ठीक है। कहाँ चलता है? विचार कहाँ चलता है? द्रव्य पुण्य जो परमाणु की पर्याय आनेवाली है, उसका परमाणु का पुण्य होने का काल है। जीव ने शुभभाव किया तो वहाँ पुण्य होने का काल आया, ऐसा नहीं है। समझ में आया? सेठ! ध्यान रखे तो समझ में आये? ऐसी बात है। ऐसा नहीं। अभी तक तो बहुत ही गड़बड़ चली है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उदय की बात नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दरबार है तो क्या समझना है कि कैसे बैठे? यह तो दलाल है न। बेरियाजी! हमारा दलाल है। ऐसा कि यहाँ बैठे हैं तो हमें समझने की कहाँ चिन्ता है? ऐसा। बात सच्ची है। समझ में आया? स्वयं से काम होता है, किसी से काम नहीं होता। स्वयं ही समझना पड़ेगा।

यहाँ जो कहते हैं कि **प्रशस्त राग, अनुकम्पापरिणति और चित्त की अकलुषता...** शुभराग बस! उससे कुछ पर में होता है, ऐसी यहाँ बात है ही नहीं। परन्तु वह शुभराग नये सातावेदनीय के परमाणु पर्यायरूप से आनेवाली योग्यता का प्रसंग है। उसका काल है।

मुमुक्षु : पुण्य से नहीं आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके शुभभाव से नहीं आये है। शुभभाव से नहीं आये। वह तो जड़ की पर्याय है। शुभभाव तो इसकी पर्याय में हुआ, बस। नये परमाणु आने का उसका काल था पुण्यरूप होने का। सेठी! ध्यान रखना है। ऐसा नहीं चलेगा, वहाँ हीरा-माणेक में चलाया और तम्बाकू में चलाया। प्रसंग का अर्थ क्या? काल। यह प्रसंग घटित होना, इसका अर्थ क्या? ऐसे इस प्रसंग का उस काल में ऐसी बात हुई।

यहाँ तो आचार्य इतना सिद्ध करते हैं कि नये परमाणु आनेवाले की स्वतन्त्रपर्याय योग्यता से आती है। तब वहाँ भावपुण्य हुआ, उसे निमित्त कहा गया है। ऐसी बात है। शुभराग तो विकारी पर्याय, धर्म नहीं। अनुकम्पा, प्रशस्त राग, धर्म-बर्म नहीं, संवर-बंवर नहीं, मोक्ष का कारण नहीं। समझ में आया? ज्ञानी को भी आता है और अज्ञानी को भी (आता है)। स्पष्टीकरण करेंगे। छह गाथा में है, आस्रव अधिकार।

यहाँ तो जरा **इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्रव' के प्रसंग का...** देखो! यह परमाणु में साता होने की, उच्च गोत्र होने की, नाम की प्रकृति, यशकीर्ति आदि होने की ऐसी प्रकृति का परमाणु की पर्याय में उसी समय में यह द्रव्य पुण्यास्रवरूप परिणमने का उसका काल था। अमरचन्दभाई! इसने शुभभाव किया तो वहाँ काल आया, ऐसा नहीं है... बड़ा आश्चर्य! ऐसी बात है ही नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके काल में। वह काल एक ही, परन्तु अपने-अपने काल में है। समझ में आया? यहाँ तो कहा कि **द्रव्यपुण्यास्त्रव को शुभराग निमित्तमात्ररूप होने से कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके...** कल १३२ में आया था। यह अनुसरण करके यहाँ भावपुण्य क्यों कहा? कि द्रव्य-पुण्य की पर्याय उसमें-परमाणु में होनेवाली थी, तो उसका लक्ष्य करके शुभभाव को भावपुण्य कहा गया। समझ में आया? भावपुण्य, वह अरूपी विकार है और द्रव्यपुण्य वह रूपी जड़-पुद्गल कर्म की पर्याय है। उस पर्याय के प्रसंग का लक्ष्य करके शुभभाव को पुण्य कहा। इस प्रकार यहाँ भावपुण्य क्यों कहा? द्रव्यपुण्य का आस्त्रव होता है, उसका लक्ष्य करके यहाँ शुभभाव को भावपुण्य कहा गया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वह यहाँ हुआ है। समझ में आया? वहाँ पुण्य-पाप एक साथ एक गाथा में लिये थे। अब यहाँ भिन्न-भिन्न विस्तार करते हैं। पुण्य-पाप सब आस्त्रव है, दोनों आस्त्रव है। यह बताने के लिये विस्तार करते हैं। समझ में आया?

यह द्रव्यपुण्यास्त्रव के प्रसंग का अनुसरण करके, देखो! नीचे (फुटनोट) में है। देखो! **सातावेदनीयादि....** परमाणु में सातावेदनीयादि पर्याय होनी थी, उच्च गोत्रवाली होनी थी। कर्म में, जड़ में वह पर्याय होनेवाली थी। आहाहा! इसने भाव किया तो उसने (जड़ में) होनेवाली थी, ऐसा नहीं। इस प्रकार स्वतन्त्र सिद्ध करते हैं। उच्च गोत्र, आयुष्य, नाम, बादर, पंचेन्द्रियपना, पर्याप्तपना आदि बँधते है न, वह सब पुण्यप्रकृति है।

पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपुण्यास्त्रव का जो प्रसंग बनता है,... प्रसंग बनता है। देखो! यह प्रसंग, काल उसका बनता है। **उसमें जीव के प्रशस्त रागादि शुभभाव निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे...** पीछे-पीछे का अर्थ? काल पीछे नहीं, भाव। जब द्रव्य पुण्यास्त्रव आया तो उसका नाम जब द्रव्य पुण्यास्त्रव है, तो यहाँ प्रशस्त राग अनुकम्पा अकलुषित भाव को भावपुण्य, द्रव्य पुण्य का प्रसंग बननेवाली पर्याय हुई है, उसमें जो भावपुण्य निमित्त था, उसे यहाँ द्रव्य पुण्य के आस्त्रव

के कारण से वहाँ भावपुण्य कहा गया है। समझ में आया? आहाहा! टीका, वह भी किस प्रकार की है! अमृतचन्द्राचार्य, तो इतना सिद्ध करते हैं। वास्तव में भाव भावपुण्य और भावपाप कहना, वह तो द्रव्य पुण्य और द्रव्य पापास्रव की पर्याय होने का प्रसंग था, उसका लक्ष्य यहाँ किया। भगवान (आत्मा) तो शुद्ध है, वस्तु शुद्ध है। पर्याय में पुण्य-पाप का नाम क्यों दिया? वह उसकी पर्याय जो आनेवाली थी, उसका अनुलक्ष करके यहाँ पुण्य-पाप कहा। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रशस्त राग, प्रशस्त शब्द से....

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभराग। प्रशस्त अर्थात् शुभ-शुभ। पुण्य। अशुभ अप्रशस्त, शुभ प्रशस्त। दोनों प्रशंसा करनेयोग्य नहीं है। दोनों बन्ध का कारण हैं। समझ में आया? आत्मा को बिल्कुल धर्म का कारण नहीं। इसलिए तो स्पष्टीकरण करते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रशस्त कहना और वापस धर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रशस्त का अर्थ? अशुभ की अपेक्षा से प्रशस्त। बाकी वास्तव में तो वह भी अशुभ ही है। अपने शुद्ध परिणाम संवर, निर्जरा इस अपेक्षा से तो उसे अशुभ कहा गया है। परन्तु अशुभ जो परिणामों की कलुषितता है, इस अपेक्षा से उसे अप्रशस्त कहो तो शुभराग को प्रशस्त कहो, बस इतना। बाकी दोनों बन्ध का कारण है। दोनों विकल्प है, राग है। समझ में आया?

देखो! ...जरा पड़ना, सीखना पड़ेगा। पुस्तक-बुस्तक सीखते हैं तो पढ़ते हैं या नहीं? या ऐसे का ऐसा खतौनी करते हैं? कि यह क्या है, जमा, उधार किससे क्या लिया है? क्या दिया? किस अपेक्षा से है, उसका स्वयं स्वाध्याय करने की प्रेक्टिस करना चाहिए। समझ में आया? धर्मचन्दजी! डॉक्टर की प्रेक्टिस कितनी की है? उड़ा देते हैं। क्या उसमें कुछ नहीं होता थोथा। समझ में आया? द्रव्य पुण्यास्रव के प्रसंग का अनुसरण करके **पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभभावों को भी 'भावपुण्यास्रव' ऐसा नाम है।** नाम है। शुभभाव भावपुण्यास्रव है। वह शुभभाव भाव पुण्यास्रव और शुभभाव जिसका निमित्त है, देखो! जिस काल में आनेवाले परमाणु का...

ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले... आत्मा में कम्पन हुआ। योग द्वारा परमाणु आये। आत्मा के प्रदेश में प्रविष्ट होनेवाले **पुद्गलों के शुभकर्मपरिणाम...** पुद्गलों के शुभ कर्मपरिणाम- **(-शुभकर्मरूप परिणाम) वे द्रव्यपुण्यास्त्रव हैं।** शुभकर्मरूप पर्याय वह द्रव्यपुण्यास्त्रव है। जीव और जड़ वह दो है। यह सात पर्याय है। एक भावपुण्य जीव की विकारी शुभपर्याय और द्रव्य पुण्य पुद्गल की विकारी पर्याय। है वह पर्याय। नहीं समझ में आता? ऐई! सेठी!

मुमुक्षु : इनकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इनकार नहीं करते। इसमें इनकार करे तो इज्जत जाये। नहीं जाये। इतनी बात याद नहीं रहती? ऐसा कहते हैं। समझ में क्यों न रखे? कहा न? कि द्रव्य परमाणु पुण्य के परमाणु आनेवाले का काल है तो यहाँ उसे शुभभाव निमित्त पड़ा तो पुण्य आने के कारण उसे भावपुण्य कहा जाता है और जिसे भावपुण्य निमित्त है, उस रजकण को द्रव्य-पुण्य कहा गया है। सीधी बात है। यह योग कम्पन है न? आत्मा के प्रदेश। कम्पन द्वारा आते हैं। यह शुभ और अशुभपरिणाम विकार है। उससे स्थिति-रस पड़ता है। और योग द्वारा आते हैं। प्रकृति और प्रदेश योग द्वारा आते हैं और यह शुभ और अशुभपरिणाम द्वारा स्थिति और रस पड़ता है। यह बताने के लिये कहा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : उदय....

पूज्य गुरुदेवश्री : उदय क्या और द्रव्य पुण्य का? यहाँ कौन कहता है द्रव्य पुण्य का उदय होता है? यहाँ किसने कहा? हुकमीचन्दजी! बराबर ध्यान रखना चाहिए न? अभी तक बहुत ही गप्प गोले चलाये? द्रव्य पुण्य तो आनेवाले रजकण की बात है। भाई! क्या? आनेवाले हैं। नये आते हैं, उनकी बात है। पुराने कर्म की (बात नहीं)। यह तो बहुत बार आ गया। समझ में आया?

नये रजकण पुद्गल में-कर्म में पुण्यपरिणाम होनेवाले परमाणु की पर्याय हुई, वह द्रव्यपुण्य। उसमें यह भावपुण्य निमित्त पड़ता है, इतना। और वह द्रव्यपुण्य कहा तो उसके प्रसंग को इसका नाम भावपुण्य कहा। यह भावपुण्य है, वह द्रव्यपुण्य है। दोनों भिन्न-भिन्न है। यह चैतन्य की पर्याय है, वह जड़ की पर्याय है।

मुमुक्षु : योग द्वारा....

पूज्य गुरुदेवश्री : कम्पन। नहीं, नहीं, प्रदेश का कम्पन। आत्मा के प्रदेश अन्दर कंपते हैं, धूजते हैं। उसके द्वारा आते हैं। जैसे तालाब में छिद्र हो और पानी आता है न? वैसे कम्पन प्रदेश के अन्दर आत्म प्रदेश के। उसके द्वारा प्रकृति-यह परमाणु आते हैं। और शुभ-अशुभपरिणाम विकार है, उसमें स्थिति-रस पड़ता है।

यहाँ तो निमित्त की बात की, परन्तु निमित्त से क्या आया? ऐसा कहा न? आनेवाले परमाणु को निमित्त योग है और पड़नेवाली स्थिति-रस में निमित्त कषायभाव है। ऐसी दो बात करनी है न? निमित्त। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बात चलती है। यहाँ तो निमित्त का ज्ञान कराना है न? आनेवाले हैं तो निमित्त कौन है, उसकी तो बात करते हैं। समझ में आया? यह तो पहले बात की न? प्रसंग तो उसका है कर्म परमाणु में आनेवाली पर्याय में, यह पुण्यपरिणाम निमित्त पड़े तो भावपुण्य कहे गये। अब उसे आये कैसे, यह बताना है। आये योग के कम्पन है और आने की प्रकृति, प्रदेश की योग्यता से आये हैं। उसमें निमित्त योग है। स्थिति-रस में शुभ-अशुभपरिणाम है। यह चार बातें आयी। समझ में आया? **ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के शुभकर्मपरिणाम (-शुभकर्मरूप परिणाम) वे द्रव्यपुण्यास्रव हैं।** लो! अब सेठी को कहो कि (स्पष्ट) हो गया या नहीं अब? जड़ की और चैतन्य की दोनों की पर्याय भिन्न-भिन्न है। अभी निश्चित हुआ नहीं?

एक परमाणु पुद्गलद्रव्य पुद्गल है। कर्म होने के योग्य। उसमें कर्म होने की पुण्य की पर्याय हुई, बस वह जड़ और यहाँ आत्मा में प्रशस्तराग अनुकम्पा आदि वह शुभभाव, उसमें वह निमित्त पड़े। उसे द्रव्य पुण्यास्रव कहा है, वह है। उसका प्रथम लक्ष्य करके इसे यहाँ भावपुण्य कहा। वह द्रव्यपुण्य है। दोनों पर्याय है। दोनों दो द्रव्य की पर्याय है। एक जीव की विकारी भावपुण्य पर्याय और द्रव्यपुण्य जड़ की पर्याय, वह पुद्गल की विकारी पर्याय है। वह अजीव है। यह जीव की (विकारी) पर्याय जीव है। समझ में आया?

एक ही समय की बात है। वह तो एक समय में चलता है। आगे-पीछे है नहीं। उस ओर का उसका लक्ष्य करके यहाँ पुण्य कहा गया है। अब विशेष। १३६ गाथा।

मुमुक्षु : होनेवाली पर्याय हुई....

पूज्य गुरुदेवश्री : हुई ही है। परन्तु वह आने में निमित्त कौन? शुभराग। तीन बोल कहे न? उसमें निमित्त। परन्तु उसे भावपुण्य क्यों कहा? निमित्त को भावपुण्य क्यों कहा? कि द्रव्यपुण्य का प्रसंग बनने से उसे भावपुण्य कहा गया है। ओहोहो! अब १३६(गाथा)। बराबर अभ्यास करना थोड़ा। घर में कभी पढ़ते हो या नहीं? इनकार करते हैं। शोभालालभाई! थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करना। घर में भी थोड़ा अभ्यास करना। बहियाँ कैसे इधर-उधर करते हैं? करते हैं, बहियाँ उलट-पुलट करते हैं या नहीं? कितने हैं, कितने हैं, सब ख्याल में है। डालचन्दजी क्या करते हैं, प्रेमचन्दजी क्या करते हैं, सब ख्याल (होता है)। समाचार लाओ, नहीं तो पत्र क्यों नहीं आया?

गाथा - १३६

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ।। १३६ ।।

अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे या च खलु चेष्टा ।
अनगमनमपि गरूणां प्रशस्तराग इति ब्रुवन्ति ।। १३६ ।।

प्रशस्तरागस्वरूपाख्यानमेतत्।

अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिः, धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधाना चेष्टा, गुरूणामाचार्यादीनां रसकित्वेनानुगमनम्एषः प्रशस्तो रागः प्रशस्तविषयत्वात् । अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्ति-प्रधानस्याज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वर-विनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति ।। १३६ ।।

अरहंत सिद्ध अर साधु भक्ति गुरु प्रति अनुगमन जो।
वह राग कहलाता प्रशस्त जँह धरम का आचरण हो।।१३६।।

अन्वयार्थ :— [अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिः] अरहन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति, [धर्मे या च खलु चेष्टा] धर्म में यथार्थतया चेष्टा, [अनुगमनम् अपि गुरुणाम्] और गुरुओं का अनुगमन, [प्रशस्तरागः इति ब्रुवन्ति] वह 'प्रशस्त राग' कहलाता है।

टीका :— यह, प्रशस्त राग के स्वरूप का कथन है।

[१]अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में-व्यवहारचारित्र के [२]अनुष्ठान

---

१. अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पाँचों का समावेश हो जाता है, क्योंकि 'साधुओं' में आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन का समावेश होता है। [निर्दोष परमात्मा से प्रतिपक्षभूत ऐसे आर्त-रौद्रध्यानों द्वारा उपार्जित जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ उनका, रागादिविकल्परहित धर्म-शुक्लध्यानों द्वारा विनाश करके, जो क्षुधादि अठारह दोष रहित और केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सहित हुए, वे अर्हन्त कहलाते हैं। लौकिक अंजन सिद्ध आदि से विलक्षण ऐसे जो ज्ञानावरणादि-अष्टकर्म के अभाव से सम्यक्त्वादि-अष्टगुणात्मक हैं और लोकाग्र में बसते हैं, वे सिद्ध हैं।

में—[३]भावनाप्रधान चेष्टा और गुरुओं का—आचार्यादि का—रसिकरूप से [४]अनुगमन, यह 'प्रशस्त राग' है, क्योंकि उसका विषय प्रशस्त है।

यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो [५]स्थूल-लक्ष्यवाला होने से केवल भक्तिप्रधान है ऐसे अज्ञानी को होता है; उच्च भूमिका में (-ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो तब, [६]अस्थान का राग रोकने के हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटाने के हेतु कदाचित् ज्ञानी को भी होता है॥१३६॥

विशुद्ध ज्ञान-दर्शन जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मतत्त्व की निश्चयरुचि, वैसी ही ज्ञप्ति, वैसी ही निश्चल-अनुभूति, परद्रव्य की इच्छा के परिहारपूर्वक उसी आत्मद्रव्य में प्रतपन अर्थात् तपश्चरण और स्वशक्ति को गोपे बिना वैसा ही अनुष्ठान—ऐसे निश्चयपंचाचार को तथा उसके साधक व्यवहारपंचाचार को—कि जिसकी विधि आचारादि शास्त्रों में कही है उसे—अर्थात् उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं और दूसरों को उसका आचरण कराते हैं, वे आचार्य हैं।

पाँच अस्तिकायों में जीवास्तिकाय को, छह द्रव्यों में शुद्धजीवद्रव्य को, सात तत्त्वों में शुद्धजीवतत्त्व को और नव पदार्थों में शुद्धजीवपदार्थ को जो निश्चयनय से उपादेय कहते हैं तथा भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करते हैं और स्वयं भाते (-अनुभव करते) हैं, वे उपाध्याय हैं।

निश्चय-चतुर्विध-आराधना द्वारा जो शुद्ध आत्मस्वरूप की साधना करते हैं, वे साधु हैं।]

२. अनुष्ठान = आचरण; आचरना; अमल में लाना।

३. भावनाप्रधान चेष्टा = भावप्रधान प्रवृत्ति; शुभभावप्रधान व्यापार।

४. अनुगमन = अनुसरण; आज्ञांकितपना; अनुकूल वर्तन। [गुरुओं के प्रति रसिकभाव से (उल्लास से, उत्साह से) आज्ञांकित वर्तना, वह प्रशस्त राग है।]

५. अज्ञानी का लक्ष्य (-ध्येय) स्थूल होता है, इसलिए उसे केवल भक्ति की ही प्रधानता होती है।

६. अस्थान का = अयोग्य स्थान का, अयोग्य विषय की ओर का; अयोग्य पदार्थों का अवलम्बन लेनेवाला।

गाथा - १३६ पर प्रवचन

१३६ (गाथा)

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति।।१३६।।

देखो! यह प्रशस्तराग की व्याख्या। तीन बोल आये न? तीन। प्रशस्त उपयोग की व्याख्या। एक गाथा में एक-एक भिन्न-भिन्न व्याख्या करेंगे। समझ में आया? फिर अनुकम्पा थी, फिर अकलुषिता थी।

इसमें कहाँ हरिगीत है? इसमें हरिगीत है ही नहीं। नहीं तो कहाँ से लाना यहाँ? कहो, समझ में आया? टीका। इसकी टीका।

टीका :— यह, प्रशस्त राग के स्वरूप का कथन है। है टीका? २०० पृष्ठ। २००। तीसरी पंक्ति के बीच में हिन्दी में। टीका—**यह, प्रशस्त राग...** देखो! पहले प्रशस्त राग कहा न? उसका स्वरूप कहते हैं। **यह, प्रशस्त राग के स्वरूप का कथन है।** यह प्रशस्त राग पहले कहा, उसकी व्याख्या करते हैं।

अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति,... देखो! तीन लोक के नाथ साक्षात् परमात्मा हो या प्रतिमा हो और सिद्ध भगवान की मूर्ति हो और सिद्ध भगवान को लक्ष्य में लेना-सिद्ध भगवान भक्ति में भाव से लक्ष्य में लेना, वह सब शुभराग है, प्रशस्तराग है। अरिहन्त-सिद्ध-साधु, साधु में तीनों आ गये। नीचे (फुटनोट में) है, देखो! नीचे है ऐकड़ा।

अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पाँचों का समावेश हो जाता है, क्योंकि 'साधुओं' में आचार्य, उपाध्याय और साधु तीन का समावेश होता है। कहो, समझ में आया? यह सब है न लाईन सही। देखो! पंच परमेष्ठी। उनके प्रति भक्ति, स्मरण, उनका नाम याद करना प्रशस्त राग है। पश्चात् साक्षात् भगवान हो और स्मरण करना, फिर स्मरण करे, भगवान.... भगवान.... भगवान.... भगवान.... भगवान.... भगवान.... णमोकार आदि। भगवान की प्रतिमा में पूजा का भाव। सब प्रशस्तराग की जाति है। समझ में आया? नीचे फुटनोट।

निर्दोष परमात्मा से प्रतिपक्षभूत ऐसे आर्त-रौद्रध्यानों द्वारा उपार्जित जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ... क्या कहते हैं ? अर्हंत की व्याख्या करते हैं। अर्हंत कैसे हुए ? अर्हंत कैसे हुए या उस प्रकार हुए, उनका जो भक्ति, स्मरण आदि उसे प्रशस्तराग कहा जाता है। वह भी संवर-निर्जरा नहीं। जैसे भगवान की पूजा, भक्ति भी शुभराग है, वैसे स्मरण करना, वह भी शुभराग ही है। उसमें कोई यह स्मरण करने में संवर-निर्जरा है और भगवान की भक्ति में दूसरा राग है, ऐसा है नहीं। सबको भगवान शुभराग कहते हैं। ऐसा शुभराग ज्ञानी या अज्ञानी को भी आता है।

निर्दोष परमात्मा से प्रतिपक्षभूत ऐसे आर्त-रौद्रध्यानों द्वारा उपार्जित जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ... देखो! जरा **उनका, रागादिविकल्परहित धर्म-शुक्लध्यानों द्वारा विनाश करके,...** भगवान अरिहन्त कैसे हुए ? जो अज्ञान और राग-द्वेष भाव से, आर्त और रौद्रभाव से ऊपार्जित किये हुए आठ कर्म, उन रागादि विकल्परहित दोनों धर्म-शुक्लध्यान। देखो! धर्मध्यान भी रागादि विकल्परहित, शुक्लध्यान भी रागादि विकल्परहित।

अभी धर्मध्यान में बहुत ही गड़बड़ चलती है। धर्मध्यान है तो थोड़ा साथ में प्रशस्तराग है। उसमें निर्जरा (और) संवर भी है, यह इनकार करते हैं। देखो! रागादि विकल्परहित धर्मध्यान में शुद्धता थोड़ी है। शुक्लध्यान में शुद्धता विशेष है। परन्तु है तो दोनों रागरहित। पुण्य और पाप का जो विकल्प है, उससे रहित अपने स्वरूप की धर्मध्यान परिणति और शुद्धि की वृद्धिरूप शुक्लध्यान की परिणति, उस **द्वारा विनाश करके...** आठ कर्म उसके द्वारा विनाश हुए हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : धर्मध्यान का काउसग्ग हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्मध्यान काउसग्ग में कहाँ है ? यह तो विकल्प है। यहाँ तो आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द का कन्द, उसकी अन्तर्दृष्टि करके जो रागरहित ध्यान अपनी शुद्धता में हुआ, वह धर्मध्यान है। वही धर्मध्यान कर्म का नाश करने का उपाय है। बाकी दूसरे शुभराग—उपवास किये और ऐसा किया और वैसा किया, वह सब यहाँ आत्मा आनन्दकन्द ज्ञातादृष्टा में लीनता की धर्मध्यान की पर्याय प्रगट करे, उससे कर्म का नाश होता है। दूसरा कोई नाश का उपाय नहीं है। कहो, समझ में आया ? सेठी!

धर्मध्यान और शुक्लध्यान में शुद्धता के हीनाधिकता का अन्तर है। धर्मध्यान में शुद्धता थोड़ी है। शुक्लध्यान में शुद्धता विशेष है। यह पहले बीच में कहा था। याद नहीं रहा।

मुमुक्षु : प्रशस्तराग में धर्मध्यान है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। प्रशस्तराग, वह धर्मध्यान नहीं। यह तो यहाँ कहते हैं। उसके सामने ही बात है। प्रशस्तराग, वह शुभपरिणाम है। समझ में आया? आहाहा! धर्म और शुक्लध्यान द्वारा अरिहन्त हुए। कोई उपवास-बुपवास करके, किसी ने इतने किये परन्तु उसमें धर्म और शुक्लध्यान आवे तो कर्म का नाश होता है। समझ में आया? यहाँ तो मुझे दूसरा कहना था। धर्मध्यान को कोई दो प्रकार से कहता है। एक विकल्प है राग, वह धर्मध्यान, उससे भी निर्जरा होती है—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : शुद्धता में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (शुद्धता में) अन्तर है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। शुद्धता तो है निर्विकल्प। धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों निर्विकल्प शुद्ध परिणति है। पुण्य विकल्प प्रशस्तराग में सामने दिया है न? उन्होंने यह। प्रशस्त राग तो शुभबन्ध का है। उसे व्यवहार धर्मध्यान कहते हैं। परन्तु यह निश्चय धर्मध्यान हो तो उसे (प्रशस्त राग को) व्यवहार कहते हैं और वह पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया?

रागादिविकल्परहित... धर्म, शुक्लध्यान का दोनों को अभी एक शब्द लागू किया है। वे क्या कहते हैं? कि चौथे से यह सातवें तक अभी तो धर्मध्यान है, शुभराग। वह शुभउपयोग धर्मध्यान, वहाँ से संवर-निर्जरा होती है। फिर शुक्लध्यान आठवें से और कोई बारहवें से... समझ में आया? ऐसा है नहीं। धर्मध्यान आत्मा के ज्ञाता स्वभाव का ध्यान एकाग्रता, वह धर्मध्यान है। बीच में प्रशस्त राग आया भगवान का स्मरण आदि, वह तो शुभराग है। वह पुण्यबन्ध का कारण है। वह कर्म के नाश का कारण

नहीं। कहो, देवीलालजी! भगवान की भक्ति करना, वह पुण्य है और सामायिक करके विकल्प करके बैठना, वह धर्म है। ऐसा है? नहीं। ऐसा कहते हैं।

ऐसा कि यहाँ सामायिक करके बैठे और यह शुभराग वर्ते, वह संवर-निर्जरा। भगवान की भक्ति पुण्य, ऐसा नहीं। सामायिक में भी जितना भगवान के स्मरण, नाम आदि का विकल्प उठता है, वह सब पुण्यबन्ध है। उसे वास्तव में सामायिक नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब बन्ध के ही कारण है। भगवान ज्ञायक चैतन्यमूर्ति, निर्विकल्प स्वभाव को पकड़कर लीन होना, उसका नाम सामायिक है। उसका नाम धर्मध्यान है। उसका नाम कर्म का नाश करने का उपाय है। वह संवर है। समझ में आया? आगे संवर का अधिकार आयेगा।

जो क्षुधादि अठारह दोषरहित, देखो! स्पष्टीकरण किया है। कैसे हैं अरिहन्त भगवान? एक तो रागादि विकल्परहित धर्म-शुक्लध्यान द्वारा विनाश करके। विनाश हुआ तो क्या हुआ? क्षुधादि अठारह दोष रहित हो गये। भगवान अरिहन्त को क्षुधा, तृषा, रोग नहीं होते। ऐसे अरिहन्त का स्पष्टीकरण किया। कोई कहता है न कि अरिहन्त को क्षुधा होती है। विचार लेते हैं रोग आया (तो) औषधि ली। यह सब बात यथार्थ नहीं है। कहो, समझ में आया? **क्षुधादि अठारह दोष रहित...** रहित है तो गुण क्या हुए? **और केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सहित हुए,...** लो।

केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, ऐसी पर्याय अस्ति हुई। अठारह दोष कर्म नाशवान, ऐसे दोष से रहित हुए। **लौकिक अंजन सिद्ध आदि से विलक्षण...** अब सिद्ध की व्याख्या करते हैं। यह अरिहन्त की की। ऐसे अरिहन्त की भक्ति आदि को अर्थात् प्रशस्त राग कहा जाता है। ऐसे अरिहन्त। दूसरे अरिहन्त माने कि राग, उसके राग को वास्तव में प्रशस्त राग कहने में नहीं आता। यहाँ यह कहते हैं। अब सिद्ध। यह पाँच बोल हैं न अरिहन्त, सिद्ध, साधु, यह तीन बोल, इनकी व्याख्या है।

लौकिक अंजन सिद्ध आदि... लौकिक में ऐसा कहते हैं न? अंजन ऐसे उसके पैर तप जाये, ऐसी सिद्धि। ऐसी पुण्य की सिद्धि होती है। वह नहीं। सिद्धपुरुष। हाँ। यह

सिद्ध चिन्तवन पुण्य के। वह नहीं। उनसे विलक्षण। **ज्ञानावरणादि-अष्टकर्म के अभाव से...** लो! सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणात्मक है। आठ कर्म का अभाव और आठ गुण की पर्याय का सद्भाव। **और लोकाग्र में बसते हैं,...** लो! यहाँ लोकाग्र में बसते हैं, ऐसा कहा। वे सिद्ध हैं। लोकाग्र में बसते हैं। क्षेत्र बताया। भाव अपने अनन्त चतुष्टय में बसते हैं। यह भाव कहा। समझ में आया? उनकी भक्ति, वह प्रशस्तराग है, ऐसा कहना है। उनका स्मरण करना, उन्हें याद करना, उनसे प्रेम करना, उनका बहुमान करना, बारम्बार मनन रटन करना अरिहन्त सिद्ध का, वह प्रशस्तराग है - शुभराग है - पुण्यराग है। उससे पुण्य आता है।

अब साधु की बात करते हैं। आचार्य, उपाध्याय। **विशुद्ध ज्ञान-दर्शन जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मतत्त्व...** कैसा है आत्मभाव? आत्मतत्त्व कैसा है? कि विशुद्ध ज्ञानदर्शन जिसका स्वभाव, अकेला ज्ञाता-दृष्टा विशुद्ध निर्मल ज्ञान-दर्शन विशुद्ध स्वभाव, वह आत्मतत्त्व। **उसकी निश्चयरुचि,...** उसकी निश्चयदृष्टि, इसका नाम सम्यग्दर्शन। **वैसी ज्ञप्ति....** वैसी ही, ऐसे आत्मतत्त्व की ज्ञप्ति। ऐसा ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला आत्मा, उसका ज्ञान, उसका ज्ञान, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है। **वैसी ही निश्चल-अनुभूति,...** वैसी ही अन्तर में निश्चल अनुभूति, स्थिरता, रमणता, उसका नाम चारित्र।

परद्रव्य की इच्छा के परिहारपूर्वक उसी आत्मद्रव्य में प्रतपन अर्थात् तपश्चरण... लो! यह तपश्चरण। पहले सम्यक् आकार कहा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। अब सम्यक् तप। **परद्रव्य की इच्छा के परिहारपूर्वक उसी आत्मद्रव्य में प्रतपन अर्थात् तपश्चरण...** स्थिर विशेष, उग्र पुरुषार्थ से होना, इसका नाम तपश्चरण आचार कहते हैं। आचार के नाम कहते हैं। पाँच आचार पाले, वह आचार। वह पाँच आचार। समझ में आया? **और स्वशक्ति को गोपे बिना...** यह वीर्य। **स्वशक्ति को गोपे बिना वैसा ही अनुष्ठान...** यह वीर्याचार। वीर्याचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार - पाँच आचार।

वैसा ही अनुष्ठान—ऐसे निश्चयपंचाचार को तथा उसके साधक व्यवहारपंचाचार को... अब यहाँ तो साथ में लिया। साधक और बाधक, पहले साधक हो और साध्य

बाद में हो न, वह इसमें तो नहीं आया।-**कि जिसकी विधि आचारादि शास्त्रों में कही है...** व्यवहाराचार, हों! **अर्थात् उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं...** उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं। यहाँ तो भाई! उभय कहा। एक समय में दो। देखो! हें? कहाँ हुआ? **उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं...** एक साथ कहा, उभय किसे कहे? निश्चयदृष्टि, ज्ञान और रमणता, तप और वीर्याचार यह निश्चय। उसके साथ व्यवहार ज्ञान के आचार हैं न? काल में पढ़ना, विनय से पढ़ना, दर्शनशुद्धि.... चारित्र का, तीर्थ का इत्यादि। विकल्पात्मक भाव व्यवहार है, वह पंचाचार साथ में है। निश्चय पंचाचार के साथ। **उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं...** स्वयं आचरता है, यह कहाँ से आया? व्यवहार को आचरता है और निश्चय को दृष्टि में रखता है, ऐसा है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ आचरता है? स्वयं आचरता है, वर्तमान आचरता है कहा। स्वयं आचरता है और दूसरों को आचरण कराता है। इसका नाम वह निश्चय-व्यवहार को कराता है, ऐसा कहते हैं, देखो!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? यह जयसेनाचार्य ने लिखी है। जयसेनाचार्य की बात है। हिम्मतभाई के घर की नहीं। समझ में आया? .... कौन जाने क्या करते हैं? कहाँ उठलावी-मारी है। फेरफार फेरफार। उभय आचार को जो स्वयं आचरते हैं और दूसरे को आचरण कराते हैं। यहाँ तो ऐसा लिखा है। समझ में आया? जयसेनाचार्य की टीका में है न, टीका में। शब्द-शब्द है। फिर क्या? ओहोहो! ऐसे आचार्य की, ऐसे आचार्य की भक्ति। समझ में आया?

अब उपाध्याय। भेदाभेदरत्नत्रय, यहाँ लेंगे। उपाध्याय किसे कहते हैं, यह बताते हैं। ऐसे उपाध्याय की भक्ति प्रशस्तराग है। भेदाभेद रत्नत्रय व्यवहार दोनों में आ गया। साधु तो अपना साधन करते हैं न? पहिचान किसे ऐसी? उसके ख्याल में हो कि यह वस्तु है इतनी। यह तो ज्ञान और दर्शन हो, वह शुद्धि उसमें स्वयं को स्वयं के कारण से हुई। यह ऐसे हैं, इतना लक्ष्य किया, वह तो व्यवहारज्ञान है। और उसके प्रति भक्ति का

भाव, वह शुभराग है। समझ में आया?

अपने आत्मा में अन्दर में ज्ञान-दर्शन की परिणति स्व के अवलम्बन से प्रगट हो, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। यह आचार्य ऐसे... ऐसे... ऐसे.... (ऐसा) लक्ष्य परावलम्बी, परसत्तावलम्बी परज्ञान है। और उनकी भक्ति आदि का भाव शुभराग है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : उभय व्यवहार में काल भेद है या यह काल है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह काल है, यह मैंने कहा न? पहले कहा। एक साथ में है। पहले कहा। उभय अर्थात् एक साथ में है। वहाँ निश्चय पंचाचार है, साथ में व्यवहार विकल्प आदि है। निश्चय बिना व्यवहार नहीं होता। एक नय दूसरे नय की सापेक्षता न हो तो वह मिथ्यानय हो जाता है। अकेला व्यवहार हो और निश्चय न हो तो मिथ्यानय हो जाता है। और पूर्ण निश्चय हो तो वहाँ व्यवहार भले न हो परन्तु निश्चय (नीचे) है तो साथ में व्यवहार होता ही है। विकल्प ऐसा शुभराग प्रशस्त राग होता ही है। सापेक्ष व्यवहार और निश्चय हो गया। समझ में आया? निश्चय से व्यवहार से निरपेक्ष निश्चय है। उसमें व्यवहार से ऐसा विकल्प सापेक्ष आता है। गजब भाई नय का।

अब उपाध्याय कैसे हैं? यह ऐसे अरिहन्त, ऐसे सिद्ध और ऐसे आचार्य। उनकी भक्ति का नाम अभी प्रशस्तराग—शुभराग है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बोल-बोल करे तो क्या है? परावलम्बी ज्ञान-जानपना है। उसमें क्या है? स्व के बिना यह परावलम्बी ज्ञान वास्तव में मोक्ष के मार्ग में है ही नहीं। समझ में आया?

अब पाँच अस्तिकायों में शुद्धजीवास्तिकाय को निश्चयनय से उपादेय कहते हैं... कहते हैं। देखो! यह उपाध्याय ऐसी प्ररूपणा करते हैं। कि पाँच अस्तिकाय है, काल के अतिरिक्त, उनमें शुद्ध जीवास्तिकाय को ही निश्चयनय से उपादेय कहते हैं। देखो! समझ में आया?

यह उपादेय भगवान जीवास्तिकाय स्व। असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का धाम

शुद्ध जीवास्तिकाय, वह उपादेय है। ऐसी प्ररूपणा उपाध्याय करते हैं। इससे विरुद्ध करे तो उपाध्याय है नहीं। ऐसी प्ररूपणा करनेवाले उपाध्याय की भक्ति भी शुभराग है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अस्तिकाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अस्तिकाय चलता है। हाँ... हाँ। अभी चलता है। आस्रवतत्त्व। **छह द्रव्यों में शुद्धजीवद्रव्य को,...** उपादेय कहते हैं। लो! कहते हैं, देखो! ऐसा उपदेश कहते हैं। **छह द्रव्यों में शुद्धजीवद्रव्य को,...** स्वभाव शुद्ध वह जीवद्रव्य उपादेय और अंगीकार करनेयोग्य है। ऐसा कहनेवाले को उपाध्याय कहते हैं। ऐसे उपाध्याय की भक्ति, वह शुभराग है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी यहाँ बात ही कहाँ है? इसीलिए तो यहाँ बात करते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे माने तो उसे मिथ्यात्व होता है। उपाध्याय है नहीं, आचार्य है नहीं। अरिहन्त, सिद्ध, स्वभाव है नहीं। (उसे माने) तो उसे मिथ्यात्व होता है। मिथ्यात्व का भाव आता है। ओहोहो! **छह द्रव्यों में शुद्धजीवद्रव्य को, सात तत्त्वों में शुद्धजीवतत्त्व को...** क्या कहा? उपाध्याय उसे कहते हैं कि सात तत्त्वों में शुद्ध जीवतत्त्व को ही उपादेय कहा जाता है। **नव पदार्थों में शुद्धजीवपदार्थ को...** जो निश्चयनय से, देखो! वस्तु है, हों! सब। **निश्चयनय से उपादेय कहते हैं...** एक बात। तथा **भेदाभेद-रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करते हैं...** व्यवहार-निश्चयरत्नत्रय की प्ररूपणा करते हैं। भेद और भेद अर्थात् व्यवहार। और अभेद अर्थात् निश्चय। दो हैं न, दो है, स्वरूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करते हैं। **और स्वयं भाते (-अनुभव करते) हैं,...** भेदाभेदरत्नत्रय स्वयं भाते हैं। **वे उपाध्याय हैं।** कहो, समझ में आया? ऐसे उपाध्याय की भक्ति, वह प्रशस्तराग है।

यहाँ तो पाँच पद कहे हैं, उसकी खबर नहीं और (हम) जैन हैं (ऐसा कहे), हाँ, बस! भगवान की भक्ति करते हैं। णमो अरिहन्ताणं। बस क्रम-क्रम से संवर-निर्जरा

हो जायेगी। सामायिक है न? बैठे थे तो अन्दर क्या कुछ साफ किया था। मैंने सामायिक की, ऐसी उसकी मान्यता ही मिथ्यात्व है। सामायिक है नहीं और उसे सामायिक माना है। शुद्ध जीव स्वभाव की...

मुमुक्षु : उसमें आनन्द आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल का आनन्द आवे वहाँ उसे। **भेदाभेद रत्नत्रय... वह उपाध्याय है।** देखो! पहिचान दी है न? पहिचान-पहिचान।

अब साधु। **निश्चय-चतुर्विध-आराधना द्वारा...** परन्तु साधु प्ररूपणा नहीं करते, वह तो उसका साधन करना है न? साधु को अपना साधन करना, वह तो नहीं आदेश, नहीं उपदेश, इस अपेक्षा से।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं करते, यह साधु नहीं करते। उपाध्याय-व्यवहाररत्नत्रय में आ गया। व्यवहाररत्नत्रय-निश्चयरत्नत्रय में आराधन करते हैं, उसमें विकल्प आ गया। भेदरत्नत्रय व्यवहार है। निश्चयरत्नत्रय निर्विकल्प है। जगत में प्ररूपणा करते हैं न, उपाध्याय हैं, उपाध्याय। उनके समीप... प्ररूपणा करते हैं। साधु है न साधु। साधु में क्या? साधना करना, बस! उन्हें कोई आदेश करना, उपदेश करना (इत्यादि) की व्याख्या मुख्यरूप से है ही नहीं।

निश्चय-चतुर्विध-आराधना द्वारा... वे अपने ज्ञान-दर्शन और आनन्द के द्वारा, **जो शुद्ध आत्मस्वरूप की साधना करते हैं, वे साधु हैं।** साधुओं में तो प्ररूपणा करना, समझाना, दीक्षा देना वैसा तो है नहीं। इस अपेक्षा से अपने निश्चयस्वरूप का आराधन करते हैं। देखो! उसमें कुछ विकल्प का आराधन करते हैं, यह भी नहीं लिया। और कहते हैं, जगत को समझाते हैं, ऐसा भी साधु में नहीं है। साधु तो अपने आनन्दस्वरूप को साधे, वे साधु। अतीन्द्रिय आनन्द (मय) साधु। ज्ञान-दर्शन चारित्र और तप, निर्विकल्प शुद्ध की सेवना, साधु हैं न, वे सेवना करते हैं। साधना करे, वह साधु। यह **अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति,...** लो! इतना अर्थ हुआ। एक पहली पंक्ति। **अर्हन्त-सिद्ध-साधुओं के प्रति भक्ति,...** इसका नाम प्रशस्तराग है। कहो, समझ में आया?

यह साक्षात् समवसरण में प्रभु विराजते हों तो भी उनकी प्रति की भक्ति, वह शुभराग है। ओहोहो! और आचार्य, उपाध्याय, साधु साक्षात् हो, उनकी भक्ति भी शुभराग है। **धर्म में-व्यवहारचारित्र के अनुष्ठान में—भावनाप्रधान चेष्टा...** शुभराग की व्याख्या करते हैं। यह प्रशस्तराग की व्याख्या करते हैं। व्यवहारचारित्र पंच महाव्रत के परिणाम में, उनके **अनुष्ठान में, आचरण, आचरना, अमल में लाना। भावनाप्रधान चेष्टा...** शुभभाव, हों! **शुभभावप्रधान व्यापार।** (आचार) पंच महाव्रत में, पंच समिति, गुप्ति में, व्यवहार में, व्यापार में बराबर भाव प्रधान चेष्टा। शुभभाव मुख्य... चेष्टा, उसका नाम प्रशस्त राग है, पुण्य बन्ध का कारण है।

और गुरुओं का—आचार्यादि का—रसिकरूप से अनुगमन,... देखो! आचार्य, उपाध्याय, साधु आते हों, जाते हों, उनका **रसिकरूप से अनुगमन करना। अनुसरण, आज्ञांकितपना, अनुकूल वर्तन। [गुरुओं के प्रति रसिकभाव से, प्रेम से (उल्लास से, उत्साह से) आज्ञांकित वर्तना, वह प्रशस्त राग है।]** लो! समझ में आया? कितने शब्द लिये हैं, देखो!

गुरुओं का—आचार्यादि का—रसिकरूप से... अर्थात् प्रेम से, उल्लास से, उत्साह से रुचिपूर्वक, ऐसा। बेगारीरूप से नहीं। बेगार करते हैं न तुम्हारे, हें! जबरदस्ती। हठ कहते हैं। यह तो रसिकरूप से अनुगमन, वह प्रशस्तराग है। लो! इसका नाम भगवान प्रशस्त राग कहते हैं। शुभराग कहते हैं। पुण्यास्रव का कारण कहते हैं। संवर, निर्जरा नहीं। क्यों? अब प्रशस्त की व्याख्या की है, देखो!

क्यों कहा प्रशस्तराग? कि उसका विषय प्रशस्त है। समझ में आया? पंच परमेष्ठी उसका विषय है न, वे प्रशस्त हैं, तो राग को प्रशस्त कहा गया है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु। पंच महाव्रत आदि हैं और रसिकरूप से, उत्साहरूप से भक्ति आदि भाव, उसका विषय प्रशस्त है तो राग को प्रशस्त कहा गया है। विषय प्रशस्त है तो राग प्रशस्त। समझ में आया?

मुमुक्षु : कारण प्रशस्त है, इसलिए राग प्रशस्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं। उसका विषय प्रशस्त है। सामने चीज़ प्रशस्त है,

इतना, सामने चीज़ प्रशस्त है तो यहाँ राग को प्रशस्त कहा गया है। इतनी बात है।

मुमुक्षु : कारण प्रशस्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ये कारण-बारण की बात नहीं। यहाँ यह बात नहीं। यहाँ तो प्रशस्त विषय है इसलिए, निमित्त ऐसा है न? बस इतना। निमित्त प्रशस्त है तो राग को प्रशस्त कहा गया है, इतनी बात है, बस। इस बात की यहाँ बात नहीं। यहाँ तो राग कहते हैं, उसे प्रशस्त क्यों कहा? उसका विषय प्रशस्त है, इतना। उससे उत्पन्न हुआ है या वह कारण है, उसकी बात यहाँ है ही नहीं।

राग है, उसका विषय प्रशस्त क्यों कहा? इतनी बात है। प्रशस्त क्यों कहा कि सामने विषय प्रशस्त है। बस! निमित्त कहने में आया। देव-गुरु-शास्त्र प्रशस्त है न इसलिए। समझ में आया? इसलिए इसे-राग को प्रशस्त क्यों कहा? यह हमारे एक पण्डितजी कहते थे या नहीं? आज्ञांकित मानना, वह अभी शुभराग है। आज्ञाप्रमाण रहना। व्यवहार से आज्ञांकित। आज्ञा प्रमाण रहना।

मुमुक्षु : आज्ञा प्रमाण अर्थात् राग...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं, नहीं, नहीं। आज्ञांकित अर्थात् गुरु की आज्ञा अनुकूलता से चलना, उनकी आज्ञा प्रमाण रहना, वह शुभराग है, ऐसा। शुभराग की यहाँ बात नहीं। यहाँ तो उनकी अनुकूलता में लक्ष्य करके रहना, बस इतनी बात है। विशेष यहाँ बात है नहीं। समझ में आया? यहाँ तो प्रशस्त विषय है न निमित्त। इसलिए यहाँ राग को प्रशस्त कहने में आया है। उससे हुआ है, यह प्रश्न यहाँ नहीं है। बात प्रशस्त की की है। ....यह तो प्रशस्त विषय ही है। इस बात की चर्चा हमारे हो गयी है, अमृतलाल के साथ। विषय अर्थात् निमित्त ही प्रशस्त है। स्त्री, कुटुम्ब, अप्रशस्त निमित्त है। इस कारण यहाँ प्रशस्त राग कहा गया है। उत्पन्न तो स्वयं से हुआ है। अब वह राग किसे होता है? यह बात कहते हैं। स्वयं के कारण से, हों!

यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो स्थूल-लक्ष्यवाला होने से... अज्ञानी। आहाहा! **अज्ञानी का लक्ष्य (-ध्येय) स्थूल होता है,...** उसे मात्र भक्ति की ही प्रधानता होती है, देखो! अज्ञानी को भक्ति की प्रधानता, शुभभाव, बस। स्मरण में, यादगिरी में, भक्ति में,

पूजा में, अकेला शुभराग तल्लीन। स्थूल लक्ष्यवाला, ऐसा कहा। हों! ध्येय... ध्येय। लक्ष्य अर्थात् ध्येय। स्थूल ध्येय है। राग ध्येय है। पर ध्येय है। उसमें अपना ध्येय है नहीं। **केवल भक्ति की ही प्रधानता होती है।** ऐसे अज्ञानी को भक्ति वास्तव में होती है। अज्ञानी की ऐसी स्थूल भक्ति होती है। समझ में आया?

उच्च भूमिका में (-ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो... ऊपर की भूमिका में, अब ज्ञानी की बात करते हैं। **उच्च भूमिका में (-ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो तब, अस्थान का राग रोकने के हेतु...** यह ज्ञानी की बात है। यह सब व्यवहार की बात है। अस्थान का राग, वह तो राग-द्वेष में विकल्प ऐसा आता है कि ऐसा न हो। कोई यहाँ क्रमबद्ध में विरोध करे, ऐसा नहीं। अस्थान का राग रोकने के लिये, कोई कहे कि अस्थान का राग आनेवाला था और रोका किस प्रकार? अरे! भाई! ऐसा नहीं है। यहाँ तो, ऐसा है नहीं। वहाँ तो राग के साथ थोड़ा अशुभराग न हो, ऐसा विकल्प आता है, उसे रोकने के लिये अस्थान अर्थात् राग आया है और रोका है? कथन की पद्धति निमित्त से बात समझाते हैं।

अथवा तीव्र रागज्वर मिटाने के हेतु... तीव्र राग ज्वर, राग ज्वर तीव्र है तो रोकने के लिये है। परन्तु तीव्र राग ज्वर न आवे, ऐसा भाव है तो वहाँ शुभराग कहने में आता है। **कदाचित् ज्ञानी को भी होता है।** ऐसा राग आता है भक्ति का, स्मरण का इत्यादि का भाव ज्ञानी को भी प्रशस्त राग आता है। आये बिना नहीं रहता, उसे भी पुण्यास्रव इतना, लो! ज्ञानी को भी पुण्यास्रव कहा। कोई कहे कि नहीं, ज्ञानी का शुभराग संवर, निर्जरा का कारण है, ऐसा कहते हैं न? कहते हैं अभी। ज्ञानी का अशुभराग भोग में भी निर्जरा होती है तो शुभभाव में क्यों निर्जरा नहीं होगी? अमरचन्दभाई! ऐसा कहते हैं। नहीं। ज्ञानी का अशुभभाव भोग का भाव भी पाप का कारण है। भोग भाव क्या निर्जरा का कारण है? यह तो दृष्टि की शुद्धता की प्रधानता बतलाने के लिये भोग को ज्ञानी की निर्जरा कही है। भोग का भाव निर्जरा है? ज्ञानी के शुभभाव को यहाँ पुण्यास्रव कहा। देखो यहाँ। सम्यग्ज्ञानी के शुभभाव प्रशस्त विषय सामने है, उसका लक्ष्य हुआ तो पुण्यास्रव है, धर्म नहीं। १३६ गाथा (पूरी) हुई। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १३७

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ।। १३७ ।।

तृषितं बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यस्तु दुःखितमनाः ।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवत्यनकम्पा ।।१३७ ।।

अनुकम्पास्वरूपाख्यानमेतत् ।

कञ्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनः खेद इति।। १३७ ।।

क्षुधा तृषा से दुःखीजन को व्यथित होता देखकर।
जो दुःख मन में उपजता करुणा कहा उस दुःख को ।।१३७।।

अन्वयार्थ :— [तृषितं] तृषातुर, [बुभुक्षितं] क्षुधातुर, [वा] अथवा [दुःखितं] दुःखी को [दृष्ट्वा] देखकर [यः तु] जो जीव [दुःखितमनाः] मन में दुःख पाता हुआ [तं कृपया प्रतिपद्यते] उसके प्रति करुणा से वर्तता है, [तस्य एषा अनुकम्पा भवति] उसका वह भाव अनुकम्पा है।

टीका :— यह, अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है।

किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार (-उपाय) करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना, वह अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो, निचली भूमिका में विहरते हुए (-स्वयं निचले गुणस्थानों में वर्तता हो तब), जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से (अर्थात् संसार सागर में डूबे हुए जगत को देखने से) मन में किंचित् खेद होना वह है ॥१३७॥*

---

* इस गाथा की आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीका में इस प्रकार विवरण है :- तीव्र तृषा, तीव्र क्षुधा, तीव्र रोग आदि से पीड़ित प्राणी को देखकर अज्ञानी जीव 'किसी भी प्रकार से मैं इसका प्रतिकार करूँ' इस प्रकार व्याकुल होकर अनुकम्पा करता है; ज्ञानी तो स्वात्मभावना को प्राप्त न करता हुआ (अर्थात् निजात्मा के अनुभव की उपलब्धि न होती हो तब), संक्लेश के परित्याग द्वारा (-अशुभभाव को छोड़कर) यथासम्भव प्रतिकार करता है तथा उसे दुःखी देखकर विशेष संवेग और वैराग्य की भावना करता है।

प्रवचन नं. ३५, गाथा-१३७-१३९
दिनांक - ०१-१०-१९६४, भाद्र कृष्ण ११, गुरुवार

पंचास्तिकाय में नौ पदार्थ चलते हैं। नौ पदार्थ की व्याख्या। नौ पदार्थ किसे कहते हैं, उसमें आस्रव पदार्थ की व्याख्या चलती है। पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव दोनों आस्रव है। उनसे नये आवरण आते हैं, वह बन्धन का कारण है, ऐसा बताते हैं। यह देखो! पहले १३६ में आ गया है।

प्रशस्त राग आया न? पंच परमेष्ठी में प्रशस्त राग, भक्ति आदि, वह पुण्यास्रव है। समझ में आया? अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु सच्चे, उनकी व्याख्या कर गये हैं। उनकी भक्ति, नामस्मरण, पूजा इत्यादि भाव को पुण्यास्रव कहते हैं। संवर नहीं, धर्म नहीं। परम्परा भी नहीं। शुभराग में से परम्परा होता नहीं। अपना स्वभाव शुद्ध, वह संवरमार्ग में आयेगा। शुद्धमार्ग संवर चैतन्यमूर्ति का अन्तर अवलम्बन लेकर जो शुद्ध विकाररहित परिणति पर्याय उत्पन्न हो, वह मोक्ष का मार्ग, वही संवर है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। बीच में ऐसा भाव आता है, तो उसे पुण्यास्रव कहा गया है। कहो, समझ में आया? प्रशस्त राग की व्याख्या हो गयी।

ज्ञानी को भी प्रशस्त राग आता है। अज्ञानी को तो अकेले स्थूल लक्ष्यवाली भगवान की भक्ति करने से हमारा कल्याण हो जायेगा, ऐसा उसका ध्येय स्थूल है। उसे भी राग मन्द हो तो पुण्यास्रव होता है, धर्म नहीं। ज्ञानी को अपने शुद्धस्वभाव में नहीं रह सकता और अशुभराग के वंचनार्थ अथवा निषेधार्थ ऐसा भक्ति का भाव सम्यग्ज्ञानी को भी भगवान की भक्ति, नामस्मरण, जप आदि का भाव आता है, परन्तु है वह पुण्यास्रव। शुभभाव पुण्य का आस्रव करनेवाला है। बन्ध तो करनेवाला है। अब अनुकम्पा की बात चलती है। शुभभाव के तीन बोल। एक प्रशस्तराग, एक अनुकम्पा, एक अकलुषित भाव। तीन शुभभाव है। उससे पुण्यास्रव है, नये पुण्य का आवरण होता है। उसमें एक प्रशस्त राग की व्याख्या हो गयी। अब अनुकम्पा। १३७ (गाथा)।

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।।१३७।।

इसकी १३७ की **टीका :— यह, अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है।** यह अनुकम्पा भी शुभराग है। समझ में आया? अनुकम्पा भी शुभराग है। धर्म नहीं, संवर नहीं। यह कहते हैं, देखो! १३७ की टीका।

किसी तृषादिदु:ख से पीड़ित प्राणी को देखकर.... संस्कृत में है, उसका अक्षरश: नीचे है। कोई **तृषादि,....** किसी को तृषा लगी हो, क्षुधा लगी हो, रोग हो, ऐसे दु:खी प्राणी हों। ऐसे दु:ख से पीड़ित प्राणी, ऐसे **दु:ख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण...** करुणा आयी हो। पर प्राणी को करुणा के कारण उसका प्रतिकार (-उपाय) करने की इच्छा से उसकी तृषा, क्षुधा, रोग, पीड़ा इत्यादि दूर करने के प्रतिकार की इच्छा से **चित्त में आकुलता होना...** चित्त में आकुलता होना, वह अज्ञानी की अनुकम्पा है। समझ में आया?

वह अज्ञानी की अनुकम्पा है, अज्ञानी को अनुकम्पा ऐसा शुभभाव आता है। '**मैं इसका प्रतिकार करूँ**' शीघ्र कर दूँ, शीघ्र छोड़ दूँ, ऐसी अज्ञानी की आकुलता होती है। पर का प्रतिकार करने की इच्छा हो परन्तु आत्मा कार्य कर सके, ऐसा तीन काल में है ही नहीं। अज्ञानी को ऐसी आकुलता हो कि मैं एकदम पर का दु:ख दूर कर दूँ, क्षुधा दूर कर दूँ, तृषा दूर कर दूँ। **चित्त में आकुलता होना, वह अज्ञानी की अनुकम्पा है।** मिथ्यादृष्टि का यह जरा शुभभाव है। उसे पुण्यास्रव होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो ऐसी है। देखो! कहाँ से आये हो भाई? ग्वालियर से। अच्छा! ...सेठी! ज्ञानी की अनुकम्पा, देखो! सम्यग्दृष्टि की अनुकम्पा कैसी होती है, उसका स्वरूप कहते हैं। अपना स्वरूप आनन्द और ज्ञान है, ऐसा जिसे अन्तरभान हुआ है, ऐसी सम्यग्दृष्टि की अनुकम्पा का क्या स्वरूप है?

निचली भूमिका में विहरते हुए... चौथे, पाँचवें आदि गुणस्थान में विचरते हों **(-स्वयं निचले गुणस्थानों में वर्तता हो तब), जन्मार्णव में निमग्न जगत के अवलोकन से...** देखो! भाषा बदल गयी। अज्ञानी को तो दु:ख की पीड़ा देखकर प्रतिकार करने की आकुलता है और ज्ञानी को **जन्मार्णव में निमग्न जगत के...** जन्मरूपी संसार, चौरासी

के अवतार में डूबते **जगत के अवलोकन से...** अरे! प्राणी चार गति में रुलते हैं— भटकते हैं। **संसार सागर में डूबे हुए...** चार गति में। परिभ्रमण करनेवाले **जीव को देखकर मन में किंचित् खेद होना, वह अनुकम्पा है।** खेद का अर्थ शुभभाव, अनुकम्पा।

मुमुक्षु : वह तो मिटा सके....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिटा कौन सकता है? यह तो कहते हैं। पर की पर्याय कौन मिटा सकता है? मटाडी को क्या कहते हैं? कौन मिटा सकता है? पर का आयुष्य हो तो रह सके, आयुष्य न हो तो मर जाये। उसे असाता उदय हो तो प्रतिकूल संयोग मिले, साता के उदय से अनुकूल संयोग मिले। दूसरा कौन मिला सकता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को मिला सकता है और संयोग बना सकता है, ऐसा तीन काल में कभी नहीं होता। बराबर है या नहीं भाई?

कोई परमाणु परद्रव्य है या नहीं? जैसे जगत के कर्ता ईश्वर हैं, ऐसा मानते हैं, वह कोई जैन परद्रव्य का कर्ता माने तो दोनों की दृष्टि एक जैसी है, एक स्थान है। पर का क्या कर सके? परमाणु, पर आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है। उसकी पर्याय का होना उसके कारण से होता है। अज्ञानी प्रतिकार करने में 'मैं करता कर दूँ' बेरियाजी! यह समझने की चीज़ है।

मुमुक्षु : आचार्य तुलसी ऐसा ही कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुलसी क्या कर सकते हैं? मिटा सकते हैं। पाप करते हैं। तुलसी तो ऐसा कहते कि... यहाँ तो पुण्य है, पाप में अन्तर है। वे तो कहते हैं कि दूसरे को बचाने का भाव पाप है। ऐसा नहीं है। वह तुलसी है न तेरापन्थी! स्थानकवासी में नहीं? तेरापन्थी। वह ऐसा मानता है न कि दूसरे क्षुधा, तृषावन्त को आहार-पानी देने का भाव पाप है, ऐसा कहता है। पाप नहीं, है पुण्य।

जैन की दूसरी बात है, यह तो कहते हैं कि दूसरी बात है। बेरियाजी! वह तो कहते हैं कि दूसरे को-भूखे को आहार देने का भाव पाप है। ऐसा नहीं है। वह भाव तो पुण्य है। परन्तु अज्ञानी को उसका प्रतिकार कर दूँ, क्षुधा मिटा दूँ, ऐसी क्रिया है, वह मिथ्यादृष्टि में अज्ञान की आकुलता है। समझ में आया? और ज्ञानी को प्रतिकार करने

की इच्छा नहीं। अनुकम्पा है। परन्तु उसका प्रतिकार कर सकूँ, क्षुधा टाल सकूँ, तृषा टालूँ, वह मेरे अधिकार की बात नहीं। ऐसे परद्रव्य की पर्याय मैं नहीं कर सकता। यह अन्तर है। बहुत ही पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। स्थानकवासी में तेरापन्थ है न? वह तो ऐसा कहते हैं, क्षुधा-तृषा देखकर, दुःखी देखकर, लक्ष्मी भी देना, वह पाप है। ऐसा नहीं है। है तो पुण्य-शुभभाव, परन्तु मैं यह क्रिया कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की है। उसकी तो—पर की तो उसे खबर भी नहीं। पर को कर सकूँ, यह तो उसे भी खबर नहीं है, हमें खबर है। उनके सब शास्त्र देखे हैं।

मुमुक्षु : भाषा बदली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। भाषा अब बदली। पहले ऐसी भाषा नहीं थी। अलौकिक पुण्य है, संसार है। ऐसी भाषा करते थे। हमको खबर है। पहले ऐसी भाषा नहीं थी। स्पष्ट पर की, वह तो कहते हैं, स्पष्ट पर की अनुकम्पा। क्यों? कि वह बचे तो ठीक! ऐसी भावना। आहार-पानी देने की भावना पाप है, ऐसा (वे) कहते हैं। यहाँ ऐसा नहीं है। है तो पुण्य परन्तु पर की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता अज्ञानी की है। वह अज्ञान के साथ शुभभाव का पुण्य आता है, बस इतनी बात है। अमरचन्दभाई! अमरचन्दभाई को तो वहाँ कानपुर में फैक्ट्री है। तेरापन्थी... समझ में आया?

इसी प्रकार मैं पर की क्रिया में क्षुधा मिटा दूँ, मिटे कहाँ से? मिटे तो, उसका संयोग मिले और उसे मिटे तो मिटे। तू कहाँ से मिटा सकता है? समझ में आया? ज्ञानी को तो अनुकम्पा। संसार सागर में डूबे हुए प्राणी हैं, ऐसा देखकर जरा खेद, शुभराग आया तो अनुकम्पा पुण्य आया। दृष्टि में उस पुण्य का आदर नहीं है। पर की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। यह अनुकम्पा का भाव आया परन्तु सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में उपादेय नहीं है। उपादेय नहीं, अनुकम्पा शुभभाव हेय है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसके पुण्य की अनुकम्पा जोरवाली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी की जोरवाली हुई। अज्ञान के जोरवाली हुई पहली। मैं पर का कर दूँ, पर का मैं कर दूँ। कौन कर सकता है? अज्ञान का जोर करूँ। समझ में आया? बहुत ही अन्तर है। वस्तु-वस्तु में बहुत ही अन्तर है। कहते हैं, ज्ञानी को

अनुकम्पा होती है। किसे ? दु:ख को देखकर होती है, ऐसा नहीं कहा देखो!

पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण... अज्ञानी को। ज्ञानी को दु:ख को देखकर नहीं। क्योंकि पर्यायबुद्धि उसे है ही नहीं। अपने में उसे देखकर वैराग्य आता है। ओहोहो! चौरासी में डूबे हुए प्राणी, उसे शुभभाव आया खेद, उसे प्रशस्त राग कहा जाता है। वह भी पुण्यास्रव है। ज्ञानी को भी वह पुण्यास्रव है। वीतराग न हो तो ऐसा भाव आता है, परन्तु वह धर्म नहीं है। समझ में आया ? भारी गड़बड़ करते हैं। **मन में किंचित् खेद होना...** देखा ? थोड़ा जरा नीचे (फुटनोट में) स्पष्टीकरण है। नीचे फुटनोट में जयसेनाचार्य की टीका का स्पष्टीकरण है। नोट है, नीचे। २०२ पृष्ठ पर नीचे।

इस गाथा की आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेव कृत टीका में इस प्रकार विवरण है। तीव्र दु:ख, तीव्र क्षुधा, तीव तृषा, तीव्र रोग इत्यादि से पीड़ित प्राणी को देखकर अज्ञानी जीव 'किसी भी प्रकार से मैं इसका प्रतिकार करूँ' मैं ऐसा दे दूँ, मैं ऐसा दान दे दूँ, ऐसा आहार-पानी दे दूँ परन्तु कौन दे सकता है ? अज्ञानी की इतनी आकुलता है। समझ में आया ? ज्ञानी को प्रतिकार यथासम्भव लक्ष्य आता है, परन्तु वह प्रतिकार की क्रिया का कर्ता नहीं होता। इच्छा-अनुकम्पा आयी, यह कहते हैं, देखो!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन ? शुभराग है। आकुलता है ? वह राग ही आकुलता है। सदा व्रत खोले या पूंछड़ा खोले। राग की मन्दता है। परन्तु मैं कर सकता हूँ और दे सकता हूँ और वह दे सकता है, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की मिथ्यात्व का बड़ा पाप साथ में है। कहो, समझ में आया ? कौन कर सकता है ? पर का कौन करता है ? अपने में वह भाव आता है। कर कौन सकता है ? और रोक कौन सकता है ? सोगनचन्दजी! भाई क्या है ? कौन कर सकता है ? तुम्हारे शरीर की एक अँगुली भी नहीं चला सकता। वह तो जड़ है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है या वह तुम्हारे से होती है ? उसमें उत्पाद-व्यय है या नहीं ? जड़ शरीर में उत्पाद-व्यय, तो उत्पाद-व्यय उससे हुए हैं ? आत्मा से नहीं हुए तो क्या पर का कर सकता है ? जगत को बहुत कठिन बात है।

'किसी भी प्रकार से मैं इसका प्रतिकार करूँ'... अज्ञानी। **इस प्रकार व्याकुल**

होकर अनुकम्पा करता है;... मिथ्याश्रद्धासहित ऐसा शुभभाव अज्ञानी को आता है तो मिथ्यात्व और पुण्य दोनों का आस्रव उसे होता है।

ज्ञानी तो.... सम्यग्दृष्टि तो **स्वात्मभावना को प्राप्त न करता हुआ...** अपने अनुभव में नहीं रह सकता, शुद्ध उपयोग में नहीं रह सकता, धर्मी अपने शुद्ध आनन्द की, ज्ञान की दृष्टि होने पर भी, स्वरूप में नहीं टिक सकता, तब **अर्थात् निजात्मा के अनुभव की उपलब्धि...** अर्थात् प्राप्ति **न होती हो तब), संक्लेश के परित्याग द्वारा...** संक्लेश नहीं, अशुभभाव का त्याग।

यथासम्भव प्रतिकार करता है... कर्ता है, वह व्यवहार से कहा है। समझे? यथासम्भव, ऐसा। यथासम्भव अर्थात् पर की क्रिया ऐसी होने की हो, वैसे होती है। उसे व्यवहार से कर्ता, ऐसा कहने में आया है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; यथासम्भव अर्थात् उसके योग्य। सामने के योग्य। आहार मिला, पानी मिला, नहीं मिला, औषधि मिली, नहीं मिली - ऐसी यथासम्भव योग्यता वहाँ होती है, ऐसी स्थिति होती है। समझ में आया?

सेवा का भाव हुआ परन्तु वहाँ साधन नहीं हो तो, यथासम्भव जो मिला, वह ऐसे सहज हो जाये तो यथासम्भव। मुनि को तो प्रतिकार उपदेश से होता है। दूसरे प्रकार से नहीं।

उसे दुःखी देखकर... यहाँ तो विशेष बात यह है कि विशेष संवेग और वैराग्य की भावना करता है। बस! वैराग्य! ओहो! ऐसे दुःखी प्राणी जन्मार्णव में भटकते हैं। ऐसा वैराग्य संवेग ज्ञानी करता है। पर की क्रिया तो कर नहीं सकता। यथासम्भव राग आया, यथासम्भव क्रिया बन गयी तो बन गयी। समझ में आया? अनुकम्पा की बात हुई १३७ गाथा में। प्रशस्त राग की बात और अनुकम्पा की बात, दो की बात हुई। एक अकलुषितता। यह पुण्यास्रव की बात चलती है। तीनों पुण्यास्रव हैं। प्रशस्त राग, अनुकम्पा और अकलुषितभाव, ये तीनों पुण्यास्रव हैं। तीनों में कोई धर्म नहीं। संवर-निर्जरा नहीं। संवर-निर्जरा दूसरी चीज़ है।

मुमुक्षु : संवेग और वैराग्य अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : संवेग—मोक्ष की भावना, छूटने की भावना। सम्यक् प्रकार से वेग, मोक्ष की अभिलाषा। वैराग्य—राग से विमुख होना। मोक्ष का वेग और राग से विमुख होना, वैराग्य। ऐसी भावना अन्दर में करता है। अनुकम्पा आ जाती है परन्तु उसकी क्रिया मैं कर दूँ, ऐसी दृष्टि नहीं है। यह तो पंचास्तिकाय है परन्तु प्रवचनसार में भी लिया है। जो प्राणी दुःखी है, उसकी करुणा करूँ और उसकी क्रिया मैं कर दूँ, यह मिथ्या-दर्शनमोह का उदय है, दर्शनमोह मिथ्यात्व। समझ में आया?

उसकी करुणा कर दूँ, भाव आवे। उसकी मैं कर दूँ। कौन करे? ...ज्ञान है। राग करो या ज्ञाता रहे। दूसरा तो कुछ कर नहीं सकता। मैं कर दूँ, दूसरे का कर दूँ, (यह) मिथ्यात्वभाव है, दर्शनमोह है। प्रवचनसार में है। दर्शनमोह के, मिथ्यात्व के लक्षण बतलाये हैं। विपरीत मान्यता। समझ में आया? कितनी गाथा है? ८५। अकेली न? देखो! मिथ्यात्व का लक्षण बतलाया कि पदार्थों की अयथार्थ प्रतिपत्ति द्वारा (अर्थात्) पदार्थ जैसे हैं, वैसे न जानना और विपरीत मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। तिर्यंच और मनुष्य प्रेक्षायोग्य होने पर भी, देखो! तिर्यंच और मनुष्य तो ज्ञातारूप से देखनेयोग्य हैं, तथापि उनके प्रति करुणाबुद्धि द्वारा मिथ्यात्व मोह को पहिचानकर, कठिन बात है, यह बात!

यह तो आत्मा का ज्ञेय है। परजीव में दुःख होना। ज्ञान वह ज्ञाता का ज्ञेय है। प्रेक्षायोग्य है। तदुपरान्त मैं उसकी करुणा कर दूँ, उसकी दया पाल कर उसे बचा दूँ। समझ में आया, यह मिथ्यात्वभाव का लक्षण है।

मुमुक्षु : सन्तोष हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्तोष हो या न हो? परन्तु उसकी करुणा करूँ। ऐसा है न? तिर्यंचों, मनुष्यों के प्रति करुणाबुद्धि। अपने से करुणा राग आ गया मध्यस्थ रीति से। यह तो उनकी करुणा करके मैं दुःख मिटा सकता हूँ, ऐसा कर दूँ, ओहोहो! उसे देखकर कंपकंपी हो जाये, तो यह सब मिथ्यात्व का लक्षण है। दुनिया से विरुद्ध है।

मुमुक्षु : ज्ञानी और अज्ञानी की अनुकम्पा में भेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद है। ज्ञानी की अनुकम्पा अपनी पर्याय में जरा खेद-राग आ जाता है, बस। और अज्ञानी को तो मैं मिटा दूँ, ऐसा कर दूँ, पूरी दुनिया को सुधार दूँ... के स्वर्ग ऊपर से उतार दूँ। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....है या भावना है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मान्यता, वह मिथ्यात्व है। मैं पर का ऐसा कर दूँ, ऐसी मिथ्यात्वभावना मिथ्याश्रद्धा है। गजब बात है, भाई! ऐसी बात सुनी भी न हो। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ देवादिदेव ने एक समय में तीन काल, तीन लोक देखे। उसमें अनन्त पदार्थ स्वयं सिद्ध देखे। कोई पदार्थ किसी का कर सकता है, ऐसा भगवान ने देखा नहीं। भाई! एक पदार्थ दूसरे का कर सकता है? कौन कर सकता है? समझ में आया? मैं पर की क्रिया कर दूँ, ऐसी भावना मिथ्यात्व है। क्रिया तो कर नहीं सकता। क्रिया तो अज्ञानी क्या कर सकेगा? भाव करता है कि ऐसा मैं कर दूँ।

मुमुक्षु : क्रिया मिथ्यात्व की?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रिया तो पर की है, उसमें कहाँ मिथ्यात्व आया? मैं उसका-पर का कर दूँ, यह भाव मिथ्यात्व है। ओहोहो! क्रिया तो जड़ की होती है। पर की होती हो तो हो। उसमें इसके भाव से कहाँ क्रिया होती है? परन्तु मानता है कि मैं उसका दुःख बराबर मिटा दूँ। ऐसा मैं कर दूँ, ऐसा कर दूँ, मैं जानकार को लाकर उसका दुःख मिटा दूँ। ऐसी पर की क्रिया के करने का भाव, वह मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : रूखी लगन रखने से क्या फायदा?

पूज्य गुरुदेवश्री : रूखी की कहाँ बात है? रूखी किसे कहते हैं? कर सके तो चिकनी है? पर का काम करे तो चिकनी और न करे तो रूखी, (ऐसा नहीं है)। कर सकता ही नहीं, फिर प्रश्न क्या? शुभराग है और साथ में मिथ्यात्व का महान पाप है। पुण्य थोड़ा है और पाप बड़ा है।

मुमुक्षु : पाप और धर्म की स्थिति।

पूज्य गुरुदेवश्री : ... नहीं, धर्म नहीं। धर्म तो वहाँ है ही नहीं। नहीं, नहीं। पुण्य

तो वह भी अधर्म है। शुभराग, वह धर्म नहीं। परन्तु मैं कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यात्वरूपी अधर्म है और पुण्य के साथ जरा राग मन्द हो तो वह पुण्य का अधर्म है। बड़ी कठिन बात, जगत ने कभी सुनी नहीं, तत्त्व क्या है?

'पदार्थ की अयथातत्रूप से प्रतिपत्ति' जैसा पदार्थ है, वैसा न मानना और विपरीत मानना, यह उसकी मिथ्यात्व मान्यता है। मैं दूसरे का कर दूँ, ऐसा कर दूँ, वैसा कर दूँ, पूरी दुनिया को सुखी कर दूँ। धूल में भी सुखी नहीं होते। उसे भान नहीं। समझ में आया? इसमें है पंचास्तिकाय में। क्या कहते हैं?

ज्ञानी को परजीव को जन्म-मरण के दु:ख देखकर दया / अनुकम्पा आती है। प्रतिकार करने की वृत्ति हुई, परन्तु प्रतिकार करने की क्रिया अपने से हुई, ऐसा नहीं मानता। होना हो तो हो, शरीर से बाहर से। न हो तो पर में मेरा कोई अधिकार नहीं। अज्ञानी तो पर में अधिकार मानता है कि मैं पर के काम कर सकता ही हूँ, बस। क्यों नहीं कर सकता? इच्छा बल से मैं कर सकता हूँ। ऐसा कहे कि कर्तव्य है, अपना कर्तव्य है। एक व्यक्ति तो ऐसा कहता था। वह चूड़ा का नहीं? ऐई! इच्छाबल से काम कर सकते हैं। बुजुर्ग, पानाचन्द, क्या नाम? कुछ था। अमृतलाल, हाँ! लींबड़ी में कहता था न। इच्छाबल से रोग मिटा सकते हैं। बहुत अच्छी बात।

मुमुक्षु : बाहर में तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। पर का कुछ नहीं होता। उसके पास, बाहर की क्रिया उसके पास हुई है। कोई उसकी इच्छा के बल से किसी का रोग मिट जाये... ऐसे शरीर बदल जाये। बिल्कुल मूढ़ है। तेरी इच्छा तेरे पास रही, पर की क्रिया पर में रही। पर की क्रिया कहाँ तेरी इच्छा से होती है? वह तो बदलने की योग्यतावाले की बदलती है। घर बदलता है कौन? उसका पुण्य का योग न हो और पाप का योग हो और बदलने की योग्यता हो, तब देव निमित्त पड़ता है। क्या देव से बदल जाता है? देव किसी का रोग बदल सके, यह तीन काल में नहीं है। अमरचन्दभाई! आहाहा! भारी गड़बड़... गड़बड़! मिथ्यात्वभाव।

यहाँ तो कहते हैं, ज्ञानी को जन्म-मरण देखकर राग आता है, पुण्यास्रव होता है,

जानता है कि यह पुण्यास्रव है। अज्ञानी तो सब मैं कर दूँ, बस कूद पड़ता है। क्या आता है? शरीर कार्यामि कुछ आता है न? कार्यम साधयामी... भले शरीर गिरे परन्तु कार्य को साधूँ। किसका? पर का। मूढ़ है। कहाँ से कर सकता है? मांगीरामजी! क्या है यह? इसमें तो बड़ी गड़बड़ मच गयी... पुराने व्यक्ति हैं।

दो बोल आये। प्रशस्त राग और अनुकम्पा। दोनों पुण्यभाव है। नौ तत्त्व में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। उसमें प्रशस्त राग, अनुकम्पा दोनों पुण्यतत्त्व है। संवरतत्त्व नहीं, समझ में आया? निर्जरातत्त्व नहीं, मोक्षतत्त्व नहीं। सात तत्त्व नहीं।

गाथा - १३८

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ।। १३८ ।।

क्रोधो वा यदा मानो माया लोभो वा चित्तमासाद्य ।
जीवस्य करोति क्षोभं कालुष्यमिति च तं बुधा ब्रुवन्ति ।। १३८ ।।

चित्तकलुषत्वस्वरूपाख्यानमेतत् ।

क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम् । तेषामेव मन्दोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम् । तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति । कषायोदयानुवृत्तेरसमग्रव्यावर्तितोपयोगस्यावान्तरभूमिकासु कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भवतीति ।। १३८ ।।

अभिमान माया लोभ अर क्रोधादि भय परिणाम जो ।
सब कलुषता के भाव ये हैं क्षुभित करते जीव को ।।१३८।।

अन्वयार्थ :— [यदा] जब, [क्रोधः वा] क्रोध, [मानः] मान, [माया] माया [वा] अथवा [लोभः] लोभ [चित्तम् आसाद्य] चित्त का आश्रय पाकर [जीवस्य] जीव को, [क्षोभं करोति] क्षोभ करते हैं, तब [तं] उसे [बुधाः] ज्ञानी [कालुष्यम् इति च ब्रुवन्ति] 'कलुषता' कहते हैं।

टीका :— यह, चित्त की कलुषता के स्वरूप का कथन है।

क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ, सो कलुषता है। उन्हीं के (-क्रोधादि के ही) मन्द उदय से चित्त की प्रसन्नता, सो अकलुषता है। वह अकलुषता, कदाचित् कषाय का विशिष्ट (-खास प्रकार का) क्षयोपशम होने पर, अज्ञानी को होती है; कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति में से उपयोग को [१]असमग्ररूप से विमुख किया हो, तब (अर्थात् कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाले परिणमन में से उपयोग को पूर्ण विमुख न किया हो तब), मध्यम भूमिकाओं में (-मध्यम गुणस्थानों में), कदाचित् ज्ञानी को भी होती है॥ १३८॥

---

१. असमग्ररूप से = अपूर्णरूप से; अधूरेरूप से; अंशतः।

गाथा - १३८ पर प्रवचन

अब अकलुषिता को बतलाते हैं। अकलुषिता का भाव है शुभभाव। अकलुषिता। १३८ (गाथा)। परन्तु पाठ में चित्त की कलुषिता के स्वरूप का वर्णन करते हैं। बतलानी है अकलुषिता, हों!

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति।।१३८।।

टीका :— यह, चित्त की कलुषता के स्वरूप का कथन है। बात तो लेनी है अकलुषिता। समझ में आया? देवीलालजी! बात तो शुभरागरूपी अकलुषिता बतलानी है। अकलुषभाव शुभराग है। बस, पहला कलुषितता बतलाकर उसका स्वरूप बतायेंगे।

१३८ की टीका। **क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय से...** टीका है न? **क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ सो कलुषता है।** तीव्र शब्द पड़ा है न? उसमें इसमें यह अन्दर टीका में है। तीव्र उदय है। है न! परन्तु उसमें नहीं। तीव्र उदय है। अन्दर तीव्र, पश्चात् मन्द उदय आता है सही न? पश्चात् मन्द उदय आता है न? क्रोध, मान, माया, लोभ के तीव्र उदय से, ऐसा अन्दर बीच में लिखना चाहिए। तीव्र कहो, वह पूरा पड़ा रहा है।

क्रोध, मान, माया, लोभ का अशुभभाव तीव्र है। चित्त का लोभ कलुषिता है, वह पाप है। क्षोभ। यह चित्त का क्षोभ, वह कलुषिता है। यह पाप की बात करते हैं। कहनी है पुण्य की, परन्तु पाप की बात करते हैं।

मुमुक्षु : बहुत लोभ में पाप ही है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत लोभ में क्या है? पाप ही है। तीव्र लोभ। पैसे का तीव्र लोभ। कंजूसाई, यह सब पाप है।

मुमुक्षु : करकसर।

पूज्य गुरुदेवश्री : करकसर दूसरी चीज़ है और यह (लोभ) दूसरी चीज़ है।

करकसर (मितव्ययी) तो बहुत व्यर्थ न जाये, वह भी है तो पाप। वहाँ कहाँ उसमें पुण्य था। परन्तु यह तो कंजूसाई और पैसे रखने की तीव्र गृद्धि, वह पाप है।

मुमुक्षु : परिग्रह का प्रमाण तो कहलाये...

पूज्य गुरुदेवश्री : परिग्रह प्रमाण तो सम्यग्दृष्टि बिना परिग्रह प्रमाण कहाँ से आवे? पहली दृष्टि सुधरे बिना, सम्यग्दर्शन हुए बिना परिग्रह प्रमाण के व्रतभाव कभी तीन काल में भी नहीं आते। परिग्रह में मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, आते हैं न परिग्रह? अभी मिथ्यात्व छूटे बिना बाहर के परिग्रह की मर्यादा कहाँ से करे? वह तो ममता घटाने की बात है, आसक्ति घटाने की बात है। परन्तु पहली दृष्टि, ज्ञानस्वरूप मैं हूँ— ऐसी अनुभवदृष्टि हुए बिना उसकी आसक्ति घटने के प्रयत्न व्यर्थ हैं। आसक्ति घटती नहीं। साधारण करके कहते हैं। द्रव्य क्षयोपशम कहेंगे। समझ में आया?

मुमुक्षु : परिग्रह प्रमाण....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन परिग्रह प्रमाण कहते हैं? वह तो परवस्तु है, यह दोपहर में नहीं चलता। उसके बिना इसे करना क्या? उसके बिना कुछ कर सकता भी नहीं। वह सम्यग्दर्शन करने की अपेक्षा परिग्रह के प्रमाण की कम ममता करना, वह महान मुश्किल है। पहले यह मुश्किल है। फिर वह मुश्किल है। वह तो व्रत है। व्रत का पुरुषार्थ तो पाँचवें गुणस्थान में होता है। छठवें गुणस्थान में होता है। अभी चौथे में आये नहीं, वहाँ पहले से कहाँ से परिमाण आया? समझ में आया? घटा दिया, परन्तु क्या घटाया? मिथ्यात्वभाव है न? दोपहर में चलता है न? मैंने उसका त्याग किया, मिथ्यादृष्टि है। क्या त्याग किया? तुझमें है ही नहीं और त्याग क्या किया? वह चीज़ ही तुझमें नहीं है और मैंने त्याग किया, मैंने घटा दिया, (ऐसा माने तो) मिथ्यात्व भाव की पुष्टि की। बहुत ही कठिन बात है। अलग बात पूरी। दुनिया से अलग बात है।

मुमुक्षु : विलक्षण!

पूज्य गुरुदेवश्री : विलक्षण। वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा ने एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने, ऐसा मार्ग दुनिया में कोई है ही नहीं। यह चीज़ ही अलग है। कहो, समझ में आया? **उनके....** उनके अर्थात् जो। क्रोध, मान,

माया, लोभ का जो तीव्र उदय है, **उन्हीं के (-क्रोधादि के ही) मन्द उदय से...** मन्दपना, कषाय की मन्दता, **चित्त की प्रसन्नता...** उसमें चित्त का क्षोभ था, वह पाप। और इसमें चित्त की प्रसन्नता, यह पुण्य। शुभभाव, वह धर्म नहीं। **वह अकलुषता है।** देखो, यहाँ! चित्त को अकलुषता करना है। मन्द चित्त में मन्द भाव राग का, उसे अकलुषता मन्द राग। तीव्र राग, वह लोभ, पाप; मन्द राग, वह पुण्य।

वह अकलुषता... अज्ञानी को होती है, पहले ये बात सिद्ध करते हैं। **वह अकलुषता, कदाचित् कषाय का विशिष्ट (-खास प्रकार का) क्षयोपशम होने पर,...** देखो! है तो मिथ्यादृष्टि। परन्तु इतने पुरुषार्थ से राग मन्द किया, उसे यहाँ क्षयोपशम कहने में आता है। वास्तव में तो क्षयोपशम है नहीं। परन्तु राग को मन्द करने का तीव्र क्षोभ पाप का भाव था। मन्द करने के भाव को तीव्र की अपेक्षा से क्षयोपशम कहने में आया है। हाँ, तीव्र राग-द्वेष मन्द महाकलुषित अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान का तीव्र भाव-कठोर भाव, शुभभाव। हिंसा, झूठ, चोरी, महालोभ, वह तीव्र। मन्द राग - राग की मन्दता, कोमलता, वह मन्द। **अकलुषता, कदाचित् कषाय का विशिष्ट (-खास प्रकार का) क्षयोपशम होने पर,...** देखो! मिथ्यादृष्टि को भी इस जाति का क्षयोपशम गिना है। नियमसार में भी प्रत्याख्यान का अधिकार है। मिथ्यादृष्टि को भी व्यवहार प्रत्याख्यान के क्षयोपशमभाव कहा है। है तो वास्तव में उदयभाव, परन्तु इस अपेक्षा से, उस तीव्र राग की अपेक्षा से मन्द होगा, इस अपेक्षा से क्षयोपशम कहा। अज्ञानी को होता है। क्या? अकलुषिता।

ऐसी चित्त की प्रसन्नता का राग अज्ञानी को भी होती है। मिथ्यादृष्टि है, अकलुषिता में पुण्य बाँधता है। मिथ्यात्वभाव तो निरन्तर चालू है। समझ में आया? अज्ञानी को होती है। कौन? अकलुषिता। कलुषिता छोड़, उसमें मन्द प्रसन्नता अज्ञानी को भी राग मन्द की प्रसन्नता ऐसे कोई पर की दया, भगवान की भक्ति चले तो प्रसन्नता आ जाती है। ओहोहो! आहाहा! ....ऐसा शुभभाव की प्रसन्नता हो। पुण्यबन्ध है, पुण्यबन्ध है। साथ में मिथ्यात्व है। मैंने यह क्रिया की और यह भाव मुझे अच्छा है, धर्म है। ऐसा मानकर भाव हुआ तो मिथ्यात्वसहित पुण्यास्रव होता है। ओहोहो! समझ में आया?

अब जरा ज्ञानी की बात करते हैं। यह अज्ञानी की बात की। अकलुषिता अज्ञानी की कही। ज्ञानी को भी अकलुषिता होती है। **कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाली...** कषाय के उदय को अनुसरण करनेवाली, **परिणति में से उपयोग को असमग्ररूप से विमुख किया हो तब...** देखो! भाषा भी अपने पुरुषार्थ से सब लिया है। कषाय के उदय को अनुसरती जो परिणति, परिणति अपनी पर्याय। उदय को अनुसरती, उसमें अपने उपयोग को अंशरूप से विमुख किया हो। अंशरूप से या असमग्ररूप से, ऐसा। देखो, नीचे नोट है। अपूर्णरूप से, अधूरेरूप से। अपनी परिणति उदय से बिल्कुल पूर्ण हटायी नहीं है। अंशरूप से हटायी है। समझ में आया?

इसमें कर्म का होता है, तो मन्द राग होता है या तीव्र राग होता है, ऐसी बात भी नहीं की है। वह तो निमित्त की बात पहले की। अपनी परिणति राग से पूर्णरूप से हटायी नहीं। आंशिक हटायी है तो अंश में राग के अपने शुभभाव में अकलुषिता आती है। **कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति...** परिणति समझे? पर्याय। पर्याय-अवस्था। उसमें से उपयोग को अपने भाव को अंशरूप से विमुख किया। अंशरूप से विमुख किया और अंशरूप से अभी सन्मुख रहा।

अपने उपयोग को अंशरूप से राग से विमुख किया। अंशरूप से अभी सन्मुख रखा है। इस ओर राग में पुरुषार्थ जाता है, इतनी कमी है। अपने में कमी अपने कारण से है। आहाहा! **पूर्ण विमुख न किया हो...** देखो! **(अर्थात् कषाय के उदय का अनुसरण करनेवाले परिणमन में से उपयोग को पूर्ण विमुख न किया हो तब), मध्यम भूमिकाओं में...** चौथे, पाँचवें, छठवें इत्यादि भाव में, मध्यम गुणस्थानों में, कदाचित् ज्ञानी को भी अकलुषिता आती है। अकलुषिता शुभभाव है। पुण्य-परिणाम है। कहो, समझ में आया? यह मध्यम भूमिका कौन सी? बारहवें गुणस्थान में? यह तो नीचे की बात है। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि में अपने परिणाम अभी राग से हटाये हैं। समग्ररूप से हटाये नहीं। राग सन्मुख किया है। धर्मीजीव ने अपना उपयोग स्वभाव शुद्धसन्मुख किया है। पूर्ण सन्मुख किया नहीं और पूर्ण पर से विमुख हुआ नहीं।

अपना शुद्धस्वभाव अविकारी अकषाय पिण्ड उस सन्मुख का उसका झुकाव

पूर्ण हुआ नहीं और राग से पूर्ण विमुख हुआ नहीं। वहाँ पूर्ण सन्मुख हुआ नहीं, यहाँ से पूर्ण विमुख हुआ नहीं। समझ में आया? इतना अकलुषितभाव ज्ञानी को भी शुभभाव तो आता है। अपने पुरुषार्थ की कमी के कारण (आता है)। समझ में आया? एक-एक पदार्थ क्या है, वह समझे बिना उसकी सच्ची श्रद्धा कहाँ से होगी? आत्मा किसे कहते हैं? पुण्यतत्त्व किसे कहते हैं, पाप किसे कहते हैं, आस्रव किसे कहते हैं? संवर-निर्जरा नौ पदार्थ क्या है, उसकी खबर नहीं और धर्म हो जायेगा? नौ पदार्थ की क्या स्थित है, नौ पदार्थ से विपरीत मान्यता तो मिथ्यात्व है। तो अविपरीत उसके पदार्थ का क्या स्वभाव है, यह जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। और सम्यग्दर्शन बिना चारित्र या व्रत, बाहर से नियम लिया... सब घटा दे, मिथ्यात्व बढ़ा दे। समझ में आया?

मुमुक्षु : बढ़ा दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व बढ़ावे। पुष्टि हुई। बाहर से त्याग, लाभ किसे? वस्तु में है ही नहीं न, तूने त्याग किसका किया? आया था न? यही आता है। चलेगा न आज अभी? परवस्तु का त्याग पर के अभावस्वभाव तो तेरा स्वभाव है। पर के त्यागरूप तो तेरा स्वभाव है। अब त्याग करना किसका? मैं पर को त्यागूँ, उसकी दृष्टि तो पर मेरा था और मैं पर को छोड़ सकता हूँ, ऐसी मान्यता हुई, वह तो मिथ्यादृष्टि हुई। आहाहा! भारी कठिन! जैन वीतरागमार्ग क्या है! वीतरागमार्ग वह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वीतरागमार्ग वह कोई नया नहीं किया है, अपने घर का।

ऐसा वस्तु का स्वरूप, ऐसा भगवान ने जाना, वैसा वाणी में आया। ऐसा वस्तुस्वरूप है। समझ में आया? यह अकलुषित की बात चली। समझ में आया? यह आस्रव का अधिकार चलता है। यह तीन बोल में तो पुण्यास्रव की बात चली। प्रशस्त राग, अनुकम्पा की। अब पाप राग की बात चलती है। पाप आस्रव। अब १३९ (गाथा)। पाप आस्रव। समझ में आया?

मुमुक्षु : नव तत्त्व में मिथ्यात्व कहाँ आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नव तत्त्व में मिथ्यात्व तत्त्व नहीं आता? आस्रव और बन्ध में

मिथ्यात्व तत्त्व आता है या नहीं? कहाँ आवे? १३९ गाथा, आया। नव तत्त्व में मिथ्यात्व कहाँ आवे? ऐसा पूछते हैं।

विपरीत मान्यता, ऐसा बन्धभाव, भाव बन्ध और भाव आस्रव में मिथ्यात्व भाव आता है। समझ में आया? और मिथ्यात्व का नाश होने के पश्चात् भी अव्रत, प्रमाद का भाव भी पाप है और ऐसा भाव कषाय की मन्दता आवे, वह तो पुण्य है। दोनों आस्रव है। बड़ी झंझट चलती है। कि नहीं, शुभराग तो धर्म है। शुभराग से कल्याण होता है। सोनगढ़वाले कहते हैं कि शुभराग से आस्रव-सोनगढ़वाले कहते हैं या भगवान कहते हैं? कल आया है, हों! वे शुभराग को हेय कहते हैं, शुभराग को बन्ध का कारण कहते हैं। कहते हैं न?

भाई! भगवान कहते हैं, तीन लोक के नाथ कहते हैं। सुन तो सही! तुझे शुभराग की मिठास है न? पुण्य की मिठास! आहाहा! बड़ा पुण्य! अब पुण्य होता है, परन्तु बड़ा क्या है? अच्छा क्या है? वह तो बन्ध का कारण है। समझ में आया? देखो! अपने (लिखा है), जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है, उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं। एक दृष्टान्त दिया था। गुजराती। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है। उसे आत्मा की रुचि नहीं। दृष्टान्त छोटा है। देखो! छोटा-छोटा है न लक्षण का। ....परन्तु दिखता नहीं। ....

जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है, उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है, ऐसा लेना। उस कोने में है, भाई! बहुत छोटे थे। शुभभाव है। वास्तव में भगवान तो उसे अचेतन कहते हैं। देखो! राग है। राग में चैतन्य के प्रकाश की कला का अभाव है। चैतन्यप्रकाश, सूर्य का प्रकाश चैतन्यरूप। राग में चैतन्य का अभाव तो भगवान उसे अचेतन कहते हैं। राग (को) जड़ कहते हैं। कर्ता-कर्म (अधिकार) में जड़ कहते हैं। उस जड़ की जिसे रुचि है, कर्ता-कर्म में आता है। (समयसार की) ७२ गाथा है, अशुचि, विपरीत। कर्ता-कर्म में चैतन्य से अशुचि, चैतन्य शुचि है, राग अशुचि है। चैतन्य चैतन्य है, राग—विपरीत जड़ है। आहाहा! यह प्रशस्त राग अनुकम्पा और यह सब अकलुष शुभराग निश्चय से अचेतन है, चैतन्य के स्वभाव की अपेक्षा से। वरना तो है उसकी पर्याय में। समझ में आया?

कर्ता-कर्म में है। मुम्बई में बहुत ही स्पष्टीकरण आया था। मुम्बई में आया था। हजारो लोगों में लिया था। देखो! राग को जड़ कहते हैं। जड़ की क्या व्याख्या चली थी? दस, बारह हजार लोगों में। अभी चार महीने पहले। जड़ कहते हैं, उसका अर्थ परमाणु नहीं। परन्तु चैतन्यसूर्य, ज्ञायकसूर्य स्वभाव उस चैतन्य की किरण का राग में अभाव है। राग में चैतन्य के प्रकाश का अभाव है तो अन्धकार है। इस अपेक्षा से उसे जड़ कहा गया है। भाई थे छोटालालभाई—शोभालालभाई! सेठी थे या नहीं? याद नहीं रहता। याद नहीं रहे तो भाई ने कह दिया। समझ में आया?

वहाँ व्याख्यान में ७२ गाथा चली थी। लो! दूसरा देखो! आस्रवों का अशुचिपना, विपरीतता और दुःख का कारण। देखो! यहाँ उसमें है। इसमें नहीं। यह पंचास्तिकाय है। वह तो समयसार में है। आस्रवों का जड़ स्वभावपना होने से वे दूसरे के द्वारा जाननेयोग्य है। पुण्य और पाप दोनों आस्रव हैं। उन्हें जड़स्वभावपना होने से। विपरीत शब्द पड़ा है न? चैतन्यस्वभाव प्रकाशमय है। राग उससे विपरीत भाव है। जड़ है। ऐसा कहा गया है। देखो! आस्रवों का जड़स्वभावपना होने से वे दूसरे के द्वारा जाननेयोग्य है। (क्योंकि जड़ है, वह अपने को और पर को नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है।) चैतन्य से अन्य स्वभाववाले आस्रव हैं। देखो! यह आस्रव की बात चलती है।

अनुकम्पा, प्रशस्तभक्ति आदि का राग होता है, परन्तु है वह अचेतन है। वह पुण्यबन्ध का कारण है। चैतन्यप्रकाश स्वरूप है, उसमें वह राग नहीं है। क्योंकि वह आस्रवतत्त्व है। आत्मा ज्ञायकतत्त्व है और आस्रव में दो भाग में एक पुण्य और पाप दोनों आस्रवतत्त्व है। शरीर, वाणी अजीवतत्त्व है। नव तत्त्व कैसे सिद्ध करेंगे? अजीव अजीव है। शरीर, कर्म अजीव है। भगवान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य सूर्य आत्मतत्त्व है और प्रशस्त राग आदि पुण्यतत्त्व है। अब पापतत्त्व की बात अब करेंगे। पाप और पुण्य दोनों अचेतन है—जड़ है। जड़ का अर्थ रजकण नहीं। पुद्गल नहीं। जड़ का अर्थ चैतन्यप्रकाश का पूर तेज के नूर का अभाव है। आहाहा!

यहाँ तो दूसरी व्याख्या चलती है। यह सच्चा है, लो! ऐसा आस्रव में प्रसन्न हो जाता है कि आहाहा! बहुत अच्छा भाव आया। और उस भाव से मुझे धर्म होगा, मुक्ति

होगी। (ऐसा मानना) मिथ्यात्वभाव है। लोगों को बहुत कड़क लगता है। अनादि से माना है और वर्तमान में ऐसा पोषण मिलता है। जहाँ-तहाँ ऐसा पोषण मिलता है। ऊपर से ऐसा पोषण मिले कि ऐसा है, ऐसा है। चलो भाई! ऐसा होगा चलो। भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतराग परमेश्वर का आत्मधर्म राग और पुण्यरहित स्वभाव की दृष्टि-अनुभव करना, वह है। बाकी जितना प्रशस्त राग आया, वह पुण्य आता है। ज्ञानी को आता है। छोड़े कहाँ से? छोड़े तो शुद्ध उपयोग हो, तब छूट जाता है। दृष्टि में छोड़नेयोग्य है, ऐसा मानता है। दृष्टि में छोड़नेयोग्य है, ऐसा मानता है। छूटता नहीं। छूटे तो जब शुद्ध उपयोग हो जाये, तब छूट जायेगा। परन्तु दृष्टि में से छोड़नेयोग्य है, ऐसा समकिती पहले से मानता है। यदि पहले से न माने तो मिथ्यादृष्टि है।

शुभभाव से धर्म और लाभदायक है, पर की क्रिया तो एक ओर रही। क्यों भीखाभाई! हो जाता है, अरर्र! मुश्किल-मुश्किल से इतना करते हैं, वहाँ कहे पुण्य।

मुमुक्षु : पुण्य हो तो पुण्य ही कहलाये न? इसमें क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भी उसे और जड़ (कहे) और वापस धर्म नहीं। कलुषित और अकलुषित दोनों की व्याख्या इसमें बतायी। बतानी थी तो अकलुषिता परन्तु कलुषिता की व्याख्या पाठ में है न, इसलिए वह बतायी और उसमें अकलुषिता आचार्य ने निकाली।

गाथा - १३९

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसएसु ।
परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ।। १३९ ।।

चर्या प्रमादबहुला कालुष्यं लोलता च विषयेषु ।
परपरितापापवादः पापस्य चास्रवं करोति ।। १३९ ।।

पापस्रवस्वरूपाख्यानमेतत् ।

प्रमादबहुलचर्यापरिणतिः, कालुष्यपरिणतिः, विषयलौल्यपरिणतिः, परपरितापपरिणतिः, परापवादपरिणतिश्चेति पञ्चाशुभा भावा द्रव्यपापास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापास्रवः । तन्निमित्तोऽशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपापास्रव इति ।। १३९ ।।

प्रमादयुतचर्या कलुषता, विषयलोलुप परिणति।
परिताप अर अपवाद पर का पाप आस्रव हेतु हैं।।१३९।।

अन्वयार्थ :— [प्रमादबहुला चर्या] बहु प्रमादवाली चर्या, [कालुष्यं] कलुषता, [विषयेषु च लोलता] विषयों के प्रति लोलुपता, [परपरितापापवादः] पर को परिताप करना तथा पर के अपवाद बोलना—वह [पापस्य च आस्रवं करोति] पाप का आस्रव करता है।

टीका :— यह, पापास्रव के स्वरूप का कथन है।

बहु प्रमादवाली चर्यारूप परिणति (-अति प्रमाद से भरे हुए आचरणरूप परिणति), कलुषतारूप परिणति, विषयलोलुपतारूप परिणति, परपरितापरूप परिणति (-पर को दुःख देनेरूप परिणति) और पर के अपवादरूप परिणति—यह पाँच अशुभभाव द्रव्यपापास्रव को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं, इसलिए 'द्रव्यपापास्रव' के प्रसंग का [१]अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे अशुभभाव भावपापास्रव हैं

---

१. असातावेदनीयादि पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपापस्रव का जो प्रसंग बनता है, उसमें जीव के अशुभभाव निमित्त कारण हैं, इसलिए 'द्रव्यपापास्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे उनके निमित्तभूत अशुभभावों को भी 'भावपापास्रव' ऐसा नाम है।

और वे (अशुभभाव) जिनका निमित्त हैं, ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों, के अशुभकर्मपरिणाम (-अशुभकर्मरूप परिणाम), वे द्रव्यपापास्त्रव हैं॥१३९॥

गाथा - १३९ पर प्रवचन

अब पाप। १३९ गाथा।

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसएसु।
परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि।।१३९।।

यह, पापास्त्रव के स्वरूप का कथन है। लो! यह अब पाप की व्याख्या आयी। भाई कहते थे न, यह क्या पाप? **बहु प्रमादवाली चर्यारूप परिणति (-अति प्रमाद से भरे हुए आचरणरूप परिणति),** अर्थात् पर्याय। महाप्रमाद। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, वासना, तीव्र प्रमाद-तीव्र प्रमाद। वह अशुभभाव पापास्त्रव है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : सो रहा हो। जागता होता है बाहर से। सो रहे तो सो रहा है। अपने निजस्वरूप में सो रहा है। अन्दर में जागृत नहीं है। तीव्र प्रमाद में आता है। ज्ञानी को भी थोड़ा प्रमाद तो है। समझ में आया? बहुत प्रमादवाली चर्या, अति प्रमाद से भरपूर आचरणरूप, चर्या अर्थात् आचरण। विषयादि में तीव्र आसक्ति। **कलुषतारूप परिणति,...** मलिन परिणति। देखो! यहाँ आया। वहाँ कलुषिता की व्याख्या की थी न? **कलुषतारूप परिणति,...** पाप। **विषयलोलुपतारूप परिणति,...** १३९ गाथा की टीका। समझ में आया? बहुत प्रमादवाली पर्याय अर्थात् चर्यारूप आचरण, वह भी पाप। **कलुषतारूप परिणति,...** वह भी पाप। **विषयलोलुपतारूप परिणति,...** पाप। विषय की लोलुपता तीव्र आसक्ति। **परपरितापरूप परिणति (-पर को दुःख देनेरूप परिणति)...** लो! पर को दुःख देनेरूप भाव हो! दुःख दे नहीं सकता। परन्तु पर को दुःख देने का (भाव) परपरितापरूप है न? पर को परिताप करना। दुःख देना। ऐसी परिणति और **पर के अपवादरूप परिणति....** पर की निन्दारूप परिणति। समझ में आया? यह पाँच अशुभभाव पर के अपवादरूप परिणति।

वह अशुभ—पर की निन्दा वास्तविक गुण होने पर भी विपरीत और न होने पर भी अपवाद अपने तीव्र परिणाम में करके करना, वह अशुभभाव **द्रव्यपापास्त्रव को निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं...** कल आया था। वह पाप परिणाम नये जो द्रव्यपापास्त्रव आते हैं, नये... नये... नये... उसमें निमित्तमात्ररूप से कारणभूत हैं। ऐसे पापपरिणाम, यह सब कहा न? नये कर्म-रजकण जो आते हैं, उसके निमित्तमात्र हैं। **इसलिए 'द्रव्यपापास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके...** लो! यह आया। १३२में भी था। द्रव्यपापास्त्रव जो आते हैं, उनका अनुलक्ष करके, प्रसंग करके, यहाँ पाप कहा। बस, इतनी बात है। समझ में आया? कारण-फारण नहीं है। कारण तो अपने परिणाम हुए। आनेवाली चीज़ वह हुई। तो इस कारण से यहाँ नाम पड़ा है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

परन्तु वह पाप आया, इतना लक्ष्य करके यहाँ पाप कहने में आया। समझ में आया? कारण क्या? द्रव्यपापास्त्रव का करण तो पूर्व का निमित्त है। यह तो मात्र आता है इतना। रजकण आते हैं, बस। समय तो एक ही है। **'द्रव्यपापास्त्रव' के प्रसंग का अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे अशुभभाव भावपापास्त्रव हैं...** इस अशुभभाव को पापास्त्रव, वे आते हैं उनका प्रसंग देखकर उसे पाप कहा। नीचे फुटनोट है। **असातावेदनीयादि...** देखो! **पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपापस्त्रव का जो प्रसंग बनता है,...** प्रसंग बना, वह उसमें पर्याय बनी, जड़ में। **उसमें जीव के अशुभभाव निमित्त कारण हैं, इसलिए 'द्रव्यपापास्त्रव' प्रसंग के पीछे-पीछे...** पीछे-पीछे का अर्थ पाठ में है तो लेना तो पड़े न? समझ में आया?

'ऊर्ध्वं' शब्द पड़ा है, पाठ में, संस्कृत में। 'आस्त्रवबादऊर्ध्वं' है न ऊर्ध्व? ऊर्ध्व का अर्थ पीछे। पीछे का अर्थ है तो साथ में। ऊर्ध्व में बड़ा विवाद था। संस्कृत में ऊर्ध्व शब्द पड़ा है। ऊर्ध्व अर्थात् जो पाप आया, उसके पीछे-पीछे अर्थात् उसका अनुसरण करके इस शुभभाव को पाप कहा, बस इतना। पीछे का अर्थ यह है। है तो साथ में, परन्तु यहाँ का लक्ष्य अशुभ परिणाम से पाप आया, उस पाप के आस्त्रव को यहाँ पाप नाम दिया गया। अशुभ को दिया गया।

उसके निमित्तभूत अशुभभावों को भी 'भावपापास्त्रव' ऐसा नाम है। अपने यहाँ

लक्ष्य देने का है। पहले सब ऊर्ध्व में गया है। १३२ में, सबमें ऊर्ध्व है। सब में ऊर्ध्व शब्द पड़ा है। पीछे-पीछे की व्याख्या ही ऊर्ध्व की है। समझ में आया?

और वे (अशुभभाव) जिनका निमित्त है... अशुभभाव जिसका निमित्त है। **ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले...** निमित्त से कथन तो क्या करे? बात तो ऐसी ही करे न? योग तो निमित्त है। परन्तु योग द्वारा प्रकृति आती है, उसमें निमित्त योग है। **प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के अशुभकर्मपरिणाम (-अशुभकर्मरूप परिणाम) वे द्रव्यपापास्रव हैं।** लो! भाव यहाँ आया। नये रजकण को द्रव्यपापास्रव कहने में आया। नय रजकण के कर्म की पर्याय को द्रव्यास्रव यहाँ भावास्रव परिणाम स्वभाव। दोनों को पापास्रव कहने में आया। एक जड़ और एक चैतन्य। दोनों बन्ध का कारण हैं। कहो, समझ में आया? यह आस्रव की व्याख्या की। अब थोड़ा पापास्रव का विस्तार करेंगे। गाथा में है बड़ा विस्तार।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १४०

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ।। १४० ।।

संज्ञाश्च त्रिलेश्या इन्द्रियवशता चार्तरौद्रे ।
ज्ञानं च दु:प्रयुक्तं मोह: पापप्रदा भवन्ति ।। १४० ।।

पापस्रवभूतभावप्रपञ्चाख्यानमेतत् ।

तीव्रमोहविपाकप्रभवा आहारभयमैथुनपरिग्रहसञ्ज्ञा:, तीव्रकषायोदयानुरञ्जितयोगप्रवृत्ति-रूपा: कृष्णनीलकापोतलेश्यास्तिस्र:, रागद्वेषोदयप्रकर्षादिन्द्रियाधीनत्वम्, रागद्वेषोद्रेकात्प्रियसंयोगा-प्रियवियोगवेदनामोक्षणणिदानाकाञ्क्षणरूपमार्तम्, कषायक्रूराशयत्वाद्विंसाऽसत्यस्तेयविषय-संरक्षणानन्दरूपं रौद्रम्, नैष्कर्म्यं तु शुभकर्मणश्चान्यत्र दुष्टतया प्रयुक्तं ज्ञानम्, सामान्येन दर्शन-चारित्रमोहनीयोदयोपजनितावविवेकरूपो मोह:, -एष: भावपापास्रव-प्रपञ्चो द्रव्यपापास्रवप्रपञ्चप्रदो भवतीति ।। १४० ।।

-इति आस्रवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

चार संज्ञा तीन लेश्या पाँच इन्द्रियाधीनता।
आर्त-रौद्र कुध्यान अर कुज्ञान है पापप्रदा।।१४०।।

अन्वयार्थ :— [संज्ञा च] (चारों) संज्ञाएँ, [त्रिलेश्या] तीन लेश्याएँ, [इन्द्रियवशता च] इन्द्रियवशता, [आर्तरौद्रे] आर्त-रौद्रध्यान, [दु:प्रयुक्तं ज्ञानं] दु:प्रयुक्त ज्ञान (-दुष्टरूप से अशुभ कार्य में लगा हुआ ज्ञान) [च] और [मोह:] मोह-[पापप्रदा: भवन्ति] यह भाव पापप्रद हैं।

टीका :— यह, पापास्त्रवभूत भावों के विस्तार का कथन है।

तीव्र मोह के विपाक से उत्पन्न होनेवाली आहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञाएँ; तीव्र कषाय के उदय से [१]अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप कृष्ण-नील-कापोत नाम की तीन लेश्याएँ; रागद्वेष के उदय के [२]प्रकर्ष के कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना; रागद्वेष

---

१. अनुरंजित = रंगी हुई। [कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति वह लेश्या है। वहाँ, कृष्णादि तीन लेश्याएँ तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप हैं।]

२. प्रकर्ष= उत्कर्ष; उग्रता।

के [१]उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग की, अप्रिय के वियोग की, वेदना से छुटकारा की तथा निदान की इच्छारूप आर्तध्यान; कषाय द्वारा [२]क्रूर ऐसे परिणाम के कारण होनेवाला हिंसानन्द, असत्यानन्द, स्तेयानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्दरूप रौद्रध्यान; निष्प्रयोजन (-व्यर्थ) शुभकर्म से अन्यत्र (-अशुभ कार्य में) दुष्टरूप से लगा हुआ ज्ञान; और सामान्यरूप से दर्शनचारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेकरूप मोह;— यह, भावपापास्त्रव का विस्तार द्रव्यपापास्त्रव के विस्तार को प्रदान करनेवाला है (अर्थात् उपरोक्त भावपापास्त्रवरूप अनेकविध भाव वैसे-वैसे अनेकविध द्रव्यपापास्त्रव में निमित्तभूत हैं)॥१४०॥

प्रवचन नं. ३६, गाथा-१४०

दिनांक - ०२-१०-१९६४, भाद्र कृष्ण १२, शुक्रवार

पंचास्तिकाय। नौ पदार्थ का विस्तार चलता है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्यभाग में आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी पूर्ण प्राप्ति पर्याय में सर्वज्ञ पद की प्राप्ति हुई। तीन काल, तीन लोक देखने की शक्ति स्वभाव में थी, उसे प्रगट अनुभव करके प्रगट हुआ, उसमें तीन काल, तीन लोक अपने ज्ञान में ज्ञात हुए। उसमें यह पाप, पुण्य, धर्म किसे कहते हैं, वह बात यहाँ चलती है। यहाँ अभी अधिकार पाप का आया है। (गाथा) १४०

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति।।१४०।।

इसकी **टीका :— यह, पापास्त्रवभूत भावों के विस्तार का कथन है।** इसका अर्थ क्या ? यह आत्मा है, आत्मा, उसका स्वभाव तो सच्चिदानन्दस्वरूप है। आत्मपदार्थ यह जो मिट्टी से भिन्न, यह (शरीर) तो मिट्टी है, पुद्गल परमाणु जड़। वाणी भी मिट्टी है। उससे भिन्न तत्त्व जानने-देखनेवाला है। उसका अन्तरस्वभाव सच्चिदानन्द सत्

१. **उद्रेक** = बहुलता; अधिकता।
२. **क्रूर** = निर्दय; कठोर; उग्र।

अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द उसके स्वभाव में पूरे भरे हैं।

आत्मपदार्थ जिसे आत्मतत्त्व कहते हैं। यह आत्मा का तत्त्व कायम का, उसमें तो ज्ञान-दर्शन आदि अन्तर स्वभाव है। अनादि काल से उसने अपना पता लिया नहीं कि मैं कौन हूँ। अपना स्वभाव और स्वरूप के भान बिना अनादि काल से पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह मेरी चीज़ है। और परवस्तु है, वह मेरी चीज़ है—ऐसे पर को अपना मानकर अपना है, ऐसा मानता है और उसके राग की मन्दता करे शुभराग.... पढ़ता है तो पुण्यभाव है, शुभभाव है; धर्म नहीं। हें ? राग है, विकल्प है; धर्म नहीं। लक्ष्मी से क्या धर्म होता है ? और लक्ष्मी से होवे तो गृहस्थों को ही धर्म होगा और गरीब को रोना पड़ेगा। हमारे पास कुछ नहीं, क्या करें। नहीं, धर्म ऐसी चीज़ नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव सच्चिदानन्द शुद्ध है, उसे पर से भिन्न करके पुण्य-पाप की वासना उठती है, उससे भी मैं भिन्न, ऐसी अन्तर में दृष्टि करना और अन्तर में लीन होना, इसका नाम सर्वज्ञ परमात्मा धर्म कहते हैं। बाकी सब बातें हैं। समझ में आया ? अमरचन्दभाई ! बाकी दुनिया को समझाने से तुम्हारे धर्म हो जायेगा। धूल में भी नहीं। रण में रुदन है। तेरा कोई सुनेगा भी नहीं तेरा रुदन।

यहाँ भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ देवाधिदेव परमेश्वर कहते हैं कि, अरे आत्मा ! तेरे परिणाम में परिग्रहसंज्ञा, वह पाप है। समझ ले, वह पाप है। तेरे स्वरूप की वह चीज़ नहीं है। उसे भूलकर ऐसा भाव उत्पन्न किया है। वह भूल अपने स्वभाव की दृष्टि से टाल सकता है। दूसरा कोई उपाय नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुण्य हो गया, यह अभी राग है। पैसा भी नहीं और ममता घटानेवाला या बढ़ानेवाला मैं नहीं। मैं तो ज्ञाता आनन्द ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द शुद्ध ऐसा आत्मा हूँ, ऐसी अन्तर्दृष्टि करने से धर्म होता है। बाकी सब बातें दुनिया करती है। मान ले कि हमने धर्म किया। सब सन्तोष माने, कुछ माने बिना तो मर जाये न ? नहीं तो जीवे किस प्रकार ? कुछ करते हैं। हम कुछ करते हैं। जाओ चौरासी के अवतार में। मरण हुआ, देह छूट गया। जाये फिर देह छूटता है या आत्मा छूटता है ? मर जाता है ? आत्मा तो त्रिकाल शाश्वत् तत्त्व है। जैसा भाव किया (वैसे) परिभ्रमण में जाना पड़े।

इतनी बात की। अब दूसरी बात करते हैं। यह चारों ही पाप परिणाम, ऐसा कहा। यह पाप की व्याख्या चलती है। हों! **तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप कृष्ण-नील-कापोत नाम की तीन लेश्याएँ;...** यह तीन पाप है। तीन लेश्या कहते हैं न लेश्या? क्लेश-क्लेश। कहते हैं, जैसे लकड़ी में कागज चिपकाने के लिये बीच में श्लेष—गोंद होता है न? उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध, लेश्यारहित स्वभाव है। कृष्ण-नील-कापोत तो पाप लेश्या है। दूसरी पीत-पद्म-शुक्ल पुण्यभाव है। पाप की बात करनी है न? छहों प्रकार की लेश्या का भाव बन्ध का कारण है। तीन लेश्या पाप का कारण बतलाना है। महापरिणाम क्लिष्ट कृष्ण मलिन। उससे थोड़ा मैला, उससे थोड़ा मैला - ऐसे तीन परिणाम लेश्या को पापपरिणाम कहते हैं। समझ में आया?

कषाय के उदय से... कषाय अर्थात् राग-द्वेष के भाव से **अनुरंजित....** रंगे हुए, **योगप्रवृत्ति...** अन्दर कम्पन आत्मा के प्रदेश में कम्पन होता है। जरा सूक्ष्म बात है। नीचे फुटनोट में लिखा है, देखो! **(कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति वह लेश्या है। वहाँ, कृष्णादि तीन लेश्याएँ तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप हैं।)** वृक्ष का दृष्टान्त दिया है न? वृक्ष का दृष्टान्त दिया है। कोने में है। लेश्या का दृष्टान्त दिया है, इस लेश्या का। क्या? छह लोग थे, उन्हें आम खाने का भाव हुआ। तो एक वृक्ष था (उसमें) पचास मण आम। एकदम हरे। एक तो कृष्ण लेश्यावाला कहता है, कृष्ण, काली बहुत ही बुरे परिणाम। वह कहता है कि अपने मूल में से ही वृक्ष को तोड़ डालो न। (तो) आम मिलेंगे। समझ में आया? बहुत ही कृष्ण / काले परिणाम, मलिन परिणाम हैं।

दूसरा नील। वह कहता है कि हम छह आदमी हैं और पूरे वृक्ष को काटने की क्या आवश्यकता है? एक ही डाली काट लो न? एक ही डाली में पाँच-पाँच मण आम है। पचास मण है तो दस डालियाँ, एक काटो तो उसके जरा पाप परिणाम मन्द है। है तो पाप।

और तीसरा (कापोत) लेश्यावाला कहता है कि अरे भाई! बड़ी डाली दस मण की काटना और आम निकालना, उसकी अपेक्षा एक छोटी डाली काट लो! दो, तीन-तीन मण निकलेंगे। डाली काटकर लेना। ये तीन परिणाम मलिन कहे जाते हैं। और

चौथे (पीत लेश्या के) परिणाम ऐसे हैं, उसे पुण्य परिणाम कहते हैं। यहाँ चौथे स्थान में है कि चौथेवाले ने ऐसा विचार किया कि भाई! वृक्ष काटने का क्या काम है? छोटे-छोटे गुच्छे तोड़ लो। आम होते हैं न पाँच-पाँच, दस-दस गुच्छे। गुच्छे कहते हैं न? बस इतने तोड़ लो। गुच्छे ले लो। बस, दूसरा क्या काम है? उसके परिणाम जरा ऐसे— पाँचवाँ (पद्मलेश्यावाला) कहता है कि भाई गुच्छे तोड़ने का क्या काम है? पके-पके आम तोड़ लो। ले लो अपने दो मण, बहुत ही है। छठवाँ (शुक्ललेश्या वाला) कहता है कि अपने क्या काम है? देखो हवा निकली है। अभी पके दो मण आम नीचे गिरेंगे। नीचे गिर जायेंगे। अपने तोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

छहों के खाने के भाव में परिणाम में तीव्रता, तीव्र, मन्द, मन्द, मन्द, मन्द, चला। ऐसे प्रत्येक काम करते समय अज्ञानी के परिणाम में छह प्रकार की तीव्रता, मन्दता, मन्दतर, मन्द ऐसे परिणाम आते हैं। समझ में आया? वृक्ष है, कोने में ऊपर, शास्त्र में दृष्टान्त है। लोगों को समझाने के लिये। वृक्ष का है न वृक्ष-पेड़ उस कोने में। सफेद-सफेद लोग उसे काटते हैं। शास्त्र में दृष्टान्त है, हों! पाठ में। तीन लेश्या तो मलिन हैं, कृष्ण, नील और कापोत। क्लेश है। नये आवरण में जैसे चिकनाई कागज चिपकाती है, वैसे आत्मा में ये परिणाम क्लिष्ट हैं। नये पाप आने में क्लेश है। चिकनाई है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। परन्तु स्वभाव का भान नहीं होने से, और स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी जरा अपनी कमजोरी से ऐसे परिणाम आते हैं, तो उन परिणाम को यहाँ पाप कहा गया है। उनसे नये पापास्रव आते हैं। उसमें सुख नहीं है। समझ में आया? यह उसे तीन लेश्या कहा गया है। वह पाप है।

अब तीसरा। **रागद्वेष के उदय के प्रकर्ष के कारण...** यह बड़ा प्रकर्ष लिया है उत्कृष्ट का। उत्कृष्ट-उग्रता। कारण **वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना;...** देखो! इन्द्रियाधीनपना— पाँचों इन्द्रियों के आधीन हो जाना। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय स्वरूप; यह इन्द्रियाँ तो मिट्टी की-जड़ की है। भगवान अरूपी चिदानन्द है। और उसमें भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड पर के विषय पर लक्ष्य करती है। यह इन्द्रियातीत आत्मा ज्ञानानन्द प्रभु, उसे आत्मा स्वयं को चूककर। अपने को ऐसा आनन्द ज्ञायकमूर्ति मैं हूँ, ऐसी अपनी सत्ता। महासत्ता महा अस्तित्व को चूककर पाँच इन्द्रियों के आधीन हो जाना, वे परिणाम

पापास्रव हैं। आस्रव अर्थात् उन परिणाम से नये रजकण का आना होता है। आना—आस्रव। आ उपसर्ग है। स्रव—आना। परिणाम पाप हैं, वे भाव पापास्रव हैं। नया आवरण आता है, वह द्रव्य पापास्रव है। थोड़ा सा अभ्यास होवे तो, पण्डितजी! एक ही गाथा में पापास्रव की बहुत ही चर्चा है।

भगवान आत्मा पुण्य-पाप का विकल्प जो राग है, उससे अपना स्वरूप शुद्ध त्रिकाली ज्ञायक आनन्द है। उसमें जो अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप अपना स्वभाव उसके स्वभाव का विश्वास रुचि, ज्ञान और लीनता हुए बिना उसे पाँच इन्द्रिय के शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, उस ओर की गृद्धि के आधीन हो जाना, इन्द्रियातीत आत्मा को भूल जाना, ऐसे भाव को पापभाव कहा जाता है। समझ में आया? अरे भाई! ज्ञानी की व्यायामशाला में कभी आया नहीं। ज्ञानी की व्यायामशाला में कसरत कैसी होती है! डॉक्टर! समझ में आया? भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति चैतन्य पिण्ड ज्ञायक, ऐसा आनन्दकन्द अपना भाव पड़ा है। जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ आनन्द, जहाँ-जहाँ आनन्द, वहाँ-वहाँ ज्ञान, ऐसा पड़ा है।

जैसे (छोटी) पीपर में चौंसठ पहरी चरपराई है। उसके साथ हरा रंग भी है। बाहर में पीपर का रंग काला है। काली दिखती है। मूल स्वभाव काला नहीं है। मूल स्वभाव चरपराई थोड़ी दिखती है, उतना नहीं है। मूल स्वभाव तो ६४ पहरी चरपराई पूरी है। और हरा रंग तो है अन्दर। वैसे भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान पूरे भरे हैं। खबर नहीं कहाँ पूरे और कहाँ अधूरे। ऐसे के ऐसे अन्धानुकरण। अन्धा दिखलानेवाला और अन्धा चलनेवाला। क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं। पता नहीं। कोई तो पाप में मजा मानता है और कोई पुण्यक्रिया करता है, उसमें हमें धर्म है, ऐसा मानते हैं। दोनों मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं। ऐसा कहते हैं। राजमलजी! हें?

इस पीपर में से होता है, उसमें सिद्धि है उसका ज्ञान करनेवाला कौन? पूछो, खबर है? पीपर को खबर है कि मुझमें ६४ पहरी चरपराहट भरी है। हरे रंग की उसे खबर है? खबर करनेवाला तो आत्मा है। ज्ञान में खबर पड़ती है कि उसमें ६४ पहरी है और प्रगट होती है। हो तो प्रगट हो। तो ख्याल करनेवाला भी अन्दर में मुझमें परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द भरा है। तो मैं अन्तर्दृष्टि करके मेरी पर्याय में, अवस्था में पूर्ण ऐसा

प्रगट कर सकता हूँ। बण्डीजी! यह वकालत, वह दूसरी बात है। क्या कहलाता है तुम्हारे? वह इनकमटैक्स सलाह। कहो, समझ में आया? आहाहा!

इन्द्रियाधीनपना,.... भगवान आत्मा अतीन्द्रिय प्रभु! यह इन्द्रियाँ तो जड़ की-मिट्टी की है। अन्दर देखनेवाला तो इन इन्द्रियों से पार है। और भावेन्द्रिय अर्थात् एक-एक इन्द्रिय का विषय जो एक-एक जानने की योग्यता है। वह तो खण्ड-खण्ड है। अन्दर वस्तु पूर्ण स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द है, उसकी रुचि, दृष्टि किये बिना अनादि काल का अज्ञानी पाँच इन्द्रिय शब्द प्रशंसा आती है न, प्रशंसा जहाँ, अभिनन्दन, प्रसन्न-प्रसन्न (हो जाता है)। महिमा करता है। उसमें सुख है? मजा पड़ता है तो उसके लिये तो हम दृष्टान्त देते हैं। उसमें सुख होता है?

दो रुपये का मजदूर सीखा हुआ, पढ़ा हुआ, पढ़ा हुआ ले लेना। दो पृष्ठ में लेख लिख देना। तुम तो ऐसे हो और तुम ऐसे हो। दो-चार पृष्ठ में। सवेरे से शाम तक सुनाया करे। रात के नौ बजे ऐसा कहे कि अब नहीं (सुनाओ)। क्यों नहीं? उसमें सुख है न? सुख को मर्यादा क्यों? सुख है तो मर्यादा कैसी? नहीं वह अब.... सुख है न उसमें? तेरी कल्पना है। मूढ़ है कल्पना है कि उसमें सुख है। यह और उसकी कल्पना है। दो रुपये का वेतन मजदूर पढ़ा हुआ, पढ़ा ही करे, तेरे गुणगान किया ही करे, सबेरे से शाम। यहाँ क्या कहते हैं? दूसरे महिमा करे तो मजा आता है या नहीं? यह क्या? दूसरे महिमा करे, स्त्री कहे आहाहा! तुम भी क्या होशियार! (वह) फूल कर डेढ़ा हो। गाँव के कोई लोग दो-पाँच इकट्ठे हों। आहाहा! तुम भारी होशियार, हों! क्या है यह दूसरे पर नहीं? उसके पिता के हैं उसके घर के? कहो, समझ में आया? शोभालालभाई!

यहाँ तो बात दूसरी चीज़ है। अन्दर भगवान आत्मा की कीमत केवलज्ञानी की वाणी में पूर्ण आयी नहीं। वाणी में क्या आवे ऐसी चीज़! अलौकिक चीज़! एक स्वाद जैसी चीज़। समझ में आया? घी के स्वाद जैसी चीज़ कोई कह सके? दूसरे पदार्थ के साथ तुलना करके। घी का कैसा स्वाद है? शक्कर। घी गाय का, उसका कैसा स्वाद है? बताओ। दूसरे पदार्थ के साथ तुलना करके बताओ, कि उसका ऐसा स्वाद है। बस, यह तो खाये उसे खबर पड़े। दूसरे पदार्थ के साथ तुलना करके घी ऐसा मीठा। शक्कर जैसा? नहीं, नहीं। दूध जैसा? नहीं, नहीं। केले जैसा? नहीं, नहीं। वह मिठास कोई

अलग जाति की है। जानता होऊँ तो भी कह नहीं सकता। शोभालालभाई! जानने में बराबर आती है या नहीं? नहीं, नहीं कह सकता, इसलिए तुम जान नहीं सकते, ऐसा है? जानने में तो आता है कि स्वाद! ओहो! इसकी लहजत भी कोई परपदार्थ के साथ तुलना करके, मिलान करके बतलाना हो कि ऐसा है....

तालाब में घीकेला होते हैं, तालाब में। घीकेला का स्वाद! वह स्वाद और यह स्वाद कोई चीज़ ही दूसरी है। समझमें आया? इसी प्रकार जब जड़ पदार्थ का भी ख्याल आता है तो कह नहीं सकते, तो यह चैतन्य का स्वाद.... पुण्य-पाप के विकल्प से पार भगवान आनन्द का स्वाद। धर्म होने पर सम्यग्दर्शन में अपने आनन्द का स्वाद ज्ञानी जानता है परन्तु कह नहीं सकता। समझ में आया? खबर नहीं, क्या चीज है, क्या होता है, क्या कर सकता हूँ, इसका फल क्या आयेगा, (इसका) कभी विचार-मनन किया ही नहीं।

कहते हैं कि **इन्द्रियाधीनपना रागद्वेष के उदय के प्रकर्ष के कारण...** हों! उग्ररूप से। वह पापपरिणाम है। **रागद्वेष के उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग की,...** आर्तध्यान की बात करते हैं। आर्तध्यान। अपने आनन्द का ध्यान छोड़कर अनादि का इसने आर्त और रौद्रध्यान किया। आर्तध्यान की क्या भाषा है? आर्त—पीड़ा होती है। जैसे तिल घानी में पिल जाते हैं न, उसी प्रकार आर्त-बुरे खोटे परिणाम से आत्मा की शान्ति पिल जाती है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति स्वभाव, वह आर्तध्यान के परिणाम से, देखो! **इच्छारूप आर्तध्यान है न...** अन्त में शब्द है चार के बाद, आर्तध्यान। यह आर्त अर्थात् पीड़ा। अन्दर में राग की पीड़ा होती है। राग, क्लेश-पीड़ा। क्या कहते हैं, देखो! **उद्रेक के कारण प्रिय के संयोग की,...** प्रिय का संयोग मिला न। लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, दामाद। प्रिय के संयोग की। समझ में आया?

यह राग। आर्त है-आर्त है। आत्मा की शान्ति को लूटनेवाले ये आर्तपरिणाम हैं। भगवान आत्मा आर्तध्यान, रौद्रध्यान से रहित अपने शुद्ध ज्ञानमूर्ति की दृष्टि और ज्ञान किये बिना ऐसे आर्तध्यान, रौद्रध्यान अन्तर में किया। तो पहले क्या किया? प्रिय के संयोग की भावना। है न? इच्छा। इच्छारूप आर्तध्यान। प्रिय के संयोग की इच्छारूप आर्तध्यान। अन्त में शब्द लेना। और अप्रिय के वियोग को, प्रतिकूल दुश्मन आ जाये,

सर्प आ जाये। ऐई, चला जा, चला जा - ऐसी इच्छा। यह आकुलता, वह भी आर्तध्यान है। प्रिय के संयोग की इच्छा, वह भी आर्तध्यान अर्थात् ध्यान की विपरीतता-कलुषितता है। ऐसे अप्रिय का वियोग हो जाये। अरे! यह पुत्र ऐसा जगा, स्त्री ऐसी जगी, ऐसा मकान चला जाये। जाये... जाये... अरे! यह तो आये हैं, तुझे भी अप्रिय के वियोग करने की इच्छा, वह आर्तध्यान है। अपने स्वभाव में तो अप्रिय-प्रिय का संयोग भी नहीं है। और आर्तध्यान आदि विकल्प जो उठते हैं, वह स्वरूप में तो है नहीं। ऐसी दृष्टि किये बिना ऐसा आर्तध्यान तो अनन्त बार किया, उसके परिणाम में नया पाप का आवरण आया। नये कर्म आये, उसे द्रव्यपापास्रव कहते हैं। भाव हुआ, वह भावपापास्रव। परिणाम को भावपापास्रव कहते हैं।

वेदना से छुटकारा की... आया डॉक्टर का। शरीर में रोग... रोग, शरीर में रोग से छुटकारा ऐसा विचार, ऐसी कलुषितता। ऐ देवानुप्रिया! उसमें तो यही याद आया। इस शरीर को यह हुआ, इस शरीर को यह हुआ, पूरे दिन चौबीस घण्टे रात्रि में निवृत्त तो सोये नहीं। ऐई मोहनभाई! यह तुम्हारे भाई की बात करते हैं। रात्रि में यह काम, यह काम। कहाँ तक लगाना है? कहते हैं कि आर्तध्यान है। लो, सुनो! शरीर की पीड़ा अवस्था की, वह रोग के कारण नहीं है। शरीर की अवस्था / दशा शरीर के अस्तित्व में है। अपने आत्मा के अस्तित्व में उसका स्पर्श ही नहीं। किस प्रकार से पीड़ा होती है? राग करता है, उसकी पीड़ा है। पर की पीड़ा कहाँ है। वह तो जड़ मिट्टी है। उसके अस्तित्व में-रजकण में तो रंग, गन्ध, रस, स्पर्श का अस्तित्व है। वह अस्तित्व / मौजूदगी आत्मा के अस्तित्व में प्रविष्ट नहीं है। राग के कारण पीड़ा हुई। उसके कारण नहीं। इसके अस्तित्व में विकल्प उत्पन्न करता है। अरे! ऐसा, अरे! ऐसा। यह उसके विकार का दु:ख है, शरीर का नहीं। समझ में आया? भैया! प्रेमचन्दजी!

बात तो ऐसी है। निर्णय करना पड़ेगा। इसे स्वतन्त्र और सुखी होना हो तो। न होना हो तो भटकेगा, उसमें क्या? यह तो अनादि काल से भटकता ही है। और यह लोग कहते हैं कि स्वतन्त्रता मिली। धूल में भी नहीं मिली। सुन न! यह सब कहते हैं न राग स्वतन्त्र। धूल में भी स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्र किसे कहते हैं? भगवान अनन्त गुण का धनी स्वामी, वह विकार मेरा नहीं। पर तो मेरा नहीं। ऐसी स्वतन्त्र स्वभाव की दृष्टि

करना, इसका नाम स्वतन्त्र हुए कहलाते हैं। बाकी सब परतन्त्रता के पोटले हैं। राजा, महाराजा, नेता सब पराधीन... पराधीन। समझ में आया? सुखी है? धूल में भी सुखी नहीं। कौन कहता है? दस-दस हजार का वेतन मिला और बड़ी पदवी मिली। परन्तु क्या हुआ? पदवी किसकी? तेरी पदवी अन्दर आनन्दकन्द ज्ञायक, उस पदवी को चूककर, यह मुझे मिली और मैं इसका स्वामी! विष्टा के ढ़ेर पर कुत्ते को बैठाया हो, ऐसा है। ऐ सेठी! और कुत्ता मानता है कि बहुत विष्टा मिली। वह थोड़ी-थोड़ी खाता था, एकसाथ... क्या है भाई!

तेरी सम्पदा तो तेरे पास है। इससे जहर अधिक। हमने तो विष्टा का दृष्टान्त दिया। उसे प्रेम है राग का, वह राग जहर है। आत्मा के अमृत को लूटकर वह राग होता है। वास्तव में ऐसा नहीं है, उससे विशेष है। समझ में आया? देखो! वहाँ क्या कहते हैं? वेदना में से छुटकारा, वेदना में से छुटकारा। कब मिटे, कब मिटे, कब मिटे? कोई देव आवे और मिटाये? कोई दवा दे और मिटाये? उसके विचार, वह आर्तध्यान है। क्या है? वेदना तो मिटने की होगी तो मिटेगी। तेरी कल्पना से नहीं मिटेगी, दवा से भी नहीं मिटेगी। दवा तो निमित्तमात्र है। मिटेगी तब उसे निमित्त कहा जाता है। दवा से मिटे तो वैद्य, डॉक्टर कैसे छूट जाते हैं? समझ में आया?

वे बड़े डॉक्टर नहीं थे। भाई कौन से? अंसारी डॉक्टर बड़े। बड़े अंसारी डॉक्टर। रेल में जा रहे थे रेल में। रेल में ही पीड़ा हुई। अंसारी बड़े डॉक्टर। अरे! यह पीड़ा इतनी कि देह छूट गयी। क्या तुझे? डॉक्टर की कला उसके पास रही। शरीर में क्या काम करे? यह तो जड़ है। परपदार्थ में अपनी कला क्या काम कर सकती है? बराबर है, भाई? बड़े वकील हैं न। ....समझ में आया? भगवान परमात्मा सर्वज्ञ की वाणी में आया। प्रभु! यह तेरे परिणाम शरीर में वेदना है, उसे दूर करने में चिन्ता में पड़ गया है न, यह तेरा बड़ा आर्तध्यान है। आर्तध्यान है। उसमें पाप लगता है। नया पाप आता है। रोग नहीं मिटता।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह तो इसके भाई जाने। अपने को तो आता है ऐसा कुछ? कहो, समझ में आया?

यह कहते हैं, हीरा यदि निकल जाये न दो, पाँच, दस लाख के तो मिटे, परन्तु हीरा के समय यदि वहाँ खड़ा हो, दूसरा आकर कहे अब इसे मार डालूँ, नहीं तो हीरा मैं ले लूँ। नहीं तो तू पहिचानकर मार ऊपर फरियाद करेगा। हाय! हाय! इसकी अपेक्षा तो हीरा न होता तो ठीक। क्या धूल में हीरा ठीक है? हीरा में क्या है? अमेरिका में धूल है। सब ऐसे के ऐसे हैं। सब आत्मा की धूल करके पर में आनन्द माननेवाले सब जगह हैं। दूसरा कौन दूसरा होगा वहाँ? सब चूल्हे में राख है। किसी भी देश में देखो तो। चूल्हे में कहाँ कस्तूरी है? सब देश में अपने आत्मा को भूलकर पर में आनन्द मानता है। सब दुःखी है। सब दुःखी ही है, उसमें देखने का क्या है?

आत्मा अन्दर है, उसे पहिचानता नहीं और परपदार्थ की अनुकूलता में मुझे प्रेम है, बस ठीक है। आर्तध्यान है, पीड़ाध्यान है। आत्मा की शान्ति भावप्राण की पीड़ा होती है। यह कायदा अलग प्रकार का है, भाई! आहाहा! और निदान की इच्छा। निदान, कोई भी क्रिया करे और लाभ मिले। मैं ऐसा करता हूँ तो कोई पुण्य बँधे तो स्वर्ग में से देव आ जाये। मूढ़! सुन तो सही! अब इच्छा से नहीं आते न! आते हैं तो पुण्य से आते हैं। निदान बाँधने की क्रिया करे दया, दान, अपवास उसके फल में स्वर्ग मिले अथवा उसके फल में अनुकूल लक्ष्मी मिले, यह पाप के परिणाम हैं। उनसे नये पाप बँधते हैं। यह आर्तध्यान हुआ।

अब **कषाय द्वारा क्रूर ऐसे परिणाम के कारण होनेवाला हिंसानन्द,...** हिंसा करते-करते आनन्द मानना। बहुत मजा! आहाहा! यह तो बहुत वर्ष की बात है। तुम्हारे पालेज के पास नबीपरा। तुम्हारा गाँव नहीं? भरूच और पालेज के बीच, वहाँ मैं एक बार गया था। यह तो बहुत वर्ष की बात है। ६५-६६ की बात है। संवत् १९६५ की बात। साधु आये थे न? स्थानकवासी साधु। मैं दुकान पर था। वहाँ एक अंग्रेज था। प्रसन्न होता था, हिरण को मारकर आया था। हिरनी को। हिरण को मारकर हिरण कूदे न, यह क्या कहलाता है तुम्हारा? शिकार। हाथ डाला वहाँ कूदा। हिरण मरे न ऐसे। हिरण को मारे न। ..... नबीपुरा नाम रखा है। भरूच और पालेज के बीच। .....बजे वहाँ प्रसन्न होता था तो मारकर। वह ऐसे कूदे न? गिरा आगे जाकर। आहाहा! अरे! मूर्खों के गाँव कहीं अलग होंगे? जैचन्दभाई! मूर्ख के गाँव अलग बसते होंगे? हर गाँव

में ऐसे मूर्ख बसते हैं। वे गाँव में हों। आहाहा! अरे! तुझे स्थिति खबर नहीं, प्राणी को मारने का तेरा भाव। उसमें प्राण चले जायें। ओहोहो! आहाहा!

ऐसे पराक्रम.... ऐसा हिंसानन्द! यह गोंडल में राजकुमार नहीं? सिंह को मारने गया। गोंडल में सब। .... लो! यह दशा! ....हिंसानन्द, कितनों को मारा। तो कहे मैंने सिंह को मारा। अब यह मरने के समय में जा नरक में नीचे। ऐसे परिणाम का फल-भान है या नहीं? प्रतिकूल ऐसे दु:ख देने के ध्यान कहीं है या नहीं? इतनी प्रतिकूलता, जिसके प्राण का संहार, इतनी प्रतिकूलता के स्थान जहाँ हों, वहाँ उपजे, उसे नरक कहते हैं। ऐसे प्रतिकूल ऐसे स्थान वर्तमान में है नहीं। सरकार क्या करे? एक बार फाँसी देगी। इतने प्रतिकूल.... एक नहीं परन्तु पचास, सौ, पाँच सौ मार-फाड़, ऐसी प्रतिकूलता के भाव में वर्तमान में एक बार फाँस की सजा उसका फल प्राप्त नहीं होता। वह मरकर नरक में (जाता है)। नीचे नरक योनि है। नीचे (नरक) योनि है। वहाँ जितनी प्रतिकूलता की, उतनी प्रतिकूलता भोगने के स्थान में जन्म लेना, उसका नाम नरक है। बण्डीजी! लॉजिक से बात चलती है, हों! जरा समझ में-लक्ष्य में लेना। ऐसी बात नहीं परन्तु इसे खबर नहीं कभी विचार किया नहीं।

क्या पाप, क्या पुण्य, क्या जड़, क्या मैं, बस ..... यह भी मैं, यह भी मैं, यह भी मैं, यह भी मैं - ऐसा मानकर चौरासी में अनन्त बार दु:खी हो रहा है। हिंसानन्द, असत्यानन्द—झूठ बोलकर आनन्द। परम्परा चले। एक झूठ बोले तो उसे बचाने के लिये दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और बड़े मानधाता हों, जिसने पुस्तक बनायी हो.... पढ़ने को। झूठ ही झूठ हो।

असत्य में आनन्द माने, उसका नाम रौद्रध्यान। उसका नाम रौद्रध्यान। पहले आर्तध्यान था, परिणाम कुछ थोड़े से मन्द। यह बहुत तीव्र पाप। रौद्रध्यान है न? रौद्रध्यान। समझ में आया? असत्यानन्द। स्तेयानन्द, स्तेय अर्थात् चोरी। चोरी करके मजा मानना। राजा सो रहा है तो घर में जाकर चोरी कर आया। समझ में आया? चोरी। स्तेयानन्द—स्तेय अर्थात् चोरी। चोरी करके आनन्द मानना। अभी देखो न? यह काले कर्म। यह सब तुम्हारे क्या कहलाते हैं? काला बाजार, आहाहा! लुटेरे।

करे चोरी और होशियारी माने, देखा किसी को खबर न पड़े। सरकार को खबर

न पड़े, लो! मैंने इतने पैदा किये और सरकार को खबर न पड़े, बहियों के पन्ने बदले, एक पृष्ठ लिखे और एक पृष्ठ खाली। खाली समझते हो न? तुम्हारे इनकमटैक्स में बहुत जाँच करनी पड़ती होगी। तुमको ठग जाये ऐसे बहुत वहाँ होंगे। समझ में आया? ठगे कौन किसको? अपने को ठगता है। समझ में आया?

स्तेयानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्द... विषय संरक्षणानन्द **रौद्रध्यान।** रौद्रध्यान महापरिणाम वह विषय का संरक्षण, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, पूरे पाँच इन्द्रिय के विषय रखे। हमारे शरण होंगे। बारम्बार पाँच इन्द्रियों का संग्रह करना, वह रौद्रध्यान है। बुरे परिणाम हैं। कहो, समझ में आया? मोहनभाई! विषय का संरक्षण अर्थात् पाँच इन्द्रिय के विषयों का संरक्षण। तैयार ऐसे देखो तो, बाजा तैयार, वेश्या तैयार, खाने का तैयार। एक राजा था न? अपने मास्टर नहीं कहते थे? कहाँ गये रतिभाई! कोई कहता था। अपने मास्टर कहते थे। खाने बैठे वहाँ पाँच विषय इकट्ठे हों। वेश्या नाचती हो, फूल बाग में बैठा हो, आहाहा! उत्कृष्ट आहार खाता हो, सुगन्ध भी हो, साथ में पाँच। रतिभाई! है या नहीं? तुम्हारे पिता कहते थे। वे कहते थे कि इसे पाँच विषय एक साथ चाहिए। यह वह मूढ़! अरे! तेरा उपयोग तो एक में लक्ष्य जाता है। राग में। वह बदले वहाँ दूसरे में लक्ष्य जाये। एक साथ पाँच में कहाँ तेरा लक्ष्य जाता था। टुकड़े-टुकड़े नम्बर से हो। यह एकसाथ नहीं होता। एक बार लक्ष्य सुगन्ध के ऊपर है तो रस के ऊपर नहीं और रस के ऊपर है तो गन्ध के ऊपर नहीं और गन्ध के ऊपर है तो स्पर्श के ऊपर नहीं। नम्बर से पाँच इन्द्रियों को भोगता है। महिमा करते थे कि बहुत साधन है।

बाग-बगीचा-वेश्या नाचे, खाये, बाजे बजते हों, एकसाथ खाने का... मूढ़, वह मूढ़! एक साथ आत्मा में आनन्द पड़ा है, ज्ञान शान्तिसागर (आत्मा है), उसे चूककर ऐसा रौद्रध्यान करता है, उसका फल ऐसा पाप बँधता है, इसलिए पाप को पहिचानकर, पर को पर जानकर, पुण्य का उदय भी शुभराग है, उसे पहिचानकर मेरी चीज़ उससे भिन्न है। ऐसा उसका श्रद्धा-ज्ञान करना, यह इसके कहने का प्रयोजन है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

यह प्रवचन ३६ मिनिट का है।

प्रवचन नं. ३७, गाथा-१४० से १४२
दिनांक - ०३-१०-१९६४, भाद्र कृष्ण १३, शनिवार

पंचास्तिकाय, १४० गाथा। आस्रव पदार्थ की व्याख्या चलती है। वर्तमान चलती है तो पापास्रव की बात चलती है। पापास्रव। यह मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग, ये सब भाव पापास्रव हैं। इनसे नये पाप आते हैं, वे द्रव्यपापास्रव हैं। उसकी बात चलती है। पहले संज्ञा की बात की।

आत्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से तीव्र जो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह की गृद्धि होती है, वह संज्ञा पाप है, वह पाप भावपाप है। उस भावपाप से नये द्रव्यपाप आते हैं। लेश्या। तीव्र कषाय के उदय से रंगी हुई योगप्रवृत्तिरूप है, वह लेश्या है। योग की प्रवृत्ति है कम्पन। उसमें कषाय से रंगे हुए भाव योगप्रवृत्ति में, उसका नाम यहाँ लेश्या कहा गया है। अनुरंजित=रंगी हुई, कौन? लेश्या। कषाय के उदय से क्रोध, मान, माया, लोभ की तीव्र, यहाँ तीव्र की बात है। रंगी हुई योगप्रवृत्ति। आत्मा के प्रदेश कम्पन हैं, उसमें कषाय का रंग चढ़ा हुआ हो, उसका नाम लेश्या कहा जाता है। यहाँ पापलेश्या का कथन है।

तीसरा, पद्म और शुक्ल पुण्यलेश्या का परिणाम है, वह पुण्यास्रव है। यह तो पहले साधारण आ गया। समझ में आया? हें? भले नहीं लिया परन्तु यह आ गया है, शुभभाव। शुभभाव लेश्या आ गयी। तीसरा (पीत), पद्म और शुक्ल यह शुभपरिणाम है। इनसे नये पुण्य का आस्रव आता है। यह नये तीन के कृष्ण, नील और कापोत, यह पापास्रव है। यहाँ, कहो, अमरचन्दभाई! आत्मा का कम्पन होता है न? प्रदेश कम्पन, उसका नाम योग, और उसमें कषाय से रंगी हुई प्रवृत्ति योग, उसे यहाँ लेश्या कहते हैं।

केवली को फिर कषाय नहीं है, परन्तु साथ में योग रहा है, इस कारण उसे भी शुक्ललेश्या कहा गया है। एक समय का आस्रव आता है न, वह तो शुभ आता है। यहाँ अशुभ की बात चलती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कषाय के तारतम्य मन्द के कारण। कषाय का कल वह दृष्टान्त दिया था न? वृक्ष का। तारतम्य अर्थात् हीनाधिक कषाय के भाव से पाप के तीन परिणाम बने। और मन्द परिणाम शुभ में भी हीनाधिकता तीन प्रकार से शुभभाव बने। परन्तु हैं ये छहों लेश्या आस्रव का कारण है। यह भावास्रव होता है। शुक्ललेश्या हो तो भी भावास्रव है। समझ में आया?

और फिर 'इन्द्रियवशत' इन्द्रिय का आधीनपना, वह भी पापास्रव है। आर्त और रौद्रध्यान दोनों पापास्रव हैं। यहाँ तक आ गया। अब **निष्प्रयोजन...** यहाँ से आया। **(-व्यर्थ) शुभकर्म से अन्यत्र (-अशुभ कार्य में) दुष्टरूप से लगा हुआ ज्ञान;...** ज्ञान में अशुभ परिणाम का जुड़ान बहुत ही, ऐसे विचार कर-करके ऐसे संक्लेश परिणाम ज्ञान में लगाओ, उसे यहाँ दुष्टरूप से जुड़ा हुआ ज्ञान (कहते हैं)। उसका नाम पापास्रव है। ज्ञान दुष्ट परिणाम के विचार में ऐसे बनाना और ऐसे करना और ऐसे करना, इसमें लगा हुआ, वह भी अशुभपरिणाम पापास्रव का कारण द्रव्य पापास्रव और वह स्वयं भाव पापास्रव है। कहो, समझ में आया? अपने ज्ञान की क्षयोपशम दशा, ऐसा पाप का विचार कला और धन्धा और उसमें विचार करने में लगा देना, वह पाप परिणाम है। कहो, पूनमचन्दभाई! क्या होगा यह? पाप परिणाम में बराबर मस्तिष्क का अच्छा काम करे ज्ञान का तो? कहते हैं न, देखो न? **निष्प्रयोजन (-व्यर्थ) शुभकर्म से...** अशुभ ऐसी कल्पना निष्प्रयोजन है।

मुमुक्षु : पैसा कमाना, वह निष्प्रयोजन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निष्प्रयोजन है। पैसा कमाना क्या? ऐसी मशीन बने और यह बने ऐसा यहाँ करते हैं न, ऐसे कारखाना डालने में ज्ञान का उपयोग लगाते हैं। ऐसे ज्ञान के उपयोग को अशुभ परिणाम पापास्रव कहा गया है। उससे नये पाप आते हैं।

मुमुक्षु : दान के लिये कमाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : दान के लिये कमाने का किसने कहा? कुत्ता मारकर गाय को डालना, गाय मारकर कुत्ते को धराना। .... कमाकर, फिर कमाना और फिर दान देना, ऐसा किसने कहा?

मुमुक्षु : ....अशुभ ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुभ ही है। धन्धा शुभ किस दिन था?

मुमुक्षु : कमाये बिना दान कैसे दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कहता है? दान का क्या काम है? यह तो सहज पाप से आया हो, फिर राग मन्द करके दान का भाव हो, पुण्य होता है। दान के लिये कमाऊँ, ऐसा कौन कहता है? समझ में आया? इष्टोपदेश में आता है, अधिकार इष्टोपदेश में। शास्त्र में सब बात है। कोई बात गुप्त नहीं है। इष्टोपदेश में कहा है कि उपदेश किसे कहते हैं? दान के लिये कमाऊँ और फिर दान दूँगा, यह उपदेश इष्ट नहीं है। हाथ बिगाड़कर (गन्दे करके) फिर पानी से धोना है। पहले तो हाथ बिगाड़े और फिर धोना है, उसका क्या अर्थ? कौन कहता है कमाना। कमाने का भाव ही पाप है। दुकान की पेढ़ी पर बैठना और ऐसे-ऐसे (करना), वह सब पाप है।

यह सब दूषित परिणाम हैं। कमाऊँ तो तुम्हारे लिये क्या है? तुम्हारा क्या अधिकार है? राग मन्द है। इससे क्या? पाप किया, उसका क्या? यह इष्टोपदेश में बहुत ही लिया है। कोई ऐसा विचार करे कि पहले बहुत ही कमा लें पाँच, दस, पच्चीस लाख (कमा लें) फिर देंगे। अब है, उसमें थोड़ी तृष्णा घटाये तो पुण्य होगा। कमाने का जितना दुकान में बैठना और उसकी कला में उपयोग लगाना, ऐसा... ऐसा... और ऐसा। ऐसी मजदूरी करता है। ऐसे मजदूर लाना, ऐसा लाना, उस ज्ञान में उपयोग लगा देना, वह अकेला पापभाव है।

मुमुक्षु : लड़कों को जवाबदारी....

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़कों को जवाबदारी क्या? वह तो अकेला पाप ही है। लड़का क्या करे, लड़का करे तो लड़के को पाप है। लड़के के लिये बनाने की-कमाने की कला अकेला पाप है। नये कर्म का बन्ध पड़ता है। पापभाव है। कहाँ गये वासुदेवभाई? पैसे से ठीक होता है? समझ में आया? मूल दुकान में बैठने में कला लगा दे। ऐसा करना और ऐसा करना और ऐसा करना और ऐसा करना। और माल में मिश्रण करना, क्या कहलाता है, मिर्ची में बीज डालना, चावल में कणकी मिलाना। महा अशुभपरिणाम, बुरे भाव हैं।

मुमुक्षु : साधारण भाव करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधारण भाव करे तो भी वे पाप के भाव हैं ही। यह तो दुष्ट विशेष कहे न! यह तो तीव्र की बात चलती है। समझ में आया? प्रयोजन अर्थात् यह मुफ्त का ही करता है, ऐसा इसका अर्थ। शुभकर्म को छोड़कर अशुभकार्य में दुष्टरूप से जुड़ी हुई ज्ञान की कला उपयोग। ऐसा ऐसे-ऐसे जोड़े-जोड़े। ऐसी कला और ऐसा करना और ऐसा करना। पचास, लाख में लो तो दो लाख लगाना, दो लाख दूसरे में लगाना, ऐसे लगाना, ऐसे लगाना। यह व्यवस्था करने के पाप भाव की व्यवस्था है।

डाले कौन और ले कौन? उसमें भाव यदि अपना क्षयोपशम का अनुभव हुआ हो तो उसमें लगा देता है। दूसरे किसी को खबर नहीं पड़ती, ऐसा करो, ऐसा लाओ, ऐसा लाओ, ऐसा करो, ऐसा करो। यह सब कला का भाव मात्र अशुभभाव पाप है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे दे? किसने कहा? देने का कहा है किसने? यहाँ तो किसी को देने की बात भी नहीं चलती। यहाँ तो पाप ज्ञान में उपयोग जोड़ना, वह पाप है। इतनी बात चलती है। देने की बात चलती है, कहाँ से आया? अन्दर में से आया, कफ। समझ में आया?

यहाँ तो अभी ज्ञान में विकास कुछ-कुछ थोड़ा सीखा हो न? पाँच-पचास वर्ष तक यह पाप का सब। अनुभव का लाभ फिर दुकान पर बैठकर लकड़ों को दे। उन्हें कला में लगाना, ऐसा करना, ऐसा करना। वह सब अकेला दुष्ट पाप है। नये-नये पाप के पिण्ड बनते हैं।

मुमुक्षु : भटकने के लिये शिक्षा देता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भटकने के लिये शिक्षा देता है। अपने को भटकने के लिये। उसे चार गति में भटकना है। कहाँ जाना है और कहाँ अवतार करेगा, इसका भान नहीं है। इतना पाप। कहो, समझ में आया?

और सामान्यरूप से दर्शन-चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेकरूप मोह... भान बिना का राग हो या मिथ्यात्व हो सब। **यह, भावपापास्त्रव का विस्तार...**

वह भावपाप आस्रव के परिणाम का विस्तार कहा है। **द्रव्यपापास्रव के विस्तार को प्रदान (प्रदान) करनेवाला है...** उसे द्रव्यपाप का दान मिलता है। द्रव्यपाप रजकण पाप के उसके साथ पहुँचते हैं। कहो, समझ में आया? **अर्थात् उपरोक्त भावपापास्रवरूप...** देखो! ऊपर कहे संज्ञा, लेश्या, विषया, चिन्ता, मोह सब। आर्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादि। **अनेकविध भाव वैसे-वैसे अनेकविध द्रव्यपापास्रव में निमित्तभूत हैं।** जैसे-जैसे अनेकविध पापभाव किये, वैसे नये आवरण में अनेकविध में वे निमित्त पड़ते हैं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : तब तो जगत में सब व्यवहार रुक जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत में कौन रुकता है? जगत में तेरी अटकनवाला उत्पाद है न। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। जगत तो चलता ही है। जगत किससे चलता है? तुझसे चलता है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या काम करे? दान दे तो न दे। आजीविका होती है, तो उसमें क्या है?.....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होते। उसमें तुझे क्या है? पचास रुपये मिले तो पाँच रुपये दान दे। उसमें क्या? परन्तु ऐसे विशेष पाप करके करना, यह भाव है नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : न दे तो कौन इनकार करे। न दे। परन्तु पाप परिणाम करना, वह बात है नहीं। दान न दे तो भले न दे। अपने पास (न हो तो न दे।)

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी पाप है। न्याय से करे, वह भी पाप। पाप वह तो तीव्र, मन्द की बात है। वह भी पाप है। न्याय से कमाये परन्तु पाप है न अकेला बस। ऐसे पुत्र के लिये, इज्जत के लिये, खाने के लिये, पीने के लिये कमाता है। मात्र पाप है। कितनों

को तो ऐसा पागलपन हो जाता है कि चौबीस घण्टे धन्धे में लवलीन! चौबीस घण्टे लवलीन! रात्रि में स्वप्न भी ऐसे आवे। ....ऐसा लिया, ...ले, अपना कपाल फाड़ डाले। ...होवे न, सोये हुए हों जगे। कपड़े फाड़े।...

यह पाप की गृद्धि स्वप्न में भी वह परिणाम आवे तो पाप है। स्वप्न में भी वह परिणाम आवे ऐसे... ऐसे... ऐसे... ऐसे... ऐसे... मात्र पाप का बोझा लगता है। समझ में आया? पाप को जानना। पाप वह है, उससे आत्मा भिन्न है। आत्मा का ज्ञान करे तो पापपरिणाम मन्द हुए बिना रहते ही नहीं।

जिसमें पाप नहीं, ऐसा आत्मा अखण्डानन्द ज्ञान-आनन्दकन्द निज सम्पदा से भरपूर ऐसी दृष्टि करे तो अनन्तानुबन्धी का दोष तो टल जाये। मन्द राग हुए बिना रहे नहीं। भले अशुभ हो। तीव्र जो अनन्तानुबन्धी का था, वैसा का वैसा रहता नहीं। ज्ञानी को भी राग तो आता है, पाप भी होता है। तीव्र ऐसा नहीं होता। अपना ज्ञायकभाव शुद्ध स्वभाव की दृष्टि की अधिकता के कारण विकार की तीव्रता के परिणाम उसे नहीं होते। एकत्वबुद्धि से नहीं होते। पुण्य होता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को लागू नहीं पड़ता। अकेले को पाप लगता है। दस लोगों के लिये कमाता हो तो पाप के दस भाग पड़ते होंगे या नहीं, ऐ वासुदेवभाई! इसे पूछो न, इसका परिवार बड़ा है। सात भाई और छह बहुओं का। छह हैं न, क्या है? बड़ा परिवार है। लो! यह हीरा.... इसलिए दस लड़कों के लिये कमावे तो यह पाप के दस भाग पड़ते होंगे या नहीं?

मुमुक्षु : रुपये के पड़ें।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये के भाग पड़े, पाप के नहीं। पाप सलंग अकेला इसे। बीस खाये तो कमाने के अकेले के पाप के अकेला एक भागीदार है। बीस भाग नहीं। खिलावे क्या? कौन खिलाता है? खाये तो भी खानेवाले का भाव भिन्न। एक दीपक में से दूसरा दीपक कब होता है। दूसरा भिन्न है।

मुमुक्षु : बच जाये उसमें से?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं; कहाँ बच गये? वह भी खानेवाले के पिताजी ने अच्छा कमाया तो हमको अच्छा है, अनुमोदन, वह भी पाप उसका है।

मुमुक्षु : अनुमोदन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुमोदन का पाप उसके पास रहा। खाने का भाव पाप है या नहीं? भोगना, भोगना, हमारे पिताजी ने कमाया, बहुत ही अच्छा किया, यह भी पापपरिणाम है। उसका भिन्न पाप, इसका भिन्न पाप। भाग नहीं पड़ते कि उसने इतना किया पन्द्रह के लिये किया तो पाप में पन्द्रह भाग पड़ जाये।

मुमुक्षु : पन्द्रह पाप में से तो बच गये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। बचे क्या? धूल में? पन्द्रह भी मानते हैं कि हमारे पिताजी ने कमाया। ठीक किया तो उसका अनुमोदन करनेवाले भी पापी हैं। अशुभभाववाले हैं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : .....कमीशन लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कमीशन-बमीशन लगता नहीं। किसी के कारण से हम क्या करें, बीस लोगों के लिये मैं अकेला कमानेवाला हूँ। तो भार थोड़ा उसे भी पड़ेगा, दूसरे को भी पड़ेगा, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : एक कमाये और सब खाये....

पूज्य गुरुदेवश्री : खाये। एक कमाये और अपने पाप का भोग करे। पाप का भोग करे। उसमें दूसरे में क्या है? जितने प्रकार के अनेकविध पापास्रव परिणाम करता है, उतने प्रमाण में अनेकविध नये कर्म के, देखो! अनेकविध लिखा है न? दोनों। अनेकविध पापास्रव ऐसे अनेकविध द्रव्यपापास्रव। जैसी जैसी दुष्टता आदि। संज्ञा, लेश्या आदि की है, उस प्रमाण में नये पापास्रव होते हैं। किसी का किसी में भाग नहीं पड़ता। कहो, समझ में आया?

लड़का कमाऊ हो और उसने कोई दान का भाव मन्द किया हो तो उसके पिता

को कुछ लाभ मिले, ऐसा जरा भी नहीं है। जरा भी नहीं, उसके पिता को। उसके पिता को कि यह करोड़ कमाये तो ठीक रहा। उसमें पाप का भाव, भाव अपना उसका पाप उसे लगता है और उसे ऐसा हुआ कि दो लाख दिये तो ठीक हुआ, इतने भाव थोड़े किये हों तो वह शुभभाव होता है। अपना शुभ, हों! उसके कारण से नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो स्वतन्त्र बात है। किसी के कारण कोई मिश्रण-मिश्रण होता नहीं। लो! आस्रवपदार्थ पूरा हुआ। उसकी पहिचान करायी।

अब संवर पदार्थ। संवर में भी पापसंवर की पहली गाथा है। सर्वथा संवर नहीं।

गाथा - १४१

अथ संवरपदार्थव्याख्यानम् ।

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्हि ।
जावत्तावत्तेसिं पिहिदं पावासवच्छिद्दं ।। १४१ ।।

इन्द्रियकषायसंज्ञा निगृहीता यैः सुष्ठु मार्गे ।
यावत्तावत्तेषां पिहितं पापास्रवछिद्रम् ।। १४१ ।।

अनन्तरत्वात्पापस्यैव संवराख्यानमेतत् ।

मार्गो हि संवरस्तन्निमित्तमिन्द्रियाणि कषायाः संज्ञाश्च यावतांशेन यावन्तं वा कालं निगृह्यन्ते तावतांशेन तावन्तं वा कालं पापास्रवद्वारं पिधीयते । इन्द्रियकषायसंज्ञाः भावपापास्रवो द्रव्यपापास्रवहेतुः पूर्वमुक्तः । इह तन्निरोधो भावपापसंवरो द्रव्यपापसंवरहेतुरवधारणीय इति ।। १४१ ।।

कषाय-संज्ञा इन्द्रियों का निग्रह करें सन् मार्ग से।
वह मार्ग ही संवर कहा, आस्रव निरोधक भाव से।।१४१।।

अन्वयार्थ :— [यैः] जो, [सुष्ठु मार्गे] भली भाँति मार्ग में रहकर, [इन्द्रियकषायसंज्ञा] इन्द्रियाँ, कषाय और संज्ञाओं का [यावत् निगृहीताः] जितना निग्रह करते हैं, [तावत्] उतना [पापास्त्रवछिद्रम्] पापास्त्रव का छिद्र [तेषाम्] उनको [पिहितम्] बन्ध होता है।

टीका :— पाप के अनन्तर होने से, पाप के ही संवर का यह कथन है। (अर्थात् पाप के कथन के पश्चात् तुरन्त होने से, यहाँ पाप के ही संवर का कथन किया है।)

मार्ग वास्तव में संवर हैं; उसके निमित्त से (-उसके हेतु से) इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने काल निग्रह किया जाता है, उतने अंश में अथवा उतने काल पापास्त्रव द्वारा बन्द होता है।

इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं—भावपापास्त्रव—को द्रव्यपापास्त्रव का हेतु (-निमित्त) पहले (१४०वीं गाथा में) कहा था; यहाँ (इस गाथा में) उनका निरोध

(-इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का निरोध)—भावपापसंवर—द्रव्य-पापसंवर का अवधारना (-समझना)॥१४१॥

गाथा - १४१ पर प्रवचन

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्हि।
जावत्तावत्तेसिं पिहिदं पावासवच्छिद्दं।।१४१।।

टीका :- जितना काल और जितना भाव। **पाप के अनन्तर होने से,...** पहले पाप की व्याख्या की। उसके पश्चात् आनेवाली यह गाथा। **पाप के ही संवर का यह कथन है।** पाप के रोकने का कथन है। सर्वथा पाप-पुण्य नहीं। अकेला पाप रोकना। अशुभभाव नहीं होना। अशुभभाव न हो, उतना पाप रुकता है। उतना। सर्वथा पापसंवर रोके, वह तो शुभ-अशुभ दोनों रोक दे तो सर्वथा संवर है।

मुमुक्षु : पाप को....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पापसंवर। पाप को रोके, उतना अशुभभाव का न आना, न होना। अशुभभाव का न होना, वह भी इतना पाप का संवर भाव है। और नये इतने आते नहीं तो पाप का उतना आस्रव रुक गया। **पाप के अनन्तर होने से,...** पाप के ही संवर का यह कथन है। **(अर्थात् पाप के कथन के पश्चात् तुरन्त होने से, यहाँ पाप के ही संवर का कथन किया है।)**

पाप का संवर। सम्यग्दृष्टि की बात है, हों! ज्ञानी को पाप का संवर होता है। अज्ञानी को तो होता ही नहीं।

मुमुक्षु : अज्ञानी को नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी को कहाँ संवर-फंवर है। मिथ्यात्व का आस्रव आता है। मिथ्यादृष्टि राग में ठीक मानता है। पाप में मजा मानता है। हमें बहुत ही अनुकूल है।

मुमुक्षु : पाप के घटने से अशुभ तो घटता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संवर नहीं। **मार्ग वास्तव में संवर हैं;...** देखो! भाषा। मार्ग तो

वास्तव में संवर है। मोक्ष का मार्ग तो वास्तव में संवर है। आस्रव तो वास्तव में बन्ध का मार्ग है। यहाँ संवर है। देखो! जितना उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष रुक जाये और सम्यग्दर्शन में अरागी प्रवृत्ति हो, वही एक संवर मार्ग है। बाकी कोई संवरमार्ग— मोक्षमार्ग है नहीं। कहो, समझ में आया? शुभ में भी यह लोग लगाते हैं। शुभ में भी लोग संवर है, ऐसा लगाते हैं। यहाँ तो मार्ग वास्तव में संवर है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह है न, पाठ में है.... मार्ग आत्मा में शुद्ध चैतन्यस्वरूप पुण्य-पाप के रागरहित अपने स्वभाव का अन्तर पूर्णानन्द को दृष्टि में स्वीकार करके, स्वरूप सन्मुख की सावधानी करके जीतना, लीन होना, वही एक संवर मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया?

संवर मार्ग कहा, देखो! मिथ्यात्व और राग का निरोध अर्थात् उत्पत्ति न होना और सम्यग्दर्शन और वीतरागी परिणति की उत्पत्ति होना वही, एक संवरमार्ग है। दूसरा कोई मार्ग है नहीं। कहाँ किसका मार्ग? पूर्ण परमात्मपद प्राप्त करने का मार्ग। पूर्ण मोक्षदशा प्राप्त करने का मार्ग, वह शुभाशुभ विकल्प राग और निमित्त से हटकर स्वभाव पूर्णानन्द की ओर का झुकाव जितने अंश में दृष्टि होकर स्थिरता, उतने अंश मार्ग है। समझ में आया?

जिसे संयोग और निमित्त के ऊपर का जोर है, वह वहाँ से दृष्टि नहीं हटायेगा और जिसे शुभपरिणाम में कोई लाभ की बुद्धि है, वह अपनी पर्याय से बुद्धि नहीं हटावे। जिसे अपने अतिरिक्त पर चीज़ है, वह मेरे कोई भी कार्य में लाभ-मदद करती है, ऐसी दृष्टि है तो संयोग से नहीं हटेगा। और जिसे अपने परिणाम में शुभराग की मन्दता हो, उससे लाभ मानेगा, उसे परिणाम से दृष्टि नहीं हटेगी। उसे कभी संवर नहीं होगा। कहो।

मुमुक्षु : मार्ग कोई लम्बा-संक्षिप्त होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, किसी को काल थोड़ा लगता है, किसी को काल अधिक लगता है, लम्बा-संक्षिप्त। मार्ग दूसरा नहीं है। मार्ग यही, एक ही। आडा-टेढ़ा नहीं। यह तो तुम्हारे वांका का मार्ग है। ऐसा एक व्यक्ति ने कहा था। यहाँ के सोनगढ़वाले को

पूछा उसको, वह टेढ़े का मार्ग है। नाम न पाड़े परन्तु टेढ़ा का मार्ग में क्या कहना है, यह फिर वह उसे नहीं न, ऐसे का ऐसा चले। टेढ़ा को क्या कहते हैं, उस पगदण्डी का। यह उसका जवाब जल्दी का है या क्या है? उसने जवाब ऐसा दिया।

मुमुक्षु : पगदण्डी अर्थात् जल्दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : है तो ऐसा। परन्तु कोई पगदण्डी में घुस भी जाये रास्ते में, ऐसा कोई मिले तो। ऐसा कि किसी ने पूछा कि यह कानजीस्वामी ऐसा मार्ग कहते हैं न? आडा-टेढ़ा रास्ता है। पगदण्डी तो सीधी जाती है। आड़ा रास्ता मिले, मिलने में खड्डे में सीधा चला जाये। उसके कहने का अर्थ दूसरा है, हों! आहाहा! ऐसा की वहाँ चढ़ जाये और यह तो हम जो कहते हैं, वह ठोस मार्ग। धोरी मार्ग। चले जाये बस, पहुँचे, पहुँचे और पहुँचे, ऐसा। अरे भगवान! यह तो एक ही मार्ग है। राग मार्ग कहो, केडी मार्ग कहो। पगदण्डी कहते हैं न? पगदण्डी। पगदण्डी का मार्ग।

यह भगवान आत्मा निमित्त का प्रेम छोड़कर, पुण्य का आग्रह छोड़कर-शुभभाव का। अपने स्वभाव की दृढ़ता में प्रवेश करे, वह एक ही मार्ग है। बस! दूसरा कोई मार्ग तीन काल में नहीं है। समझ में आया? इसलिए कहा कि मार्ग तो वास्तव में संवर है। दया, दान, भक्ति, व्रत, विकल्प, वह संवर नहीं है। वह मार्ग नहीं है। वह पुण्यास्रव है। बन्धमार्ग है। वह मार्ग नहीं। यहाँ मार्ग मोक्ष का कहना है न? समझ में आया?

इसने कुछ विचार किया नहीं और ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है। थोभे। ओहो! ऐसा अवसर! अरबों-करोड़ों रुपये दे तो भी उसकी कीमत (आंकी) नहीं जाती। एक दृष्टान्त इसमें कहीं आया है न! वह टॉल्सटोय के पास गरीब व्यक्ति गया। गरीब (व्यक्ति)। टॉल्सटोय थे न? आहाहा! उनके पास गरीब व्यक्ति गया। (और कहा) मेरे पास कुछ नहीं है, मेरे पास कोई चीज़ भी नहीं है। मुझे किसी से कुछ दिलाओ। अच्छा भाई! एक तुम्हारी आँख दो न तो डॉक्टर दस लाख देगा। अरर्र! आँख देने की? तेरा एक पैर देगा तो उसके तुझे दो लाख देगा। पैर कैसे देना? तेरा एक हाथ देगा तो पाँच लाख देगा। वह कैसे दिया जाये? तू कहता था न कि मेरे पास कुछ नहीं है? इतनी कीमती चीज़ तो तेरे पास है। ऐसा एक टॉल्सटोय हुआ न? हाँ वह। यह कहे मेरे पास तो पाई (एक पैसा) भी नहीं है। हम तो गरीब हैं। मेरे पास तो कुछ ही नहीं है।

किसी से दिलाओ महाराज! तेरे पास कुछ नहीं? एक-एक चीज़ की इतनी कीमत है तो भी तू कहता है कि हमारे पास कुछ भी नहीं है। एक आँख दे आँख। दूसरे को तो काम आयेगी। तुझे क्या है? तेरे पास तो कोई चीज़ है नहीं। आँख दें तो हम अन्धे हो जायेंगे, पैर दें तो लूले हो जायेंगे। परन्तु पैसा मिलता है या नहीं? कीमत मिलती है न कीमत की कीमत हो जाये। अरे! परन्तु कीमत देकर फिर कौन भोगे? तब फिर भाई! तेरे पास नहीं है, ऐसा नहीं है। बहुत ही कीमती चीज़ पड़ी है। समझ में आया? यह पैसे लेने-देने से मिलती नहीं। पैसा देने से मिलती है? एक करोड़, एक आँख मिलती है आँख? चलाते हैं वह तो। पुण्य का उदय हो तो कोई वहाँ चलाते हैं न? कहो, समझ में आया?

कहते हैं कि मार्ग तो वास्तव में संवर है। मार्ग की प्रभावना कहा था न भाई? अन्तिम गाथा में है न? २६६ पृष्ठ। २६६ पृष्ठ है। यह अपने एक बार कहा था। (गाथा १७३ की टीका का दूसरा पैराग्राफ)।

मार्ग अर्थात् परम वैराग्य करने के प्रति ढलती पारमेश्वरी परम आज्ञा। लो! यह मार्ग है न? १७३ गाथा की पहली टीका की लाईन है। १७३ गाथा और पृष्ठ नं. २६६ है। नीचे की दो लाईन। एकदम नीचे की। मार्ग अर्थात् परम वैराग्य करने के प्रति ढलती पारमेश्वरी परम आज्ञा। क्या, देखो! निमित्त और राग से हटकर अपने स्वभाव में आना, वह मार्ग है। है न अमरचन्दभाई? मार्ग भगवान की आज्ञा परम वैराग्य। विकल्प से, निमित्त से, संयोग से, भेद से हटकर अपने स्वभाव में ढलना, इसका नाम मार्ग है। समझ में आया? २२५ (पृष्ठ) में है। यह आ गया है पहले? अब आयेगा नहीं? २२५ (पृष्ठ)।

यह तो **जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण निश्चय से मोक्षमार्ग है।** यह शब्द आता है न? १५४ में आया। अपने चल गयी है। १५४ गाथा। **जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण निश्चय से मोक्षमार्ग है।** देखो! अपने १५४ (गाथा) से चला। कक्षा में। १५४ गाथा। उसकी टीका की लाईन। टीका के बाद। यह मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन है। जीवस्वभाव में नियत चारित्र, वह मोक्षमार्ग है। १५४ गाथा नहीं मिलती? १५४ गाथा की टीका कहाँ आयी? इतने शब्द लेना है।

नियत-निश्चय। अपने ज्ञाता-दृष्टा सच्चिदानन्दस्वरूप में नियत-निश्चय चारित्र, वह मोक्षमार्ग है। उसमें चारित्र आया। दर्शन-ज्ञान तो पहले आ गये? समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में क्या है? अन्दर में सब पड़ा है। पूरा भगवान अन्दर में पड़ा है। पूर्णानन्द प्रभु एक समय की पर्याय में भी पूर्ण नहीं आता। तो बाहर में कहाँ से घुस गया? समझ में आया?

ऐसा महान प्रभु! चैतन्य महाप्रभु! उसका जो महान त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टा आनन्द आदि स्वभाव, उसमें निश्चय चारित्र। देखो! वह विकल्प व्यवहारचारित्र नहीं, ऐसा निकालने के लिये कहा। व्यवहार पंच महाव्रत विकल्प, वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसा कहा। वह कौन जाने कहाँ से निकालते हैं यह? समझ में आया?

अकेला स्वचैतन्य प्रभु, उसका आश्रय लेकर जो चारित्र हुआ, वही मोक्षमार्ग है। तन्मयता। जितना ज्ञाता-दृष्टा का स्वीकार आवे, उसमें जितनी लीनता हो जाये, दृष्टिपूर्वक की बात है न? दृष्टि में तो जमा है कि 'चारितं खलु धम्मो' यह आत्मा है। और फिर लीनता हो जाये बस, वही मोक्षमार्ग है। चारित्र मोक्षमार्ग। बस एक ही। और धर्म का कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान, यह तो पहले हुआ हो। स्वभाव की प्रतीति और ज्ञान पश्चात् स्वभाव में लीनता, एक ही चारित्र मोक्ष का निश्चयचारित्र एक ही मोक्ष का मार्ग है। ओहोहो! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ था धूल में, सुख है? अलग-अलग प्रकार के हथियार लगते हैं। लगते हैं अन्दर। चारों ओर। यह अलग-अलग प्रकार का सुख कहते हैं पैसेवाले को। लड़के का सुख, लो! ओहोहो! इनका लड़का बाँधता है न दूसरा कुछ। आहाहा! राजकुमार जैसा है न लड़का। पिता ऐसा रूपवान नहीं है। लड़का रूपवान है। वह ऐसा पुण्य लेकर आया है न! लोग ऐसा कहते थे। पुण्य लेकर आया है। राजकुमार दिखता है अभी से। कहे राज का कुमार। उनके पुत्र का पुत्र छोटा। करोड़पति के घर में आया। पुण्य लेकर आया है न! पुण्य का सोझा। धूल में भी सुख नहीं। व्यर्थ में मानता है। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो वजन अपने मार्ग वास्तव में कहो या खरेखर कहो, खरेखर कहो या निश्चय से कहो। समझ में आया? मार्ग वही संवर: 'ही' का वास्तव में अर्थ किया न? 'ही' अर्थ वास्तव किया। वास्तव में ठीक है। खरेखर कहो, वास्तव कहो, यथार्थ कहो। 'मार्गो हि संवर:' इतना शब्द संस्कृत में है। मार्गो हि संवर:। समझ में आया? पहले दो शब्द रखकर। '**अनन्तरत्वात्पापस्यैव संवराख्यानमेतत्।**' पश्चात् मार्गो ही संवर निश्चयात्मा '**ही ही खलु निश्चय यथार्थ वस्तु**' एक भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द, स्वभाव उसमें ही लीनता। दृष्टि की, ज्ञान की और स्थिरता की। बस यही एक संवर। यही एक मार्ग है। बाकी दूसरा मार्ग (है नहीं)। बीच में शुभ रागादि, दया, दान के विकल्प आवे, वे सब पुण्यास्रव हैं, बन्ध का कारण है। संवर नहीं, मोक्ष का मार्ग नहीं। कहो, समझ में आया?

उसके निमित्त से (-उसके लिये) इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओं का जितने अंश में... देखो! यहाँ पापास्रव की बात है न? यहाँ सर्वथा पुण्य-पाप से रहित नहीं लिया। बाद में लेंगे। पाँच इन्द्रियों के तीव्र पाप से हटना और कषायों में तीव्र कषाय से हटना और संज्ञाओं में जो तीव्र कषाय है न, उससे हटना। **जितने अंश में अथवा जितने काल...** दो शब्द लिये हैं। यावत्, तावत् जितने अंश में सम्यग्दर्शनपूर्वक, अपनी आत्मा की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितने अंश में पापास्रव से हटता है, उतने काल निग्रह किया जाता है। पापपरिणाम को रोकता है। अथवा पापपरिणाम उत्पन्न नहीं होने देता। **उतने अंश में अथवा उतने काल पापास्रवद्वार बन्द होता है।** आहाहा!

शुभभाव हो अन्दर विचार-मनन में अन्तर उठता है तो शुभभाव हो तो उतना पुण्यास्रव है। परन्तु जितने अंश में उस पाप की ओर से परिणाम हट गये हैं, उतने अंश में उतने काल पाप का निरोध, ऐसा संवर कहने में आता है। दृष्टिपूर्वक, हों!

मुमुक्षु : पाप का संवर।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पाप का रुक जाना हुआ। पाप में, हाँ। शुभपरिणति में उस अशुभ से हटा, इतने पाप घट गये। परन्तु उस दृष्टि से, हों!

मुमुक्षु : मार्गपूर्वक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो पहला मार्ग यह मार्ग बिना की बात भी कहाँ है ? वह अन्दर स्वभाव सन्मुख दृष्टि हुई है, उसमें वास्तव में तो उससे रुका, परन्तु वहाँ से पापपरिणाम नहीं किये तो उतना पापास्रव रुक गया। उससे दो सम्बन्ध बताये। दो का सम्बन्ध। समझ में आया ?

यहाँ पापास्रव रुका तो उतना द्रव्यास्रव पाप से नहीं हुआ। समझ में आया ? अज्ञानी की तो बात ही है नहीं। अज्ञानी की दृष्टि में तो पुण्य-पाप के परिणाम पर ही उसकी दृष्टि पड़ी है। उसके पापपरिणाम हटे तो पापास्रव रुक गये, उसे तो वे हैं ही नहीं। उसे तो मिथ्यात्व का आस्रव हमेशा चालू ही है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की प्रकृति कितनी हुई इकतालीस ? मिथ्यादृष्टि को तो हमेशा इकतालीस प्रकृति बँधती है। दया, दान, भक्ति के परिणाम हों तो भी उसे इकतालीस प्रकृति महासंसार की बँधती है। और ज्ञानी युद्ध में हो तो भी इकतालीस प्रकृति का संवर उस समय भी है।

मुमुक्षु : पापास्रव रोकने से इन्द्रिय निग्रह हुआ न।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। निग्रह का अर्थ यह हुआ। अपने अतीन्द्रिय स्वरूप का अनुभव सम्यग्दर्शन हुआ है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह नहीं, यह नहीं। यह इन्द्रिय की ओर नहीं। पहली अभी यह बात है। कि आत्मा, आत्मा मार्ग संवर लिया है। दृष्टि में अखण्डानन्द शुद्ध राग का कर्ता मैं नहीं। पर की क्रिया का कर्ता मैं नहीं। ऐसी दृष्टि अनुभव में आयी है। उसे इन्द्रिय की ओर से हटता है तो पापास्रव रोकता है। बस इतना। अज्ञानी को तो हटता ही नहीं। उसे तो शुद्धदृष्टि है ही नहीं न।

अज्ञानी को तो इन्द्रिय से मैं काम लेता हूँ, इन्द्रिय से मैं काम कर सकता हूँ, ऐसी बुद्धि है तो मिथ्यादृष्टि है। उसे तो इन्द्रिय निग्रह है नहीं। इन्द्रिय प्रवृत्ति विस्तार की इन्द्रिय पड़ी है। यह वह बात है। स्वभाव की दृष्टि.... देखो न! मार्ग तो पहले कहा। उसके निमित्त से, उसके हेतु से। ऐसा मार्ग है, दोपहर में कही, वही यह बात है।

मैं करूँ तो किसका त्याग करूँ ? मेरी चीज़ में त्याग है ही नहीं। मैं पर के त्याग

स्वभावी हूँ। ऐसा अनुभवदृष्टि में आया, पश्चात् जितनी इन्द्रियाँ पाप की ओर से हटती हैं। परिणाम हों, परिणाम। इन्द्रियाँ जड़ की यहाँ बात नहीं है। अपने परिणाम में अशुभ परिणाम से हटता है, उत्पन्न नहीं होते, इतने पापास्रव आते नहीं। इतनी बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : इन्द्रिय को कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें कौन (रोके)? वह तो मिट्टी है। उसे रोके कौन, इन्द्रिय को पोषे कौन? परन्तु भावेन्द्रिय खण्ड-खण्ड में जितने पाप के परिणाम थे, वह स्वभाव की दृष्टि सन्मुख हुई है, मैं किसी का कर्ता-फर्ता नहीं, विकल्प का नहीं। मुझमें पर का त्याग है ही नहीं। अर्थात् कि मैं पर का त्याग करूँ, ऐसा मुझमें है नहीं। मेरा स्वरूप ही राग के त्याग स्वभावी है।

ऐसी अतीन्द्रिय स्वभाव की दृष्टि हुई है। फिर परिणाम में अशुभपरिणाम उत्पन्न नहीं होने देता, उसका नाम पापास्रव रुके, ऐसा कहने में आया है। अज्ञानी पापास्रव को रोके, (ऐसा) तीन काल में (होता) नहीं। वह तो मिथ्यात्व के परिणाम बड़ा पाप तो पड़ा है। मैं इन्द्रिय को रोकूँ, इतना मन्द होऊँ, ऐसी दृष्टि तो मिथ्यात्व है—मैं खा सकता हूँ, मैं छोड़ सकता हूँ। समझ में आया?

यह तो अभी पुण्यपरिणाम करता है तो भी कर्तृत्वबुद्धि है। कर्तृत्वबुद्धि का मिथ्यात्वभाव तो साथ में पड़ा है। वहाँ पापास्रव नहीं रुकते। मिथ्यात्व को रोका नहीं तो दूसरे पाप तो कहाँ से रुकें? यह तो दृष्टि कहाँ? भूमिका में दो बात करते हैं। मार्ग तो अन्दर प्रगटाया है, मैं तो राग और विकल्प से, इन्द्रियों से खाली हूँ। उनसे मैं रहित ही हूँ। मुझे उन्हें छोड़ना है, ऐसा मुझमें है ही नहीं। ऐसी दृष्टि का अनुभव मार्ग में हुआ, तब वह विकल्प अशुभपरिणाम जितना उसने रोका और शुभपरिणाम तो है। वह है तो शुभपरिणाम आस्रव। परन्तु अशुभपरिणाम जितने रुके, उसे उतना पापास्रव रुका, ऐसा व्यवहार से कहने में आया है।

निश्चय से पुण्य-पाप दोनों विकल्परूप है। स्वरूप में स्थिर हो, वह संवर है। सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अज्ञानी को नहीं होता। यह भी अज्ञानी को नहीं होता।

पापास्रव परिणाम सम्यग्दृष्टि जीव जब धन्धे-पानी के व्यापार परिणाम से हटकर अपने परिणाम के विचार में है तो शुभपरिणाम है, दृष्टि स्वभाव पर है, परन्तु जितना व्यापार-धन्धा, भोग, विषय, युद्ध इतने परिणाम छूट गये तो उतने नये पाप नहीं आते। इतने पाप का संवर हुआ। समझ में आया? नजर से सूझे ऐसा यह मार्ग है।

ज्ञान की नजर से ख्याल में आवे, ऐसा मार्ग है। नजर तो ज्ञान की है या आँख की है? कहो, समझ में आया? वस्तु तो.... दोपहर में जो कही थी, वही चीज़ है। परन्तु वहाँ जरा चारित्र में न्यूनता है, स्थिरता नहीं, और स्वरूप की तो दृष्टि बराबर अपोहक मैं हूँ। पर का त्याग करूँ, वह मेरी चीज़ में है ही नहीं। इन्द्रिय का निग्रह करूँ, वह भी मेरी (चीज़ में नहीं है।)

इन्द्रिय कौन? जड़ तो पर है। भाव इन्द्रिय में जरा रुकता था, वह जहाँ पापपरिणाम हटकर छूटे, उतना अतीन्द्रिय आनन्द की ओर झुका है और विकल्प शुभ का है, वहाँ अशुभ पाप रुक गये हैं। समझ में आया? क्योंकि पाँचवें गुणस्थान में, चौथे में अभी तो अशुभ पहले घटाता है न? शुभ तो होता है। होता है न दया, दान, भक्ति का शुभभाव।

मुमुक्षु : एक साथ छूट जाये....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक साथ छूट जाये तब तो केवलज्ञान हो जाये।

मुमुक्षु : आप तो प्रतिज्ञा करते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह समझे बिना प्रतिज्ञा कैसी? यह प्रतिज्ञा चलती है कि प्रतिज्ञा करो कि पुण्य-पाप मेरी चीज़ नहीं है। प्रतिज्ञा करो कि पुण्य-पाप मेरी चीज़ में नहीं है। प्रतिज्ञा करो कि किसी परचीज़ का कर्तृत्व मेरी चीज़ में नहीं है। यह पहली प्रतिज्ञा सम्यग्दर्शन की है। प्रतिज्ञा दूसरा क्या है।

ज्ञानस्वभाव पर की एकत्वबुद्धि से हट जाये, इसका नाम प्रतिज्ञा की। मुझे अब मिथ्यात्व की प्रतिज्ञा है। मिथ्यात्व नहीं आवे। सम्यग्दर्शन, वह मेरी चीज़ है। मैं शुद्ध चैतन्य हूँ। मुझमें राग उत्पन्न हुआ, वह क्रिया भी मेरी नहीं। देह की क्रिया तो मुझमें है नहीं। ऐसी दृष्टि करना, वही यथार्थ प्रतिज्ञा कही जाती है। पहले मिथ्यात्व रुकता है, पश्चात् अव्रत अैर प्रमाद रुकते हैं। मिथ्यात्व रुके बिना अव्रत और प्रमाद कहाँ से

रुकेगा? इसलिए तो यह पहला शब्द लिया है। कोई ऐसा ले लेवे कि ठीक, तब इन्द्रिय का निरोध कर लो।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, (योग)।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। पहले मिथ्यात्व टले बिना अव्रत का त्याग हो गया? इन्द्रियनिग्रह हो गये? कहाँ से तुझे हो गयी? मानी है। द्रव्येन्द्रिय क्या, भावेन्द्रिय का भी मालिक है। खण्ड-खण्ड ज्ञान का मालिक है, पर्याय का मालिक है। द्रव्य का माालिक तो हुआ ही नहीं। समझ में आया? जिसका स्वामी है। स्वामीपना करे उसे रोके कैसे? उसे तो पुष्टि करता है। समझ में आया?

उड़द की दाल है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा न? पानी... पानी ऐसा। तलवार में पानी होता है पानी ऐसा। ऐसा कोई पानी होता है न किसी-किसी तालाब का या ऐसा कि वह पानी पीवे तो तीखी-तीखी तीखी धार, तीखी धार हो! तीखी तो स्वयं के कारण से होती है। तीखी क्या? यह तो दृष्टान्त है। तलवार होती है न वह? भरत चक्रवर्ती की। वज्र का स्तम्भ हो, उसे धर में तो वज्र का स्तम्भ है। हीरे का स्तम्भ। चक्रवर्ती है न? उसके घर में पत्थर और ईंटों के स्तम्भ नहीं होते। हीरा नीलमणि के पाट निकलते हैं तीन-तीन, चार-चार मण की अकेली नीलमणि की पाट इतनी एक रुपये भार की कीमत लाखों रुपये की। तीन-तीन मण, चार-चार मण की पाट निकले। पाट समझते हो? मोटी लम्बी। इतनी मोटी लम्बी। नीलम के स्तम्भ, नीलम की टाईल्स। चक्रवर्ती के घर में नीलम की टाईल्स होती है।

मुमुक्षु : सब यहीं रह जाता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सबका यहीं रह जाता है। परन्तु उसे तलवार लगे तो चीर डाले, ऐसी तलवार होती है। हीरा का स्तम्भ, हों! तलवार लगा देता है। जैसे ककड़ी... ककड़ी कहते हैं न, क्या कहते हैं तुम्हारे? जैसे ककड़ी को छुरी छेदती है, वैसे हीरे के स्तम्भ हों, अवरोधक हों और आवश्यकता पड़े तो चीर डालता है।

मुमुक्षु : वह जब..... तो बड़ा लाभ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को लाभ है नहीं। लाभ की कहाँ बात है? यह तो उसमें

टीका कितनी है, यह बताने के लिये दृष्टान्त है। लोग काट डाले, ऐसा कहते हैं। ....पड़े उसके सामने (तो काट डाले)। मर्दन-गर्दन काटना, उसमें क्या है? दुश्मन.... विरोध करे तो मार डाले। ....उसका आयुष्य इतना हो तो मरता है। यह तो निमित्त पड़ता है। भाव में जरा सा है। तो उस पाप का रोकना हो तो सम्यग्दृष्टि को पापास्त्रव रुकते हैं। बस इतनी बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : .....वहाँ तो मूल मार्ग है न, हेतु से कहा न? पाठ में कहा न? '**तन्निमित्त**' देखो न? '**संवरतन्निमित्तमिन्द्रियाणि**' ऐसा कहा न? यह हेतु। संवर के हेतु से और मोक्षमार्ग के हेतु से। भावआस्त्रव भावपापास्त्रव का रुकना हुआ। तथा कषायों के, अन्दर स्थिर होने के लिये। हाँ, कषायों के। अज्ञानी अकेले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कषाय को अपना मानता है, इन्द्रिय को अपनी मानता है, आदि। वह तो स्वामी है, मालिक है। मालिक है, उसे कैसे छोड़े? यह तो स्वामित्व छोड़कर मार्ग का ख्याल अन्दर दृष्टि का आया है।

उसे **इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओं का जितने अंश में अथवा जितने काल निग्रह किया जाता है,...** संवर है न, इसलिए निग्रह शब्द प्रयोग किया है। **उतने अंश में अथवा उतने काल पापास्त्रवद्वार बन्द होता है।** ज्ञानी को इतने परिणाम अशुभ नहीं। सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, शुभविकल्प है तो पुण्यास्त्रव आता है। इतना पापास्त्रव उतने काल रुक गया। कहो, समझ में आया?

समकिती भी युद्ध में होता है, भोग में होता है, व्यापार में होता है। जहाज के व्यापार में। जहाज का बड़ा व्यापारी होता है। अरबों... अरबों... तो जितना काल उस सम्बन्धी अशुभपरिणाम नहीं उसे, उस मार्ग के हेतु उसमें गया, उतना पापास्त्रव नहीं आता।

इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं—भावपापास्त्रव—को द्रव्यपापास्त्रव का हेतु (-निमित्त) पहले (१४०वीं गाथा में) कहा था;... लो! इन्द्रियाँ, कषायें और संज्ञायें पहले कही थी न? काल आया था। भावपापास्त्रव परिणाम द्रव्यपापास्त्रव का हेतु। नये द्रव्यपाप बँधते हैं, उसमें भावपापास्त्रव निमित्त है। **पहले (१४०वीं गाथा में) कहा था;**

यहाँ (इस गाथा में) उनका निरोध... देखो! तीव्र जो पाप कहा था, उसका निरोध।

(-इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं का निरोध)... भावपापसंवर, भावपाप रुकना। द्रव्यपापसंवर, द्रव्य पाप आनेवाले नहीं थे, उसे द्रव्यपाप का संवर हुआ, ऐसा कहने में आया। **अवधारना (-समझना)।** ऐसा कहते हैं। देखो! **अवधारणीयम्...** निर्णय करना। जितना अपने स्वभाव का मार्ग प्राप्त किया है, उसमें से जितने पाप घटे, (उसे) पापास्रव संवर कहने में आता है। ऐसा अवधारण करना।

मुमुक्षु : व्यवहार संवर?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह निश्चय से इतने तो रुक गये न? दृष्टि है या नहीं? पापास्रव रुक गये हैं। बराबर रुक गये हैं। निश्चय से रुक गये हैं। पुण्यास्रव है। वहाँ अशुभपरिणाम नहीं तो उतने रुक गये हैं या नहीं? २४ घण्टे कहीं ऐसे पाप में वे पड़ते नहीं हैं। अमुक विचार में हो, दो-चार घण्टे स्वाध्याय में हो। देवदर्शन में बैठे हों, भक्ति, स्तवन में हों, ज्ञानी। समझ में आया? इतना उसे वह पापपरिणाम निश्चय से रुकते हैं। है ही नहीं पापपरिणाम उत्पन्न हुए नहीं तो रजकण कहाँ से आवे? वे आनेवाले ही नहीं थे। होवे वह तो व्यवहार से कथन है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : पापावस्रव नहीं। वह तो विचार में है। अपने विचार की श्रेणी में है। कोई भक्ति-स्तुति में है, तब तो पाप के परिणाम तीव्र हैं ही नहीं। कषाय मन्द है। मन्द है। दृष्टि तो स्वभाव के ऊपर है। मन्द कषाय भी मैं नहीं। मेरी चीज़ तो वह है। मुझे तो करना-धरना है ही नहीं। स्वभाव में वीर्य की जागृति चलती है। उसमें जो तीव्र पापपरिणाम नहीं हुए, इतने पापास्रव रुकते हैं, ऐसा कहने में आया है। बस, इतनी बात! समझ में आया? १४१ (गाथा) हुई।

अब सामान्यरूप से संवर के स्वरूप का कथन। वह तो अकेले पाप का कहा था। अब पुण्यभाव, वह भी आस्रव-बन्ध का कारण है। वह भी ज्ञानी को दोनों रुक जाते हैं, तो ज्ञानी को संवर दोनों का है।

गाथा - १४२

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।। १४२ ।।

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु।
नास्रवति शुभमशुभं समसुखदु:खस्य भिक्षो:।।१४२ ।।

सामान्यसंवरस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यस्य रागरूपो द्वेषरूपो मोहरूपो वा समग्रपरद्रव्येषु न हि विद्यते भाव: तस्य निर्विकारचैतन्य-वात्समसुखदु:खस्य भिक्षो: शुभमशुभञ्च कर्म नास्रवति, किन्तु संव्रियत एव । तदत्र मोहरागद्वेष-परिणामनिरोधो भावसंवर: । तन्निमित्त: शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यसंवर इति ।। १४२ ।।

जिनको न रहता राग-द्वेष अर मोह सब परद्रव्य में।
आस्रव उन्हें होता नहीं, रहते सदा समभाव में।।१४२।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिसे [सर्वद्रव्येषु] सर्व द्रव्यों के प्रति [रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [वा] या [मोहः] मोह [न विद्यते] नहीं है, [समसुखदुःखस्य भिक्षोः] उस समसुखदुःख भिक्षु को (-सुख-दुःख के प्रति समभाववाले मुनि को) [शुभम् अशुभम्] शुभ और अशुभकर्म [न आस्रवित] आस्रवित नहीं होते।

टीका :— यह, सामान्यरूप से संवर के स्वरूप का कथन है।

जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति रागरूप, द्वेषरूप या मोहरूप भाव नहीं है, उस भिक्षु को—जो कि निर्विकार चैतन्यपने के कारण [१]समसुखदुःख है उसे—शुभ और अशुभकर्म का आस्त्रव नहीं होता, परन्तु संवर ही होता है। इसलिए यहाँ (ऐसा समझना कि) मोहरागद्वेष परिणाम का निरोध, सो भावसंवर है, और वह (मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध) जिसका निमित्त है, ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनवाले पुद्गलों

१. समसुखदुःख = जिसे सुख-दुःख समान हैं ऐसे; इष्टानिष्ट संयोगों में जिसे हर्षशोकादि विषम परिणाम नहीं होते ऐसे। [जिसे रागद्वेषमोह नहीं है, वह मुनि निर्विकारचैतन्यमय है अर्थात् उसका चैतन्य पर्याय में भी विकाररहित है, इसलिए वह समसुखदुःख है।]

के शुभाशुभकर्मपरिणाम का (-शुभाशुभकर्मरूप परिणाम का) निरोध, सो द्रव्यसंवर है ॥१४२॥

गाथा - १४२ पर प्रवचन

सब द्रव्य का आया। अब उसमें तो कितना काल कितने अशुभपरिणाम नहीं हुए। देखो, वहाँ भिक्षु को दिया।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स।।१४२।।

टीका :— यह, सामान्यरूप से संवर के स्वरूप का कथन है। सामान्य अर्थात् पाप को रोकना या पुण्य का आना, ऐसा कुछ नहीं, परन्तु दोनों का न आना। पुण्य-पाप के दोनों विकल्प हैं, दोनों का न आना। अकेले आत्मा की ओर का संवर, उसकी व्याख्या है।

जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति रागरूप,... देखो! भाषा कैसी ली है, कारण लिया है। परद्रव्य कारण लिया है। कि जितना परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य है—देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, दया आदि तो परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य है, उतने तो शुभपरिणाम आस्रव है। समझ में आया? अशुभ में तो स्त्री के भोग-विषय युद्ध, उसमें परद्रव्य से हटा था। यह तो सर्व परद्रव्यों के प्रति। स्वद्रव्य के आश्रय से संवर और परद्रव्य के आश्रय में जितना लक्ष्य, उतना आस्रव। यह सिद्ध करने के लिये सब लिया है। समझ में आया?

'सर्वद्रव्येषु' लेने का हेतु, भगवान आत्मा सर्व प्रशस्त या अप्रशस्त परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर अपने लक्ष्य में आत्मा लिया है, उसमें स्थिर हो जाये, वह सामान्य संवर है। उसे पुण्य और पाप दोनों आते नहीं। समझ में आया? अब यहाँ तो अभी सर्व परद्रव्यों में से रोके, उसे कहते हैं। वे कहे नव तत्त्व परद्रव्य है और परद्रव्य की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान की श्रद्धा है। अरे भगवान! कहाँ से कहाँ लाये? कहो! नौ तत्त्व परद्रव्य है, इसलिए उनकी श्रद्धा व्यवहार समकित है। स्वद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान तो तेरहवें में होते हैं, बारहवें में हो, वह निश्चय है। यहाँ तो कहते हैं कि पहले से

जितने परद्रव्य सामान्य सब, उनका लक्ष्य हटकर अपने एक द्रव्य में लक्ष्य-रुचि हो गयी, उसका नाम एक द्रव्याश्रय सम्यग्दर्शन है। समझ में आया?

और पश्चात् चारित्र में सब परद्रव्य। सम्यग्दर्शन हुआ था, तथापि जितना अप्रशस्त द्रव्य के ऊपर लक्ष्य था, स्त्री आदि और प्रशस्त द्रव्य पर भी लक्ष्य था। जितना पर के ऊपर लक्ष्य था, उतना पुण्य-पाप का आस्रव था। देवीलालजी! कहो! स्पष्ट है या नहीं यह? पंचास्तिकाय में सब परद्रव्य लिये। यह मोक्षमार्ग तो अब बतलाना है १५४ में।

पहले संवर तो उसे कहते हैं और वह संवर मोक्षमार्ग है। जितने परद्रव्य के लक्ष्य और आश्रय रहे, उतना आस्रव है। **जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति रागरूप, द्वेषरूप या मोहरूप भाव...** भाव नहीं। तीनों ले लिये। किसी परपदार्थ के प्रति रुचि का अभाव हो गया परन्तु परपदार्थ के प्रति आश्रय का भी अभाव हो गया। किसी के प्रति राग, द्वेष, मोह नहीं। **उस भिक्षु को....** मुनि को—**जो कि निर्विकार चैतन्यपने के कारण...** पर्याय कैसी उत्पन्न हुई है, निर्विकार चैतन्यपने के कारण। समझ में आया? नीचे लिखा है। देखो! समसुख-दुःख है, ऐसा लिखा है न? **जिसे सुख-दुःख समान हैं ऐसे; इष्टानिष्ट संयोगों में जिसे हर्षशोकादि विषम परिणाम नहीं होते ऐसे।** हर्ष-शोक के। सुख-दुःख का अर्थ संयोग है न अनुकूल-प्रतिकूल। उस ओर से समान है। ज्ञेयरूप हो गये हैं। अस्थिरता शुभ-अशुभ कोई नहीं।

जिसे रागद्वेषमोह नहीं है, वह मुनि निर्विकारचैतन्यमय है अर्थात् उसका चैतन्य पर्याय में भी विकाररहित है,... ऐसा बताना है न यहाँ? शुभविकल्प विकार है। परद्रव्य का लक्ष्य था देव-गुरु-शास्त्र आदि की भक्ति, उन सबसे छूटकर चैतन्यपर्याय में विकाररहित है। **इसलिए वह समसुखदुःख है।** अर्थात् संयोग अनुकूल-प्रतिकूल में अकेला ज्ञाता-दृष्टा होकर रहा है। समझ में आया?

उसे—शुभ और अशुभकर्म का आस्रव नहीं होता,... लो! वह शुभ और अशुभ परद्रव्य से सर्वथा हट गया है। स्वद्रव्य में दृष्टिपूर्वक सर्वथा लीन हो गया है। उसे शुभ-अशुभ आस्रव (होता नहीं है)। **परन्तु संवर ही होता है।** लो! उसे तो संवर होता है। वही मोक्ष का मार्ग है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८, गाथा-१४२
दिनांक - ०४-१०-१९६४, भाद्र कृष्ण १४, रविवार

पदार्थ का विस्तार है। सम्यग्दर्शन, उसका नौ पदार्थ विषय है। उन नौ पदार्थ क स्वरूप कैसा है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जैसा नौ पदार्थ का स्वरूप जाना, देखा, वैसा यहाँ कहा गया है। ऐसे नौ पदार्थ की वास्तविक यथार्थ स्वभाव-सन्मुख की श्रद्धा, उसे सम्यग्दर्शन प्रथम धर्म कहते हैं। प्रथम में प्रथम धर्म कहो या सुख कहो। उन नौ पदार्थ में अब संवर की व्याख्या आयी है। १४२ (गाथा)।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव इतने अधिकार चल गये। अब संवर का अधिकार चलता है। १४२ फिर से। **यह, सामान्यरूप से संवर के स्वरूप का कथन है।** १४२। सामान्य अर्थात् संक्षेपरूप से संवर अर्थात् आत्मा में पुण्य, पाप आदि जो परिणाम आते थे, होते थे, उनका रुक जाना। अपने आनन्द ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द का अवलम्बन लेकर परद्रव्य के ओर की रुचि छोड़कर अपना एक स्वभाव शुद्ध आनन्द ज्ञायक है। ऐसी रुचि करना, वह पहले सम्यग्दर्शनरूपी संवर है। समझ में आया?

संवर कहो, धर्म कहो, सुख कहो, शुद्धपरिणाम कहो, सब एकार्थ है। **यह, सामान्यरूप से (संक्षेप में) संवर के स्वरूप का कथन है।** अर्थात् धर्म के स्वरूप का कथन है। **जिसे...** जीव जीव को **समग्र परद्रव्यों के प्रति...** देखो! क्या कहते हैं यहाँ? वह अपना आत्मा है, वह ज्ञान, दर्शन आदि से भरपूर पदार्थ है। और उसकी जितनी परद्रव्य के प्रति प्रीति होती है और परद्रव्य के प्रति अप्रीति होती है, वह सब भाव आस्रव और विकारभाव है। उस परद्रव्य के ओर की रुचि छोड़कर समग्र आत्मा के अतिरिक्त अनन्त पदार्थ अपने अतिरिक्त अनन्त स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र आदि सब परपदार्थ है। यहाँ मोक्ष की बात नहीं है। यहाँ परद्रव्य की बात है। मोक्ष की यहाँ रुचि, वह तो स्वभाव की रुचि है। समझ में आया? उसकी यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो स्वद्रव्य का अवलम्बन करके परद्रव्य का अवलम्बन छूटना, उसका नाम संवर और धर्म है। ओहोहो! कहो बल्लभदासभाई! गजब व्याख्या यह! भगवान

सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव जिन्हें एक समय में तीन काल, तीन लोक अपनी पर्याय की पवित्रता में जानने में आये। उन भगवान की वाणी इच्छा बिना निकली, उस वाणी को शास्त्र कहने में आया। उन शास्त्रों में से यह पंचास्तिकाय नाम का एक शास्त्र है। आत्मा को सुख कैसे होता है... सुख कहो, धर्म कहो, संवर कहो, शुद्धदशा कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्ग की दशा कहो, सब एक अर्थ में है। अभ्यासु को, इस संसार के सुख की बात नहीं है।

अपने आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। तो सर्वज्ञ को पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हुआ और परमात्मा को अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य प्रगट हुए, ऐसे अन्तर आत्मा में से जो प्रगट हुआ, वह अन्दर में था, ऐसा स्वद्रव्य स्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि, अनुभव दृष्टि करे, उतनी परद्रव्य के प्रति की उसे रुचि छूट गयी। समझ में आया? सर्व परद्रव्य के प्रति की रुचि छूट गयी। देव-गुरु-शास्त्र की रुचि, वह भी एक राग है। समझ में आया?

एक भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में वस्तु... वस्तु अनन्त गुण का धाम प्रभु! अपना निज स्वभाव, उसका अवलम्बन लेकर **जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति रागरूप, द्वेषरूप या मोहरूप भाव नहीं है,...** पूर्ण संवर की बात की है न? तो पहले मोह से बात करते हैं। सभी परद्रव्य अपने अतिरिक्त अनन्त परपदार्थ, उसमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि छोड़कर अपना ज्ञायकस्वभाव चिदानन्द प्रभु की अन्तर में रुचि-दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान का परिणमन होना, इसका नाम प्रथम में प्रथम संवर है। प्रथम धर्म है, प्रथम आनन्ददशा का अनुभव है। उसे प्रथम शुद्धदशा की पर्याय कहते हैं। ओहोहो!

मुमुक्षु : चौथे गुणस्थान की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे गुणस्थान की बात चलती है। बल्लभदासभाई! ऐसा चौथा गुणस्थान! जैन में तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा मानी भगवान सच्चे। जाओ हो गया समकित। प्रभु! ऐसा नहीं है, भाई! तुझे खबर नहीं। समझ में आया? समझाये छे अर्थात् समझ में आता है? तुम्हारी हिन्दी भाषा में। भगवान आत्मा (अर्थात्) एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में पूर्णानन्द प्रभु, 'सर्व इदं' मैं सर्वज्ञस्वभाव सम्पन्न हूँ।

ऐसे समस्त परपदार्थ से रुचि, सावधानी अभिप्राय पर से छोड़कर अपना ज्ञायकभाव पूर्णानन्द की ओर का झुकाव होकर सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय संवर प्रगट हुई, उसका नाम संवर, धर्म और सुखरूप दशा कहते हैं। आहाहा! जैनदर्शन में तो ऐसे नाम भी कहीं सुनने में नहीं आते। ऐसा करो—भक्ति करो, पूजा करो, व्रत करो और अपवास करो। आहाहा! अरे भगवान! परन्तु तू कौन है? कहाँ से हटना है और कहाँ जाना है? कहाँ से हटना, वह चीज़ क्या है और जिसमें जाना है, वह चीज़ कैसी और किस प्रकार है। जयन्तीभाई!

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ देवाधिदेव फरमाते हैं कि अरे, आत्मा! संवर किसे कहते हैं कि **जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति...** पहले अपने मोहरूप भाव नहीं, ऐसा लगाते थे। सुनो! **जिसे समग्र परद्रव्यों के प्रति...** राग-द्वेष बाद में लेंगे। मोहरूप भाव नहीं। समग्र परद्रव्यों के प्रति यह ठीक, यह अठीक—ऐसी रुचि नहीं। अपने ज्ञायकस्वभाव पूर्णानन्द के प्रति जिसकी दृष्टि हुई, उसे अपने द्रव्य के अतिरिक्त समस्त परद्रव्य ज्ञेयरूप हो गये है। समझ में आया? परद्रव्य यह ठीक है, यह अठीक है—ऐसा सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में नहीं रहता। जो भिन्न पदार्थ है, उन्हें मेरे साथ कुछ सम्बन्ध है ही नहीं। मेरा द्रव्य एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में सच्चिदानन्द जैसा परमात्मा का सिद्धस्वभाव है, वह प्रगट है। ऐसा मुझमें स्वभाव शक्ति सत्वरूप पड़ा है पूर्ण प्रभु। ऐसी अपने द्रव्य पर दृष्टि लगाकर सर्व परद्रव्य के प्रति प्रीति, रुचि, मिथ्यात्व की छूट जाना, यह उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन संवर कहा जाता है। तब से धर्म की शुरुआत होती है। कहो, समझ में आया? यहाँ तो लाखों लोग धर्म-धर्म तो बहुत करते हैं। भाद्र महीना, यह श्रावण गया। आठ-आठ अपवास, कितने ही दस-दस। अरे भगवान! यह उपवास किसे कहते हैं, यह तो आहार-पानी नहीं आया, वह तो जड़ की-अजीव की दशा हुई। तुझमें कदाचित् आहार न करूँ, ऐसा भाव हुआ हो तो भी शुभराग का विकल्प, राग का विकल्प पुण्य हुआ है; धर्म नहीं। आहाहा! धर्मचन्दजी! यह धर्म नहीं। यह धर्मचन्द नहीं।

मुमुक्षु : करमचन्द है। कुछ मददगार तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। क्या मददगार है? राग मददगार है, अपनी सम्यग्दृष्टि, अरागी दृष्टि को राग मददगार है? उसमें थे न पहले! गले तक घुस गये थे पहले। अब और थोड़ा-थोड़ा बैठता है। समझ में आया?

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने इन्द्र की उपस्थिति में, गणधर की उपस्थिति में, नरेन्द्र की उपस्थिति में समवसरण में फरमाया। अभी भी परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर प्रभु त्रिलोकनाथ की वाणी द्वारा ऐसी धर्म प्ररूपणा होती है। समझ में आया? तो कहते हैं कि भाई! आहाहा! देखो! यह सर्व द्रव्य आये न ऊपर जरा हमारे अधिक? समझ में आया? एक भगवान अपना स्वद्रव्य। बस, अपने स्वद्रव्य पर अन्तर झुकाव होने से, अपने अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, शत्रुंजय और सम्मेदशिखर सब परद्रव्य है। समझ में आया?

अपने एक ओर राम और एक और गाँव। एक और अपना निजात्मस्वभाव भगवान राम-आतमराम, जिसमें अनन्त शान्ति, ज्ञान, आनन्द भरपूर है। ऐसे निज आत्मा पर, स्वद्रव्य पर दृष्टि करने से अपने अतिरिक्त अनन्त परद्रव्य त्रिलोकनाथ का समवसरण में भगवान की वाणी, वह भी परद्रव्य है। उस पर जितना लक्ष्य रहता है, उतना विकल्प और आस्रव होता है। उससे लाभ मानता है, तो वह मिथ्यात्वभाव होता है। ओहोहो! समझ में आया?

ऐसा तो अब जैनदर्शन में सुना नहीं था। ऐ, बल्लभदासभाई! भाई! हमने तो कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि भोजन नहीं करना, सामायिक-प्रौषध करना, भाई ऐसा हमने सुना और यह फिर कहाँ से नया (निकाला)।

मुमुक्षु : प्रशस्त राग है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रशस्त राग है तो शुभ आस्रव है। वह संवर नहीं, धर्म नहीं। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का प्रेम, वह प्रशस्त शुभराग है। परजीव को न मारना, वह भाव शुभराग है। भगवान की पूजा, शत्रुंजय, सम्मेदशिखर, गिरनार, पूजा का, भक्ति का, यात्रा का भाव शुभराग है। वह आस्रव है, संवर नहीं; इसलिए तो यहाँ परद्रव्य लिया है। समझ में आया?

समग्र परद्रव्यों... है पाठ ? टीका देखो ! यह महा सिद्धान्त है। वीतराग परमात्मा के घर के नहीं। उन्होंने बनाये नहीं। हैं, वैसा जाना है, है वैसा कहा है। किसी द्रव्य की किसी दशा के भगवान कर्ता-फर्ता नहीं हैं। समझ में आया ? भगवान तो सर्वज्ञ परमात्मा पूर्ण एक समय में तीन काल, तीन लोक का ज्ञान हुआ। जैसा है, वैसा हुआ, वैसा कहा, ऐसा है। कहो, फूलचन्दजी !

मुमुक्षु : क्लीयर बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो क्लीयर है। बाकी दुनिया ने गड़बड़ कर दी है। आहाहा ! देखो ! शब्द है ? **जिसे...** अर्थात् जिसे अर्थात् ध्रुव आत्मा को **समग्र परद्रव्यों के प्रति...** अपने द्रव्यस्वभाव सिद्ध (रूप) की दृष्टि हुई तो सभी अनन्त पदार्थ के प्रति मोहरूप भाव नहीं। पहले मिथ्यात्व के भाव का नाश किया। यहाँ तो समग्र संवर की बात है न ? पश्चात् राग और द्वेषरूप। मोह का नाश हुआ, पश्चात् भी जितने देव, गुरु, शास्त्र के प्रति, दया के प्रति जितना राग होता था लक्ष्य, वह राग था, शुभराग। वह भी छूटकर स्वभाव सन्मुख स्थिरता हुई, तब दृष्टिपूर्वक वीतरागदशा हुई, उसका नाम सामान्य संक्षेप में संवर, धर्म, सुखरूप दशा, स्वतन्त्र शुद्धदशा भगवान उसे धर्म कहते हैं। कहो, यह कोई गुप्त-बुप्त बात नहीं है। यहाँ तो ढिंढ़ोरा पीटकर बात बाहर निकलती है। अमुलखदासभाई ! है ही ऐसा है। ऐसा इसे निर्णय किये बिना धर्म हो, (ऐसा) तीन काल में (होता) नहीं। समझ में आया ?

यहाँ तो सामान्य ले लिया न ? मोह, मिथ्यात्व और राग-द्वेष सब। पहले तो मिथ्यात्व का नाश होता है। परद्रव्य से बिल्कुल मुझे लाभ होता है, यह दृष्टि छूट जाती है। परद्रव्य देव, गुरु, शास्त्र हो या परवस्तु। उससे लाभ (माने), तब तो दृष्टि पर के ऊपर चली गयी। वह रुचि छूटकर पहले स्वद्रव्य में मुझे लाभ है। अनन्त आनन्द का कन्द मैं पूर्णानन्द प्रभु हूँ। मेरा सिद्ध स्वभाव मुझमें पड़ा है, उसे दृष्टि और स्थिरता करके एनलार्ज करके पर्याय में लाना है। पर्याय में-अवस्था में परमात्मपद लाना है, अन्दर में पड़ा है वह (लाना है)। बाहर कहीं नहीं पड़ा। (जिनेन्द्र) भगवान के पास अपना परमात्मा नहीं है। कहो, समझ में आया ? भगवानभाई ! यह भगवान में भगवानभाई याद आये और। भगवान परन्तु खोजबीन कहाँ करे भगवान ऐसा ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जाने, ऐसा समझता है, तब तक भी विकल्प है। समझने में जितना लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, उतना विकल्प शुभास्रव है। संवर नहीं। यह तो यथार्थ बात की बात है या नहीं? यह समझे। कक्षा में समझे। ठीक आया, कहते हैं। श्रावण महीने में कक्षा चलती है तो तुम्हारे जैसे प्रौढ़ बहुत ही आते हैं। प्रौढ़। परन्तु कक्षा में समझना क्या? कक्षा में समझने में क्या लेना? कि अपना भगवान, अपना स्वरूप मैं पूर्ण शान्त-आनन्द का धाम। समझ में आया? जिसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द की किरण फूटती है, ऐसा धाम मेरा स्वभाव शुद्ध, ऐसी अन्तर्दृष्टि लगाकर पर अनन्त पदार्थ के प्रति लाभ-अलाभ की रुचि छूट जाना, यह उसका नाम सम्यग्दर्शन संवर कहा जाता है। परन्तु अभी सम्यग्दर्शन होने के बाद भी अभी शुभराग देव, गुरु, शास्त्र के प्रति आता है, रुचि नहीं है कि उनसे लाभ है, परन्तु शुभराग आता है। दया, दान का भाव आता है। और कोई प्रतिकूल हो तो उसके प्रति द्वेष (होता है) अपनी अस्थिरता के कारण, उस चीज़ के कारण नहीं। अपनी कमजोरी के कारण; प्रतिकूलता के कारण द्वेष नहीं, अनुकूलता के कारण राग नहीं। क्योंकि रुचि बदल गयी है।

इतना अपना दव्यस्वभाव ज्ञायकमूर्ति है, उसके अतिरिक्त अनन्त परद्रव्य, उनसे लाभ (होता है, वह) लाभ, उनसे नुकसान (होता है, वह) नुकसान, ऐसी दृष्टि पहले छूट गयी। लाभ तो मेरे चैतन्यद्रव्य स्वभाव की अन्तर अनुभव दृष्टि से लाभ है। परद्रव्य से मुझे कुछ लाभ है नहीं, वैसी दृष्टि प्रथम हो, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन-संवर कहा जाता है और फिर अभी कमजोरी से अनन्त परद्रव्य के कारण नहीं, परन्तु अपनी कमजोरी से अनुकूल के प्रति राग, अनुकूलता के कारण नहीं। प्रतिकूलता के कारण द्वेष नहीं परन्तु अपनी कमजोरी से राग-द्वेष की जो आसक्ति थी, वह स्वभाव की स्थिरता होकर उस राग-द्वेष से छूट जाना, इसका नाम चारित्ररूपी संवर है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो ऐसी है। वीतरागमार्ग परमात्मा का मार्ग इन्द्र जिसे मानते हैं, भगवान फरमाते हैं, गणधर जिसे स्वीकार करते हैं। महाविदेहक्षेत्र में मौजूद

है। समझ में आया? यह कोई साधारण मनुष्य का धर्म कल्पना करके मान ले, ऐसी चीज़ नहीं है। माँगीरामजी! ओहोहो! जिसे समग्र परद्रव्य के प्रति रागरूप अर्थात् आसक्तिरूप, द्वेषरूप अरुचिरूप, वह भी चारित्रदोष है और मोहरूप मिथ्यात्वदोष है। पर से लाभ नुकसान माननेवाले। यह दृष्टि छूट गयी और अपने द्रव्य सन्मुख दृष्टि हुई और फिर परद्रव्य के कारण नहीं परन्तु अपनी कमजोरी से राग-द्वेष का आस्रव था, वह अपने स्वभाव के आश्रय से उसे रुक गया, वह इसका नाम भगवान भावसंवर कहते हैं।

भजन में ऐसा मानो, क्या मानो मेरु उठाना हो ऐसा लगे, कभी सुना नहीं। छह काय की दया पालना, भगवान की भक्ति करना, अपवास करना और बहुत पूजा करना, सिद्धचक्र लगा देना और ऐसे करना और वैसे करना। परन्तु कौन करे, सुन तो सही! वह तो परद्रव्य है। तीन काल, तीन लोक में परद्रव्य की पर्याय कौन कर सकता है? ईश्वर कर्ता मानो जगत का तो उसका निषेध करे। नहीं, (ईश्वर) कर्ता नहीं। और सामने (वाला) जगत का कर्ता! दृष्टि, हाथ चलाता है, बोलता है, वह हमसे होता है। एक की एक दृष्टि हुई कर्ता जैसी एक वर्ग का मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? हम जैन हैं, हम ईश्वर को नहीं मानते। बहुत अच्छा! चैतन्य ईश्वर को नहीं मानो। जड़ को मानो न? इस शरीर की क्रिया हम कर सकते हैं तो तुम ईश्वर हुए, जड़ के। समझ में आया?

कर्म से हमारे में विकार होता है। तो कर्म तुम्हारा ईश्वर हुआ। ऐसा है ही नहीं। परद्रव्य से अपने में विकार हो या परद्रव्य अपने को नुकसान, लाभ करे, ऐसी परद्रव्य में ताकत नहीं और अपने में ताकत नहीं। परद्रव्य से मान ले, ऐसी मान्यता सच्ची है ही नहीं। झूठी दृष्टि है। समझ में आया? सब परद्रव्य अपने से भिन्न कर्म हो, देव, गुरु या शास्त्र हो, सम्मेदशिखर या गिरनार, शत्रुंजय हो, सब परद्रव्य है। अपने द्रव्य-वस्तु से वे सब परद्रव्य है। उससे लाभ-अलाभ मानने की दृष्टि छोड़कर अपने द्रव्य से लाभ होगा, ऐसी दृष्टि उसमें जम जाये, उसका नाम सम्यग्दर्शन धर्म पहले में पहली धर्म की शुरुआत वहाँ से होती है। पश्चात् राग-द्वेष का त्याग। सम्यग्दृष्टि होने पर भी अभी आसक्ति का राग-द्वेष होता है। पश्चात् स्वरूप में स्थिरता करके राग-द्वेष की उत्पत्ति न होना, शान्ति और संवर आत्मा के आनन्द की उत्पत्ति होना, इसका नाम चारित्ररूप संवर

है। पहले सम्यग्दर्शनरूपी संवर कहा। पश्चात् चारित्ररूप संवर होता है। चारित्ररूप संवर सम्यग्दर्शन के संवर बिना नहीं होता। समझ में आया?

उस भिक्षु को.... अब यहाँ सच्चे और पूर्ण संवर की बात ली है न? पूर्ण संवर। अर्थात् मोह और राग-द्वेष तीनों जिसे छूट गये, अपने स्वभाव-सन्मुख एकदम उग्र स्थिरता हुई, ऐसे साधु को। अथवा साधु की मुख्यता से बात ली है। समझ में आया?

कि जो निर्विकारचैतन्यपने के कारण, ऐसी अन्तर परिणति निर्मल। सर्व अनन्त परपदार्थ की रुचि छूट गयी, स्वद्रव्य की दृष्टि-रुचि हुई। सर्व परपदार्थ के प्रति निमित्त के प्रसंग में अपनी कमजोरी से राग-द्वेष की आस्रव वृत्ति उठती थी, वह स्वभाव की स्थिरता द्वारा जिसने निर्विकार चैतन्य पर्याय परिणति प्रगट की है। वह तो एक घण्टे सुने तो खबर पड़े लो! कन्दमूल नहीं खाना, आलू नहीं खाना। शकरकन्द में अनन्त जीव है। भगवान ने अनन्त जीव कहे हैं। बात सच्ची है, कौन ना करता है। परन्तु खा कौन सकता है? सुन तो सही! खाने का भाव करना, वह पाप है। समझ में आया?

यह तो किसी ने सुना नहीं और खबर भी नहीं। वह तो सब परपदार्थ है। यहाँ समग्र परद्रव्य लिये। तो क्या आत्मा परद्रव्य खा सकता है? परद्रव्य छोड़ सकता है? परद्रव्य क्या आत्मा में घुस गया है? भगवान आत्मा भिन्न है, परद्रव्य भिन्न है। धरमचन्दजी!

मुमुक्षु : शरीर को स्वस्थ रखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वस्थ ब्वस्थ। स्वस्थ किसे कहना?

मुमुक्षु : स्वस्थ शरीर में आत्मा रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : माननेवाले की बिल्कुल मूढ़ दशा है। वह परद्रव्य है। रोग हो, स्वस्थ हो, उससे आत्मा को कोई लाभ-अलाभ है ही नहीं। ऐई! देवानुप्रिया! जैचन्दभाई के भाई! चिल्लाहट मचाते हैं। शरीर में जरा ऐसे हो वहाँ (चिल्लाहट मचाते हैं)। लक्ष्य करके दुःखी होते हैं। यह लोग मूढ़ हैं, ऐसा मानते हैं कि शरीर स्वस्थ हो तो मन स्वस्थ रहे, परिणाम स्वस्थ हो, मूढ़ है। शरीर स्वस्थ मछलियाँ पानी में बहुत स्वस्थ रहती हैं। उन्हें तो लेप भी नहीं लगता।

अज्ञानियों ने ऐसी मिथ्यात्व की गन्दगी चलायी है (कि) शरीर स्वस्थ रहे तो मन स्फूर्ति रहे। स्फूर्ति रहे! तुझे राग रहे, सुन न अब? साला मूढ! शरीर तो मिट्टी है, धूल है, चमड़ी, हड्डियाँ हैं। अजीव तत्त्व तुझे स्पर्शा भी नहीं। तू भी उसे कभी स्पर्शा नहीं। स्पर्शा ही नहीं। छूते नहीं, समझे? हमारी काठियावाड़ की भाषा में अड़ता भी नहीं (ऐसा कहते हैं)। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता भी नहीं कभी। हाँ, परन्तु ऐसा कहते हैं हो अमरचन्दभाई! यदि शरीर ऐसा हो तो....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसा नहीं। यह तो स्वस्थ शरीर की बात है। शरीर नहाया-बहाया तो स्फूर्ति रहे, मन स्फूर्ति रहे, मूढ़ है। तुझे राग की स्फूर्ति है। उसमें अशुभराग हुआ। ऐई! देवीलालजी! दुनिया से सब बात अलग है। वीतराग त्रिलोकनाथ की बात, दुनिया से अलग हो - कुम्हार भी ऐसा कहते हैं कि जीव को नहीं मारना। यह भी भगवान बात करे? सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ। भाई! परद्रव्य शरीर आया। शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ (हो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। और शरीर में ग्लानि हो, रोग हो, विष्टा निकले तो आत्मा क्या धर्म कर सकता है? मूढ़ है।

सातवें नर्क का नारकी रवरव पाँच पासडा है। यह है न नीचे? उसमें सातवें नरक में पाँच पासडा है। एक पासडा में तैंतीस सागर की स्थिति है। रवरव अपरिठाणा, एक समय में शरीर में सोलह रोग, सोलह रोग। श्वास, खाँसी, कफ, ऐसे चारों ओर ज्वर सोलह रोग। कहाँ स्वस्थ शरीर है। कोई क्षण में अस्वस्थ शरीर का लक्ष्य उसे हो तो, ओहो! यह चीज़ है? मैं यह नहीं। मैंने मनुष्यपने में सुना था कि तेरा आत्मा आनन्द पवित्र है। मैंने प्रयोग नहीं किया। मैंने सुना था परन्तु मैं जागृत हुआ नहीं। ऐसी शरीर की अस्वच्छता अकेली विष्टा में पड़ा था शरीर। ऐसे अन्दर गुलांट खाता है। मैं आत्मा आनन्दकन्द हूँ। ऐसा अपरिठाणे नारकी अनन्त काल में सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हुआ, वह प्रगट कर सके। समझ में आया? अमरचन्दभाई! क्या शरीर बाधक है?

मुमुक्षु : सौ टके की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सौ टके की बात है।

मुमुक्षु : बीच का मार्ग थोड़ा....

पूज्य गुरुदेवश्री : बीच का मार्ग है न यह। बीच का यह कि पहली दृष्टि करना, पहले राग-द्वेष नहीं छूटते। यह बीच का मार्ग है। पहले राग-द्वेष आसक्ति नहीं छूटती। परन्तु पहली सम्यग्दृष्टि कर सकता है। यह बीच का मार्ग। और सम्यग्दर्शन होने के बाद वीतरागता हो जाना, वह उत्कृष्ट मार्ग है।

यह पहला मार्ग है। सातवें नरक में अपरिठाणे कितना दुःख है वहाँ? गुलांट खा जाता है अन्दर, विष्टा हो। ओहोहो! और नौवें ग्रैवेयक में इतने साधन हैं तो मिथ्यादृष्टि वहाँ भी रहता है।

और भगवान के समवसरण में मनुष्य जाता है। भगवान के समवसरण में। वहाँ भी मिथ्यादृष्टि रहता है। समवसरण क्या करे? राज का.. कुँवर महान। अपनी अन्तर शुद्ध वस्तु क्या है? पर के साथ मुझे कोई सम्बन्ध भी है नहीं। मैं भिन्न, तू भिन्न। ऐसा अन्तर में परद्रव्य की अनुकूलता, प्रतिकूलता के कारण मुझे लाभ, नुकसान हो, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि मूढ़ की है। उसे जैन कहते नहीं।

जैन कोई वाड़ा नहीं है, सम्प्रदाय नहीं है। जैन वस्तु का स्वरूप है। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं कि हमारे ऐसा धर्म और तेरा ऐसा धर्म। जैन अर्थात् आत्मा का स्वभाव पूर्ण वीतराग ज्ञानानन्द पड़ा है। वह अज्ञान और राग-द्वेष को स्वभाव के आश्रय से जीतना, उसका नाम जैन कहा जाता है। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया? सुना नहीं जैन क्या है? जैन की उपाधि लगा दी। हम जैन हैं, हम जैन हैं। जैन किसे कहते हैं। समझ में आया?

समग्र शरीर अस्वस्थ हो तो उसके घर में रहा। अरे! मन भी थोड़ा अस्वस्थ हो जाये, अस्थिर थोड़े रजकण ऐसे हो जायें, तो वह भी उसके घर में रहा। मेरी चीज़ अखण्ड ज्ञायकमूर्ति। स्वद्रव्य का आश्रय किया (तो) परद्रव्य से इष्ट-अनिष्ट की रुचि छूट गयी। इसका नाम पहले में पहला शुरुआत का सम्यग्दर्शन संवर धर्म है। पश्चात् ज्ञानी को भी राग-द्वेष उत्पन्न होता है। विषय का, भोग का, युद्ध का, व्यापार का ज्ञानी को भी राग होता है। और प्रतिकूल चीज़ के प्रसंग में प्रतिकूल चीज़ के कारण से नहीं

परन्तु स्वयं के कारण से वहाँ द्वेष समकिती को भी होता है। जितने राग-द्वेष रहें, उतना आस्रव है। पश्चात् स्वभाव में स्थिरता करके पुण्य-पाप का आस्रव छूट जाये, वह वीतरागी संवर है। समझ में आया?

मार्ग ही पकड़ा नहीं। उल्टे चले, जाना हो भावनगर और ढसा जाये। भावनगर जाना हो, भावनग। यहाँ ढसा। जा पड़े ऐसे जाये। अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द एक। उस ओर जाना है तो कहे बाहर से यह करो, उससे उसमें जाओगे। ऐसा करो वहाँ विकल्प-राग करो तो अन्दर में जाओगे। धूल में भी नहीं जायेगा। समझ में आया? राग करो, फिर सम्यग्दर्शन होगा। पहले प्रशस्त राग करो। राग से अभी... सम्यग्दर्शन तो अरागी दृष्टि है, वीतरागी दृष्टि है। राग कारण और वीतरागी दृष्टि कार्य (ऐसा) मूढ़ मानता है। भगवान की आज्ञा नहीं समझनेवाले ऐसा मानते हैं।

मुमुक्षु : एकदम छूटता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि एकदम छूटती है। राग-द्वेष फिर क्रम से छूटते हैं। चारित्र में क्रम पड़ता है, श्रद्धा में नहीं। श्रद्धा में एक साथ किसी भी द्रव्य से मुझे लाभ नुकसान नहीं है। मेरे द्रव्य से लाभ एक समय में, एक क्षण में। पश्चात् राग-द्वेष घटना। राग-द्वेष घटना, वह चारित्र है। वह क्रम-क्रम से (होता है)। समझ में आया? राग-द्वेष तो ज्ञानी को रहते हैं। पूर्ण वीतराग कहाँ हो गये हैं। दृष्टि एक साथ। एक साथ धड़ाका।

यह आत्मा पुण्य-पाप का विकल्प उठे, वह आस्रव, परद्रव्य मुझसे भिन्न। मेरी चीज़ राग और आस्रव और पर से भिन्न। वह तो एक दृष्टि में कोई क्रम है ही नहीं। समझ में आया। दृष्टि या तो सम्यक् और या दृष्टि मिथ्यात्व। पश्चात् राग-द्वेष तो ज्ञानी को भी रहते हैं। रहे, वह अलग बात है। परन्तु राग का प्रेम नहीं। राग से लाभ नहीं। ज्ञानी को दया, दान का भाव भी आता है। परन्तु उसे पुण्यास्रव समझता है। हिंसा, भोग का भाव आता है, उसे पाप समझता है। अपना स्वभाव विकार से भिन्न अधिक दृष्टि में रखा है। अपना रक्षण अधिक रखा है। भिन्न होता है तो है। इतना पाप, इतना आस्रव। अभी तो सम्यग्दर्शन हुआ। तीर्थंकर तो सम्यग्दर्शन लेकर आते हैं तीर्थंकर तो। क्षायिक समकिती तो तीन ज्ञान लेकर माता के उदर में आते हैं। छियानवें हजार (रानियाँ) के

साथ विवाह करता है। विवाह। सम्यग्दृष्टि (चक्रवर्ती) छियानवें हजार के साथ विवाह करता है। धरमचन्दजी! सुना है या नहीं? शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ। उसमें क्या है? वह तो राग है तो चारित्रदोष है।

मुमुक्षु : संसार का स्वरूप....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, संसार स्वरूप राग है, दोष है।

मुमुक्षु : विवाह करने का राग!

पूज्य गुरुदेवश्री : विवाह राग है। सम्यग्दर्शन तो अनुभव हुआ। परन्तु वह अस्थिरता (का दोष) चारित्रदोष का राग आया। चारित्रदोष दूसरा, दर्शनदोष दूसरा। दोनों की खबर नहीं। खबर नहीं, कुछ खबर नहीं। सुना नहीं। जैनदर्शन वस्तु क्या है, सुना ही नहीं। विवाह किया....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तुमने दरकार की नहीं। सेठ! नहीं, शोभालालभाई! तुमने दरकार की तो क्यों सत्य नहीं मिला? सत् के शोधनेवाले को सत् न मिले, ऐसा नहीं होता। कहो, समझ में आया?

पहले विवाह क्यों करते हैं? कि राग आता है। समझते हैं कि मेरी कमजोरी है। सम्यग्दर्शन निर्मल है। क्षायिक सम्यक्त्व होता है। छियानवें हजार के साथ विवाह करते हैं। लग्न करते हैं क्या? उसमें सुख मानते हैं? बिल्कुल नहीं। वह बात पूरी यह तो अलौकिक बात है। राग आता है, विवाह करते हैं। भरत चक्रवर्ती दूल्हा। हमेशा का दूल्हा। तीन सौ-तीन सौ रानी-कन्या से विवाह करे हमेशा।

यह देह की क्रिया मैं नहीं कर सकता। मुझसे होती नहीं और राग आया है, वह मुझे आनन्ददायक नहीं, दु:खदायक है। ऐसा अन्तर में विवेक-सम्यग्दर्शन में अन्तर में विवेक कायम रहता है, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन हुआ और तुरन्त ही राग-द्वेष चले जायें, तब तो केवलज्ञान हो जाये। तुरन्त ही सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान हो गया। बीच में गुणस्थान रहे नहीं। चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ।

मुमुक्षु : महाराज! इस बात को जरा विस्तार से.....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहा न? कि विवाह करना, वह राग है। चारित्र का-अस्थिरता का दोष है।

मुमुक्षु : संसार बढ़ाने की बात है न.....

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़ता नहीं परन्तु तुम्हें अभी खबर नहीं। बढ़ता नहीं परन्तु घटता है। बात सुनने में.... यह तो अलौकिक बात है। बढ़े क्या? विवाह किया ही नहीं। हम तो तुम्हें बताते हैं कि स्त्री का संग है, परन्तु अन्दर में संग है ही नहीं। देरियाजी! यह तो तुम्हारे जैसी भाषा करके कहा। अन्दर में तो क्रम-क्रम से अपने स्वभाव सन्मुख (से) राग घटता जाता है। परन्तु बीच में ऐसा राग (आता है)। एक क्षण में राग-द्वेष छूट जाये तब तो केवलज्ञान हो जाये। फिर गुणस्थान रहे नहीं। चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ। श्रावक का, मुनि का गुणस्थान भेद भी नहीं रहे।

मुमुक्षु : संयोग तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर संयोग का भाग इतना पड़ा है, संयोग भाव के प्रति प्रीति, रुचि छूट गयी है। प्रीति, रुचि छूट गयी है कि पुण्यपरिणाम और पाप में मजा है, सुख है। ऐसी दृष्टि गयी। दृष्टि हुई आनन्द में। परन्तु आसक्ति छूट जाये, तब तो केवलज्ञान हो जाये। वह आसक्ति का दोष है। दर्शन का दोष नहीं। सम्यग्दर्शन में किंचित् (जरा भी) कमी नहीं है। छियानवें हजार स्त्रियों के प्रसंग में भी क्षायिक समकित में किंचित् कमी नहीं है। तीन ज्ञान और क्षायिक समकित है।

और अज्ञानी स्त्री का त्याग करे और बालब्रह्मचारी हो मिथ्यादृष्टि। मैंने देह की क्रिया नहीं की। मैंने इतना त्याग किया। ऐसा पर का अभिमान मिथ्यात्व का पड़ा है। वह मिथ्यादृष्टि महान संसारी है। आहाहा! यह तो कुछ बात! अमरचन्दभाई! मिथ्यात्व का पाप कितना और सम्यक् में धर्म कितना, इसकी कीमत ही नहीं है। विपरीत मान्यता में कसाईखाना सात व्यसन के पाप से अनन्तगुणा पाप है। जो पुण्यपरिणाम होता है, विकल्प, उसमें लाभ मानने की दृष्टि महा मिथ्यात्व है। और पाप के परिणाम होने पर भी लाभबुद्धि नहीं, द्रव्य में लाभबुद्धि है, ज्ञानी को अल्प पाप लगता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मर्यादित रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मर्यादित संसार हो गया। अल्प रह गया। अल्प-एक बड़े समुद्र में से एक बूँद रह गया। उस समुद्र में से भाग छियानवें हजार स्त्रियों के साथ विवाह समुद्र में से एक बिन्दु का राग रह गया। अनन्त राग अनन्तानुबन्धी का छूट गया। और अज्ञानी बालब्रह्मचारी पूरी जिन्दगी स्त्री का त्याग करे और परिग्रह भी कम चले। वह परद्रव्य मेरे त्याग-ग्रहण में है तो मैं त्यागी हो गया। और मुझे जरा त्याग का राग आया, वह तो मुझे धर्म हुआ, वह तो मिथ्यादृष्टि का पाप सात व्यसन से अनन्तगुणा है। समझ में आया?

तारणस्वामी तो ऐसी बात में 'निगोदम् गच्छई' ऐसा ही कहते हैं। कितनी गाथा! राग से लाभ मानता है, पुण्य से लाभ मानता है, पुण्यास्रव से लाभ मानता है। हो भले। आत्मा का धर्म मानता है 'निगोदम् गच्छई' निगोद जायेगा। कठिन भाषा है। कठिन भाषा है, हों! तारणस्वामी। समझ में आया?

राग रहता है। परन्तु राग से लाभ मानता है। ज्ञानी को शुभराग भी आता है। दया, दान, भक्ति, पूजा भाव में आवे। वीतराग हो गये हैं? तो न आवे? आता है। परन्तु ज्ञानी जानता है कि वह पुण्यास्रव है। धर्म नहीं। और इस कारण से मुझे धर्म होता है, ऐसा वह मानता नहीं। मैं जितना मेरे स्वभाव का अवलम्बन लेकर स्थिर होता हूँ, उतना मेरा धर्म है। ओहोहो! दुनिया का मापने का गज दूसरा है। समझ में आया?

जो कि निर्विकार चैतन्यपने के कारण समसुखदुःख है... क्या कहते हैं? यहाँ तो उत्कृष्ट बात की न? भिक्षु की। पहले दृष्टि से पृथक् कर दिया, पश्चात् राग-द्वेष भी छूट गये। **उस भिक्षु को....** निर्विकारचैतन्यपरिणामपर्याय उत्पन्न हुई। अन्तर पर्याय में दशा में समसुखदुःख है। अनुकूल, प्रतिकूल का गंज हो तब, सबमें मुझे वीतरागभाव से समता-ज्ञाताभाव है। **उसे—शुभ और अशुभकर्म का आस्रव नहीं होता,...** देखो! ऐसे धर्मात्मा को शुभ और अशुभकर्म के नये परमाणु आस्रव नहीं होते। सम्यग्दर्शन हुआ तो मिथ्यात्व का आस्रव, अनन्तानुबन्धी का आस्रव नहीं रहा। ज्ञानी को भी दूसरे तीन कषाय हैं, उतना आस्रव आता है।

यहाँ तो उत्कृष्ट बात की है। वह भी राग छूटकर मुनि। मुनि किसे कहते हैं? ओहोहो! मुनि परमेश्वर पद। 'णमो लोए सव्व साहूणं' गणधर बारह अंग की रचना करते हैं। गणधर, भगवान के गणधर। सीमन्धर परमात्मा के पास गणधर विराजते हैं। बारह अंग की रचना करते हैं। णमो लोए सव्व साहूणं। पंचम काल के कोई सच्चे भावलिंगी सन्त हों तो मेरा नमस्कार उनके चरण में। वह मुनिपद कैसा है? गणधर का नमस्कार जिसे पहुँचे। समझ में आया? बराबर है या नहीं? णमो लोए में यह नहीं है सब। लोए में यह।

जिसके अन्तर आनन्दकन्द की दृष्टि एक राग का कण उठता है (परन्तु) कर्तव्य नहीं मानते। आता है पंच महाव्रत के परिणाम ज्ञानी को आते हैं, परन्तु राग है, मेरा कर्तव्य नहीं। विकार विकल्प आता है, वह पुण्य है, मेरा धर्म नहीं, मेरा संवर नहीं। यह तो अभी दृष्टि बिना पंच महाव्रत है ही नहीं और हमारे पंच महाव्रत हैं और संवर निर्जरा है। धूल में भी नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : वह तो बाहर का त्याग....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर के त्याग से बैठाते हैं। ऐसा कि वह अन्दर के गज का तो माप है नहीं। बराबर बाहर का माप हो, दूसरा तो माप है नहीं। छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह करता है, वह तो सम्यग्दृष्टि है। और एक स्त्री का त्याग कर दे, ब्रह्मचर्य ले तो भी मिथ्यादृष्टि है। अरे! यह तो कहीं!

मुमुक्षु : उसका अभिप्राय क्या है, वह बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतरागमार्ग में यह पहली बात सुनने में मिलती है। नहीं तो करो प्रश्न! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ के वीतराग परमेश्वर के घर की बात है। कल्पना करके मान रखी है, वह वीतराग के घर की बात नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अभी जिसे इन्द्रिय, राग, पुण्य-पाप परिणाम पर (है, उसे) अपने मानता है, तो पर से छुटकारा होकर तो स्वद्रव्य किसे मानेगा? अभी तो उसे

मानता है। यह दया, दान का विकल्प आया, यह ब्रह्मचर्य का विकल्प आया। यह विकल्प आया। यह तो तुझे विकल्प आया राग। वह राग मेरी चीज़ है, ऐसा मानता है। आस्रव मेरी चीज़ है, ऐसा मानता है। और यह देह की क्रिया विषय में नहीं हुई (तो ऐसा मानता है कि) मैंने रोकी है। यह जड़ की क्रिया विषय में-भोग में नहीं हुई (तो कहता है कि) मैंने रोकी। जड़ की पर्याय तू रोक सकता है तो जड़ का तू स्वामी है। राग का और जड़ का स्वामी है। कहाँ से सम्यग्दर्शन आया? धर्म कहाँ से आया वहाँ? कषाय और काया, आता है न प्रवचनसार में? समझ में आया? प्रवचनसार में आता है। एक श्लोक। भारी कठिन! २३६ (गाथा)।

देखो! जिन जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं, उन्हें कदाचित् भले पाँच इन्द्रियों के विषयों का संयोग न दिखता हो। वह संयोग न दिखता हो। देखो! यहाँ हमारे पण्डितजी ने तो सब पहले से लिखा है। जिसे स्व ज्ञायकमूर्ति ज्ञान और राग, यह विकल्प और आस्रव है, बन्ध का कारण है, शरीर इन्द्रिय आदि जड़ और अजीव है, उसका त्याग-ग्रहण मुझमें नहीं है। ऐसा जीव को स्व-पर भेदज्ञान नहीं, उसे कदाचित् पाँच इन्द्रियों के विषयों का संयोग न दिखाई दे। भोग लेता न दिखाई दे। बाह्य त्याग हो, छह जीवनिकाय की द्रव्यहिंसा न दिखती हो, छह जीव का घात करता न दिखे, एकेन्द्रिय जीव का घात करता न दिखे और इस प्रकार संयोग से निवृत्ति दिखती हो, तो भी काया और कषाय हिंसा से एकता माननेवाले; यह विकल्प उठते हैं दया, दान, ब्रह्मचर्य पालन करूँ, वह विकल्प आस्रव है। उसे अन्दर अपना मानता है। मान्यता में अभिप्राय में अपना मानता है। और मैंने काया से क्रिया छोड़ दी और मैंने लिया नहीं, वे दोनों एक माननेवाले उन जीवों को वास्तव में पाँच इन्द्रिय के विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं है। हिंसा का जरा भी आधार नहीं। इस प्रकार परभाव से बिल्कुल निवृत्ति नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके अभिप्राय से खबर पड़ती है। वह अभिप्राय बोले उसमें से खबर पड़ती है। शल्य पड़ा है मिथ्यात्व का। मैंने राग से निवृत्ति ली और बहुत ही

छोड़ दिया। क्या छोड़ दिया तूने? कहा नहीं? धन्धा-पानी छोड़ दिया। वह तू छोड़ सकता है? वह तो छूटे हुए ही पड़े हैं, वे कब छोड़े हैं? इस काया से हम काम नहीं करते। काया से तू कर सकता है कि उसे रोक दिया है? तो जड़ का स्वामी हुआ। और ब्रह्मचर्य आदि के परिणाम विकल्प हुआ तो वह पुण्यास्रव हुआ। उसे अपनेरूप माननेवाले को बाह्य से छह काय की हिंसा देखने में नहीं आती, बाहर से पाँच इन्द्रिय के विषय देखने में नहीं आते तो भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हिंसा के परिणाम अन्दर पड़े हैं। राग को अपना माने, वह मिथ्यात्व के—तीव्र हिंसा के भाव हैं। अमरचन्दभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : हिंसा का भाव आना तो ठीक है, विकल्प आना भी ठीक है परन्तु पुरुषार्थ से बदलता है, शुद्ध में बदल जाता है। भाव आया तो अमल में लिया.....

पूज्य गुरुदेवश्री : अमल में नहीं। तुम अभी समझते ही नहीं। देह की क्रिया अमल ली ही नहीं। भाव आया न? देह की क्रिया ली तो अमल में ली। यह बात ही झूठी है। वह अमल में ली ही नहीं। वह तो जड़ की क्रिया होती है।

कहते हैं, यह समझ में आया न? ऐसा कि भाव भले आया परन्तु अमल में कैसे रखा? विवाह किया और भोग लिया। हम तो कहते हैं भोग लिया ही नहीं। भगवान ऐसा कहते हैं। भोग लेते ही नहीं वह तो।

मुमुक्षु : बाल-बच्चे कहाँ से हुए?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, है ही नहीं। बाल-बच्चे हुए ही नहीं। राग आया बस इतना। देरियाजी! यहाँ तो अलक-मलक की बात है। बाल-बच्चे उसे हुए ही नहीं। उसे राग हुआ, वह मुझमें नहीं। हाँ, अभिप्राय में पूरा संसार पलट गया। यह बात रात्रि में भी आयी थी। तुम्हारे मेहमान आये थे न, आज आये हैं न? किसी दिन, यह सुने तो सही, क्या है? आहाहा!

भाई! सर्वज्ञ परमात्मा जैन परमेश्वर ने वस्तु का पूर्ण स्वरूप जाना, उन्होंने क्या कहा और किस प्रकार है, यह खबर बिना धर्म कहाँ से होगा? बाहर से त्याग, यहाँ कहा न? पाठ में है। देखो! स्व-पर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायों के साथ एकता का अध्यवसाय करते ऐसे जीव विषयों की अभिलाषा का निरोध

नहीं। संवर बिल्कुल नहीं। अभिलाषा छूटी न? अभिलाषा अन्दर पड़ी है, काम में करता हूँ, राग मेरा कर्तव्य है। और राग मुझे आया तो शरीर की क्रिया को देखो, मैंने अमल में रखी। मूढ़ है। शरीर की क्रिया को आत्मा कहाँ से अमल में ला सकता है? वह तो होने की हो तो होगी और न होने की हो तो नहीं होगी। वह तो अजीव की पर्याय है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया? अमरचन्दभाई! ऐसा कि राग भाव आना, वहाँ तक दिक्कत नहीं परन्तु भाव करने के पश्चात् अमल में कैसे रखा? यह भोग और दुकान में बैठे और युद्ध में जाये। यह बात ही सत्य नहीं। वह तो युद्ध में जाता ही नहीं। वह तो अपने भाव में विकल्प आया, उसका जानने-देखनेवाला रहता है। क्रिया तो जड़ की होती है, उसे जानता है। बाहर में आया भी नहीं और अमल में रखा भी नहीं। आहाहा! अजर प्याला।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कर सके? यह वाणी कौन बोल सके? अँगुली कौन चला सके इतनी? वह तो जड़ की पर्याय है। आत्मा चला सकता है? ईश्वर जगत का कर्ता और यह कहे कि पर की क्रिया मैं कर सकूँ। मिथ्यादृष्टि मूढ़ है।

यह अनन्त परमाणु जगत है। एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। उसे तुम पर्याय पलट कर सकते हो? आत्मा हथियार ले सकता है? अँगुली ऐसे कर सकता है? मूढ़ है।

मुमुक्षु : अज्ञानी नहीं कर सकता। ज्ञानी तो.....

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी, अज्ञानी कोई परद्रव्य की पर्याय नहीं कर सकता। .....भाई! रण चढ़ा रजपूत छुपे नहीं। आता है या नहीं? चंचल नारी का नैन छुपे नहीं, चन्द्र छुपे नहीं बादल छाया, राज छुपे नहीं भभूत लगाया। ऐसा कि रजपूत रण में चढ़े..... करता होगा बनिये की तरह व्याकुल। आत्मा अपनी कसौटी में चढ़ा कि 'मैं ज्ञायक हूँ' देह की क्रिया हो तो हो और न हो तो न हो। मेरे आधीन है ही नहीं। और

मेरी कमजोरी से मुझमें राग आता है, उसे मैं बन्ध का कारण जानता हूँ। ऐसा विवेक जहाँ वर्तता है तो युद्ध में भी वह संवरभाव प्रगट करता है। और अज्ञानी ब्रह्मचर्य पालते-पालते भी मिथ्यात्व का आस्रव का संवर करता है। आस्रव अर्थात्? मिथ्यात्व करता है। समकित का संवर करता है। समकित को आने नहीं देता। सेठी! आहाहा!

यह तो भाई! सर्वज्ञ परमात्मा परमेश्वर का मार्ग है। यह वह कहीं रंक ऐरे-गैरे जैसा है? भिखारी मान ले कि ऐसा है और वैसा है। जैन में है तो जैन की उसे खबर नहीं। वाड़ा की खबर नहीं कि जैन किसे कहते हैं। क्या सिर पर जैन की छाप है? समझे बिना आ गया। जैन हो गया? मांगीरामजी! क्या हुआ? देखो! **शुभ और अशुभकर्म का आस्रव नहीं होता,...** देखो!

सम्यग्दर्शन हो, जहाँ तक शुभाशुभ परिणाम हो (तो) इतना तो आस्रव आता है। परन्तु देह की क्रिया हुई, इसलिए आस्रव आता है? भोग लिया, उसका आस्रव अज्ञानी को बिल्कुल नहीं। वह तो जड़ की पर्याय होनेवाली (थी), वह अजीव की है। अजीव तत्त्व भिन्न मानता है। अपने परिणाम में जितनी कलुषता आयी, उतना आस्रव आता है। इतना ज्ञानी जानता है। परन्तु वह आस्रव क्रिया होती है, तो यह परिणाम हुए, ऐसा नहीं। परिणाम है तो क्रिया होती है, ऐसा नहीं और परिणाम हुए तो मेरे स्वभाव में एकरूप है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह मेहमान आये हैं न। मेहमान नये हैं। कुछ समझे जरा! हें? अहमदाबाद से आये हैं। क्या है? यह वे सोनगढ़वाले क्या कहते हैं? क्या है? सोनगढ़वाले भगवान का मार्ग कहते हैं। समझ में आया? **शुभ और अशुभकर्म का आस्रव नहीं होता, परन्तु संवर ही होता है।** देखो! आहाहा! अभिप्राय का दोष और राग-द्वेष का दोष, दोनों चीज़ ही अलग है। और राग-द्वेष के दोष के कारण समकित न हो तो कभी किसी को समकित होता ही नहीं, क्योंकि राग-द्वेष तो मुनि को भी छठवें गुणस्थान में पंच महाव्रत का राग आता है। आर्तध्यान भी होता है। मुनि भावलिंगी सन्त परमेश्वर स्वीकारे, ऐसे मुनि। ऐसे मुनि तो अभी कोई है नहीं। वह मुनि अन्दर भावलिंगी सन्त अन्तर में है, उसे पुण्यास्रव का विकल्प आता है। वह भी जानते हैं कि बन्ध है। बन्ध का कारण है, मेरी

चीज़ नहीं। परन्तु इतनी कमजोरी न हो तो सर्वज्ञ हो जाये। समझ में आया?

और यह दोष आया तो सम्यग्दर्शन में दोष है तो कभी सम्यग्दर्शन प्रगट होता भी नहीं और रहता भी नहीं। राग के कारण से सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, ऐसा भी नहीं और राग है तो सम्यग्दर्शन में विघ्न आता है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : तब तो मोक्ष का रास्ता ही बन्द हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि राग है, वह तो ज्ञानी को बारहवें में छूटता है। बारहवीं भूमिका में छूटता है। तो राग-द्वेष हो तब तक सम्यग्दर्शन का दोष लग जाये तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न ही नहीं होता। और सम्यग्दर्शन टिकता नहीं। समझ में आया? गजब बातें हैं, भाई! आहाहा!

पहले क्षायिक समकित हुआ हो, क्षयोपशम समकित हो, पश्चात् क्षायिक हुआ हो और भावलिंगी मुनि हुए हों। समझ में आया? फिर उसे खबर पड़े कि अरे! मेरी मुनिपर्याय नहीं, टिकती नहीं। मुझमें पुरुषार्थ की कमी हो गयी है। समझ में आया? तो छठवें गुणस्थान से नीचे उतर जाये, चौथे गुणस्थान में आ जाये। और मुझसे विषय की वृत्ति रुकती नहीं। भान है। विवाह कर लेता है तो भी क्षायिक समकित में जरा भी दोष नहीं। अमरचन्दभाई! इस दुनिया को भान कब है? अक्ल बिना की दुनिया। इसे बाहर से माप करे, वह माप चले? समझ में आया?

बात यह है कि चारित्रपर्याय प्रगट हुई थी परन्तु फिर जाना कि हमारे से चारित्र टिकेगा नहीं, अन्दर स्थिरता है। हों! द्रव्य से नग्न। बाहर से नग्न हो, अट्ठाईस मूलगुण पालता हो चारित्र पर्याय..... हमारा पर्याय का पुरुषार्थ कम हो गया। सप्तम गुणस्थान क्यों नहीं होता? हमारा पुरुषार्थ कम हैं। हमारा भाव है। छूट गया। हम बाहर से टिक सकते हैं तो चलो। और बाहर से भी शुभपरिणाम न हो तो मुनिपना छोड़ दे। अरे! देवीलालजी! दुनिया को कहाँ भान है? दुनिया दुनिया में रह गयी। समझ में आया? कहो, समझ में आया?

शुभ और अशुभकर्म का आस्रव नहीं होता, परन्तु संवर ही होता है। इसलिए यहाँ (ऐसा समझना कि) मोहरागद्वेष परिणाम का निरोध, सो भावसंवर है,... मोह-

राग-द्वेष परिणाम का अटकना, वही भावसंवर है। बराबर है! **और वह (मोहरागद्वेषरूप परिणाम का निरोध) जिसका निमित्त है, ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनवाले पुद्गलों के...** नये आनेवाले, आनेवाले थे नहीं, हों! वे तो बात करते हैं। वहाँ आनेवाले थे और रुक गये, ऐसा नहीं। भारी कथन पद्धति! मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम का निरोध हुआ अन्दर में। तो जिसका निमित्त है। किसे? आनेवाले थे उसमें निमित्त है। **योगद्वारा प्रविष्ट होनवाले पुद्गलों के शुभाशुभकर्मपरिणाम का (-शुभाशुभकर्मरूप परिणाम का) निरोध सो द्रव्यसंवर है।** वे रजकण नहीं आये, वह द्रव्यसंवर है। यहाँ भाव में मोह-राग-द्वेषपरिणाम नहीं हुए, वह भावसंवर है। भावसंवर हुआ तो वहाँ द्रव्यसंवर रजकण आते नहीं, उसे द्रव्यसंवर (कहते हैं)। जो पर्याय जड़ में ऐसी पर्याय नहीं हुई, चैतन्य में विकारी नहीं हुई। ऐसी एक समय की ऐसी बात की तो भावसंवर आत्मा की पर्याय है, द्रव्यसंवर जड़ की पर्याय है। ऐसी नवतत्त्व में संवर की व्याख्या की। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १४३

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ।। १४३ ।।

यस्य यदा खलु पुण्यं योगे पापं च नास्ति विरतस्य।
संवरणं तस्य तदा शुभाशुभकृतस्य कर्मण: ।। १४३ ।।

विशेषेणं संवरस्वरूपाख्यानमेतत् ।

यस्य योगिनो विरतस्य सर्वतो निवृत्तस्य योगे वाङ्मन:कायकर्मणि शुभपरिणामरूपं पुण्यशुभपरिणामरूपं पापञ्च यदा न भवति तस्य तदा शुभाशुभभावकृतस्य द्रव्यकर्मण: संवर: स्वकारणाभावात्प्रसिद्ध्यति । तदत्र शुभाशुभपरिणामनिरोधो भावपुण्यपापसंवरो द्रव्यपुण्यपाप-संवरस्य हेतु: प्रधानोऽवधारणीय इति ।। १४३ ।।

-इति संवरपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

जिस व्रती के त्रय योग में जब पुण्य एवं पाप ना।
उस व्रती के उस भाव से तब द्रव्य संवर वर्तता।।१४३।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिसे (-जिस मुनि को), [विरतस्य] विरत वर्तते हुए, [योगे] योग में, [पुण्यं पापं च] पुण्य और पाप, [यदा] जब [खलु] वास्तव में [न अस्ति] नहीं होते, [तदा] तब [तस्य] उसे [शुभाशुभकृतस्य कर्मण:] शुभाशुभभावकृत कर्म का [संवरणम्] संवर होता है।

टीका :— यह, विशेषरूप से संवर के स्वरूप का कथन है।

जिस योगी को, विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए, योग में—वचन, मन और कायसम्बन्धी क्रिया में—शुभपरिणामरूप पुण्य और अशुभपरिणामरूप पाप जब नहीं होते, तब उसे शुभाशुभभावकृत द्रव्यकर्म का (-शुभाशुभभाव जिसका निमित्त होता है, ऐसे द्रव्यकर्म का), स्वकारण के अभाव के कारण, संवर होता है। इसलिए यहाँ (इस गाथा में) शुभाशुभपरिणाम का निरोध—भावपुण्यपापसंवर—द्रव्यपुण्य-पापसंवर का [१]प्रधान हेतु अवधारना (-समझना)॥१४३॥

१. प्रधान हेतु = मुख्य निमित्त। [द्रव्य संवर में 'मुख्य निमित्त' जीव के शुभाशुभपरिणाम का निरोध है, योग का निरोध नहीं है। (यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि द्रव्यसंवर का उपादानकारण-निश्चयकारण तो पुद्गल स्वयं ही है।)]

इस प्रकार संवरपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

प्रवचन नं. ३९, गाथा-१४३-१४४,
दिनांक - ०५-१०-१९६४, भाद्र कृष्ण अमावस्या, सोमवार

१४३ गाथा चलती है। नौ पदार्थ की व्याख्या है। नौ में वर्तमान संवर अधिकार चलता है। नौ पदार्थ में जीव और अजीव तो दो द्रव्य है। संयोग और वियोग से उत्पन्न होनेवाली सात प्रकार की पर्याय है। धर्म भी एक पर्याय है। धर्म कोई त्रिकाली गुण या द्रव्य, वह धर्म नहीं। धर्म तो वर्तमान एक शुद्ध निर्मल निर्विकारी पर्याय, उसे संवर और धर्म कहते हैं। वह संवर कहो या धर्म कहो, उसकी व्याख्या चलती है। समझ में आया? (गाथा) १४३

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स।।१४३।।

टीका :— यह, विशेषरूप से संवर के स्वरूप का कथन है। कल सामान्य बात १४२ में चली थी। विस्तार से स्पष्टीकरण करने के लिये विशेषरूप से संवर का अधिकार कहने में आता है।

जिस योगी को,... पहला शब्द है। **जिस योगी को,...** अर्थात् आत्मा अखण्ड आनन्द और पूर्ण शुद्ध स्वभाव, उसका जिसे अन्तर में जुड़ान-योग सम्बन्ध हो गया है। दृष्टि में त्रिकाल ज्ञायक आनन्दकन्द पूर्ण आनन्द का धाम, उस पर दृष्टि का जुड़ान हो गया है। उसका नाम सम्यग्दृष्टि योगी कहने में आता है। समझ में आया?

यहाँ तो उससे उपरान्त बात है। **विरत,...** योगी शब्द देकर अब विरत, अपना चैतन्य पूर्ण आनन्द अकेले ज्ञायकस्वभाव से पूर्ण भरा पड़ा है। एक समय की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, संयोग का लक्ष्य छोड़कर और विकल्प आता है, उसका भी लक्ष्य-आश्रय छोड़कर पूर्णानन्द ध्रुवस्वभाव, द्रव्यस्वभाव में पूर्ण परमात्मस्वभाव पड़ा है। उसमें दृष्टि का जुड़ान हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन संवर कहते हैं।

पश्चात् **विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए,...** अपने परिणाम में शुभ और अशुभ परिणाम जो विकल्प है, उनसे भी निवृत्त हुआ है। समझ में आया? पहले तो १४२ में कह गये हैं। अपने द्रव्य के अतिरिक्त सब अनन्त द्रव्य हैं। उस ओर की रुचि छोड़कर अपने ज्ञायक चैतन्य स्वद्रव्य में दृष्टि, रुचि का अनुभव होना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन, धर्म, संवर, शुद्धता, मोक्ष का मार्ग, उसे कहते हैं। समझ में आया? अभी तो विरत लिया विशेष। परद्रव्य से अकेले भगवान आतमराम में अनन्त गुण का एक स्वरूप द्रव्य, उसमें घुसने से जो निर्विकल्प राग के अवलम्बन बिना स्वभाव के अवलम्बन से निश्चयदृष्टि का सम्यक्त्व होना, उसका नाम सर्व परद्रव्य से रुचि छोड़ दी। और स्वद्रव्य में रुचि की। यह पहले हुआ। पहले हुए बिना परद्रव्य के प्रति आसक्ति का शुभाशुभभाव छूटता नहीं। समझ में आया?

स्वचैतन्यमूर्ति ज्ञायक प्रभु के धाम में अरिहन्त-सिद्ध पद पूर्ण पड़ा है। ऐसा अन्तर एकाग्र होकर जो दृष्टि का लाभ हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन, शुद्धता, मोक्ष के मार्ग की शुरुआत हुई, ऐसा कहा जाता है। **जिस योगी को,...** उत्कृष्ट संवर लेना है न? **विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए,...** और अनन्त द्रव्य के प्रति इष्ट-अनिष्टबुद्धि का तो नाश हुआ। अपना स्वभाव पूर्ण इष्ट है। उसकी रुचि का अनुभव दृष्टि में हुआ। परन्तु अभी अनन्त परद्रव्यों के प्रति अपनी कमजोरी से आसक्ति का शुभाशुभभाव का अभी नाश हुआ नहीं। उस शुभाशुभभाव से भी विरत होकर।

देखो! **सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए,...** अपने परिणाम में शुभाशुभभाव की जो परिणति है, उससे निवृत्त, **निवृत्त वर्तते हुए, योग में...** जो आत्मा के प्रदेश में कम्पन होता है, उसे योगक्रिया कहा जाता है। आत्मा के प्रदेश का कम्पन है, उसे योगक्रिया कहा जाता है।

ऐसे योग में **वचन, मन और कायसम्बन्धी क्रिया में...** अन्तःकम्पन क्रिया में, समझ में आया? जो प्रदेश का कम्पन होता है, जिसमें कायवर्गणा निमित्त है तो उसे कायकम्पन कहते हैं, पर्याय में। वचनवर्गणा निमित्त है तो वचनकम्पन कहते हैं। और मनवर्गणा निमित्त है तो मनयोग की कल्पन क्रिया कहते हैं। ऐसे मन, वचन और काया

के निमित्त में अपने में कम्पनरूप क्रिया, उस क्रिया में शुभपरिणामरूप पुण्य और अशुभपरिणामरूप पाप जब नहीं होते, समझ में आया?

भगवानआत्मा अपनी महिमा में दृष्टि लगा दी और अल्प पर्याय राग और निमित्त की महिमा दृष्टि में से छूट गयी। तब अनन्त परद्रव्यों के प्रति प्रेम और रुचि एकत्वबुद्धि की छूट गयी और अपने द्रव्यस्वभाव में एकत्वबुद्धि हो गयी। परन्तु जहाँ तक अपनी कम्पन क्रिया में अनन्त परद्रव्यों के प्रति इष्ट-अनिष्टबुद्धि न होने पर भी, आसक्ति के परिणाम शुभाशुभक्रिया में उत्पन्न होते हैं, कम्पनक्रिया में। वहाँ तक शुभाशुभपरिणाम का उसे आस्रव आता है। समझ में आया?

वह जब क्रिया में, योग की क्रिया में। यहाँ देह की क्रिया की बात नहीं है। वह तो अजीवतत्त्व, उसका अस्तित्व ही भिन्न है। जिसका अस्तित्व भिन्न है, उसमें क्या होता है, उसकी तो यहाँ बात है ही नहीं। समझ में आया? अपनी कम्पनक्रिया में शुभपरिणामरूप पुण्य, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का शुभविकल्प उस क्रिया में पुण्यपरिणाम उत्पन्न होते थे। उसका जब नहीं होना होता है, तब शुभाशुभपरिणाम का संवर होता है। अथवा शुभाशुभपरिणाम उत्पन्न नहीं होते तो शुद्धपरिणाम उत्पन्न होते हैं। समझ में आया?

यह **शुभपरिणामरूप पुण्य और अशुभपरिणामरूप...** पर्याय में **पाप,....** जो अशुद्ध उपयोगरूप परिणाम थे। **जब नहीं होते,...** जिस काल में वे नहीं होते, उस काल में **तब उसे शुभाशुभभावकृत द्रव्यकर्म का...** शुभ-अशुभभाव का निमित्त पाकर जो नये द्रव्यकर्म रजकण अपनी योग्यता से आनेवाले थे। वे **शुभाशुभभाव जिसका निमित्त होता है ऐसे द्रव्यकर्म का...** नये रजकण के आने में शुभाशुभभाव निमित्त पड़ते हैं। नये रजकण के पुण्य-पाप के रजकण आने में शुभ और अशुभपरिणाम निमित्त पड़ते थे, वे शुभाशुभपरिणाम जब नहीं होते, तब **स्वकारण के अभाव के कारण, संवर होता है।** तो नये द्रव्यकर्म का कारण शुभाशुभपरिणाम, उसके स्वकारण अभाव होने से वह द्रव्यकर्म रजकण नहीं आते, इसका नाम द्रव्यसंवर कहने में आता है। कहो, समझ में आया? बहुत सूक्ष्म।

रजकण आते ही नहीं। आवे फिर बन्ध पड़े न? आते नहीं। संवर है या नहीं?

यहाँ तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध बतलाना है। वहाँ शुभाशुभभाव अपनी क्रिया में थे तो निमित्त पड़ते थे, नये द्रव्य रजकण शुभाशुभ के जो रजकण आते थे, उसे द्रव्यास्रव कहने में आया। और शुभाशुभभाव है वह भावास्रव कहने में (आया)। दोनों पर्याय है। यह एक विकारी पर्याय जीव की और कर्म की विकारी पर्याय आनेवाली आस्रव पर्याय होकर, जड़ की। जब उसके स्वकारण शुभाशुभपरिणाम रुक गये तो जिसमें वह शुभाशुभपरिणाम निमित्त पड़ता था, वह चीज़ आनेवाली है, ऐसा यहाँ नहीं है। परन्तु बताते हैं। वह चीज़ आनेवाली नहीं, आनेवाली नहीं थी। जिसमें शुभाशुभपरिणाम निमित्त पड़ते थे, वह आते हैं तो जब शुभाशुभपरिणाम नहीं है तो आनेवाले ही नहीं। यह उसका नाम द्रव्यसंवर और शुभाशुभपरिणाम रुक गये, उसका नाम भावसंवर। समझ में आया?

पर्याय पर्याय का निमित्त-निमित्त सम्बन्ध क्या है, यह बताते हैं। द्रव्य तो दोनों स्वतन्त्र हैं, पूरे पूर्ण दोनों। जीव और अजीव। उनकी चलती पर्याय। उसमें योग में जब तक पुण्य-पाप थे। दृष्टि अपने ज्ञायक सन्मुख होने पर भी, दृष्टि अपने ज्ञायक सन्मुख होने पर भी कम्पनक्रिया में शुभाशुभपरिणाम थे, तब तो नये रजकण आने में वे परिणाम निमित्त पड़ते थे। बराबर है? सुमेरुमलजी! समझ में आया? जब यहाँ शुभाशुभपरिणाम क्रिया में रुक गये, उत्पन्न नहीं हुए। रुक गये का अर्थ उत्पन्न नहीं हुए, उसका नाम रुक गये। आये थे और रुक गये, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

स्वभाव पूर्ण शुद्ध सन्मुख विशेष झुकने से अन्दर कम्पन में मन, वचन की क्रिया शुभाशुभपरिणाम के अनुत्पन्न हुए, उसे यहाँ शुद्ध स्वभाव सन्मुख से शुभाशुभपरिणाम रुके, ऐसा कहने में आता है। इस कारण जो आनेवाली चीज़ थे, वह रुक गयी, उसे द्रव्यसंवर कहते हैं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : संवर का अर्थ निष्कम्प हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निष्कम्प नहीं। क्रिया का कम्पन तो होता है। उसमें शुभाशुभ -अशुद्ध विकारी परिणाम थे, वे रुक गये, इसका नाम भावसंवर है। क्रिया, परिणाम और उपयोग ये परिणाम क्रिया है, मन, वचन का निमित्त में अपना कम्पन हुआ, वह

क्रिया, उस क्रिया में शुभाशुभपरिणामरूप अशुद्ध उपयोग था, वह स्वभाव सन्मुख झुकने से अशुद्ध का, अशुद्ध की अनुत्पत्ति हुई अथवा उत्पन्न नहीं हुआ, उसे भावसंवर कहने में आया। और उस निमित्त से नये रजकण आनेवाले थे, वे नहीं आये तो द्रव्यसंवर कहने में आया?

कम्पन तो है ही। क्रिया तो केवली को भी है। कम्पन की क्रिया तो वहाँ भी है। वहाँ तो रजकण बहुत ही आते हैं। नीचे की अपेक्षा वहाँ तो बहुत ही रजकण आते हैं। वह चीज़ नहीं। अन्दर जो शुभ-अशुभपरिणाम मलिन आते थे, वही आस्रव थे। वह अभाव हुआ तो संवर हुआ। नये द्रव्यास्रव भी आये नहीं। कहो, देवीलालजी! शुभाशुभभाव जिसका निमित्त होता है। ऐसे द्रव्यकर्म के **स्वकार के अभाव के कारण...** अर्थात् नये कर्म आने में कारण जो शुभाशुभ परिणाम थे, उनका उस स्वकारण के अभाव के कारण **संवर होता है।** कहो, समझ में आया?

ओहोहो! समय-समय की पर्याय द्रव्य कायम रहकर शुद्धाशुद्धपर्याय अपने से अपने में स्वतन्त्ररूप से होती है। दूसरे कर्म तो निमित्तमात्र हैं। समझ में आया? अपने आत्मा में जो आत्मा है, वह तो सच्चिदानन्द ज्ञानानन्द पूर्णानन्दस्वभाव ज्ञान, आनन्द ध्रुवस्वरूप है। पूर्ण परम स्वरूप कहो, पूर्ण परमात्मस्वरूप से भरपूर आत्मा है। एक समय में ज्ञान, आनन्द से परिपूर्ण परिपूर्ण वस्तु स्वभाव है। उसकी अन्तर्दृष्टि लगाने से ऐसे ज्ञायक आनन्द पूर्ण परमात्मा अपना निजस्वरूप, उसमें दृष्टि लगाने से समग्र परद्रव्य की रुचि छूट गयी। उससे मुझे लाभ-अलाभ है, यह दृष्टि छूट गयी। मेरे पूर्ण स्वभाव से जितना एकाग्र हूँ, उतना मुझे लाभ है, ऐसी दृष्टि-रुचि हो गयी। समझ में आया?

और ऐसी दृष्टि होने पर भी जब तक मन, वचन और काया निमित्त और अन्दर कम्पन की क्रिया और उसमें शुभ-अशुभभाव होते थे। शुभ-अशुभ दया, दान, भक्ति, वह शुभपरिणाम है मैल, पुण्यपरिणाम। अशुभ हिंसा, झूठ, चोरी पापपरिणाम दोनों मलिन भाव हैं। उस कम्पनक्रिया में दो थे, तब तक शुभाशुभपरिणाम के भावास्रव थे। मिथ्यात्व का आस्रव नहीं था। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह .....कहते हैं, क्या कहते हैं ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कम्पन तो सदा होता है, वह कहाँ प्रश्न है ? ले।

मुमुक्षु : कम्पन बिना।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं; कम्पन तो आनेवाली क्रिया में निमित्त है, बस। परन्तु उसमें शुभाशुभपरिणाम हैं, वही बन्ध और स्थिति का कारण है। कम्पन तो केवली को बहुत ही होता है। वह तो एक क्रिया का कम्पन है। उसमें क्या है ? वह कोई मूल चीज़ नहीं बन्ध का कारण वह मूल चीज़ नहीं। बहुत इस जगत को तत्त्व क्या है, तत्त्व कैसे प्राप्त होता है, यह खबर नहीं। भगवान आत्मा देह से, वाणी से, इस मन से, जड़ से भिन्न। भिन्न परन्तु अपने स्वभाव से अभिन्न है। आत्मा का अपना स्वरूप जो है, वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति ऐसे स्वभाव से भरपूर पड़ा है, पूरा स्वभाव आत्मा में पड़ा है। अनादि से है। परन्तु उस स्वभाव का प्रेम उसने एक समय भी अनन्त काल में नहीं किया।

यह पर अनन्त पदार्थ के प्रति प्रेम, रुचि और अरुचि (की), इस कारण पर से मुझे लाभ-अलाभ और मुझसे पर में लाभ-अलाभ (होता है), ऐसी दृष्टि को मिथ्याभ्रम दृष्टि कहते हैं। वह दृष्टि जब चिदानन्द में लाभ है, अपने में जितना एकाग्र हूँ, उतना मुझे लाभ। जितना अनएकाग्र रहूँ, रागादि (करूँ), उतना मुझे अलाभ है। कहो, बालचन्दजी ! ऐसी जब प्रथम दृष्टि हो, मैं तो सच्चिदानन्द शाश्वत् सत् ज्ञान और आनन्द का एक खजाना हूँ, निधान हूँ।

अनन्त-अनन्त बेहद आनन्द शान्ति निकालने का मुझमें खजाना पड़ा है। ऐसी दृष्टि हुई, तब मिथ्यादृष्टि अर्थात् पर से लाभ, नुकसान अथवा अल्पज्ञ में मैं पूरा था, राग में मुझे लाभ था, पुण्य से मुझे लाभ था, पाप में मजा है। यह सब दृष्टि छूट जाती है। समझ में आया ?

ऐसी अन्तर्दृष्टि भगवान आत्मा पूर्णानन्द सच्चिदानन्द की दृष्टि हुई, तब उसे

सम्यग्दर्शन जैसा सत्स्वभाव था, वैसी प्रतीति हुई तो प्रशंसनीय दृष्टि सम्यग्दृष्टि कहा गया है। ऐसा होने पर भी, जब तक अपने कम्पन में शुभ-अशुभपरिणाम के दया, दान, व्रतादि शुभभाव; हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभभाव दोनों विकल्प है, वासना है। वह वासना वृत्ति जहाँ तक उठती है, वहाँ तक उसे नये आवरण आने का वह कारण है। भ्रमणा छूट गयी, अस्थिरता रह गयी। समझ में आया?

यह अस्थिरता अपनी क्रिया में से छूट गयी, तथापि शुद्धस्वभाव में... यहाँ तो पूर्ण संवर की बात करनी है न! अपना ज्ञायक चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द से भरपूर, उसमें जहाँ लीन हुआ तो जो शुभ और अशुभ जो परिणाम हैं, वे उत्पन्न न हुए। इसका नाम शुद्धभाव द्वारा शुभाशुभ-परिणाम रुके, इसका नाम भावसंवर कहने में आता है। उससे नये आवरण आनेवाले थे, वे नहीं आये, इसका नाम द्रव्यसंवर कहने में आता है। ओहोहो! समझ में आया?

धर्म क्या चीज़ है और धर्म कैसे होता है? बाहर से ऐसे किया और ऐसे किये और धूल किया और यह किया। कौन करता है शरीर आदि पर चीज़ है, उससे तेरा उसमें कुछ प्रयोग भी नहीं है। तेरी सत्ता में तेरा प्रयोग है उल्टा-सुलटा। तो कहते हैं। **इसलिए यहाँ (इस गाथा में) शुभाशुभपरिणाम का निरोध...** देखो! अपने शुद्ध आनन्द में दृष्टि लगाकर, फिर शुद्धता में लीन होना, तब शुभ-अशुभपरिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम शुभपुण्य हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना पाप है। दोनों का निरोध। निरोध का अर्थ? आया था और रुका, यह तो शब्द की कथनी है। अन्तर में स्वभाव शुद्धता में आया तो वह परिणाम उत्पन्न न हुए, उसे शुभाशुभ को रोका है, ऐसा भावसंवर कहने में आया है। ओहोहो! समझ में आया?

भावपुण्यपापसंवर,.... देखो! इसका नाम भावपुण्यपापसंवर है। यह तो महासिद्धान्त है। यह कोई साधारण शब्द और साधारण कोई पुस्तक पढ़ना या वाँचना, यह ऐसी कोई यह चीज़ नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा एक समय में अपने स्वभाव पर दृष्टि लगाने के उपरान्त, क्रिया में से शुभाशुभपरिणाम का उत्पन्न होना, (वह) स्वभाव की शुद्धता में लीन होने से न हुए, इसका नाम भावपुण्यपाप का आस्रव रुक गया, (उसे) संवर कहते हैं। कहो, समझ में आया?

द्रव्यपुण्य-पापसंवर का प्रधान हेतु... देखो! यह भावपुण्य-पाप की जो विकारी पर्याय थी, वह उत्पन्न न हुई तो **द्रव्यपुण्य-पापसंवर का प्रधान हेतु अवधारना (-समझना)।** लो! समझ में आया? उसमें निमित्त वह भावपुण्य नहीं हुए तो द्रव्य-पुण्य के रजकण भी आने के रुक गये। आने के रुक गये का अर्थ? आनेवाले थे और रुक गये, ऐसा नहीं। आये नहीं, उसे आना रुक गये, ऐसा कहा गया है। कथन पद्धति ऐसी है। ऐसा स्वकाल का अर्थ भाव। भाव न हुआ तो उसके कारण से आये ही नहीं। आनेवाले थे ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

शुभाशुभभाव किये तो रजकणों को आना पड़ो, ऐसा भी नहीं है। उसके योग्य जड़ में होनेवाली पुण्य और पाप की जो परमाणु की पर्याय थी, वह होती थी। और जब यहाँ भावपुण्य-पाप रुक गये तो उन परमाणु में ऐसे द्रव्य में-रजकण में पुण्य और पापपर्याय होनेवाले रजकण भी नहीं थे। समझ में आया? सब स्वतन्त्र है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा वहाँ है ही नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु भी सब, अपना आत्मा द्रव्य से-पर्याय परिणमन करता है। किसी का सम्बन्ध है ही नहीं। अपनी सीमा ही अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में पूरी होती है। बस! सब द्रव्य की सीमा, मर्यादा उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में सीमा पूरी होती है। दूसरे को कभी स्पर्शा भी नहीं। एक द्रव्य कभी किसी को स्पर्शा ही नहीं तीन काल तीन लोक में। समझ में आया?

अपने मिथ्या अभिप्राय को स्पर्श करता था और शुभाशुभपरिणाम का वेदन करता था। वह छूता था, इसका अर्थ वेदन करता था। वह अपने ज्ञायकभाव आनन्दध्रुव को पकड़कर जो दृष्टि में मिथ्यावेदन था, वह निकल गया। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का वेदन हुआ। फिर अभी शुभाशुभपरिणाम में इतने मैल का वेदन है। यह आस्रव है। वह भी द्रव्य स्वभाव सन्मुख में लीन होने से रुक गया, उतना वेदन शुद्ध हो गया। समझ में आया? बापू! धर्म कोई दूसरी चीज़ है, ऐसी कोई। सुमेरुमलजी! ऐसी कहीं बाहर से

मिल जाये, (ऐसा है नहीं) बाहर में कोई चीज़ है नहीं, वह चीज़ तो जहाँ है, वहाँ है। बाहर में है नहीं तो बाहर से कहाँ से मिले? जहाँ है, वहाँ वह है। वे कहाँ से मिले?

भगवान आत्मा... यहाँ तो आचार्य (भगवान) को दो बात कहनी थी। शुभाशुभभाव -परिणाम रुक गये, वह भावसंवर, वह जिसमें निमित्त पड़ते थे, ऐसे रजकण भी नहीं आये, उसका नाम द्रव्यसंवर। वह दो द्रव्य की विकारीपर्याय आनेवाली थी, यहाँ विकारी पर्याय होनेवाली थी। रुक गये तो वहाँ निर्मल पर्याय हुई, यहाँ आनेवाली थी नहीं। रजकण ऐसे द्रव्य परिणमने के योग्य थे ही नहीं। उसे द्रव्यसंवर कहा गया है। कहो, समझ में आया? यह तो बात ऐसी है, भाई! धीरज की बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु सूक्ष्म है वस्तु। संवर से तो शुरु हुआ है। संवर से तो धर्म शुरु होता है। तो संवर क्या चीज़ है? हाथ में पाँच अँगुली सेवा के प्रत्याख्यान ले। हाथ में आस्रव है? वाणी में आस्रव है? बोल दिया हमारे पाँच हाथ.... अर्थात् क्या परन्तु? क्या आस्रव कहाँ रहते हैं? तुझे क्या क्रिया हुई? उससे कहाँ रुक गया, कहाँ था कोई खबर नहीं। बालचन्दजी! करते हैं या नहीं संवर? पाँच हाथ और.... समकित का संवर हुआ। समकित उत्पन्न नहीं हुआ, मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ। अब नीचे (फुटनोट में) जरा वह प्रधान हेतु लिखा है न! द्रव्य-पुण्य-पाप-संवर का प्रधान हेतु कौन? कि वह शुभाशुभपरिणाम। ऐसा लिखा है न? इस ओर २०९ (१९७) पृष्ठ पर। क्या कहा?

शुभाशुभपरिणाम का निरोध... अथवा अपने आत्मा में शुभ और अशुभपरिणाम का अनुत्पन्न होना, इसका नाम निरोध कहने में आया है। **भावपुण्यपापसंवर—द्रव्यपुण्य-पापसंवर का प्रधान हेतु...** कहा। प्रधान हेतु कहा न? प्रधान हेतु कहने का क्या कारण है। यह नीचे अर्थ करते हैं। नहीं तो रजकण जो आनेवाले थे, वे स्वयं से आते हैं और रुके भी स्वयं से हैं। उसमें यह प्रधान हेतु कहा तो यह थे तो आये, ऐसा यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं। प्रधान हेतु कहने का क्या कारण है? कि मुख्य निमित्त। देखो!

द्रव्य संवर में 'मुख्य निमित्त' जीव के शुभाशुभपरिणाम का निरोध है,... योग का निरोध नहीं। यह सिद्धान्त सिद्ध करना है। प्रधान हेतु क्यों कहा? है तो निमित्त।

नये रजकण आने के रुक गये और शुभाशुभपरिणाम न हुए, इस कारण से। उसे मुख्य -प्रधान हेतु क्यों कहा? कि योग की क्रिया शुभाशुभपरिणाम आने में निमित्त नहीं थी। वह तो योग की क्रिया तो निमित्तमात्र रजकण आने में थी और उसमें स्थिति और अनुभाग ऐसे जो शुभाशुभपरिणाम से निमित्त थे और आनेवाले थे, ऐसा भावसंवर हुआ, तब द्रव्य परमाणु में ऐसी पर्याय होनेवाली नहीं थी, वह रुक गयी। उसमें मूल कारण तो यह परिणाम हुए। योग नहीं, योग नहीं। योग का कम्पन तो चालू ही है। समझ में आया? देखो!

परिणाम का निरोध, योग का निरोध नहीं। कम्पन रुक नहीं गया। कम्पन तो है। परन्तु शुभाशुभपरिणाम नये आने में निमित्त प्रधानकारण का अर्थ योग करते हैं, वह शुभाशुभभाव ही नये आने में निमित्त थे। वे रुक गये तो नये शुभाशुभपरिणाम निमित्त नहीं हुए। नये परमाणु भी नहीं आये, उसमें प्रधान कारण यह था; योग नहीं। यह बताने के लिये प्रधान कारण कहा। बाकी तो आनेवाले परमाणु तो स्वयं से ही आते हैं। यहाँ शुभाशुभपरिणाम हुए तो आये और शुभाशुभपरिणाम रुक गये तो उसमें रुकना पड़ा, आते थे और रुकना पड़ा, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

(यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि द्रव्यसंवर का उपादानकारण... यह रजकण नहीं आनेवाले थे, वह उपादानकारण **निश्चयकारण तो पुद्गल स्वयं ही है।)** यह रजकण आनेवाले नहीं थे, वह उनका उपादानकारण है। शुभाशुभपरिणाम रुक गये, इसलिए प्रधानकारण हुआ और इस कारण वे आना रुक गये, ऐसा नहीं है। क्या कहते हैं यह? समझ में आया?

शुभाशुभपरिणाम का मुख्य कारण-प्रधान कारण... मुख्य कारण का अर्थ क्या? मुख्य कारण तो अपने में है उपादान। परन्तु पर में मुख्य कारण कैसे कहा कि योग का निरोध कारण नहीं है। यह शुभाशुभपरिणाम कारण आनेवाले में है। रुकने में वह शुभाशुभपरिणाम रुकने में मुख्य कारण है, यह बताने के लिये प्रधान कारण कहा गया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : रुका तो अपने कारण से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अपने कारण से रुके हैं। उपादान तो इनका है। परन्तु यहाँ शुभाशुभ को मुख्य कारण-प्रधान कारण कहा तो इसका अर्थ ऐसा नहीं लेना कि इस कारण से आते थे और यह रुके तो रुक गये। प्रधान कारण कहने में क्रिया का निरोध न होने पर भी शुभाशुभ रुके गये तो उसके कारण वे भी रुक गये। स्वयं के कारण से, हों।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त बताना है। योग नहीं। योग का निरोध नहीं हुआ। शुभाशुभपरिणाम का निरोध हुआ है। हो रहे हैं। लोग नहीं कहते? शास्त्र भाषा से क्रिया से कर्म, परिणाम से बन्ध, उपयोग से धर्म। यह तीन बात आती है। क्रिया से कर्म, परिणाम से बन्ध, उपयोग से धर्म। कम्पन है क्रिया, वह कर्म। कर्म आनेवाले में निमित्त, शुभाशुभपरिणाम बन्ध और शुद्ध उपयोग, वह धर्म। समझ में आया? आते हैं न तीन बोल आते हैं। श्रीमद् में आते हैं। क्रिया से कर्म, परिणाम से बन्ध, उपयोग से धर्म। यह उपयोग शुद्ध लेना। नहीं तो वह परिणाम से बन्ध, वे परिणाम अशुद्ध उपयोग है। शुभाशुभपरिणाम, वे अशुद्ध उपयोग है। परन्तु परिणाम से बन्ध, वह शुभाशुभभाव बन्ध का कारण है। क्रिया सम्पन्न कर्म आने का निमित्त है। और शुद्ध उपयोग, वह धर्मस्वरूप है। समझ में आया? यह क्रिया नहीं। देह की क्रिया से कर्म आते हैं, वह नहीं। क्रिया से कर्म, वह क्रिया नहीं। समझ में आया? यह बताया, देखो न?

काय सम्बन्धी क्रिया, ऐसा लिया न? देखो! पाठ में ऐसा है न? '**जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स**' यह क्रियानय से दो नय है। ऐसा पाठ में लिया है न? योग का कम्पन अलग और उसमें शुभाशुभभाव हों, वह अलग प्रकार है। समझ में आया? कौन ऐसे विचार करने को निवृत्त है? स्थिति-अनुभाग वही मूल वस्तु है। उसमें निमित्त पड़े, वह यह चीज़ है। १४८ गाथा में आयेगा। उसमें आयेगा। कहो, समझ में आया?

इस प्रकार संवरपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ। लो! संवर का १४२ गाथा में चला था, १४३ गाथा में चला। १४१ में भी चला। तीन गाथाओं में पूरा हुआ। १४१ में

चला था मार्ग वास्तव में संवर है। वहाँ से शुरु हुआ। १४० गाथा में आस्रव पूरा हुआ था। द्रव्यसंवर हो या भावसंवर हो। वह आत्मा की शुद्धपर्याय भावसंवर है। द्रव्यसंवर अर्थात् उस पर्याय में रजकण न आये, इसका नाम द्रव्यसंवर कहने में आया है। है तो वह पर्याय। द्रव्य-गुण में वह भावसंवर और द्रव्यसंवर कहने में नहीं आने पर भी पर्याय को कहने में आता है। यह बात यहाँ सिद्ध करनी है।

दोनों स्वतन्त्र, तथापि एक अपनी पर्याय दूसरे में निमित्त पड़ती है। इतना बतलाना है। निमित्त होने पर भी कर्ता नहीं। शुभपरिणाम नये कर्म आवरण में निमित्त पड़ने पर भी शुभपरिणाम उन नये कर्म का कार्य करनेवाला नहीं है। वह कार्य तो उसमें उसके कारण से स्वतन्त्र होता है। अब यह समझे नहीं और फिर बिना भान के धर्म हो जाये, लो!

मुमुक्षु : ओघे अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : ओघे अर्थात् समझे बिना। समझण किये बिना, पहिचाने बिना क्या है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह संवर परिणाम। कोई कहे भाई अन्दर में संवर परिणाम हुए तो इतनी देह की क्रिया रुक जानी चाहिए। यह तो नहीं परन्तु योग की क्रिया रुकती नहीं, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो भाई ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अन्तर में दृष्टि और जितनी शुद्धता हुई तो उसमें क्रिया जो कम्पन है, वह नहीं रुकी। तो फिर जड़ की क्रिया रुक जाये, ऐसा है ही नहीं। समझ में आया?

जड़ की क्रिया जड़ के कारण से हो या न हो, वह उसके कारण से नहीं होती। आत्मा के कारण से जड़ की क्रिया नहीं होती। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म कहाँ था। धर्म कहाँ था? किसे धर्म कहना? मन्दिर में- एक प्रश्न किया था। भाई अपने बुजुर्गों में तो ऐसी उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार की बात नहीं थी। तो उन्हें धर्म होता होगा या नहीं? ऐसा एक पत्र में प्रश्न हुआ था।

उसे एक दिन जवाब दिया कि भगवान के दर्शन करना जाते थे तो भगवान की श्रद्धा थी या नहीं ? यह कहे भगवान की श्रद्धा है तो उसे धर्म है। ऐसा कहा था। धूल में भी धर्म नहीं।

ऐसा कि अपने बुजुर्गों को उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्ध और ऐसी कुछ खबर नहीं थी तो वे धर्म करते थे तो धर्म है या नहीं ? ऐसा पत्र में प्रश्न चला था। अब एक व्यक्ति ने उसका जवाब दिया। भगवान के दर्शन हैं तो भगवान है या नहीं वहाँ। भगवान की मान्यता है या नहीं ? क्या उसमें किसी दूसरे की मान्यता है ? इसलिए धर्म था। ऐसा वे कहते थे।

अरे ! भगवान किसे कहते हैं, भगवान कहाँ रहते हैं और कहे, भगवान यहाँ रहते हैं ? वहाँ भगवान की खबर नहीं और भगवान के निक्षेप और भक्ति करने जाये तो शुभभाव है। समझ में आया ? देवीलालजी ! इस भगवान को जाने बिना दूसरे भगवान के निमित्त के शुभभाव भी कहाँ से आयेगा ? वास्तव में तो। वास्तव में। ऐसा कि जब अपना ज्ञान अपने को पकड़े, तब उस ज्ञान में नय पड़ते हैं, तो नय का विषय निक्षेप होता है। समझ में आया ?

अपना ज्ञान अपने को पकड़कर जब सम्यग्ज्ञान हुआ, सम्यक्श्रुतज्ञान। उस श्रुतज्ञान में दो भाग पड़ गये, निश्चय और व्यवहारनय। तो नय का निक्षेप विषय है। तो जब अपना ज्ञान नहीं हुआ तो नय नहीं और नय के बिना निक्षेप का ज्ञान उसे कहाँ से होगा ? समझ में आया ? यह तो स्थापना निक्षेप है। भावनिक्षेप वहाँ है ? भगवान वहाँ है ? अपना भावभगवान यहाँ है, उसका प्रतिबोध हुआ तो ज्ञान हुआ तो ज्ञान में दो नय पड़ गये। निश्चय और व्यवहार। व्यवहारनय वहाँ आगे निक्षेप का लक्ष्य करके निक्षेप का भाग करता है कि यह स्थापना है, यह नाम है। ज्ञेय के भाग चार करते हैं।

इस ज्ञान के अखण्ड ज्ञायमूर्ति का भान हुआ तो ज्ञान में दो भाग पड़े—निश्चय और व्यवहार। यह फिर ज्ञेय में चार भाग करता है। कि यह नाम है, यह स्थापना है, यह योग्यता है, यह भाव है। समझ में आया ? कहो, बालचन्दजी ! क्या है ? कहाँ से हो ? निक्षेप तो विषय है। विषय, ज्ञान हुए बिना विषय कहाँ से आया ? वह भी पर व्यवहार

विषय हुआ। तो निश्चय विषय हुए बिना अपना निश्चय विषय ज्ञान में हुए बिना ज्ञान में सम्यक्पना आया कहाँ से? और सम्यक्पना आये बिना निश्चय-व्यवहार के दो भंग श्रुतज्ञान का अवयव आया कहाँ से?

व्यवहारनय का जब अवयव पड़ा तो सामने निक्षेप है, उसका लक्ष्य उसे आता है। ज्ञानी को ही वास्तव में निक्षेप का ज्ञान होता है। अज्ञानी को निक्षेप का ज्ञान होता ही नहीं। समझ में आया? भगवान है, प्रतिमा है, भक्ति है। यह सब निक्षेप ज्ञानी को ही लागू पड़ते हैं। अज्ञानी को नहीं। क्या है देवानुप्रिया!

इस प्रकार संवरपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ। अब निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान है। अब निर्जरा पदार्थ आया।

गाथा - १४४

अथ निर्जरापदार्थव्याख्यानम् ।

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं ।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ।। १४४ ।।

संवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिर्यश्चेष्टते बहुविधैः।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियतम्।। १४४ ।।

निर्जरास्वरूपाख्यानमेतत् ।

शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः, शुद्धोपयोगो योगः । ताभ्यां युक्तस्तपोभिरनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशादिभेदाद्बहिरङ्गैः प्रायश्चित्तविनयवैया-वृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदान्तरङ्गैश्च बहुविधैर्यश्चेष्टते स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति । तदत्र कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा, तदनुभाव-नीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां द्रव्यनिर्जरेति ।। १४४ ।।

अब, निर्जरापदार्थ का व्याख्यान है।

शुद्धोपयोगी भावयुत जो वर्तते हैं तपविषै।
वे नियम से निज में रमें बहु कर्म को भी निर्जरें।।१४४।।

अन्वयार्थ :— [संवरयोगाभ्याम् युक्तः] संवर और योग से (शुद्धोपयोग से) युक्त ऐसा, [यः] जो जीव [बहुविधैः तपोभिः चेष्टते] बहुविध तपोंसहित वर्तता है, [सः] वह, [नियतम्] नियम से [बहुकानाम् कर्मणाम्] अनेक कर्मों की [निर्जरणं करोति] निर्जरा करता है।

टीका :— यह, निर्जरा के स्वरूप का कथन है।

संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध, और योग अर्थात् शुद्धोपयोग; उनसे (-संवर और योग से) युक्त ऐसा जो (पुरुष), अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेशादि भेदोंवाले बहिरंग तपोंसहित और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान, ऐसे भेदोंवाले अन्तरंग

तपोंसहित—इस प्रकार बहुविध [१]तपोंसहित प्रवर्तता है, वह (पुरुष) वास्तव में बहुत कर्मों की निर्जरा करता है। इसलिए यहाँ (इस गाथा में ऐसा कहा कि), कर्म के वीर्य का (-कर्म की शक्ति का) [२]शातन करने में समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अन्तरंग तपों द्वारा [३]वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग, सो भावनिर्जरा है और उनके प्रभाव से (-वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के निमित्त से) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलों का एकदेश [४]संक्षय, सो द्रव्यनिर्जरा है॥१४४॥

गाथा - १४४ पर प्रवचन

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं।।१४४।।

१. जिस जीव को सहजशुद्धस्वरूप के प्रतपनरूप निश्चय-तप हो, उस जीव के, हठरहित वर्तते हुए अनशनादिसम्बन्धी भावों को तप कहा जाता है। उसमें वर्तता हुआ शुद्धिरूप अंश, वह निश्चय-तप है और शुभपनेरूप अंश को व्यवहार-तप कहा जाता है। (मिथ्यादृष्टि को निश्चय-तप नहीं है, इसलिए उसके अनशनादिसम्बन्धी शुभभावों को व्यवहार-तप भी नहीं कहा जाता; क्योंकि जहाँ यथार्थ तप का सद्भाव ही नहीं है, वहाँ उन शुभभावों में आरोप किसका किया जावे ?)

२. शातन करना=पतला करना; हीन करना; क्षीण करना; नष्ट करना।

३. वृद्धि को प्राप्त=बढ़ा हुआ; उग्र हुआ। [संवर और शुद्धोपयोगवाले जीव को जब उग्र शुद्धोपयोग होता है, तब अनेक कर्मों की निर्जरा होती है। शुद्धोपयोग की उग्रता करने की विधि शुद्धात्मद्रव्य के आलम्बन की उग्रता करना ही है। ऐसा करनेवाले को, सहजदशा में हठरहित जो अनशनादि सम्बन्धी भाव वर्तते हैं, उनमें (शुभपनेरूप अंश के साथ) उग्र-शुद्धिरूप अंश होता है, जिससे अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।(मिथ्यादृष्टि को तो शुद्धात्मद्रव्य भासित ही नहीं हुआ है; इसलिए उसे संवर नहीं है, शुद्धोपयोग नहीं है, शुद्धोपयोग की वृद्धि की तो बात ही कहाँ रही ? इसलिए उसे, सहज दशा रहित—हठपूर्वक—अनशनादिसम्बन्धी शुभभाव कदाचित् भले हों तथापि, मोक्ष के हेतुभूत निर्जरा बिल्कुल नहीं होती।)]

४. संक्षय= सम्यक् प्रकार से क्षय।

टीका :— यह, निर्जरा के स्वरूप का कथन है। टीका, इसकी टीका। उसका विस्तार। टीका की पहली लाईन। **संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध,...** टीका की पहली लाईन। २१० पृष्ठ हिन्दी। संवर की व्याख्या क्या? शुभाशुभपरिणाम का रुक जाना। अपने में शुभ और अशुभपरिणाम का न होना, इसका नाम संवर है। कहो, समझ में आया? पंच महाव्रत के परिणाम होते हैं, वे भी आस्रव हैं, शुभपरिणाम हैं। उसे संवर, निर्जरा लगा देते हैं। लो! कषाय के कण हैं। दोनों शुभाशुभभाव नौ पदार्थ का निर्णय कराते हैं कि जिसे संवर कहते हैं, वह क्या है? जिसे आस्रव कहते हैं, वह क्या है? ऐसे स्वरूप की दृष्टि में आये बिना नौ पदार्थ का यथार्थ भान जैसा विषय है, जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान में भासित हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता। समझ में आया?

ज्ञान यथार्थ हुए बिना नौ पदार्थ की सच्ची श्रद्धा उसे नहीं होती। कहीं का कहीं लगा दे, कहीं का कहीं लगा दे। **संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध,...** और योग। **योग अर्थात् शुद्धोपयोग;...** योग की व्याख्या यहाँ शुद्ध उपयोग। **उनसे (-संवर और योग से) युक्त ऐसा जो...** क्या कहा? शुभाशुभपरिणाम का रुकना, वह नास्ति से हुआ और योग-शुद्धोपयोग से युक्त, यह अस्ति हुई। शुभाशुभपरिणाम न हुए, यह नास्ति हुई। हुआ क्या? कि योग हुआ।

अपना स्वभाव शुद्ध सन्मुख के झुकाव से जो शुद्धपरिणति और शुद्धभाव-शुद्धभाव। ऐसा युक्त जो पुरुष। उससे सहित जो कोई पुरुष, देखो! इसमें वजन है। इसके बिना कोई अनशन, ऊनोदरी आदि करे उसे व्यवहार तप भी कहने में नहीं आता। यहाँ निर्जरा की व्याख्या है। जिसे ऐसा भाव नहीं, उसके बारह प्रकार के तप में व्यवहार तप भी कहने में नहीं आता। समझ में आया? जिसे शुभाशुभपरिणाम का निरोध है और शुद्धस्वभाव सन्मुख के अपने उपयोग का व्यापार अन्दर में झुका है, ऐसा जो पुरुष, ऐसा जो पुरुष। अब उसकी बात करते हैं, निमित्त की, व्यवहार की।

अनशन। उसे जो अनशन है, विकल्प आया कि मुझे आहार नहीं करना, इतना विकल्प। अनशन-अशन नहीं। उस विकल्प को निमित्तरूप व्यवहार तप कहते हैं। परन्तु जब उसमें शुभाशुभपरिणाम रुक जाने से शुद्धपरिणाम उत्पन्न हुए, उस भूमिका में

ऐसे निमित्त व्यवहार आये, उसे व्यवहारतप कहते हैं। और अन्दर में शुद्धोपयोग में लीनता हो तो निश्चय तप कहा जाता है। कहो, भीखाभाई! यह भान बिना अनशन-फनशन करे, वह लंघन है, ऐसा कहते हैं। लंघन-लंघन कहते हैं न? लंघन-लंघन कहते हैं न?

पहले यह बोल लिया है। पाठ। क्योंकि मूल पाठ में ऐसा है न? '**संवरजोगिहि जुदोतवेहिं**' भाई! ऐसा शब्द है न? '**तवेहिं जा चिहठे**' फिर। संवर योग युक्त-सहित बारह प्रकार के तप व्यवहाररूप है, परन्तु वहाँ शुद्धोपयोग की वृद्धि के लिये राग घटाने के लिये विकल्प आया और यह भाव नहीं, उसके अनशन, ऊनोदर, व्रत, तप आदि सब झूठ है। निर्जरा का कुछ कारण नहीं है। ओहोहो! समझ में आया? रहित शब्द इसमें पड़ा है न संस्कृत में, क्या है? '**बहिरंग अंतरंग तपोभिबृहितः**' संस्कृत है, संस्कृत में। तपोभिः पश्चात् क्या?

मुमुक्षु : बहुविध तपों सहित प्रवर्तता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं चौथा। संस्कृत टीका। बाद में '**वीर्यशातन-समर्थो**' पाँच लाईन बाद छठी है न? अन्तिम '**बहिरंग अंतरंग तपोभिबृहितः**' बृंहितः बृंहितः बृं-हितः इतना। अन्त में अलग शब्द किया है, ऐसा। बृं और हितः अलग कर दिया। उसमें अलग किया है।

देखो! क्या कहते हैं? यह बारह प्रकार के तप कहेंगे उसमें अपने स्वरूप में शुभाशुभपरिणाम न होना और शुद्धोपयोग का होना, उस भूमिका में ऐसे बारह प्रकार के तप कहे गये हैं, वे निमित्तमात्र हैं। हेतु तो अन्दर में शुद्धोपयोग में वृद्धि होना, वह बात है। परन्तु उस शुद्धोपयोग की उत्पत्ति नहीं हुई, उसे वृद्धि निमित्त से कहाँ से होती है? समझ में आया?

बारह प्रकार के तप से शुद्धोपयोग की वृद्धि कहने में आयी। इसलिए यह शब्द लिया है। बृंहितः शब्द पड़ा है न? बृंहितः अन्दर शब्द। हाँ यह। परन्तु वृद्धि प्राप्त किसे? जिसे अपने स्वभाव की दृष्टि ज्ञायक ज्ञाता ही हूँ, विकल्प का कार्य मेरा नहीं। मेरा कर्तव्य नहीं कि विकल्प करना। और देह का त्याग या अत्याग, वह मेरी चीज़ में हैं ही

नहीं। वह तो स्वतन्त्र पदार्थ है। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे ज्ञान का बीज दृष्टि में आया कि मैं तो ज्ञान से, पर से अधिक हूँ। ऐसा भान हुआ, उसमें जो शुद्धोपयोग में अन्दर में लीन हुआ, उसके बारह प्रकार के तप शुद्धोपयोग की वृद्धि का निमित्त है—ऐसा कहने में आया है। समझ में आया? नहीं तो मात्र लंघन है। लंघन। कहे भाई अपने इतना इन्द्रियनिग्रह तो किया? आहार पाँच आज खाया, नहीं खाया।

कहते हैं कि भाई! वह चीज़ और उस चीज़ सम्बन्धी उसका विकल्प, उसका तुझे स्वामीत्व रहा और चैतन्य सहज स्वरूप का स्वामीपना नहीं आया। समझ में आया? वह तक तुझे जिसका स्वामीपना है, उसका त्याग करने का भाव कैसे आता है? उसकी तो रक्षा करने का भाव है। समझ में आया? अपने सहज स्वभाव का स्वामीपना दृष्टि में आया, तब विकल्प और देहादि भिन्न है। वह तो छूटनेयोग्य है, ऐसी दृष्टि हुई तब स्वभाव में एकाकार होकर पर का स्वामी नहीं था, इतनी वस्तु जब छूटती जाती है, (तब) आत्मा में स्वामीपने शुद्धस्वभाव प्रगटता जाता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहे, आज मैंने आहार नहीं किया। आज इतना नहीं खाया (तो) इतना तो मेरा तप है या नहीं? कहाँ से तप आया तेरे? अभी परपदार्थ का स्वामीपना माना है। जिसे स्वामी माने, उसे छोड़ दे? वह छूटता नहीं। दृष्टि में छूटा भी नहीं। (बहुत से ऐसा कहते हैं), आज मेरे आहार छूटा है। क्या छूटा है? आहार का तो तू स्वामी है। जड़ का स्वामी। मैं खाता था और यह मैंने छोड़ दिया। मैं खाता था और मैंने यह छोड़ दिया। ऐसी पर की पकड़बुद्धि तो मिथ्यात्व है। पर का स्वामीपना है। समझ में आया?

यह बताने के लिये यहाँ बारह प्रकार के तप की व्याख्या करते हैं। भाई! जिसका स्व, उसका स्वामी। तेरी चीज़ में तू स्व और स्वामी तू। पूर्णानन्द तेरा स्व और उसका स्वामी तू। ऐसी दृष्टि हुई और शुभाशुभपरिणाम से हटकर शुद्धता में आया, उस समय अनशन-आहार का त्याग हुआ, वह शुद्धोपयोग की वृद्धि में निमित्त कहा गया है। समझ में आया? अन्दर में तो उसका अभावभाव तो दृष्टि में वर्तता है। परवस्तु का त्याग विचार मुझमें है ही नहीं। और उस ओर का विकल्प उठा, वह भी मेरा कर्तव्य है नहीं। मेरे स्वभाव में है नहीं। तो स्वभाव में है नहीं, ऐसी दृष्टि करके जब शुद्ध में एकाकार

हुआ तो विकल्प का और पर का स्वामी नहीं था तो विकल्प घट गया और शुद्धि बढ़ गयी, उसे निर्जरा होती है। कहो, देवीलालजी!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर को असर हो या न हो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा यहाँ कहते हैं। शरीर जीर्ण पड़ा तो भी क्या और पुष्ट हुआ तो भी क्या? उसकी वह क्रिया ही नहीं। वह स्वामी था कि मेरा यह है, राग का स्वामी था, तब विकार का स्वामी था, तब चिदानन्दस्वामी का स्वामी नहीं था। समझ में आया? जिसे अपनी मालिकी की चीज़ माने, उसकी वृत्ति करने जाये। यहाँ भी मालिकी की चीज़ माने तो उसकी पुष्टि करने की उसकी इच्छा है। आहार-बाहार छूटा ही नहीं। आहार करने की भावना मिथ्यात्व की पुष्टि हुई। मैं छोड़ा, मैंने आहार छोड़ा तो मुझे लाभ हुआ। समझे? परन्तु आहार को मैंने छोड़ा, ऐसा तो मानता ही है।

ज्ञाता-दृष्टा स्वामी होकर उसके कारण छूट गया और विकल्प आया वह भी शुद्धता में रहकर छूट गया, ऐसा तो भान है नहीं। यह निर्जरा की व्याख्या चलती है। निर्जरा किसे कहना? निर्जरा की खबर नहीं और हो जाये निर्जरा। सोलह अपवास किये, पच्चीस अपवास किये। हो गयी निर्जरा। प्रोषध कहाँ गये तेरे तप! समझ में आया?

मुमुक्षु : लाभ तो किया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ पाप मिथ्यात्व का किया है। क्योंकि जिसके स्वामीपने की चीज़ है, उसकी तो खबर नहीं और वहाँ त्याग-ग्रहण में दृष्टि लगा दी। स्वामीपना हुआ। मिथ्यात्व का लाभ हुआ। बराबर है न? समझ में आया? निर्जरा पदार्थ की व्याख्या चलती है। शुभाशुभपरिणाम का रुकना और उपयोगसहित होना, पहले अस्ति सिद्ध किया। ऐसे जीव को अनशन (होता है)। समझ में आया? अनेक कर्मों की निर्जरा करता है, वह तपसहित वर्तता है। ऐसे व्यवहार से वर्तता है तो अन्दर भाव ऐसा है, शुद्ध है। उसे निर्जरा शुद्धत्व के कारण होती है। समझ में आया? देखो, यह सब मैंने इसके लिये किया है, हों! वह टोडरमलजी... यहाँ कहा न अन्तरंग शुद्धि का कारण। उन्होंने लिखा है न? ज्ञानी जो तप और उपवास करता है, वह शुद्धोपयोग की वृद्धि के

लिये करता है। उपवास के लिये उपवास नहीं। यह शब्द सब यहाँ से नौ तत्त्व के यहाँ से लिये हैं। टोडरमल (जी)-मोक्षमार्गप्रकाशक में। सब नौ पदार्थ आदि सब व्याख्या बहुत ही ली है। .....समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धि हो तो हो। कर्म तो उसके कारण से निर्जरा होती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्ता का अर्थ क्या? कर्म पड़े हैं, वे उदय में आकर खिर जाते हैं, वह तो उनके कारण से खिरते हैं। इसके कारण से खिरे नहीं हैं।

मुमुक्षु : उनका काल नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, काल नहीं आया - ऐसा नहीं। काल आया ही है। उदीरणा होकर खिर जाते हैं। उनकी पर्याय का क्रम ही ऐसा है। वह क्रमबद्ध में खिरने की योग्यता का ही उसका काल था। स्वयं के कारण से नहीं। शुद्धि-वृद्धि की, इस कारण से नहीं। और यहाँ शुभराग आया, वह भी उसके कारण से खिर गया। शुद्ध सन्मुख के झुकाव का जोर है, इतना मन्द पड़-पड़कर चला जाता है। निर्जरा के तीन प्रकार हैं। शुद्धोपयोग निर्जरा, अशुद्ध का नाश निर्जरा, दोनों अपने में; और कर्म की निर्जरा, वह जड़ निर्जरा। ऐसे तीन बोल हैं। विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०, गाथा-१४४

दिनांक - ०६-१०-१९६४, आसोज शुक्ल १, मंगलवार

यह पंचास्तिकाय निर्जरा के स्वरूप का कथन चलता है। १४३ गाथा चल गयी। १४४ चलती है। देखो! क्या कहते हैं। आत्मा एक समय में अनन्त-अनन्त एक-एक गुण अनन्त सामर्थ्यवाला ऐसे अनन्त गुण सम्पन्न आत्मपदार्थ है। समझ में आया?

एक आत्मा उसमें एक गुण अनन्त सामर्थ्यवन्त है। क्योंकि गुण जिसका स्वभाव उसका सामर्थ्य अनन्त है। ऐसे अनन्त गुण के सामर्थ्यरूप एक आत्मद्रव्य है। उसमें निर्जरा की पर्याय, शुद्धोपयोग की दशा कैसे होती है और उसे निर्जरा क्यों कहते हैं, यह बात चलती है। समझ में आया?

तो कहते हैं कि **संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध,...** अपना स्वभाव जो परिपूर्ण आनन्द और शुद्धस्वभाव, उस ओर के आश्रय से झुकने से जो परिणाम में शुभाशुभपरिणाम उत्पन्न नहीं होता, उसे रोकना, संवरपूर्वक निर्जरा लेनी है न? संवरपूर्वक निर्जरा लेनी है। अकेली निर्जरा नहीं होती। तो संवरपूर्वक निर्जरा कैसे होती है? जब स्वभाव में दृष्टि आदि की एकाग्रता होने से शुभाशुभपरिणाम की उत्पत्ति न होना, इसका नाम संवर—निरोध हुआ। पुण्य-पाप का निरोध हुआ। स्वभावसन्मुख की उग्रता के प्रयत्न से शुभाशुभपरिणाम का रुकना, निरोध होना, उत्पन्न न होना, उसे प्रथम संवरधर्म की शुरुआत कहते हैं।

अब संवरपूर्वक निर्जरा की व्याख्या चलती है। और योग अर्थात् शुद्धोपयोग से युक्त ऐसा योग। देखो! अब उपयोग शुद्ध हो। संवर तो है। संवरपूर्वक। अपने आत्मा में शुद्धोपयोग का होना। शुभ-अशुभ का रुकना कहा, वह संवर हुआ। अब अपने स्वरूप में शुद्धोपयोग की परिणति विशेष उग्र होना, इसका नाम संवरपूर्वक निर्जरा-शुद्धोपयोग को निर्जरा कहते हैं। समझ में आया?

तो कहते हैं कि उससे युक्त जो आत्मा है, उसे अनशन—आहार का त्याग, ऐसा व्यवहारतप। यह निमित्त की व्याख्या है। अन्त में ऐसा लिया है कि ऐसे बहिरंग और

अन्तरंग तपों द्वारा वृद्धि शुद्धि प्राप्त शुद्धोपयोग, वह भावनिर्जरा है। ऐसा लेंगे। निर्जरा तो शुद्धोपयोगभाव वह निर्जरा है। अशुद्धोपयोग का नाश होना, शुद्धोपयोग का उत्पन्न होना, इनका-दोनों का नाम निर्जरा, परन्तु यहाँ शुद्धोपयोग की निर्जरा कही है। समझ में आया?

दो-पाँच अपवास कर डाले और ऐसा करे, वैसा करे उसका नाम निर्जरा-फिर्जरा है नहीं ऐसा कहते हैं। धरम-बरम है नहीं। धर्म तो आत्मद्रव्य दृष्टि में आने से मिथ्यात्व के परिणाम का रुक जाना और सम्यग्दर्शन के संवरपरिणाम का उत्पन्न होना हुआ, उस पूर्वक शुभाशुभपरिणाम का रुकना और शुद्धोपयोग का उत्पन्न होना, इसका नाम निर्जरा कहा जाता है। आहाहा!

एक-एक पर्याय में विवेक है। एक ही आत्मा है और आत्मा शुद्ध है और ऐसा चले? आत्मा है अनन्त गुण का शुद्धस्वरूप पिण्ड, उसका अनादि से झुकाव परद्रव्य और शुभाशुभपरिणाम की ओर है। वह झुकाव अपने स्वभाव-सन्मुख होने से पहले तो सम्यग्दर्शन संवर (होकर) मिथ्यात्व का रुकना, यह पहले संवरदशा होती है। ऐसे संवरपूर्वक शुभाशुभपरिणाम का रुकना, वह दूसरे प्रकार का संवर है। समझ में आया?

तो कहते हैं कि वह प्राणी शुद्धोपयोगवाला जीव, उससे युक्त है वह, ऐसा कहते हैं न? अनशन। बाहर में आहार का न मिलना, न आना, ऐसा निमित्त। **अवमौदर्य...** थोड़ा सा आहार लेने की वृत्ति। अवमौदर्य पेट खाली रखना। यह तो सब व्यवहार की बात है, हों! यह निर्जरा नहीं है। **वृत्तिपरिसंख्यान।** किंचित् थोड़ा रस अल्प लेना, अमुक घर में जाना, अमुक घर में न जाना, ऐसी वृत्ति का संकोच करना, वह भी बाहर की वृत्ति का निमित्त है। उसमें से अन्तरस्वभाव सन्मुख की निवृत्ति में विशेष उपयोग का जम जाना, इसका नाम भावसंवरपूर्वक निर्जरा कहने में आता है। समझ में आया?

मात्र अनशन-ऊनोदरी की बात नहीं है। देखो! फिर **वृत्तिपरिसंख्यान** पश्चात् **रसपरित्याग।** दूध, खांड, शक्कर खाता नहीं तो उसे निर्जरा होती है, ऐसा नहीं है। रसपरित्याग की वृत्ति हो और उसमें से स्वभावसन्मुख का उपयोग शुद्ध हुआ है। वह तो निमित्तपना। आत्मा के रस में एकाकार होकर पर के रस का लक्ष्य छूट जाना, ऐसा

रसपरित्याग। बाहर व्यवहार से बात की है। परन्तु रसपरित्याग किया, वह निर्जरा और धर्म है, यह नहीं। वह तो परित्यागी ही है। आत्मा में पर चीज़ का रस है ही नहीं। परन्तु उस ओर का विकल्प था, उसे उत्पन्न न होने दिया और स्वभाव-सन्मुख में आत्मद्रव्य सन्मुख शुद्ध उपयोग का झुकाव हुआ, उसका नाम निर्जरा, धर्म की वृद्धि कहते हैं। संवर धर्मरूप उत्पन्न हुआ, निर्जरा धर्म की वृद्धिरूप भाव हुआ। संवर शुद्धिरूप हुआ और निर्जरा शुद्धि की वृद्धिरूप हुई। समझ में आया?

यह तो कहे तपसानिर्जरा। तप करो तो निर्जरा हो जायेगी। अपवास करे, ऐसा करे। ऐसा नहीं। ऐसे युक्तप्राणी हैं, उन्हें ऐसे जो भाव बाह्य में निमित्त पड़ते हैं, परन्तु अपने शुद्धोपयोगभाव में वृद्धि हुई, वह निर्जरा है।

मुमुक्षु : संवरपूर्वक तप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तप अर्थात् यह तप। अपवास-बपवास तप नहीं।

मुमुक्षु : संवरपूर्वक।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह नहीं। संवरपूर्वक शुद्धोपयोग से युक्त पहले लिया। हाँ, वह। संवरपूर्वक शुद्धोपयोग हुआ अन्दर।

मुमुक्षु : बाहर में....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, बाहर बाहर नहीं। यह बाहर में भटकता है, वहाँ से दृष्टि छोड़कर अपने में लीन होता है और अन्तर में शुद्धोपयोग हो, वह निर्जरा। बाहर का त्याग-ब्याग निर्जरा नहीं। उससे निर्जरा होती भी नहीं और धर्म भी होता नहीं। बात में बहुत अन्तर!

यहाँ तो अन्दर में संवरपूर्वक शुद्धोपयोग लगा हुआ है। सम्यग्दर्शन के संवरपूर्वक अन्दर शुद्धोपयोग द्रव्यस्वभाव में लीन हुआ है। उसे बारह प्रकार के तप होते हैं, उन्हें व्यवहार से कहते हैं कि इनके कारण शुद्धोपयोग में वृद्धि हुई। वृद्धि तो स्वयं से हुई। निमित्त से नहीं। समझ में आया? परन्तु विकल्प से जब निवृत्तभाव हुआ (तो) दृष्टि में तो अत्यन्त ज्ञाता-दृष्टा रहा है। ज्ञाता-दृष्टा। मैं विकल्प को करूँ या छोड़ूँ, वह मेरे स्वरूप में है ही नहीं। परन्तु स्वरूप में ठहरने से बाह्य में ऐसा निमित्त होता है

रसपरित्याग आदि निमित्त। उसका लक्ष्य अन्तर में शुद्धोपयोग पर है। उससे शुद्धोपयोग वृद्धि को प्राप्त हुआ, उसे निर्जरा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया?

पहले दो बोल लिये न? शुभाशुभपरिणाम का रुकना, वह पहला संवर है। और फिर शुद्धोपयोग की उत्पत्ति। वह निरोध तो नास्ति से कहा। उत्पन्न क्या हुआ है? आत्मद्रव्य की दृष्टि ज्ञायकमय चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा। मेरा कोई कर्तव्य विकल्प का करना या छोड़ना मेरे में है ही नहीं। परवस्तु का ग्रहण करना या छोड़ना, वह तो मुझमें तीन काल में है नहीं। ऐसा चिदानन्द चिद्ब्रह्म में दृष्टिपूर्वक लगनी स्थिरता का उपयोग हो गया, उसे ऐसे बारह प्रकार के तप होते हैं तो उनसे वृद्धि हुआ शुद्धोपयोग जनित युक्त था, वह। था उसमें वृद्धि हुई। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, आत्मा अखण्डानन्द ज्ञान का भान-अनुभव ही नहीं उसे जिसे शुद्धोपयोग की लगन अन्दर उत्पन्न हुई ही नहीं, तो उसे वृद्धि होने का कहाँ से आया?

यहाँ तो शुद्धोपयोग है, उसकी वृद्धि अब कहते हैं। निर्जरा बतायी शुद्धि। वस्तु! कोई रजकण का ग्रहण-त्याग मेरी चीज़ में है ही नहीं। मैंने ग्रहण भी नहीं किया और छोड़ा भी नहीं। मेरी चीज़ तो अकेली ज्ञानपिण्ड चिदानन्द शुद्ध है। ऐसा दृष्टि में अनुभव में आया, पश्चात् शुभाशुभपरिणाम रुके, शुभाशुभ विकल्प रुके। शुद्धोपयोग हुआ, उसमें यह बारह प्रकार के तप होते हैं। उसकी वृद्धि शुद्धोपयोग हुआ उसमें वृद्धि होती है। समझ में आया?

विविक्तशय्यासन। एकान्त में जंगल में रहना, स्त्री-पुरुष के परिचय बिना। अन्तर में तो दृष्टि संवर सम्यग्दर्शनपूर्वक हुई है और शुभाशुभपरिणाम रुककर शुद्धोपयोग हुआ है। उसे ऐसे निमित्त होते हैं। अन्तर में बाहर से हटकर अन्तर में विशेष शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है, उसका नाम भावनिर्जरा कहा जाता है। बहुत जवाबदारी! समझ में आया?

कायक्लेश। शरीर में आसन लगाता है ऐसे। मयूरासन और ऐसा पद्म (आसन) लगाता है न, वह सम्यग्दर्शन ज्ञाता के ऊपर दृष्टि हुई है। विकल्प और (पर का) त्याग-ग्रहण मुझमें नहीं। ऐसे शुभाशुभपरिणाम रहित उपयोग हुआ, उसमें ऐसे बारह प्रकार के

तप निमित्तरूप होते हैं, उनसे वृद्धि प्राप्त उपयोग को निर्जरा कहते हैं। कहो, बालचन्दजी! कितने उपवास से निर्जरा होती है? रसपरित्याग से निर्जरा होती है या नहीं। आहा! लोग इन बारह प्रकार को चिपकते हैं। दृष्टि मिथ्या है न? (लोग ऐसा कहे) इतना छोड़ा और उसे निर्जरा हुई, इतना छोड़ा और उसे निर्जरा हुई। समझ में आया? अमरचन्दभाई! गजब बात!

बारह प्रकार के नाम लिये हैं, हों! यह बारह तो विकल्प के भेद हैं। यह संवर— संवर है ही नहीं, निर्जरा भी है नहीं। पर का त्याग ब्याग तो आत्मा में है ही नहीं। यह तो प्रश्न है नहीं। यह तो निमित्त का लक्ष्य करके किससे लक्ष्य छूटा है और किसमें गया है, किससे लक्ष्य छूटा। पर आदि से तो लक्ष्य छूटा, इतनी थोड़ी आसक्ति (घटी) और स्वभाव सन्मुख गया है। उसे निर्जरा होती है। तो किससे लक्ष्य छूटा है, उसका नाम लिया है। आहाहा! समझ में आया?

कायक्लेशादि भेदोंवाले बहिरंग तपोंसहित... बारह तप की बात, बताने को, तप निमित्त। और **अन्तरंग तप।** वह भी अभी विकल्प, हों! वह भी बाह्य है। शुद्धोपयोग अपेक्षा से तो अभी वह भी बाह्य है। प्रायश्चित करना। कोई पाप लगा हो। परन्तु यह पहले तो उपयोगसहित की बात कही न? सम्यक् स्वरूप की दृष्टि का अनुभव हुआ। मैं तो ज्ञान से भरपूर पदार्थ हूँ। मेरे अतिरिक्त मेरी कोई दूसरी क्रिया है ही नहीं। जानने-देखने के अतिरिक्त मेरी कोई (दूसरी) क्रिया है ही नहीं। समझ में आया? सेठी!

कल रात्रि में सेठिया ने एक बोल कहा था, शाम को। वे लोग सब कहते हैं या नहीं? होनेवाला हो, वैसे होता है, तुम्हारे कानजीस्वामी को तो होनेवाला हो वैसा होता है, होनेवाला हो वैसे होता है। तो फिर सबका कार्य करना नहीं। तुम्हारे तुम्हारा भी कार्य करना नहीं। तुम्हारा भी कार्य करना नहीं और दूसरे का भी कार्य करना नहीं तो तुम्हारे होना होगा वैसे होगा तो तुम्हारे आत्मा का कार्य करना, वह भी आया नहीं। पुरुषार्थ नहीं रहा। उसने कहा, भाई! अपने गुण कार्य कर रहे हैं, उसमें कार्य न करना, यह आया कहाँ? कार्य तो कर रहे हैं अनन्त गुण। और ज्ञान ने देखा है। ज्ञान जानता है, प्रत्येक गुण कार्य कर रहे हैं। कार्य करना है, ऐसा ज्ञान ने जाना है, तो पर का कार्य नहीं करना और अपना कार्य तो होता ही है। होता ही है, फिर (बात कहाँ रही?) पर्याय तो

होती है न? पर्याय कहो या कार्य कहो। तुम्हारे कार्य नहीं करना, यह कहाँ रहा? शोभालालभाई! ....वह सब तेरापन्थी में लगावे न? उसे प्रश्न का काम बहुत पड़ता है।

तुम्हारे तो होनेवाला हो वैसे होगा तो कार्य करने का तो रहा ही नहीं। करना तो नहीं-तुम्हारा भी। परन्तु हमारे में कार्य होता है, हो रहा है, गुण कर रहे हैं। फिर कर रहे हैं, उसमें करना कहाँ दूसरा लेना है? ज्ञान जानता है। ज्ञान नहीं जानता? मेरा कार्य भी हो रहा है और उसका भी कार्य हो रहा है। बस! हो गया। ज्ञाता-दृष्टा हुआ। यही पुरुषार्थ है। दूसरा पुरुषार्थ क्या है? समझ में आया? घालमेल करनी है? आगे-पीछे करना है? कहो, समझ में आया? ऐसा यहाँ निर्जरा काल में भी किसी चीज़ को आगे-पीछे छोड़नी-फोड़नी है नहीं। समझ में आया?

अपना उपयोग शुद्धस्वभाव सन्मुख झुका है। जानने-देखने की क्रिया होती है, और सब गुण पर से रहित अपना कार्य करते हैं। ऐसे शुद्धोपयोग को निर्जरा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? तुम्हारे तो शुद्धोपयोग कारण कि कार्य तो नहीं तो तुम्हारे शुद्धोपयोग भी नहीं। अरे! सुन तो सही! यही चारित्रगुण का कार्य है। समझ में आया?

ज्ञानगुण का कार्य जानना है। श्रद्धागुण का कार्य श्रद्धा करना है। चारित्रगुण का कार्य शुद्धोपयोग-कार्य होता ही है। वह तो एक कार्य है। परन्तु दूसरा कार्य कौन सा है? समझ में आया? यह शुद्धोपयोग ही चारित्रगुण का कार्य है। कार्य है। वह गुण कार्य कर रहा है। स्वभावसन्मुख होकर शुभाशुभ (परिणाम) रुक गये तो शुद्धोपयोग का कार्य हुआ है। होता ही है तो करना क्या दूसरा? समझ में आया?

वही कार्य है। चारित्रगुण का का वही कार्य है। ज्ञानगुण का जानना कार्य है, दर्शनगुण का देखना (कार्य) है, श्रद्धागुण का श्रद्धान है, वीर्यगुण का रचना-पर्याय की रचना होती है, यह कार्य तो होता ही है। प्रत्येक गुण का कार्य होता ही है। कहाँ नहीं होता है? समझ में आया? दृष्टि ज्ञायक के ऊपर न (हो) और मैं करूँ किसी का और मेरी पर्याय करूँ। करूँ; करूँ का अर्थ क्या? कार्य होता है और करूँ का अर्थ क्या हुआ? तो कार्य होता है और करूँ (ऐसे) दो हुए। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं (कि) यह बाह्य के पदार्थ लेते हैं तो लक्ष्य वहाँ से छूटे, इतना

बतलाना है। अन्दर में हम जाते हैं अन्दर में तो शुद्धोपयोग की परिणति हुई बस, उस शुद्धोपयोगसहित तो है। परन्तु उससे शुद्धि की वृद्धि हुई, उसका नाम निर्जरा कहने में आता है। पहले यहाँ लिया है कि संवर और संवरसहित शुद्धोपयोगयुक्त जीव को, ऐसा कहा है। समझ में आया? उसे ऐसा कोई **प्रायश्चित** का विकल्प हो अथवा तो वहाँ से लक्ष्य छूटा है और देव-गुरु आदि का **विनय** करता है। वहाँ से लक्ष्य छूटा है तो विनय निमित्त में कहने में आया है। **वैयावृत्य।** गुरु आदि धर्मात्मा के वैयावृत्य में जो लक्ष्य-विकल्प था, उससे लक्ष्य छूटा है और यहाँ आत्मा में लक्ष्य जमा है। तो आंशिक शुद्धि हुई, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? हें! आहाहा!

स्वाध्याय। स्वाध्याय में जो विकल्प उठता है, वाँचन इत्यादि। उनसे लक्ष्य छूटा है और अन्तर में लक्ष्य जमा है तो उसे निमित्त से वहाँ शुद्धोपयोग की वृद्धि हुई, ऐसा निमित्त से कहने में आया है। गजब बात! समझना ही अभी कठिन! समझ में आया? इस समझ को अमल में लाना। अमल का अर्थ—ज्ञान ने जानने का कार्य किया, वह अमल में लाया, (ऐसा कहने में आता है)। श्रद्धा ने कार्य किया, वह अमल में लाया। चारित्र ने शुद्धोपयोग का कार्य किया, वह अमल में लाया। कोई दूसरा अमल में लाने का है नहीं। सेठी! अमल अर्थात् निर्मल! अपने द्रव्य की दृष्टिपूर्वक अन्तर में शुद्धोपयोग की निर्मलता हो, वह अपने गुण का अमलपना किया। समझ में आया? वह जीव का जीवन है। वह जीव का जीवन है।

स्वाध्याय, व्युत्सर्ग। व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग आदि का विकल्प है। वहाँ से लक्ष्य छूटकर, शुभभाव था पहले रोका था-लक्ष्य हुआ था, वहाँ से लक्ष्य छूटकर शुद्धोपयोग में वृद्धि हुई और **ध्यान।** ध्यान मैं करूँ और ऐसा करूँ, ऐसा भी एक विकल्प। जहाँ विकल्प थक जाये, विकल्प रुक जाये। वहाँ विकल्प रुका था, उस विकल्प का लक्ष्य छूटा, इसलिए यहाँ विकल्प से बात की है। निमित्त से बात बताते हैं। समझ में आया?

अन्तर ज्ञानानन्द में स्थिर हो जाये। समझ में आया? ध्यान में-कहा न कि मैं ध्यान करूँ, ऐसा विकल्प। उससे वृद्धि पाया हो, तब तो शुद्धोपयोग है। यहाँ ध्यान अभी बाह्य विकल्प और पर का लक्ष्य (कि) मैं ध्यान करूँ, इस विकल्प को छोड़कर

शुद्धोपयोग हुआ है, यह शुद्धोपयोग तो है। पहले तो कहा। विशेष शुद्धोपयोग की वृद्धि-ध्यान करूँ—ऐसे विकल्प से हटकर स्वभाव में विशेष एकाग्रता हुई, वह शुद्धोपयोग और निर्जरा कहने में आता है। समझ में आया?

यद्यपि ध्यान स्वयं शुद्धोपयोग और निर्जरा है, ऐसा यहाँ नहीं कहते। यहाँ तो कहते हैं कि **ऐसे भेदोंवाले अन्तरंग तपोंसहित—इस प्रकार बहुविध तपोंसहित प्रवर्तता है,...** भेद में। अब नीचे (फुटनोट में) है। देखो! एक है न? अथवा यह लाईन ले लो। **वह (पुरुष) वास्तव में बहुत कर्मों की निर्जरा करता है।** है? अब नीचे (फुटनोट में)।

जिस जीव को सहजशुद्धस्वरूप के प्रतपनरूप निश्चय-तप हो, उस जीव के,... क्या कहते हैं, जिस जीव को सहज ज्ञानानन्द सहज स्वभाव—मैं मेरा स्वरूप स्वतन्त्र सहज है। ऐसे शुद्धस्वरूप के प्रतपन अर्थात् उग्रता से होना, वह निश्चयतप है। उसका नाम निश्चयतप—सच्चा तप है। व्याख्या, तप की व्याख्या भी अलग है। जिस जीव को सहज शुद्ध ज्ञानानन्द प्रभु, पर का तो त्रिकाल अभावस्वभाव है। विकल्प का भी स्वभाव में अभावस्वभाव है। ऐसे सहज शुद्ध स्वरूप के प्रतपन प्र-विशेष उग्रपने ओपित-शोभित होना, ऐसा सुवर्ण उसमें गेरुँ लगने से, गेरुँ, गेरुँ कहते हैं न? सोना शोभता है, ओपित होता है। ऐसा चैतन्यस्वरूप ज्ञान की पूरी डली, ऐसा दृष्टि में लेकर स्थिर हुआ, ऐसे जीव को प्रतपन अर्थात् उग्र शान्ति की वृद्धि हुई, यह उसका नाम सच्चा तप-निश्चयतप कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

जिस जीव को... ऐसे जीव के। अकेले बारह व्रत, रसत्याग और यह नहीं। वह तो अभव्य भी अनन्त बार करता है। वह कोई निर्जरा और संवर है ही नहीं। समझ में आया? उस जीव के, हठरहित वर्तता हुआ अनशनादिसम्बन्धी भावों को तप कहा जाता है। निमित्त से तप कहा जाता है। उसमें वर्ता हुआ शुद्धिरूप अंश, वह निश्चय-तप है। उसमें अन्दर स्वभावसन्मुख का झुकाव जो ज्ञानानन्द का, पहले जो मार्ग में दृष्टि में आया था 'यह आत्मा' ऐसा मार्ग में झुककर। मार्ग तो ख्याल में आया था, वस्तु। इस प्रकार पकड़ा था। ऐसा ख्याल में आ गया है। उस मार्ग की ओर विशेष झुकता है। समझ में आया? उसे जो यह शुद्धिरूप अंश है, वह निश्चय-तप और शुभपनेरूप अंश को व्यवहार-तप कहा जाता है। देखो!

यह विकल्प आया न जरा! नरक छोड़ा और यह किया विकल्प। उसे निश्चयसहित तप हो तो उसे व्यवहारतप कहते हैं। क्यों बराबर है? अमरचन्दभाई! अकेला व्यवहार! वह तो निश्चय ऐसा हो तो ऐसे बारह प्रकार के विकल्प को व्यवहार-तप कहते हैं।

निर्विकल्प आनन्द के झरने झरें। दृष्टि के ध्येय में आत्मा लिया है, सब दृष्टि में से छोड़ दिया। परद्रव्य नहीं, पर्याय जितना नहीं, राग नहीं, गुणभेद नहीं। अकेला चैतन्य ज्ञायकभाव पूरा पूर्ण स्वभाव, ऐसी दृष्टि उसमें जम गयी, मार्ग वहाँ से अन्तर में हुआ, ऐसे मार्ग से अन्तर में लीन हुआ। समझ में आया? समझने की चीज़ ही जगत में दुर्लभ हो गयी। अभी क्या चीज़ है? बाहर से माप-बाहर से माप। उसने पुरुषार्थ नहीं किया इसलिए (कठिन है)। समझ में ले तो सुलभ ही है। देखो!

कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि को निश्चय-तप नहीं है। जिसकी दृष्टि ही अभी राग-विकल्प उठते हैं। वह क्या चीज़ है? निर्विकल्प क्या चीज़ है? परवस्तु क्या चीज़ है? मैं छोड़-ग्रहण कर सकता हूँ या नहीं, भान ही नहीं। समझ में आया? और पूर्ण ब्रह्मानन्दकन्द नित्यानन्द प्रभु की तो दृष्टि हुई नहीं तो कहाँ से हटकर कहाँ खड़े रहना, कहाँ टिकना, यह तो खबर नहीं। समझ में आया? ज्ञानी को तो बारह प्रकार के तप के विकल्प हैं, वहाँ से हटकर यहाँ स्थिर होना, इसका नाम भान है। समझ में आया?

वस्तु परिपूर्ण एक ही चीज़ है। और मैं ही पूरा परमेश्वर हूँ—ऐसी अनुभवदृष्टि अन्दर पकड़े बिना उसकी राग पर, निमित्त पर, अंश पर और भेद पर तो दृष्टि है। उस मिथ्यादृष्टि को निश्चय-तप तो है ही नहीं। **इसलिए उसके अनशनादिसम्बन्धी शुभभावों को...** उसे जो विकल्प उठता है कि आहार नहीं करना, रस नहीं खाना। समझे? आया न सब ऊनोदर लेना, बहुत ही मन्द राग करना, व्युत्सर्ग अकेले जंगल में रहना आदि। और कायक्लेश से दो-चार घण्टे तक बैठे रहना। और प्रायश्चित, विनय करे, वैयावृत्य करे, स्वाध्याय करे, व्युत्सर्ग करे। इन सब शुभभावों को **व्यवहार-तप भी नहीं कहा जाता;...** उसके शुभभाव को व्यवहार-तप भी नहीं कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि जहाँ यथार्थ तप का सद्भाव ही नहीं है,... अन्तर में स्वभाव की रुचि और अनुभवदृष्टि, जिसने परमात्मा का पूर्ण दृष्टि में स्वीकार किया और उसमें रुकने से

चारित्र होता है। दूसरी कोई चारित्र की क्रिया ही नहीं है। ऐसे निश्चयस्वभाव की दृष्टि और उसमें लीनता हुई ही नहीं, उसे बारह प्रकार के तप व्यवहार-तप भी कहने में नहीं आते। शुभभाव में आरोप किसका किया जाये? जिसे अन्दर शुद्धभाव वस्तु की दृष्टि और वस्तु का अनुभव और वस्तु में स्थिरता हुई ही नहीं, उसके बारह प्रकार के शुभभाव को व्यवहार आरोप भी नहीं दिया जाता। वह व्यवहारतप भी कहने में नहीं आता। निश्चय तो है ही नहीं। परन्तु व्यवहार भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवानजीभाई! अब पड़े होंगे दो-पाँच व्यक्ति कहनेवाले। यह वस्तु ऐसी है। कहो, समझ में आया इसमें?

यहाँ तप की व्याख्या चलती है। उतरे नहीं। सूक्ष्म पड़ता है। ऊपर से सुनते हैं। यह तो विषय अलग प्रकार का न? यह तुम्हारा विषय अलग और यह विषय विषय भी अलग। यह आत्मा है न, आत्मा! वहाँ तप की व्याख्या तो बहुत ही लम्बी है। ऊपर से पहले से कहते हैं। 'तलाई' यह पहले है न पहली लाईन हिन्दी में है। **संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध,...** ऊपर हिन्दी में है। उसी व्याख्या जरा सूक्ष्म है।

क्या कहते हैं? देखो! संवर किसे कहते हैं और संवरपूर्वक शुद्धि की वृद्धि। संवर शुद्धि को कहते हैं और पश्चात् निर्जरा भाषा है, उसे शुद्धि की वृद्धि कहते हैं। तो कहते हैं कि शुद्धि और शुद्धि की वृद्धि किसे होती है? शुद्धि का नाम संवर है और वृद्धि का नाम निर्जरा है। निर्जरा अर्थात् अशुद्ध का टलना। अब वह शुद्धि किसे होती है? कि यह आत्मा एक समय में अखण्डानन्द शुद्धचिदानन्द की मूर्ति पूर्ण आनन्द से आत्मा भरा है। जो आत्मपदार्थ है। जो यह मिट्टी से भिन्न है। शरीर से, वाणी से और अन्दर एक भावक जो कर्म है सूक्ष्म धूल। उससे भिन्न है।

और आत्मा में दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का विकल्प / वृत्ति उठती है, वह भी पुण्यपरिणाम है। उससे भी भगवान आत्मा भिन्न है। और हिंसा, क्रोध, मान, माया, लोभ, कमाना इत्यादि रागादि वृत्ति उठती है, वह पाप है। दया, दान, भक्ति, व्रत विकल्प का उठना, वह पुण्य है। दोनों भाव यहाँ शुभाशुभ कहने में आये हैं। पहले शब्द में। **संवर अर्थात् शुभाशुभपरिणाम का निरोध,...** यह व्याख्या है जरा। यह वाचक शब्द है यह

तो। सामने पदार्थ है। उस वाचक का वाच्य क्या है?

कि आत्मा एक समय में शुद्ध चिदानन्द ज्ञानमूर्ति ध्रुवस्वभाव नित्यानन्द प्रभु, उसमें दृष्टि लगाने से प्रथम सम्यग्दर्शन होता है। सच्चे अनुभव की प्रतीति। पश्चात् शुभ और अशुभभाव जो उत्पन्न होता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, वह सब धर्म नहीं है। किरीटभाई! यह जरा सूक्ष्म बात है। तुम्हारी बात से अलग है। मैंने वह कहा था वहाँ।

मुमुक्षु : मैं तो बहुत छोटा पड़ूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब छोटा किसका? आत्मा छोटा माना जाये? भाई! आत्मा छोटा है ही नहीं। भगवान आत्मा है। छोटी पीपर छोटी परन्तु (सामर्थ्य में) बड़ी है। क्योंकि इतनी छोटी पीपर में चौसठ पहरी सामर्थ्य भरी है। है या नहीं चौसठ पहरी? अब तुम्हारे सौ पैसा हो गया न? सौ पैसा अर्थात् रुपया। अभी तक तो ६४ पैसे थे न? पीपर का इतना दाना हो। छोटी पीपर, इतने में चौसठ पहरी चरपराहट भरी है। अपने हिसाब से तीखाश, हिन्दी के हिसाब से चरपराई। इतनी चौसठ पहरी पड़ी है या नहीं? इतनी छोटी में नहीं? इतने दाने में और एक ही दाने में चौसठ पहरी अर्थात् सोलह आना अर्थात् रुपया अर्थात् परिपूर्ण। ऐसी चरपराई अन्दर पड़ी है तो प्रगट होती है। प्राप्त की प्राप्ति है। न हो उसमें से नहीं आती। अन्दर न पड़ी हो तो पत्थर में से कहाँ से आवे? पत्थर अकेला घिसे तो उसमें न हो तो कहाँ से आवे? पीपर की शक्ति में अन्दर चौसठ पहरी अर्थात् रुपया पूर्ण, चरपराई - तीखा रस पड़ा है। तीखा अर्थात् उनकी भाषा में अपनी चरपराई और हरा रंग। इसी प्रकार भगवान आत्मा छोटा शरीर है, ऐसा नहीं लेना। अन्तर द्रव्य वस्तु। वस्तु सत् सत् आदि-अन्त बिना की, उत्पत्ति और नाश बिना की चीज़, है—आदि बिना है अनादि से। है... है... और भविष्य में है (रूप से) रहेगी। ऐसी सत् चिदानन्द, उसका सत् उसमें ज्ञान और आनन्द भरा है। जैसे पीपर में चरपराई भरी है और हरा रंग भरा है। काला तो कृत्रिम है, अन्दर वास्तविक चीज़ वह है नहीं।

इसी प्रकार आत्मा में सिद्ध और आनन्द अन्दर में पड़े हैं। ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण चौसठ पहरी रुपया पूरा। खबर नहीं और किसी दिन सुना भी न हो। समझ में आया? यह बाहर शिक्षा अलग और अन्दर आत्मा की शिक्षा अलग है। कहो, समझ में

आया? यह कहते हैं कि भगवान आत्मा शुभाशुभपरिणाम का निरोध करे अर्थात् शुभ और अशुभराग वासना है, उस ओर से हटकर अपने शुद्ध आनन्द की ओर झुक जाये, तब उसमें शुद्धि की वृद्धि जो हो। पहले शुद्धि ही उत्पन्न होती है, उसे संवर कहते हैं। और उस शुद्धि में विशेष निर्मलता बढ़ती है, उसे धर्मरूपी निर्जरा कहते हैं। यह संवर, निर्जरा वह जैन की अच्छी भाषा के शब्द हैं। उनका वाच्य यह सादी भाषा में कहते हैं, वह है। समझ में आया?

भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध पिण्ड है। वस्तु स्वभाव... वस्तु स्वभाव। पदार्थ है, वह स्वभाव से खाली नहीं होता। वस्तु है, वह स्व-भाव अपने कायमी असली गुण शक्ति से खाली नहीं होता। ऐसा आत्मा एक वस्तु अनन्त-अनन्त शुद्धि ज्ञान, दर्शन, आनन्द से भरपूर पड़ा है। अनादि से अपनी शक्ति की सम्पदा क्या है, उसकी दृष्टि न करके, 'यह शरीर मेरा, धूल मेरी, पैसे मेरे, स्त्री मेरी,'.... और अन्दर में पुण्य और पाप, शुभाशुभ विकल्प उठता है, वह विकार है। इसे भी मेरा ऐसा मानकर त्रिकाल आनन्दकन्द को भूल गया है। समझ में आया?

यह आनन्दकन्द भगवान आत्मा अपना निजस्वरूप, उसमें दृष्टि करके शुभ और अशुभ जो दया, दान, विकल्प वासना है। हिंसा आदि की वासना है, वहाँ से हटकर अपने निजस्वरूप में जम जाना, यह उसका नाम शुद्ध उपयोग; पुण्य-पाप शुभाशुभभाव अशुद्ध, मलिन—दया, दान, भक्ति, व्रत का विकल्प भी पुण्यरूप मलिन अशुद्धभाव। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग-वासना, काम, क्रोध, ये पापरूप मलिन अशुद्धभाव। दोनों भावों को रोककर अन्तर स्वरूप में लीन होना, यह उसका नाम धर्म कहने में आता है। बाकी सब बातें हैं। समझ में आया? ऐ सेठी! अपने नीचे चलता है। यह नोट तो पूरा हो गया। नोट है न? नीचे (फुट) नोट। वह कोष्ठक पूरा हो गया।

इसलिए यहाँ (इस गाथा में ऐसा कहा कि), कर्म के वीर्य का **(-कर्म की शक्ति का) शातन करने में समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अन्तरंग तपों द्वारा वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग सो भावनिर्जरा है...** नीचे पंक्ति है। सब शब्द ही ऐसे हैं। वाचक है शब्द। जैसे शक्कर वाचक है, तो शक्कर वाच्य शब्द शक्कर को बताता है। शक्कर शब्द में

शक्कर नहीं है। शक्कर पदार्थ में शक्कर शब्द नहीं है। परन्तु शक्कर शब्द संज्ञा 'यह शक्कर' (ऐसा बताता है)। इसी प्रकार यह शब्द अन्दर कौन सी दशा है, वह दशा बताने में यह संज्ञा शब्द है। समझ में आया?

आत्मा, यह तो शब्द हुआ। आत्मा पदार्थ है, उसमें शब्द नहीं। शब्द बताता है कि 'यह आत्मा' ज्ञानानन्द ध्रुव अखण्ड आनन्द पूर्ण अनादि-अनन्त शाश्वत धाम वस्तु सत्, उसका नाम आत्मा। उस आत्मा में अनादि से परवस्तु मेरी और अपनी चीज़ का आदर और सावधानी कभी अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी नहीं की। बाकी बाहर में अनन्त बार करोड़पति हुआ, अरबोंपति हुआ। अनादि है। अनन्त काल में आदि कहाँ थी? पहले आत्मा नहीं था, ऐसा है? दरबार! पहले नहीं था, ऐसा है? कब नहीं था? खबर भी नहीं। कौन विचार करता है? यह खेत और रहावण। ऐसा है न किरीटभाई! यह खेत और रहावण और यह शरीर, यह स्त्री, यह पुत्र। निवृत्त कहाँ होता है परन्तु यह विचार करने को। समझ में आया?

भगवान आत्मा एक समय में परिपूर्ण वस्तु। जैसे पीपर परिपूर्ण शक्ति और हरे-हरे रंग से भरी पड़ी है, ऐसे तो अनन्त गुण हैं शक्तियाँ। ऐसा आत्मा अनन्त (गुण) शक्तिसम्पन्न, उसमें जब आहार के त्याग आदि का विकल्प है, वह धर्म नहीं। परन्तु उस विकल्प की वासना से हटकर अपने स्वभाव में लीनता की शान्ति का वेदन अकषाय, अविकारी, अरागी ऐसे परिणाम, स्वभाव में से प्रगट होकर ऐसे शुद्धभाव का वेदन होना, अनुभव होना, इसका नाम धर्म है। यह धर्म मुक्ति का उपाय है। समझ में आया? गजब बात, भाई!

अभी तो यह लोग बाहर की सेवा करते हैं और यह करते हैं और सब... समाधान मानते हैं, हों! इसकी सेवा करते हैं न! धूल करते हैं न? धूल भी नहीं करता। सुन न अब! सेवा कौन करे। तेरे शरीर की भी सम्हाल नहीं कर सकता न! वह तो जड़ है, वह तो मिट्टी है। मिट्टी है या नहीं? तू तो चैतन्य अरूपी है। अरूपी उसकी रक्षा कर सकता है? रक्षा करे तो कोई अन्दर वृद्धावस्था आने नहीं दे, काले बाल सफेद हो गये। वह तो जड़ की दशा है। जड़ की दशा आत्मा उत्पन्न कर सकता है? या रोक सकता है? जड़

की दशा तेरी है ? तेरी चैतन्य चीज़ भिन्न है।

ऐसे चेतन के भानसहित अपने परिणाम में बहिरंग आदि वह शातन कहा है न! उसका अर्थ किया है जरा। (फुटनोट में) शातन=पतला करना; हीन करना; क्षीण करना। यह हमारे पण्डितजी है न यहाँ, तुम्हारे मास्टर हैं या नहीं हिम्मतभाई! यह उन्होंने यह सब बनाया है। उन्हें बहुत ही दिमाग है, हों! दिखते हैं ऐसे। वे यह हिम्मतभाई हैं। यह उन्होंने संस्कृत में से सब बनाया है। पूरी संस्कृत में से अक्षरशः ऐसी चार पुस्तकें बनायी हैं। संस्कृत तो हजार वर्ष पहले का प्राचीन है। श्लोक (गाथायें) तो दो हजार वर्ष पहले लिखी हुई हैं, परन्तु संस्कृत में से अक्षरशः गुजराती। समझ में आया ? यह तो जैसा पाठ है, वैसा अर्थ है, हों! घर का कुछ है नहीं। अनुवाद है अनुवाद।

तो कहते हैं। भगवान आत्मा अपनी निज सम्पदा की सम्भावना अन्दर में आयी, तब उसकी शुद्धि की वृद्धि जो हुई, इस कारण से जो पूर्व के कर्म जड़ पड़े थे, जड़कर्म-कर्म, उनका शातन हुआ, हीन हुआ, प्रार्ग (शब्द) पड़ा है न, प्रार्ग। जैसा शुभ और अशुभभाव किया हो—दया, दान, व्रत, भक्ति शुभ, उनसे पुण्य बँधता है। जड़ रजकण पुण्य। इस पुण्य के कारण यह धूल आदि मिलती है वह। और धूल अर्थात् यह लक्ष्मी आदि। और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोगवासना, पापवासना की हो तो पाप बँधता है। उस पाप के फल में यह प्रतिकूलता, दरिद्रता आदि आती है।

अतः यह जो शुभ और अशुभभाव है, उन्हें रोककर-रुंधन करके स्वभावसन्मुख शुद्ध में रमण करके जो आत्मा में शुद्धि हुई, वह भाव निर्जरा हुई। निर्जरा—नि-झरना। अशुद्धता की दशा का बदलना और शुद्धता की उत्पत्ति होना और इस निमित्त से पुराने कर्म जड़ जो शुभाशुभपरिणाम से बँधे थे, पूर्व में जो शुभ-अशुभभाव किये और उनसे कर्मबन्धन पड़े थे, उन्हें शुद्धपरिणाम अन्तर द्वारा उस कर्म का रस और शक्ति की अस्ति की स्थिति का हीन होना, घट जाना, उसे बाह्य निर्जरा कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

शातन करने में समर्थ... (-कर्म की शक्ति का) शातन करने में समर्थ... ऐई! अमरचन्दभाई! निमित्त से कथन है। यह कर्म अन्दर है जड़ मिट्टी बारीक धूल। जैसे यह स्थूल धूल है, वैसे प्रारब्ध सूक्ष्म मिट्टी है बारीक, उसे कर्म कहो, नसीब कहो। वे कर्म

सूक्ष्म अनन्त रजकण हैं। वे कैसे बँधते हैं कि इसने जैसे पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव किये हों, तत्प्रमाण वहाँ रजकण के कोठे पड़े हैं। अब जब आत्मा अपने आत्मा की दृष्टि करके शुभ-अशुभपरिणाम को उत्पन्न होने न दे और स्वभाव में स्थिर होता है, तब यह कर्मशक्ति हीन हो जाती है, घट जाती है, बन्धन मन्द पड़ जाते हैं, शिथिल पड़ जाते हैं, ढीले हो जाते हैं। और अन्दर में पूर्ण लीन होने से वे कर्म उस समय टल जाते हैं। ऐसी पूर्ण शुद्धि उत्पन्न होना, इसका नाम मुक्ति। मुक्ति कोई दूसरी चीज़ नहीं है। पूर्ण शुद्धि।

पहले संवर में अल्प शुद्धि स्वभाव के आश्रय से, निर्जरा में विशेष शुद्धि और मुक्ति में पूर्ण शुद्धि। जैसी शक्ति अन्दर पूर्ण है, वैसी प्रगट पूर्ण शुद्ध होना। पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण वीर्य। ऐसी पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति का नाम मुक्ति। वह मुक्ति होने के पश्चात् उसे अवतार नहीं होता। समझ में आया? परन्तु वह मुक्ति और मुक्ति का उपाय क्या (है, वह) कभी इसने सुना भी नहीं। समझ में आया? जिन्दगी ऐसी की ऐसी (चली जाती है)। सेठ! क्या करना? मूढ़रूप से जिन्दगी गँवायी। लो, ऐसा कहते हैं। धीरे-धीरे जाकर कहते हैं। धन्धा-पानी के राग में।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धन्धा-पानी की क्रिया में नहीं। राग... राग... राग... राग। यह द्वेष और राग... राग और द्वेष... राग और द्वेष। धन्धा-पानी तो परद्रव्य है। उसकी क्रिया होती है तो होती है न हो तो नहीं होती। वह आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। अन्दर में संकल्प-विकल्प, संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया-दान, भक्ति, व्रत, तप आदि विकल्प। बस! उसमें जिन्दगी गँवावे।

यहाँ कहते हैं कि भाई! तुझे जन्म-मरण का अन्त लाना हो और भगवान आत्मा जैसा स्वभाव से पवित्र और आनन्द है। वह दशा प्रगट करना हो, जैसे पीपर में चौसठ पहरी है तो चौसठ बाहर आती है, वह पूरी हो गयी। उसी प्रकार भगवान आत्मा में पूर्ण ज्ञान और आनन्द पड़े हैं, उन्हें अन्तर में एकाग्र करके पूर्ण शुद्धि की आनन्द की मुक्ति की दशा प्राप्त करनी हो तो पहले स्वभाव सन्मुख का अनुभव करना पड़ेगा। समझ में आया?

नरसिंह मेहता नहीं कहते ? 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी, शून्य।' भाई ! आता है या नहीं ? शून्य। क्या किया तप अरु तीरथ करवा थकी भक्ति ने.... यह सब थोथा ! शुभराग हो, कोई पुण्य बाँधे और स्वर्ग में जाये और चार गति में भटके। जन्म-मरण का अन्त नहीं। समझ में आया ? भगवान आत्मा एक समय में परिपूर्ण परमात्मा अपने निजस्वरूप सम्पदा को अन्तर में दृष्टि में स्वीकार कर, माहात्म्य करके, कीमत करके और परवस्तु की कीमत दृष्टि में से निकल जाये और पुण्य और पाप के भाव में से कीमत (दृष्टि) हट जाये। (वह कोई) चीज़ नहीं। कीमती चीज़ तो मुझे ध्रुव आनन्द पड़ा है, वह कीमती है। वैसी अन्तर में दृष्टि होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन धर्म कहा जाता है।

पश्चात् स्वरूप में शुद्धता की वृद्धि की बात यहाँ तो चलती है। देवीलालजी ! आहाहा ! सामान्य मनुष्य को बेचारे को तो कुछ खबर नहीं होती ! धूलधाणी ऐसी की ऐसी जिन्दगी ! यह क्या वस्तु और वह अन्दर शुद्धि अभी क्या, यह अपने को खबर पड़ती है या नहीं ? क्या आत्मा अन्धा है ? चैतन्यबिम्ब ज्ञायक सूर्य है। अन्दर चमकता चैतन्य सूर्य है। स्वभाव अकेला ज्ञान परिपूर्ण भरा है। ऐसा अन्तर में भान होने से यह बारह प्रकार के तप तो निमित्त से बात की है। उनसे वृद्धि और कर्म का घटना यह **शुद्धोपयोग सो भावनिर्जरा है और उनके प्रभाव से (-वृद्धि को प्राप्त शुद्धोपयोग के निमित्त से) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलों का एकदेश संक्षय, सो द्रव्यनिर्जरा है।** लो ! कहो, समझ में आया ? नीचे फुटनोट है। २१० (१९९) पृष्ठ पर। है न एक ? वह वृद्धि का शब्द है न ?

वृद्धि को प्राप्त = बढ़ा हुआ; उग्र हुआ। (संवर और शुद्धोपयोगवाले जीव को..) संवर अर्थात् पहले कहा। जिसे आत्मा के अनुभव की दृष्टि हुई और शुभ और अशुभराग जो वासना है, उससे हटकर अन्तर में लीन होता है, उसे **संवर और शुद्धोपयोग वाले जीव को जब उग्र शुद्धोपयोग होता है,...** अन्तर की शान्ति की उग्रता बढ़ती है, **तब अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।** तब पूर्व के कर्म खिर जाते हैं। मात्र अपवास-बपवास का लंघन करे तो कर्म हटते नहीं। समझ में आया ? दो, चार, पाँच, अपवास कर लिये, पच्चीस, पचास, वह लंघण है।

भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति की अन्तर अनुभव की दृष्टि हुए बिना यह तेरे लंघन-बंघन तप सब निरर्थक हैं। उसमें आत्मा को कोई लाभ है नहीं। समझ में आया?

तो कहते हैं, **शुद्धोपयोगवाले जीव को जब उग्र शुद्धोपयोग होता है, तब अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।** शुद्धोपयोग का अर्थ कि अपना आत्मा पवित्र है, उससे हटकर जितने शुभ-अशुभभाव हुए, वह अशुद्ध उपयोग अशुद्ध व्यापार कहा जाता है। और वहाँ से हटकर अपने स्वभाव में लीनता का आचरण होता है, उसका नाम शुद्धोपयोग व्यापार कहा जाता है। शब्द भी कहीं सुने नहीं। किरीटभाई! आहाहा! अरे! मनुष्य जीवन पाकर मैं कौन हूँ, मैं कितनी कीमतवाली चीज़ हूँ और मैं पर की कीमत आँकता हूँ। मेरी कीमत मुझे आँकने की ताकत है। मैं पूरा परमेश्वर होने के योग्य हूँ। मुझमें पूर्ण आनन्द पूर्ण इदम्, पूर्ण पद मुझमें पड़ा है। ऐसी कीमत की नहीं। पैसे मिले, धूल मिली, स्त्री मिली, इज्जत मिली, कीर्ति। या बड़े अभिनन्दन के पूंछड़े फरफरिया। अभिनन्दन! तुम तो बड़े हो! धूल में भी है नहीं। सुन न अब!

अनादि काल से अपने निजस्वरूप की प्रतीति और कीमत की नहीं। और कीमत किये बिना अकेले कहते हैं, वैसे तप करता है, उसमें कुछ लाभ नहीं होता। शुद्धोपयोग की उग्रता करने की विधि शुद्धात्मद्रव्य के आलम्बन की उग्रता करना, वह है। क्या कहते हैं? ऐसी सब भाषा अनजानी है। जिन्दगी में शुद्धोपयोग भी सुना न हो। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धचैतन्य में लीनता होना, उसका नाम शुद्धोपयोग। उपयोग अर्थात् आत्मा की निर्मल पर्याय। स्वभाव शुद्ध है, उसकी एकाग्रता होना, पुण्य-पाप के परिणाम से हटकर वह शुद्ध व्यापार अन्दर पर्याय में निर्मलता होना, वह शुद्धोपयोग उग्रता करने की विधि है। पहले थोड़ा उपयोग तो है। सम्यग्दर्शनपूर्वक शुद्धोपयोग है। विशेष उग्रता।

तो कहते हैं। ऐसा करना है कि जितने शुद्धात्मपदार्थ में लीनता की उग्रता होती है, उतना शुद्धोपयोग बढ़ता है। बाहर की क्रिया से नहीं। बाहर के क्रियाकाण्ड से, व्रत, नियम, तप, अनशन और ऊनोदरी धूल-धाणी। उससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता। समझ में आया? तो कहते हैं कि **ऐसा करनेवाले को, सहजदशा में हठरहित जो अनशनादि सम्बन्धी भाव वर्तते हैं,...** आत्मा का शुद्धस्वभाव, उसकी अन्तर्दृष्टि और एकाग्रता के जितने परिणाम उत्पन्न हुए, उसका नाम शुद्धभाव धर्म और निर्जरा कहते हैं।

उस भूमिका में जितने **हठरहित शुभभाव आया। अनशनादि सम्बन्धी भाव वर्तते हैं, उनमें (शुभपनेरूप अंश के साथ) उग्र-शुद्धिरूप अंश होता है,...** अनशन रसत्याग आदि का विकल्प है, वह शुभ है। अन्दर में स्वभाव सन्मुख की उग्रता है शुद्धता बढ़ी है, उसके साथ जो शुभ आया, उसे शुभव्यवहार कहा जाता है। **जिससे अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।** उन पुण्य-पाप के परिणामरहित अन्दर में जितनी शुद्धता प्रगट होती है, उतनी अशुद्धता टलती है, कर्म की निर्जरा अर्थात् कर्म खिर जाते हैं। **मिथ्यादृष्टि को तो शुद्धात्मद्रव्य भासित ही नहीं हुआ है;...** जिसकी दृष्टि में आत्मा क्या चीज़ है, वह तो दृष्टि में आया ही नहीं। मिथ्या अर्थात् झूठी, मिथ्या अर्थात् असत्दृष्टि। वह तो यह देखता है, धूल मिली और यह मिला और शरीर है न, यह वाणी और यह तो सब मिट्टी है। और बहुत तो अन्दर में पुण्य-पाप का विकल्प उठता है राग। उसके ऊपर उसकी दृष्टि है। मैंने यह किया और मैंने यह किया और मैंने यह किया। उस **मिथ्यादृष्टि को तो शुद्धात्मद्रव्य भासित ही नहीं हुआ है;...** अन्तर शुद्धात्मा कौन है, वह भासित ही नहीं हुआ। **इसलिए उसे संवर नहीं है,...** उसे कोई मिथ्यात्व या शुभाशुभपरिणाम रुकते नहीं। **शुद्धोपयोग नहीं है, शुद्धोपयोग की वृद्धि की तो बात ही कहाँ रही ?** पहले शुद्धोपयोग है ही नहीं तो वृद्धि कहाँ रही ? ऐसा कहते हैं। जरा सूक्ष्म बात है। **इसलिए उसे, सहजदशारहित—हठपूर्वक—अनशनादिसम्बन्धी शुभभाव कदाचित् भले हों, तथापि मोक्ष के हेतुभूत निर्जरा बिल्कुल नहीं होती।)**

आत्मा का अनुभव और सम्यग्दर्शन के भान बिना जितने तपादि करे, उसमें आत्मा को कुछ लाभ (नहीं होता)। शुभभाव हो कोई पुण्य बँध जाये, स्वर्गादि-धूलादि मिले, चार गति में भटके। जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। जन्म-मरण का अन्त आने की चीज़ अन्तरस्वभाव में जन्म नहीं, मरण नहीं, राग नहीं, ऐसी चीज़ का अवलम्बन करके शुद्धोपयोग की रमणता करना, इसका नाम धर्म और निर्जरा कहने में आता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १४५

जो संवरेण जुतो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।। १४५ ।।

यः संवरेण युक्तः आत्मार्थप्रसाधको ह्यात्मानम् ।
ज्ञात्वा ध्यायति नियतं ज्ञानं स संधुनोति कर्मरजः।। १४५।।

मुख्यनिर्जराकारणोपन्यासोऽयम् ।

यो हि संवरेण शुभाशुभपरिणामपरमनिरोधेन युक्तः परिज्ञातवस्तुस्वरूपः परप्रयोजनेभ्यो व्यावृत्तबुद्धिः केवलं स्वप्रयोजनसाधनोद्यतमनां आत्मानं स्वोपलम्भेनोपलभ्य गुणगुणिनोर्वस्तुत्वेनाभेदात्तदेव ज्ञानं स्वं स्वेनाविचलितमनास्सञ्चेतयते स खलु नितान्तनिस्सस्नेहः प्रहीणस्नेहाभ्यङ्गपरिष्वङ्गशुद्धस्फटिकस्तम्भवत् पूर्वोपात्तं कर्मरजः संधुनोति । एतेन निर्जरामुख्यत्वे हेतुत्वं ध्यानस्य द्योतितमिति ।। १४५ ।।

आत्मानुभव युत आचरण से ध्यान आत्मा का धरें।
वे तत्त्वविद संवर सहित हो कर्म रज को निर्जरें।।१४५।।

अन्वयार्थ :— [संवेरण युक्तः] संवर से युक्त ऐसा, [यः] जो जीव, [आत्मार्थ प्रसाधकः हि] वास्तव में आत्मार्थ का प्रसाधक (स्वप्रयोजन का प्रकृष्ट साधक) वर्तता हुआ, [आत्मानम् ज्ञात्वा] आत्मा को जानकर (-अनुभव करके), [ज्ञानं नियतं ध्यायति] ज्ञान को निश्चलरूप से ध्याता है। [सः] वह [कर्मरजः] कर्मरज को [संधुनोति] खिरा देता है।

टीका :— यह, निर्जरा के मुख्य कारण का कथन है।

संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा जो जीव, वस्तुस्वरूप को (हेय-उपादेय तत्त्व को) बराबर जानता हुआ परप्रयोजन से जिसकी बुद्धि [१]व्यावृत्त हुई और केवल स्वप्रयोजन साधने में जिसका [२]मन [३]उद्यत हुआ है ऐसा

---

१. व्यावृत्त होना = निवर्तना; निवृत्त होना; विमुख होना।
२. मन = मति; बुद्धि; भाव; परिणाम।
३. उद्यत होना = तत्पर होना; लगना; उद्यमवन्त होना; मुड़ना; ढ़लना।

वर्तता हुआ, आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके (-अपने स्वानुभव द्वारा अनुभव करके), गुण-गुणी का वस्तुरूप से अभेद होने के कारण उसी [१]ज्ञान को—स्व को—स्व द्वारा अविचलपरिणतिवाला होकर संचेतता है, वह जीव वास्तव में अत्यन्त [२]निःस्नेह वर्तता हुआ—जिसको [३]स्नेह के लेप का संग प्रक्षीण हुआ है, ऐसे शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भाँति—पूर्वोपार्जित कर्मरज को खिरा देती है।

इससे (-इस गाथा से) ऐसा दर्शाया कि निर्जरा का मुख्य हेतु [४]ध्यान है ॥१४५॥

प्रवचन नं. ४१, गाथा-१४५

दिनांक - ०७-१०-१९६४, आसोज शुक्ल २, बुधवार

यह पंचास्तिकाय नौ पदार्थ का स्पष्टीकरण है। इस जगत में नौ पदार्थ हैं। जीव और जड़-अजीव परमाणु दो द्रव्य हैं। इनके अतिरिक्त चार द्रव्य अलग अरूपी हैं। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध संग और वियोग से एक-एक द्रव्य में सात-सात पर्याय होती है। समझ में आया?

यह उसका नाम नौ पदार्थ है। जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं, वस्तु। और दोनों के सम्बन्ध के संयोग और वियोग से उसमें सात प्रकार की पर्याय होती है। आत्मा में पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात पर्याय (और) सात पर्याय जड़ में होती है। यह बात चलती है। निर्जरा अधिकार में आया है। पुण्य-पाप का अधिकार गया, आस्रव का गया, संवर का भी अधिकार हुआ, अब निर्जरा का अधिकार है। नौ पदार्थ जैसे हैं, वैसा उनके अनुभव में प्रतीति में आये बिना उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

---

१. गुणी और गुण में वस्तु-अपेक्षा से अभेद है, इसलिए आत्मा कहो या ज्ञान कहो—दोनों एक ही हैं। ऊपर जिसका 'आत्मा' शब्द से कथन किया था, उसी का यहाँ 'ज्ञान' शब्द से कथन किया है। उस ज्ञान में—निजात्मा में—निजात्मा द्वारा निश्चल परिणति करके उसका संचेतन—संवेदन—अनुभवन करना, सो ध्यान है।

२. निःस्नेह =स्नेह रहित; मोहरागद्वेष रहित।

३. स्नेह= तेल; चिकना पदार्थ; स्निग्धता; चिकनापन।

४. यह ध्यान शुद्धभावरूप है।

धर्म की पहली सीढ़ी-प्रथम सीढ़ी। सोपान कहते हैं न? आत्मा में प्रथम नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न क्या है और एक-एक पर्याय का क्या-क्या स्वरूप है और दो द्रव्य का क्या स्वरूप है। ऐसा यथार्थ अन्तर में अनुभव से प्रतीति हुए बिना उसे सम्यग्दर्शन होता नहीं। और सम्यग्दर्शन के बिना वह कुछ भी क्रिया करे—त्याग, वैराग्य, तप, संयम, व्रत, वे सब निरर्थक—चार गति में भटकानेवाले हैं।

मुमुक्षु : सार्थक।

पूज्य गुरुदेवश्री : सार्थक कहाँ है? धूल में भी सार्थक नहीं। अभी सम्यक् क्या चीज़ है, क्या आत्मा है, क्या कर सकता है, क्या जड़ है। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। षट्द्रव्य, उन षट्द्रव्य का विस्तार नौ पदार्थ हैं। तो षट्द्रव्य क्या है, नौ पदार्थ कैसे हैं, कैसे होते हैं, उसमें हेय-उपादेय कौन है, उसकी खबर बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं और सम्यग्दर्शन बिना बाह्य के व्रत, तप, क्रियाकाण्ड, अपवास, वह सब निरर्थक—संसार में भटकने के लिये परिभ्रमण कराते हैं। समझ में आया?

तो यहाँ नौ पदार्थ है न ऊपर? नौ पदार्थपूर्वक मोक्षमार्गप्रपंचवर्णन। मोक्षमार्ग (अर्थात्) प्रपंच का विस्तार। तो नौ पदार्थ में निर्जरा किसे कहते हैं? १४५ गाथा है।

जो संवरेण जुतो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।।१४५।।

टीका :— यह, निर्जरा के मुख्य कारण का कथन है। जरा सूक्ष्म बात है। अनन्त काल से इसने इस बात को सुना नहीं। अनन्त बार जैन दिगम्बर साधु हुआ। नग्न दिगम्बर, हों! अनन्त बार। और पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प-राग भी अनन्त बार लिया, पालन किया, परन्तु आत्मा क्या चीज़ है, उसमें क्या है, वह क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता?—ऐसी स्वतन्त्रता की स्वभाव की दृष्टि इसने अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी नहीं की। समझ में आया?

यह सम्यग्दृष्टि बिना नौ तत्त्व की यथार्थता इसे प्रतीति में नहीं आती और इस प्रतीति के भान बिना जो कुछ किया जाता है—अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक, 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो, पै (निज) आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' अपने

छहढाला में आता है या नहीं? छहढाला सुनी है? डालचन्दजी! उसमें यह श्लोक आता है। मुनिव्रत धार, दिगम्बर हजारों रानियों का त्याग, करोड़ों-अरबों रुपये की एक महीने की आमदनी के राज्य का त्याग और नग्न मुनि (होकर) जंगल में रहे। छह-छह महीने के अपवास और दो-दो महीने के जार की तरह सल्लेखना। दो महीने—साठ दिन ऐसा का ऐसा पैर हिलावे नहीं, अँगुलियाँ, ऐसा संथारा। प्रत्येक जीव ने ऐसा अनन्त काल में अनन्त बार किया है। समझ में आया?

परन्तु सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है और सम्यग्दृष्टि क्या मानता है और उसका अनुभव क्या है, उसका उसने अनन्त काल में एक समय भी पता लिया नहीं। समझ में आया? तो कहते हैं कि निर्जरा किसे कहते हैं। नौ तत्त्व हैं न—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। निर्जरा किसे कहते हैं? निर्जरा क्या कोई द्रव्य है? गुण है? पर्याय है? क्या है? डालचन्दजी! खबर नहीं! जगत में तीन चीज़ें हैं न? द्रव्य है वस्तु; गुण है उसकी शक्ति; पर्याय है उसकी अवस्था। तो निर्जरा क्या चीज़ है? पहले कह दिया न! कि निर्जरा आस्रव, पुण्य, पाप, संवर, बन्ध और मोक्ष—यह सब पर्याय है, गुण नहीं, द्रव्य नहीं। किसे खबर क्या द्रव्य और क्या गुण!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्म क्या? तो किसकी बात चलती है? निर्जरा, वह धर्म है। अपनी पर्याय में क्या होता है और द्रव्य कैसा है और पर से भिन्न किस प्रकार है? (उसके) भान बिना पर्याय में धर्म किस प्रकार हो जाये? अनन्त पदार्थ में जब तक पराश्रय बुद्धि है, अर्थात् मैं परद्रव्य की अवस्था को कर सकता हूँ और पर अनन्त पदार्थ से मुझमें कुछ भी लाभ या नुकसान होता है, ऐसी पराश्रयबुद्धि में द्रव्य की स्वतन्त्रता की उसे खबर नहीं। उसे धर्म नहीं होता। कहो, समझ में आया?

और आत्मा की पर्याय में भी दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप का विकल्प, वृत्ति उठती है, वह आस्रवतत्त्व है, पुण्यतत्त्व है। उस पुण्यतत्त्व का भी पराश्रयभाव जब तक न छूटे, तब तक स्वद्रव्य का आश्रय तत्त्व का नहीं लिया तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया? पुण्य परिणाम और पापभाव दो विकल्प शुभाशुभभाव, वह तो विकार है। वह कर्म के संग से उत्पन्न हुआ उपाधि भाव है। कर्म से हुआ नहीं। समझ में

आया? जो ऐसा माने कि मुझमें पुण्य, पाप का भाव होता है, वह कर्म के आश्रय से होता है, समझ में आया? तो वह पराश्रयबुद्धि मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

जैन में विकार तो कर्म से होता है, नहीं? जैन है और कहे कि बस, अपने तो कर्म से होता है। विकार बिकार... कर्म है न? मूढ़ की मान्यता है। अज्ञानी की मान्यता है। कि कर्म से आत्मा में विकार होता है। क्योंकि यहाँ तो नौ तत्त्व की बात है। कर्म तो अजीवतत्त्व है। और पुण्य-पाप तो आस्रवतत्त्व है। दोनों भिन्न तत्त्व है। तो भिन्न तत्त्व से आत्मा में आस्रव होता है, ऐसी पराश्रयबुद्धि है, उसकी तो दृष्टि स्वद्रव्य पर आती नहीं। सूक्ष्म बात है, हों! डालचन्दजी! तुम्हारे उस व्यापार धन्धे जैसी बात यहाँ नहीं है। वहाँ तो चले। हें? अक्ल कुछ काम न करे। अक्ल क्या धूल काम करे वहाँ? वहाँ कमाने में अक्ल कुछ काम न करे। बराबर। क्यों? नथुलालजी! अक्ल कितनी काम करे संसार में। होशियारी काम करती है या नहीं?

यह कहते हैं तेरी होशियारी पर्याय में क्षयोपशम पर्याय है। वह पर्याय परद्रव्य की पर्याय में क्या काम करे? परद्रव्य और तेरी पर्याय भिन्न है, उसकी तो तुझे खबर नहीं। हें?

मुमुक्षु : सलाह दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सलाह दे। कौन सलाह दे? भाषा जड़ की पर्याय, विकल्प आस्रव पर्याय और कौन सलाह दे किसे? समझ में आया? सेठी!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या वहाँ जाकर दूसरा हो जाता है?

मुमुक्षु : दूसरा नियम वहाँ लागू करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा नियम वहाँ लागू पड़ता है। घर में जाये तो कौन घर में जाये? कहाँ जाये? आत्मा तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में है। अपने अस्तित्व में तीनों काल है। पर के क्षेत्र में जाये तो पर के भाव में द्रव्य में जाये। क्या आत्मा अपना अस्तित्व छोड़ देता है? और पर का अस्तित्व अपने अस्तित्व में ला सकता है? जाये कहा? सेठी! तो कहते हैं कि अनन्त काल में यह बात उसे अन्तर में भाव से रुचि नहीं।

बाकी तो बहुत सब किया। समझ में आया? सब किया अर्थात् शुभभाव ऐसे किये कि शरीर का खण्ड-खण्ड करे (तो) क्रोध न करे। क्षमा, क्षमा, क्षमा। ऐसी क्रिया भी अनन्त बार हुई, उसमें क्या आया? और शुभ है तो पुण्यबन्ध विकल्प हुआ। और उसमें मुझे लाभ हुआ, (तो) साथ में मिथ्यात्व का लाभ हुआ। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व का लाभ हुआ। समझ में आया? भाई! अध्यात्म की बात ऐसी है कि इसने कभी क्या है, ऐसा स्पर्श किया नहीं। समझ में आया?

तो कहते हैं कि निर्जरा एक आत्मा की शुद्धपर्याय है। शुद्धपर्याय है। द्रव्य नहीं, गुण नहीं। पर के कारण पर्याय नहीं। यह पर्याय, वह धर्म है। आहाहा! कौन जाने यह कैसी होगी पर्याय! कुछ खबर ही नहीं होती!

मुमुक्षु : भगवान तो जानते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान तो जानते हैं। यह तो कहते हैं कि, सुन तो सही! हम कहते हैं, ऐसी तेरी दृष्टि तो कर! और अन्यत्र से दृष्टि हटा ले। समझ में आया? सुनो तुम, यह करेगा।

निर्जरा के मुख्य कारण का कथन है। निर्जरा आत्मा की, आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न स्वरूप है। समझ में आया? अनन्त अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा है। एक-एक आत्मा। समझ में आया? सेठी! यह अनन्त गुण की एक समय में अनन्त पर्यायरूपी कार्य द्रव्य में अपने से होता है। उस पर्याय में कोई पुण्य परिणाम है, कोई पाप (परिणाम) है। धर्म का भान होने के पश्चात् कोई संवर है, कोई निर्जरा हो, कोई बन्ध हो। ऐसी पर्याय द्रव्य में वर्तमान दशा में ऐसी पर्याय ज्ञानी को भी होती है। समझ में आया?

अज्ञानी को तो भान नहीं (कि) क्या विकल्प उठता है, क्या चीज़ है। दया, दान और विकार कर्म से हुआ है या मुझसे हुआ है या मैंने पर्याय विकल्प किया तो कर्म आये या कर्म उसके कारण से स्वतन्त्र आये? ऐसी स्वतन्त्रता की तो जिसे खबर नहीं, उसे तो आत्मा में से संवररूपी सम्यग्दर्शन दशा प्रगट होती नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो भगवान आत्मा एक समय में जो अनन्त गुण की राशिरूप पिण्ड एक वस्तु है। ऐसी अन्तर में दृष्टि करने से पराश्रयबुद्धि छूट गयी। मुझसे पर में कोई कार्य

होता है या दूसरे से दूसरे में कुछ होता है, ऐसी दृष्टि छूट गयी हो और दूसरी, अपने में पुण्य और पाप के विकल्प उठते हैं शुभाशुभभाव। दया, दान, ब्रह्मचर्य विकल्प आदि के आश्रय से दृष्टि छूट गयी हो।

अपना (आत्मा) शुद्ध चैतन्यमूर्ति एक समय में है। उसका दृष्टि में आश्रय लेकर सम्यग्दर्शनरूपी संवर पर्याय प्रगट हुई हो, उसे यह निर्जरा की पर्याय कैसी होती है, यह बात करते हैं। आहाहा! डालचन्दजी! क्या कहते हैं, देखो! निर्जरा कहो या धर्म-संवर कहो। धर्म की शुद्धि उत्पन्न हुई, उसका नाम संवर। निर्जरा-शुद्धि की वृद्धि का नाम निर्जरा। दोनों आत्मा की निर्मल पर्याय है। समझ में आया? यह निर्मल पर्याय कोई शरीर की क्रिया से या पर के कारण से उत्पन्न नहीं होती और निर्मल पर्याय, निर्मल पर्याय हुई, उसके आश्रय से नयी-नयी पर्याय उत्पन्न नहीं होती। समझ में आया?

धर्मी को-सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन हुआ। मैं शुद्ध द्रव्य हूँ—ऐसी दृष्टि (हुई है)। संयोग से मेरा कार्य है या संयोग में मेरा कार्य है, ऐसी दृष्टि उठ गयी है। और पुण्य-पाप के विकल्प मेरा कर्तव्य है, ऐसी दृष्टि उठी गयी और ज्ञानादि, दर्शन आदि एक समय की वर्तमान क्षयोपशम पर्याय है, उतना मैं हूँ, यह दृष्टि उठ गयी। मैं अनन्त गुण का एक राशि पिण्ड हूँ, ऐसी दृष्टि हुई। समझ में आया? तब संवर—सम्यग्दर्शनरूपी संवर उत्पन्न होता है। समझ में आया?

पश्चात् उसे जो शुभाशुभपरिणाम हैं, वे जितने प्रमाण में स्वभाव के आश्रय से रुकते हैं, यह उतनी अन्दर में शुद्धि की वृद्धि होकर आत्मा की पर्याय में निर्जरा होती है। भगवान! तू क्या कहता है, यह अभी खबर नहीं। छह द्रव्य कहे छह द्रव्य, नवतत्त्व, पंचास्तिकाय, ऐसा शब्द आता है या नहीं? छह द्रव्य क्या? छह द्रव्य के गुण क्या? छह द्रव्य की पर्याय किसमें है! भगवान जाने। छह द्रव्य हैं। लो!

मुमुक्षु : यह व्याख्यान प्राथमिक श्रोता के लिये है?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्राथमिक श्रोता के लिये प्रथम धर्म प्रगट कैसे हो, इसलिए प्राथमिक श्रोता के लिये यह कथन है। हमारा दलाल है न, दलाल, यह ऊँचे दर्जे की बात नहीं न, ऐसा कहे। यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त करना हो तो उसकी

नवतत्त्व की श्रद्धा कैसी होती है, उसे सुनाते हैं। समझ में आया? नौ तत्त्व, नौ तत्त्व की बात करे। नौ तत्त्व है, छह द्रव्य है, पंचास्तिकाय है। शब्द आवे। उसकी श्रद्धा। परन्तु उसकी श्रद्धा का अर्थ क्या? आता है न शब्द में तो सब आता है तारणस्वामी में। छह द्रव्य, नौ तत्त्व, पंचास्तिकाय। छह द्रव्य क्या? एक-एक द्रव्य में गुण कितने? उसकी पर्याय क्या? और पर्याय पर से भिन्न क्या? सब पृथक्-पृथक् है। किसी का आश्रय या किसी का अवलम्बन है नहीं। ऐसे नौ तत्त्व में नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। यह छह द्रव्य के भेद नौ हैं। समझ में आया? यह एक निर्जरा सम्यग्दृष्टि को शुद्धि में अपनी पर्याय में संवर की शुद्धि उत्पन्न हुई है, उसमें वृद्धि उत्पन्न होती है, वह कैसे और उसका क्या स्वरूप है, यह बताते हैं। कहो, समझ में आया? देखो! पश्चात्।

संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा जो जीव,... अब सम्यग्दृष्टि जीव अपने द्रव्यस्वभाव की अनुभवदृष्टि क्या है, मैं पर का तीन काल-तीन लोक में दया करनेवाला, हिंसा करनेवाला, झूठ बोलनेवाला मैं नहीं। समझ में आया? और कर्म में मैं नहीं और मुझमें कर्म है नहीं। और कर्म से मुझमें विकार नहीं। विकार है तो मुझे लाभ है, ऐसा नहीं। शुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प विकार राग। ऐसा जब राग से और कर्म से हटकर, एक समय की पर्याय का भी, एक समय की पर्याय जो है विकार, उसका भी आश्रय अवलम्बन छोड़कर ज्ञायक त्रिकाल अनन्त गुण की राशि का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ हो, उसे फिर शुभ और अशुभ की आसक्ति रही हो—सम्यग्दृष्टि को भी अभी शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं। सम्यग्दृष्टि को भी रौद्रध्यान, आर्तध्यान का भाव होता है। सेठी!

यह शुभाशुभपरिणाम रुकने से (और) अपने स्वभाव सन्मुख में लीन होने से शुभाशुभ रुके, उत्पन्न नहीं हुए, यह उसका नाम संवर कहा जाता है। गजब व्याख्या, भाई कठिन! कहो, समझ में आया? यह कहते हैं, देखो! **संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के...** यह भाई! उसमें क्या है? परिणाम के हैं न नीचे। **परम निरोध से....** परम निरोध क्यों कहा? पहला सम्यग्दर्शन में शुभाशुभ पुण्य-पाप के भाव मुझमें है ही नहीं और मुझे लाभदायक है नहीं। ऐसा निरोध दृष्टि में से तो किया है। समझ में आया?

परन्तु पश्चात् शुभाशुभपरिणाम उग्ररूप से चैतन्य के अवलम्बन में लीन होकर

पूर्णानन्द अनन्त गुण की राशि, यह शुभाशुभ परिणाम उत्पन्न होते नहीं, उसे शुभाशुभपरिणाम का निरोध किया, ऐसा कहने में आता है। अशुभपरिणाम उत्पन्न हुए और रोकता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

'**जो**' शब्द पड़ा है न? शास्त्र की भाषा ही कठिन है। यह तो अकेला रहस्य है। ऐसा कहा कि शुभाशुभपरिणाम का परम निरोध-रुकने से। रुकने से अर्थात् उत्पन्न हुए थे और रुके? समझ में आया? सम्यग्दर्शन में अपने स्वरूप और अनुभव की प्रतीति में अभी शुभाशुभपरिणाम रुके नहीं थे। शुभाशुभपरिणाम की रुचि छूटकर स्वभाव की दृष्टि हुई थी, परन्तु शुभाशुभ परिणाम रुके या उत्पन्न नहीं होते, ऐसा नहीं। ज्ञानी को शुभाशुभपरिणाम सम्यग्दृष्टि को दया, दान, भक्ति, पूजा के, भगवान के नामस्मरण, सब शुभभाव है। ऐसा होता है। और सम्यग्दृष्टि को हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग-वासना आर्तध्यान, रौद्रध्यान, व्यापार के, धन्धे के भाव होते हैं। वे अशुभ हैं। परन्तु यह सम्यग्दर्शन होने के बाद वे शुभ-अशुभपरिणाम, स्वभाव का अवलम्बन लेकर उत्पन्न नहीं होते, उसे रोकते हैं—ऐसा कहने में आया है। समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल है, जानता है कि हुआ है। परिणति में शुद्ध भी परिणति है, थोड़ी अशुद्ध भी परिणति है। दोनों हैं। क्या कहा? सेठी! समझ में आया? कि सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में रहे हों, छियानवें हजार स्त्री हो। समझ में आया? बड़ा चक्रवर्ती का राज्य हो। सम्यग्दर्शन हुआ तो राज्य-बाज्य छूट जाता है, (ऐसी नहीं है)। राज्य छूटा ही पड़ा है, अन्दर कहाँ घुस गया है। उस ओर की जरा आसक्ति का भाव है, अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से, तो सम्यग्दर्शन के भान काल में ऐसे अशुभभाव, शुभभाव ज्ञानी को होते हैं, तथापि उन्हें हेय जानता है। अन्तर में आनन्दमूर्ति मेरा स्वभाव, उसे उपादेय मानकर दृष्टि का समभाव द्रव्य के ऊपर है। और शुभाशुभभाव होने पर भी, बन्ध का कारण मानने पर भी, सम्यग्दर्शन में बिल्कुल दोष नहीं है। समझ में आया?

क्षायिक समकित हो और छियानवें हजार (रानियों के साथ) तीर्थंकर विवाह करे, क्षायिक समकित होने के बाद विवाह करे। डालचन्दजी! हाँ, नहीं क्या? सुना नहीं

न? तम्बाकू के व्यापार में लवलीन है न अभी तो। हाँ, सुना नहीं। तीर्थंकर चक्रवर्ती होते हैं। तीन ज्ञान और क्षायिक समकित लेकर आते हैं। पश्चात् छियानवें हजार (स्त्रियों) के साथ विवाह करते हैं। शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ ने किया। ऐ सेठ! सुना नहीं। बात सुनी नहीं। करते हैं। ऐसा राग है। ऐसा राग न हो, तब तो केवलज्ञान हो जाये। तो मुनिपना हो जाये। राग है। क्या कहा? समझ में आया?

क्षायिक सम्यग्दर्शन, श्रेणिक राजा लो न? श्रेणिक राजा का सुना है? हजारों रानियाँ थीं। तो उसमें क्या है? भोग की-विषय की वासना भी थी। वह चारित्रदोष है। सम्यग्दर्शन में बिल्कुल किंचित् दोष नहीं। ऐ सेठ! और कोई राग मन्द करके वह चीज़ छूट गयी हो तो सम्यग्दर्शन है, ऐसा नहीं है। यह चीज़ दूसरी, वह चीज़ दूसरी। दोनों चीज़ अलग है। समझ में आया? ज्ञानचन्दजी!

शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ सुना है या नहीं? तीनों चक्रवर्ती थे। उन्हें छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं। तो क्या विवाह करके जन्मे थे? जन्मे तब तो तीन ज्ञान, क्षायिक समकित लेकर जन्मे थे। तीन ज्ञान और क्षायिक समकित लेकर जन्मे थे। पश्चात् छियानवें हजार (स्त्रियों) के साथ विवाह किया। वे मानते हैं कि ये क्रिया मेरी नहीं। यह तो संयोग होता है तो आनेवाले थे तो आये हैं। मेरी अस्तित्व में नहीं। और मेरे अस्तित्व में जरा आसक्ति आयी है, वह चारित्र का दोष है। मेरे स्वरूप में वह दोष नहीं है। अभी थोड़ा समझना पड़ेगा। बराबर है।

मुमुक्षु : इसे जाननेमात्र से दोष से मुक्त हो जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र के दोष से मुक्त नहीं होता।

मुमुक्षु : ऐसा जान लेना कि मेरा दोष नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, ऐसा नहीं। अन्तर आत्मा में ज्ञान हुआ। आत्मा के सन्मुख में ज्ञान हुआ (कि) वह दोष मेरे स्वभाव में नहीं। पर्याय में दोष है, उतना चारित्र का दोष है, मेरा नहीं। सम्यग्दर्शन में दोष नहीं।

मुमुक्षु : साथ में नहीं रह सकते?

पूज्य गुरुदेवश्री : साथ में रहते हैं न! कहा न! आंशिक चारित्र है और आंशिक

अचारित्र है। यह बात कल सेठ ने पूछी थी। शुद्ध परिणति भी थोड़ी है और साथ में अशुद्ध परिणति भी ज्ञानी को है, चौथे गुणस्थान में। पाँचवें में, छठवें में। यहाँ तो अपने अधिक यहाँ लेना है। अभी तो शुभाशुभपरिणाम रोकने की बात है न? ज्ञानी को पंचम गुणस्थान में तो शुभाशुभपरिणाम अभी रुके नहीं। उत्पन्न है। समझ में आया? तथापि उन अनन्त द्रव्यों के संयोग में मेरा अस्तित्व नहीं है, ऐसा अन्दर में भान है।

यह तो भान भी कहाँ है? अभी तो खबर भी नहीं कि मैं क्या हूँ। और यह संयोग है, उस संयोग से अन्दर में त्याग का माप नहीं है। संयोग तो पूर्व के पुण्य के कारण से ज्ञानी को बहुत ही होते हैं, ढ़ेर-गंज। तथापि उस सम्यग्दर्शन में बिल्कुल दोष नहीं है। भाग पड़ते नहीं तो... संयोग दोष क्या है? और उस ओर की अपनी कमजोरी से जरा शुभाशुभपरिणाम आते हैं, उसकी भी अन्दर में आनन्द की उपादेयबुद्धि में उसे हेयबुद्धि वर्तती है। तो एक समय में शुद्ध सम्यग्दर्शन की भी परिणति है और उन पुण्य-पाप के भोग की वृत्ति की पर्याय साथ में है। एक समय में दो भाग है। तथापि उसके सम्यग्दर्शन में किंचित् दोष नहीं है। समझ में आया?

और वह राग सम्यग्दर्शन में दोष करावे तो कभी सम्यग्दर्शन होता ही नहीं। कभी सम्यग्दर्शन रहता ही नहीं। होता ही नहीं, रहता भी नहीं, वृद्धि भी नहीं होती। बहुत सूक्ष्म बात है। अभी लोगों को बाहर के माप पर माप है। सेठी! यह चीज़ है। तो क्या करने के लिये यहाँ समझाते हैं! संयोग के ढ़ेर हों समकिती को। कितने संयोग? लोगों तो ऐसा माने कि अरर्र! यह? हीरा का थाल, मणि की कटोरी और छियानवें हजार स्त्रियाँ ऐसे परोसे। कितनी उत्कृष्ट चीज़! एक-एक ग्रास की करोड़ों रुपये की कीमत! रसोईया उसका एक-एक बड़ा रसोईया। भावनगर के दरबार का दीवान हो, ऐसा तो उसका रसोईया बारह महीने की राह देखे। बारह महीने तक रसोई की सम्हाल करे। ....बड़ा अमलदार हो। वह अमलदार बारह महीने तक एक दिन का रसोईया का हुक्म करे। रसोईया को हुक्म करे। आज महाराजा साहेब के लिये यह रसोई बनाना। डालचन्दजी! तीन सौ साठ दिन एक अमलदार। वह बड़ा करोड़पति और बड़ा अरबपति अमलदार हो वह। चक्रवर्ती के लिये एक दिन के भोजन के लिये तीन सौ साठ दिन तजबीज करे।

यह बारह महीने में एक बार रसोईया को हुक्म करे कि आज महाराजा साहेब के लिये मैंने बारह महीने तजबीज की, तत् (प्रमाण) बनाना। ऐसे तीन सौ साठ तो अमलदार रसोईया, रसोईया नहीं। देखरेख रखनेवाले, स्पष्ट है। लोगों को भान नहीं पुण्य क्या है, पाप क्या है, पुण्य-पाप का फल क्या है, आत्मा क्या है, यह खबर नहीं इसलिए.... समझ में आया?

चक्रवर्ती भगवान के घर में ऐसा होता था। इसी प्रकार श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती थे। हजारों रानियों के वृन्द में पड़े थे। (तो) क्या है? भोग की वृत्ति भी थी, आस्रव तत्त्व। आस्रव न हो तो वीतराग हो जाये। और आस्रव है तो सम्यग्दर्शन में दोष है? बिल्कुल नहीं। इतना संयोग है तो सम्यग्दर्शन में बाधा है? बिल्कुल नहीं। यह तो नौ तत्त्व की भी खबर नहीं। बाहर में तो संयोग में अजीवतत्त्व हुए, उसमें आत्मा कहाँ आया? और अपनी पर्याय में जरा पुण्य-पाप के शुभाशुभपरिणाम आये, उसमें आत्मा कहाँ आया? आत्मा तो भिन्न है, उसका अन्दर में भान है।

बात तो बहुत ही सूक्ष्म है। जगत को मिली भी नहीं। बाहर में सब माना। मिथ्याभाव, मिथ्याश्रद्धा, संयोग कुछ घटे तो हम त्यागी हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है। वह तो अजीव का संयोग कम हुआ। उसमें जीव की पर्याय में क्या हुआ, यह तुझे खबर है? समझ में आया? जीव की पर्याय में तो जहाँ अन्दर में यह संयोग घटे, संयोग घटाये तो मेरा राग घटा, ऐसी मान्यता है, वहाँ मिथ्यात्व है। क्योंकि आत्मा त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वभाव है, ऐसी तो दृष्टि हुई नहीं। सहारा घटा नहीं और मेरे दोष घट गये। कहाँ से घटे? धूल में से। सेठिया! कठिन बात है। यह अजर प्याला है। झेलना कठिन! ऐ राजमलजी! अजर प्याला पीयो मतवाला, चिह्नि अध्यात्म भाषा। तारणस्वामी तो ऐसा ही कहते हैं कि ऐसी मान्यता करता है, वह निगोद में जायेगा। तेरा त्याग वैराग्य सब शून्य पड़कर निगोद जायेगा। जाये निगोदम् गच्छई, है या नहीं? बहुत ही कड़क भाषा है। बहुत गाथाओं में बहुत ही कहा है। निगोदम् गच्छई। तत्त्व की खबर नहीं। आस्रव पर्याय किससे होती है। अजीव का संयोग मन्द, तीव्र, उससे होती है। तेरा जीवद्रव्य कैसा है? तुझे कुछ नौ में क्या विवेक है (इसकी भी) खबर है? समझ में आया? डालचन्दजी!

उल्टी खतौनी होगी। अपनी और अपनी दृष्टि प्रमाण वह दूसरे की खतौनी करेगा।

समझ में आया? ऐसे मिथ्यात्वभाव से तो निगोद में जायेगा। सेठी! आहाहा! चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियाँ और आठ वर्ष में पंचम गुणस्थान आ जाता है। पश्चात् छियानवें हजार स्त्रियों के साथ विवाह करता है। क्षायिक समकिती है। बराबर सुनना, हों! पिताजी ने यहाँ मकान बनाया है तो तुम्हें सुनने के लिये यहाँ लाये हैं। उनका भाव ऐसा है कि कोई परिवार आदि से रहे, सुने, समझे। समझ में आया? नथुलालजी! यह कभी सुना भी नहीं होगा। भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि तेरे अजीव के संयोग के ऊपर से त्याग-अत्याग का माप है नहीं। और आत्मा में पुण्य-पाप के परिणाम हैं, उनसे धर्म-अधर्म का माप नहीं है। समझ में आया? नौ तत्त्व भिन्न है। यह तो अजीवतत्त्व है बाहर संयोग बाहर हुए, उसमें आत्मा के अस्तित्व में क्या घुस गया? कि उसे दोष लगे। समझ में आया? और उसमें जरा पुण्य-पाप के परिणाम हुए, वस्तु दृष्टि में तो सम्यक् में मैं ज्ञानानन्द हूँ, ऐसी दृष्टि अनुभव में आ गयी है। उसमें-द्रव्य में पुण्य-पाप के परिणाम घुस नहीं गये।

सम्यक् में किसे दोष लगे? आता है, वह आत्मा की पर्याय में आता है। भाव में आता है, वह अपने दोष से आता है। कर्म से नहीं। वह दोष से आता है, उसकी दृष्टि छूटकर द्रव्य पर-स्वभाव पर दृष्टि करे, तब सम्यग्दर्शन होता है। दोष है, परन्तु दोष से दृष्टि छूटकर निर्दोष चैतन्य पर दृष्टि की। दोष तो है। दोष न हो, तब तो वीतराग हो जाये। समझ में आया? दोष की दृष्टि छूट गयी। और निर्दोष चैतन्य पर दृष्टि हुई। दोष रहा अशुभ-शुभाशुभभाव। नौ तत्त्व किस प्रकार रहेंगे? आत्मा का ज्ञान हुआ तो आस्रवतत्त्व उड़ गया और बन्ध उड़ गया? हो गया मोक्ष? ऐसा है नहीं। सेठी! इसलिए तो यहाँ पहले कहते हैं। ज्ञानी को संवर सम्यग्दर्शन की दशा में संवर हुआ, शुद्धपरिणति हुई। साथ में शुभाशुभभाव अशुद्धपरिणति है। बहुत सूक्ष्म बात!

आत्मा में चारित्र नाम का गुण है द्रव्य के आधार से। उस चारित्रगुण का आधार द्रव्य की दृष्टि होने पर अपनी पर्याय में चारित्रगुण की शुद्धपर्याय का अंश प्रगट हुआ। उसी पर्याय में एक पर्याय में दो भाग रहे। थोड़ा अशुद्ध है और थोड़ा शुद्ध है। चारित्रगुण की पर्याय में। अभी पर्याय कौन (है, उसकी तो खबर नहीं)! समझ में आया?

त्रिकाल द्रव्य वस्तु अखण्डानन्द की दृष्टि होने पर चारित्र की पर्याय में आंशिक

शुद्धि हुई। सम्यग्दर्शन पूर्ण शुद्ध हुआ। ज्ञान भी स्वज्ञेय को जानकर ज्ञान की अपनी पर्याय शुद्ध हुई। साथ में चारित्रगुण की शुद्ध पर्याय के साथ उसी पर्याय में दो भाग हैं। थोड़ी शुद्धि है, थोड़ी अशुद्धि है। पुण्य-पाप, आर्तध्यान-रौद्रध्यान समकिती को होते हैं, इतनी अशुद्धि है। और जितनी द्रव्य के आश्रय से पर्याय शुद्ध हुई, उतनी शुद्ध है। शुद्ध है, उसे संवर-निर्जरा कहते हैं। अशुद्ध है, उसे पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध कहते हैं। सेठी! कितना आया, कितना फरमाना!

यहाँ नौ पदार्थ की बात चलती है या नहीं? तो सम्यग्दृष्टि को नौ पदार्थ ख्याल में कैसे है? चौथे गुणस्थान में, हों! ऐसा कि अभी तक हम मानते थे। कुछ ऐसा समझने की दरकार नहीं थी और मानते थे धर्म! यह दखल खड़ी की, ऐसा कहते हैं। हमारे दलाल हैं। मानते थे कि हम सब धर्म करते हैं न, उसमें यह दखल खड़ी की। नहीं, यह तेरी दृष्टि विपरीत है। समझ में आया? हम पर की दया पाल सकते हैं, पर की हिंसा कर सकते हैं, हम भाषा बोल सकते हैं। तो अजीवतत्त्व भिन्न नहीं रहा। नौ तत्त्व में अजीवतत्त्व है। तो अजीव की पर्याय अजीव से है तो तेरी श्रद्धा में (तो यह) आया नहीं।

नौ तत्त्व है न तो अजीवतत्त्व भिन्न है। यह वाणी, यह सब अजीवतत्त्व है। अजीवतत्त्व है। यह संयोग आवे, वह लक्ष्मी, धूल, यह लड्डू, दाल, यह मकान धूल यह सब अजीवतत्त्व है। वह अजीवतत्त्व अपनी पर्याय से वहाँ परिणम रहा है। तेरे कारण से आया नहीं और वह तेरी चीज़ है नहीं। अपनी मान्यता में माने परन्तु माने तो कहीं हो जाता है?

और आत्मा की पर्याय में शुभ और अशुभभाव होते हैं। शुभ पुण्य है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नाम, स्मरण, जाप, यह सब शुभराग है, विकल्प है। पुण्य विकार मैल है और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, यह पाप। एक पुण्यतत्त्व और एक पाप। दोनों मिलकर आस्रवतत्त्व। और इतना आत्मा अन्तर में शुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर मैं बिल्कुल विकल्प का कर्ता नहीं। पुण्य, दया, दान का मैं कर्ता नहीं। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि हुई, तब राग आया सही। तो राग के साथ स्वभाव के आश्रय से जितना संवर हुआ, उसके साथ उतने अशुद्धभाव का आस्रव भी रहा है। अशुद्धभाव न हो, तब तो केवल (ज्ञान) हो जाये और अशुद्धभाव अपनी दृष्टि के विषय और अपना कर्तव्य

माने, तब तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। आहाहा! देवीलालजी!

मुमुक्षु : संवर.....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आता है न, देखो! अभी आयेगा कोष्ठक में। **संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा...** युक्त अर्थात् सहित ऐसे। यह तो अमृत सिद्धान्त है, उसमें एक-एक शब्द में गम्भीरता पड़ी है। ऐसे का ऐसे पढ़ ले तो ऐसा नहीं है। संवर से शुभाशुभपरिणाम, शुभपरिणाम दया, दान, नाम स्मरण, भक्ति इत्यादि शुभ। हिंसा, झूठ, चोरी, भोग, वासना अशुभ। यह समकिती को सम्यग्दर्शन (रूप) संवर तो है। क्योंकि वह पर के संयोग में अपना अस्तित्व स्वीकार नहीं करता और संयोग में दशा होती है, वह मुझसे होती है, ऐसा नहीं मानता। और अपनी पर्याय कर्म से विकार से होती है, ऐसा नहीं मानता।

जिसे अपनी पर्याय में पराश्रितबुद्धि है कि पर से विकार है, उसे स्वाश्रितबुद्धि नहीं होती। समझ में आया? (बहुत से ऐसा मानते हैं कि) हमारे पुण्य और पाप के भाव क्या करे! कर्म के आश्रय से होते हैं। कर्म ऐसा उदय में आवे तो करना पड़ते हैं। मूढ़ है! समझ में आया? जिसके विकार के परिणाम में पराश्रितबुद्धि है तो उससे मुझे विकार होता है। संयोग ऐसे मिले तो मुझे विकार हुआ, (ऐसा मानता है)। संयोग तो पर तत्त्व है, अजीव है। कर्म अजीवतत्त्व है। उससे आस्रवतत्त्व हो तो नौ तत्त्व भिन्न रहे नहीं। समझ में आया?

अजीव का आश्रय छोड़कर पुण्य-पाप के परिणाम भी पर से नहीं होते। ऐसी (पर से होता है, ऐसी) दृष्टि छोड़कर, पर से नहीं होते। मेरी कमजोरी से (होते हैं)। परन्तु वह मुझमें नहीं। मैं ज्ञायक चिदानन्द हूँ। ऐसी दृष्टि हुई तो जितने पुण्य और पाप अभी बाकी रहे उतना आस्रव है। वह तो समझा जा सके, ऐसा है, हों! डालचन्दजी! बुद्धिवाले, परन्तु संसार में काम करते हैं तो उसका नाम नहीं। जानते हैं, हों! हम क्यों जानने के काम न करे। समझ में आया? अभी तो यहाँ अटका! शुभाशुभपरिणाम में रुक गया।

परम निरोध से युक्त... युक्त अर्थात् सहित, **ऐसा जीव....** अब उस जीव की

व्याख्या करते हैं। **वस्तुस्वरूप को (हेय-उपादेय तत्त्व को) बराबर जानता हुआ...** देखो! अब भाषा आयी। संस्कृत टीका में है। '**मुख्य निर्जराकारणोपन्यासोऽयम्। यो हि संवरेण शुभाशुभपरिणाम परमनिरोधेन युक्तः परिज्ञातवस्तुस्वरूपः**' संस्कृत टीका है। क्या है ज्ञानी? ऊपर संस्कृत लिया। वस्तुस्वरूप को, अर्थात् ज्ञायकस्वभाव परम पवित्र को उपादेयरूप से जानता है। और अजीव आदि को ज्ञेयरूप से हेय जानता है और दया, दान का विकल्प भक्ति, पूजा, व्रत का विकल्प उठता है, उसे हेय जानता है और अपना त्रिकाल शुद्ध स्वभाव को उपादेय जानकर जितनी निर्मल संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होती है, उस संवर को उपादेय मानता है, निर्जरा को हितकर मानता है, मोक्ष को परमहित मानता है और पुण्यपरिणाम, पापपरिणाम को हेयरूप स्वीकार करता है। समझ में आया?

देखो! क्या शब्द पड़ा है? वस्तुस्वरूप को हेय-उपादेय... संस्कृत में है। जयसेनाचार्य में है भाई! यह शब्द भाई ने इतना डाला न कि स्वरूप को जान, परन्तु जयसेनाचार्य की टीका में है। संस्कृत टीका में इस गाथा में ही है। '**अप्पदपसाहगो हि**' पहली पंक्ति में है। उसका संस्कृत किया है। '**आत्मार्थप्रसाधकः (हि) स्फुटं हेयोपादेयतत्वं विज्ञाय परप्रयोजनेभ्यो व्यावृत्य**' यह संस्कृत में है। समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि जीव को संवरपूर्वक निर्जरा होती है, उसका अर्थ यह। बाकी सम्यक्संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं और लाख, करोड़ अपवास करे, मर जाये शरीर सूखकर। किंचित् भी निर्जरा नहीं होती। अकेला मिथ्यात्व के साथ पाप का बन्ध (होता है)। राग मन्द हो तो पुण्य का बन्ध होता है। समझ में आया?

तो **शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा जो जीव, वस्तुस्वरूप को (हेय-उपादेय तत्त्व को) बराबर जानता हुआ...** '**मुणिउण**' है न '**मुणिउण**' पाठ में है। ज्ञानी जीव अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही जानता हुआ जानने की क्रिया के अतिरिक्त मेरी कोई क्रिया मुझमें है ही नहीं। रागादि की क्रिया होती है, वह मलिन है, वास्तव में तो वह मुझे मेरे ज्ञान का ज्ञेय है। समझ में आया?

बराबर जानता हुआ... अर्थात् नौ तत्त्व की जो द्रव्य-द्रव्य है, पर्याय है, मलिन

है, निर्मल है, उन्हें ऐसा बराबर जानता हुआ, समझ में आया? **परप्रयोजन से जिसकी बुद्धि व्यावृत्त हुई...** परप्रयोजनों का अर्थ-शुभाशुभ विकल्प का प्रयोजन जिसे छूट गया है। पर का तो कर्ता-हर्ता नहीं। अज्ञानी भी कर नहीं सकता, परन्तु परप्रयोजन शुभाशुभ परिणाम का प्रयोजन जिसकी बुद्धि में आकर व्यावृत्त हो गया है। नीचे (फुटनोट में) व्यावृत्त है न? निर्वतना; निवृत्त होना; विमुख होना। शुभ-अशुभपरिणाम में भी मेरा प्रयोजन क्या है? सम्यग्दृष्टि है। शुभाशुभभाव है। यहाँ तो विशेष निर्जरा कहनी है न? शुभाशुभपरिणाम में मेरा प्रयोजन क्या है? शुभभाव आया, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, स्मरण, विकल्प, उसमें प्रयोजन क्या है? वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया?

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के बाद की बात है। उत्कृष्ट संवर, निर्जरा की बात है। हाँ, ऐसी बात है। समझ में आया? **परप्रयोजन,....** परप्रयोजन शब्द से (आशय) विकल्प, शुभ-अशुभ विकल्प जो उत्पन्न होता है, उससे भी मुझे क्या प्रयोजन है? **बुद्धि व्यावृत्त हुई...** अपनी ज्ञानदशा उग्ररूप से स्वभाव का अवलम्बन लेकर इन शुभाशुभपरिणाम से बुद्धि व्यावृत्त-निवृत्त हुई है। दूसरे का प्रयोजन करते थे न, इसलिए ऐसा नहीं। दूसरा तो कर सकते ही नहीं। कहो, समझ में आया?

यह देश सेवा की, कुटुम्ब सेवा की, जाति की सेवा की। तीन काल, तीन लोक में कर नहीं सकता। किसकी सेवा करे? तेरे अस्तित्व में नहीं, वहाँ तेरा अस्तित्व कहाँ जाता है पर में कि पर का तू कर दे?

मुमुक्षु : आप तो.....

पूज्य गुरुदेवश्री : (हम) नहीं करते। हम तो हमारे में हैं। वाणी, वाणी में है। जरा कठिन बात है। लोगों को नौ तत्त्व क्या है, उसकी खबर नहीं। नव कहे तो नवरूप होना चाहिए न? नव में एक करके खीचड़ा कर डाले तो एक भी न रहे। तो सब नाश हो जाये। समझ में आया? **परप्रयोजन से जिसकी बुद्धि व्यावृत्त हुई है...** पहले सम्यग्दर्शन तो है, हों! परन्तु **युक्त ऐसा,....** ऐसा पहले कहा है न भाई? यह तो लीनता निर्जरा की बात है। स्वभाव का भान है। ज्ञायक हूँ और लीन होने के लिये तैयार हुआ है। और

शुभाशुभपरिणाम से रहित तो संवर हुआ है। अब, उसकी-निर्जरा की बात करते हैं। आहाहा!

परप्रयोजनों से जिसकी बुद्धि, ज्ञान की पर्याय उन शुभाशुभपरिणाम से भी हट गयी है। दृष्टि तो पहली रुचि से हट गयी थी। अब यहाँ चारित्र की बात है। दृष्टि में तो सम्यक् हुआ तो पुण्य-पाप की रुचि हट गयी थी। परन्तु पुण्य-पाप रहे थे। तो अब उग्ररूप से पुरुषार्थ करके शुभाशुभपरिणाम से भी व्यावृत्त, बुद्धि को व्यावृत्त करके स्वरूप की दृष्टि हुई है, ऐसे स्वरूप में स्थिर होता है। पहली दृष्टि हुई है, उसकी बात है, हों! अज्ञानी को तो ऐसा कभी होता ही नहीं।

केवल स्वप्रयोजन साधने में जिसका मन उद्यत हुआ है... अकेला आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप में मति, बुद्धि, भाव, परिणाम उद्यत हुआ है। तत्पर हुआ, लगना, उद्यमवन्त होना। पुरुषार्थ ज्ञानानन्द अनन्त गुण के पिण्ड में जिसकी बुद्धि लीन होने के लिये तत्पर हो गयी है। ओहोहो! निमित्त से दूर होकर, निमित्त मुझमें है नहीं, यह दूसरी बात परन्तु निमित्त पर लक्ष्य करता था तो आसक्ति का थोड़ा शुभाशुभपरिणाम में। उससे बुद्धि दूर करके स्वभाव में मन उद्यत करके अन्तर ज्ञानानन्द में... सम्यग्दर्शन तो है। विशेष अन्दर स्थिरता करके। **ऐसा वर्तता हुआ,...** देखो! ऐसा वर्तता हुआ।

ऐसा नहीं कहते कि कर्म कुछ मार्ग बतावे तो ऐसा वर्तता है। ऐसा है नहीं। हमारे कर्म पड़े हैं न? कर्म बहुत ही चिकने पड़े हैं न? थोड़े से कुछ घटे तो हमारा (कल्याण हो) मूढ़ है। वह तो अजीवतत्त्व है। अजीव से तुझमें कुछ हुआ और अजीव में तुझसे कुछ हुआ, ऐसा तो है नहीं। तो कहते हैं कि **उद्यत हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ,...** अपने पुरुषार्थ से अपने में वर्तता हुआ। कर्म ने मार्ग दिया और कर्म थोड़े घटे तो हमारे उद्यम हुआ, ऐसा है नहीं।

अपने कारण से उद्यम हुआ। दृष्टि तो थी.... आनन्द में, ज्ञायक में थी। उसके पश्चात् संवर भी हुआ। उसकी अंश में निर्जरा की बात करते हैं। ओहोहो! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन कब था। अभी तक भान नहीं किया। जेचन्दभाई! अभी

तक मुंडाया है दूसरा सब। कठिन लगता है। अभी तक दरकार कब की भाई! कभी दरकार की ही नहीं। ऐसी की ऐसी जिन्दगी निरर्थक गँवायी। जेचन्दभाई! कहाँ गये? ये बैठे! वहाँ अन्त में।

ओहो! कहाँ नौ तत्त्व नौ रूप क्या हैं? पुण्य क्या है। खोज की नहीं, तो उसे कठिन लगता है। अंक किसी दिन सीखा नहीं और पहला ऐकड़ा जाये तो उसका हाथ भी ऐसे चले नहीं। अभ्यास नहीं किया कभी। जो करने का है, वह किया नहीं। व्यर्थ के (काम) करके मर गया। समझ में आया? व्यापार धन्धे के परिणाम किये। क्या किया था तुमने? व्यापार किया था? कौन कहता है व्यापार किया था? व्यापार के राग के परिणाम किये थे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी बात करते हैं यह? यह बात तो आती है। हो। तो क्या है सुधारनेवाला तैयार नहीं है? उसकी बात तो चलती है। नौ (तत्त्व) को बराबर नौ रूप पहिचानो कि जिससे नौ (तत्त्व) का विवेक करके अपने में एकाग्रता हो। यह बात तो मोक्षमार्ग की चलती है। अन्धाधुन्धी।

मुमुक्षु : यही व्यापार करने का है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही व्यापार करने का है। दूसरा क्या है धूल में? पाँच पचास लाख मिले तो किसे मिले? इसके पास है? इसके पास ममता है। ममता की मालिकी है। उसकी मालिकी कहाँ है? धूल में? मालिकी हो तो साथ में आनी चाहिए। कहाँ साथ में लाये हैं? अपनी पर्याय में क्या आया? यह मेरा है, ऐसी ममता आयी। चीज़ नहीं आयी। चीज़ तो चीज़ में रही। बराबर?

अपने अस्तित्व में आना चाहिए न? अपनी अस्ति-अस्ति अर्थात् सत्ता। तो अपनी सत्ता तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों में है। तो लक्ष्मी क्या इसकी पर्याय में आ जाती है? ऐ सेठ! धूल में भी है नहीं। ऐसा वर्तता हुआ, इस पर वजन था। अपने मन को अपने स्वरूप में पुरुषार्थ करके। ऐसी निर्जरा होती है, उसका ज्ञान तो पहले करे! ऐसे अपवास कर दिये और निर्जरा हो गयी! समझ में आया? ऐसा-वैसा है नहीं। ऐ

प्रेमचन्दजी! क्या है देखो! यहाँ। कड़क बात है। हमारे देरियाजी कहते हैं कि भाषा कड़क है। कड़क क्या? समझ में आवे, नहीं इसलिए कड़क लगती है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समयसार में ऐसा शब्द है, हों! समयसार में शब्द है। यहाँ कहते हैं मूढ़ है। वह समयसार में बहुत शब्द पड़ा है। '**अण्णाणी मूढ़ा**' ऐसा शब्द है। कुन्दकुन्दाचार्य (कहते हैं), पर को जिला सकता हूँ, पर को आहार दे सकता हूँ। मूढ़ है, अज्ञानी! ऐसा पाठ है। समयसार में, हों! ऐसा पाठ है। कुन्दकुन्दाचार्य। समझ में आया? बन्ध अधिकार में, देखो!

जो मज्जदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो॥२४७॥

दो शब्द लगाये हैं। २४७ गाथा है। यह तो हमारे देरियाजी पूछे तो शब्द तो देना पड़े न? देखो! २४७ गाथा। '**जो मज्जदि जीवेही**' जो कोई मानता है कि मैं पर को जिला सकता हूँ और पर से मुझमें जीवन होता है। मैं जिला सकता हूँ। '**जो मज्जदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं, सो मूढो अण्णाणी**' दो शब्द लगाये हैं। सेठिया! '**मूढो अण्णाणी**' वह तो '**ध्रुव अण्णाणी**' पाठ में टीका में से आया है। ध्रुव अज्ञानी है। अज्ञानी है निश्चित अज्ञानी है। ध्रुव अज्ञानी है, निश्चित अज्ञानी है। मूढ है, उसे खबर नहीं। क्या तुझसे एक रजकण भी चलता है? पलक भी तुझसे चलती है? तुझसे अँगुली चलती है? वह तो जड़ की पर्याय जड़ में से होती है। जड़ के कारण होती है। तुझसे होती है? तू अजीव का मालिक हो गया, स्वामी (हो गया)। तेरा स्वामी चला गया? फिर विशेष बात कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२, गाथा-१४५-१४६
दिनांक - ०८-१०-१९६४, आसोज शुक्ल ३, गुरुवार

यह पंचास्तिकाय नौ पदार्थ का विस्तार चलता है। उसमें १४५ गाथा चलती है। देखो! क्या कहते हैं? निर्जरा की व्याख्या। नौ पदार्थ है, नौ पदार्थ। उसमें जड़ अजीव पुद्गल और जीव चैतन्य दो द्रव्य और सात तो उनकी पर्याय है। उसका ज्ञान करना पड़ेगा। जिसे हित करना है, उसे ज्ञान करना पड़ेगा कि यह क्या चीज़ है। हित न करना हो तो अनादि काल से अज्ञान में मानता आया है। अनादि से उलट-पुलट (मानता आया है)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं। उलट-पुलट अर्थात्? यह आस्रव को धर्म माना और धर्म नहीं, वहाँ धर्म माने, ऐसा उलट-पुलट। उलट-पुलट का थोड़ा सुलट हो, ऐसा नहीं है। उलटा और सुलटा और सुलटा को उलटा (माने)। चैतन्य को जड़ और जड़ को चैतन्य (माने) ऐसा। समझ में आया?

तो कहते हैं। पहले से देखो! **संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा जो जीव,...** गाथा १४५। पहले तो उसके बोध में ऐसा होना चाहिए कि शरीरादि जड़ की पर्याय जड़ से स्वतन्त्र होती है। मुझसे नहीं। अब यह कठिन पड़े तो फिर अब अन्दर अभी संवर तो कहीं रह गया। समझ में आया? वीतरागमार्ग तो दुनिया से अत्यन्त पृथक् है। समझ में आया? यह तो सर्वज्ञ से जाना हुआ, सर्वज्ञ ने कहा हुआ धर्म है। यह कोई कल्पित है और अपनी कल्पना से (बनाया है), ऐसी चीज़ नहीं है। समझ में आया?

तो कहते हैं, **संवर से अर्थात् शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से युक्त ऐसा जो जीव,...** क्या कहा इसमें? इतने शब्द में क्या कहा? कि जिसे निर्जरा-शुद्धता प्रगट होती है, वह यह जड़ शरीर, वाणी, मन, परपदार्थ की पर्याय होती है, वह मेरा कार्य है—ऐसा दृष्टि में से तो छूट गया। समझ में आया? और आत्मा में पुण्य और पाप के भाव जो होते

हैं, उनसे भी दृष्टि छूट गयी कि वह मेरी चीज़ है, उससे मुझे लाभ है, ऐसी तो दृष्टि पहले छूटनी चाहिए। दृष्टि छूटे बिना ज्ञायक चैतन्य अनन्त ज्ञानगुण का पिण्ड प्रभु, उसकी दृष्टि उसे नहीं होती। समझ में आया?

यह दृष्टि शुद्धि बिना धर्म (नहीं होता धर्म) का मूल तो दृष्टि है। यह है न? 'दंसण मूलो धम्मो' धर्म का मूल तो दर्शन है। तो दर्शन की शुद्धि की-दृष्टि की शुद्धि की खबर नहीं, उसे धर्म कहाँ से होगा? परन्तु मूल चीज़ की खबर नहीं। दृष्टि की शुद्धि, वह पूरे धर्म का मूल है। पश्चात् धर्म प्रगट होता है। तो पहले कहते हैं कि यह शरीर, वाणी, मन आदि अजीव है, उनकी जो क्षण-क्षण में पर्याय होती है, वह मेरे कारण से है ही नहीं, परन्तु निमित्त का अर्थ ही यह हुआ। यह बात तो दोपहर में चली न। एक निमित्त होता है, तथापि वह अपनी पर्याय प्रमाण जड़ परिणम रहा है। आत्मा के कारण नहीं। इस प्रकार जड़ की पर्याय को भी अपने से भिन्न मानने में न आवे इसे तो पुण्य और पाप के भाव अपने स्वभाव से भिन्न हैं, इसकी मान्यता सच्ची हो नहीं सकती। समझ में आया?

यह तो पृथक् द्रव्य है। शरीर, वाणी, मन, यह तो अनन्त पृथक् पदार्थ हैं। उनकी भी पर्याय होती है, वह मुझसे होती है, ऐसा मानता है, वह तो पराश्रितबुद्धि हुई। उसकी पर्याय उसके कारण से होती है। तुझमें तेरा विकल्प होता है, शुभाशुभ विकल्प हों, परन्तु उससे जड़ की क्रिया रुक जाये या बने, ऐसा (तेरा) अधिकार जड़ में नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है। यहाँ तो अभी आगे लेते हैं।

पहले जिसे अजीवतत्त्व, नौ तत्त्व है या नहीं? तो अजीवतत्त्व की पर्याय की दृष्टि छूट गयी और पश्चात् पुण्य और पाप के भाव आस्रव हैं, उनकी दृष्टि छूट गयी, यह नास्ति से कहा। दृष्टि कहाँ स्थिर हुई। जीव ज्ञायक चैतन्य ज्ञानगुण अनन्त-अनन्त स्वभाव का पिण्ड है। ऐसी दृष्टि वहाँ स्थिर हुई तो उसका नाम सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह धर्म की मूलभूत दृष्टि है। ऐ सेठी!

मुमुक्षु : कुछ सरल कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सरल है, दूसरा सरल क्या है? खोटी रीति से हो, वह सरल होता है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ?

मुमुक्षु : समाज को लेकर चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाज को कौन लेकर चले ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कारण कभी चलता ही नहीं। समाज में भी भिन्न-भिन्न आत्मा है या नहीं ? और परमाणु भिन्न-भिन्न तत्त्व है। कहो, सेठी ! क्या करना ? समाज को साथ लेकर चलना ? वह तो फँसा रहे। समझ में आया ?

यहाँ तो यह बात तो कहीं रह गयी। यहाँ तो कहते हैं कि पहले उसकी दृष्टि में एक आत्मा अनन्त-अनन्त अनन्त गुण का एक समूह स्वरूप चैतन्य, वह जड़ की क्रिया से हटकर कार्य नहीं करता उसमें। और पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वे मलिन अंश हैं। मेरे त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वभाव में वे नहीं हैं। ऐसी अन्तर्दृष्टि हो तब उसका नाम धर्म का मूल दृष्टि विशुद्ध, दृष्टि शुद्ध, दर्शनविशुद्धि कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

तो कहते हैं **शुभाशुभपरिणाम के परम निरोध से...** दृष्टि में से पहले तो शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति का भाव, वह मेरे स्वभाव में लाभदायक नहीं। ऐसी वहाँ से दृष्टि हटाकर अपने शुद्धस्वरूप पर दृष्टि की है। पश्चात् **शुभाशुभपरिणाम के निरोध से...** यह तो उत्कृष्ट बात चलती है न ? पश्चात् शुभाशुभ -परिणाम का रुकना। अर्थात् स्वभाव सन्मुख का उग्र आश्रय करना। बात भी अनजानी। दृष्टि की खबर नहीं और इसे धर्म करना है। दृष्टि स्वभाव पर रखे तो दृष्टि निकले। श्रद्धागुण में से दृष्टि निकलती है।

आत्मा में अन्दर श्रद्धागुण है। उसमें से दृष्टि पर्याय निकलती है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : पकड़ में नहीं आता। आप कहते हो परन्तु पकड़ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ में नहीं आता परन्तु (इसे पकड़ना तो पड़ेगा न ?) यह न पकड़ में आये तो दूसरा क्या करना ? समझ में आया ? पश्चात् **वस्तुस्वरूप को**

(हेय-उपादेय तत्त्व को) बराबर जानता हुआ... देखो! हेय-उपादेय है न? कल तो बहुत समझाया था। अजीव की पर्याय अजीव से वाणी, शरीर आदि जो होती है, वह उसके कालक्रम में पर्याय होती है—ऐसा जानता है; और पुण्य-पाप के परिणाम हेय जानता है। त्रिकाली द्रव्य अनन्त गुण का पिण्ड उपादेय जानता है और उसमें से शुद्धि की पर्याय संवर-सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वह संवर। शुद्ध एक समय की पर्याय जानता है और उसमें शुद्धि की वृद्धि हो स्वभाव के आश्रय से, शुभाशुभपरिणाम से हटकर, उसका नाम निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया?

और जितना आत्मस्वभाव शुभ और अशुभ राग में रुके, उसका नाम भावबन्ध कहने में आता है और जितने परिणाम आत्मा के आश्रय से पूर्ण शुद्ध निर्मल हो जायें, उसका नाम मोक्षपर्याय कहते हैं। अब यह इतना भी ज्ञान न करे और उसे सम्यग्दर्शन हो, (ऐसा नहीं होता)।

मुमुक्षु : इस काल में तो मोक्ष नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष ही है। मोक्ष नहीं है, ऐसा कौन कहता है? द्रव्य की दृष्टि हुई, वह मोक्ष ही है। द्रव्य मुक्तस्वरूप ही है। समझ में आया? पर्याय में केवलज्ञान पर्याय भले न हो परन्तु द्रव्य तो मुक्तस्वरूप ही है। राग से, भावबन्ध से, जड़बन्ध से आत्मा अत्यन्त मुक्त ही है। ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर मुक्त ही है, ऐसा पर्याय में भी मुक्त जैसा है, वैसा माना है। मुक्तएव आता है न? समयसार में-कलश १९८ में (आता है)। स हि मुक्त एव। मुक्त है, सुन तो सही!

भिन्न पदार्थ भासित हुआ जड़ जड़ में रहा, पुण्य-पाप, पुण्य-पाप में रहे। मेरे स्वभाव में तो अत्यन्त शुद्धता और आनन्द और नित्यानन्द प्रभु है। ऐसी धर्म की उत्पत्ति का कारण पहले सम्यग्दर्शन हुआ। धर्म तो चारित्र है। उसका कारण है धर्म सम्यग्दर्शन। कहो, समझ में आया? अब यह समझ में न आवे और धर्म हो जाये, (ऐसा नहीं होता)। सेठ! यह महिलायें न समझे तो क्या करना? समझना पड़ेगा। समझे बिना लाख अपवास करे न, ऐसे बाहर के ब्रह्मचर्य पाले न, दया पाले और दान करे, उसमें कुछ राग की मन्दता हो तो पुण्य होगा। धर्म-बर्म है नहीं।

मुमुक्षु : चर्चा करते-करते....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में.... चर्चा करते-करते जहर खाते-खाते अमृत होता है? राग तो जहर है।

मुमुक्षु : चर्चा करते-करते नजदीक तो आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नजदीक आवे नहीं। कौन कहता है नजदीक आवे। वह तो राग है। राग करते-करते अराग नजदीक आता है? समझ में आया? इसलिए तो यहाँ कहते हैं। बराबर वस्तु-स्वरूप को हेय-उपादेय जानना। पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं। होओ! परन्तु वे हेय हैं। जाननेयोग्य हैं।

भगवान ज्ञायकमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड, हेय-उपादेय ऐसी पहले समझ की, पश्चात् दृष्टि अन्तर में करना, वह सम्यग्दर्शन धर्म है। समझ में आया? **परप्रयोजन से जिसकी बुद्धि व्यावृत्त हुई...** लो! परप्रयोजन से शुभाशुभ परिणाम का प्रयोजन छूट गया है। परप्रयोजन कहो। बुद्धि व्यावृत्त हुई। पुण्य-पाप के परिणाम से अपनी बुद्धि दूर हुई। **और केवल स्वप्रयोजन साधने में जिसका मन उद्यत हुआ है...** यह तो उत्कृष्ट ऊँची निर्जरा की बात करते हैं न? समझ में आया? और मात्र स्वप्रयोजन साधने में जिसका मन, मेरा चैतन्य ज्ञानस्वरूप, उसमें अपना प्रयोजन अपना कार्य उसके आश्रय से सिद्ध होता है। पुण्य-पाप के विकल्प के आश्रय से अपने धर्म का कार्य सिद्ध नहीं होता। और जड़ के आश्रय से तो नहीं होता। समझ में आया? ओहो! यह चीज़ ही ऐसी है, ऐसा सत्पना है। ऐसा न जाने और उसे धर्म हो जाये, (ऐसा नहीं होता), धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन (हो जाए) और जन्म-मरण का अन्त आवे, ऐसा कभी नहीं बनता।

जिसका मन अपना स्वप्रयोजन साधने में वर्तता हुआ, ज्ञानानन्द स्वभाव में पहले समझण तो करे! अजीव क्या है? पुण्य-पाप क्या है? समझ में आया? **ऐसा वर्तता हुआ, आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके...** यहाँ तक तो कल आया था। कल सवेरे आया था। अब यह तो शब्दार्थ नया है। यहाँ तक तो कल सवेरे आया था। तत्त्व का अभ्यास नहीं और बाहर की प्रवृत्ति आदि एक तो मानो संसार की प्रवृत्ति के कारण

निवृत्ति नहीं। और निवृत्ति हो तो तत्त्व क्या है, उसकी प्रवृत्ति का विचार करना कि क्या निवृत्ति, उसकी खबर नहीं।

आत्मा को देखा! पर की क्रिया तो है, उससे दृष्टि छूट गयी कि मेरा कार्य नहीं, पुण्य-पाप परिणाम से दृष्टि छूट गयी कि यह मेरा स्वरूप नहीं। पश्चात् पुण्य-पाप के परिणाम से हटकर अपने चैतन्यस्वभाव के स्वप्रयोजन में जितना एकाकार होता है, वह आत्मा के स्वोपलब्धि से उपलब्ध करता है। देखो! **आत्मा (-अपने स्वानुभव द्वारा अनुभव करके),...** स्वोपलब्धि अर्थात् अनुभव को प्राप्त करके। वस्तु पूरी शान्ति और वीतरागस्वभाव से आत्मा भरपूर है। वह पुण्य-पाप से हटकर, जड़ से हटकर स्वभाव का अवलम्बन लेकर अपना प्रयोजन स्वअनुभव आत्मा का किया, उस अनुभव से अनुभव की प्राप्ति। **स्वानुभव द्वारा अनुभव करके...** विकल्प द्वारा नहीं।

क्या कहते हैं? जरा! गुण गुणी के भेद का विकल्प उसमें उठता है। मैं अनन्त गुण का पिण्ड हूँ, यह गुण आधेय है और वस्तु आधार है—ऐसा जो भेद का विकल्प है, उस द्वारा नहीं। **आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके...** यह उसकी विधि है। यह विधि समझ में न आवे तो प्रयोग में कहाँ से रखे? आत्मा अनन्त गुण का पुंज प्रभु! उसमें पुण्य-पाप भी नहीं, शरीर की क्रिया भी नहीं। ऐसी (उनकी) दृष्टि छोड़कर अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, पश्चात् शुभाशुभ परिणाम से हटकर स्वरूप में एकाग्रता का इस अनुभव द्वारा आत्मा का अनुभव करके; विकल्प द्वारा नहीं। पुण्य-पाप द्वारा तो नहीं परन्तु गुण-गुणी के भेद द्वारा भी अनुभव नहीं होता। समझ में आया?

इस विधि की खबर नहीं। हम हलुवे का दृष्टान्त देते हैं न? शीरा, शीरा को क्या कहते हैं? हलुवा कहते हैं न? यह हलुवा। हलुवा बनाते हैं तो उसमें पहले घी में आटा सेंकते हैं न? आटा तो घी में सेंकते हैं। फिर गुड़ और शक्कर का पानी डाले न! कोई होशियार महिला निकली कि सासुजी! हम तो हलुवा बहुत सस्ता कर देते हैं। क्या है कि यह आटा घी पी जाता है। तो क्या करना है? गुड़ का और शक्कर का पानी बाद में डालते हैं न, तो पहले ही गुड़ और शक्कर के पानी में आटा सेंके, फिर घी डालेंगे। क्या है धरमचन्दजी! समाज में क्या होता है उसमें?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं कि तेरा (आत्मा) अन्दर आनन्दकन्द है, ऐसी दृष्टि पहले करो, वह विधि है। पहले ऐसा का ऐसा व्रत और क्रिया और दया, दान करे—गुड़ का पानी आटा में पहले डाले और फिर घी डाले तो हलुवा नहीं होगा, पोटीश होगी। पोटीश भी नहीं होगी। पोटीश में तो हल्का-फुल्का घी होता है। ऐसा कहते हैं न भाई! हमारे काठियावाड़ में जातुं-वळतुं घी ऐसा कहते हैं। जातुं-वळतुं अर्थात् क्या? ऊपर-ऊपरी। समझ पड़ी या नहीं? तुम्हारी हिन्दी भाषा में कुछ कहते होंगे? थोड़े ऊपर पोटीश करते हैं न थोड़ा! गेहूँ की। हमारे काठियावाड़ में जातुं-वळतुं कहते हैं, ऐसा थोड़ा-थोड़ा। उसमें तो अकेला आटा गुड़ के पानी में सेंकने से और फिर घी डालने से तो पोटीश भी नहीं होगी तो हलुवा तो कहाँ से होगा? सब पानी में जायेगा। डालचन्दजी! बराबर है? हलुवा की विधि बिना हलुवा बनाये तो? नहीं होगा। चिकना होकर चिपक जायेगा। पोटीश भी नहीं होगी। फोड़ा के ऊपर बाँधने की।

हलुवा को भी यदि विधि बिना करे तो नहीं तो आत्मा में आत्मा के धर्म की विधि क्या है, यह समझे बिना किये जाये। आत्मा की दृष्टि-शुद्धि क्या है, वह हमें खबर नहीं। हमारे तो करो व्रत और तप, दान, पूजा, भक्ति और यात्रा। सब बिना एक के शून्य हैं। समझ में आया? ऐसे हलुवा नहीं होता। हलुवे की विधि से हलुवा होता है। महँगा पड़े। भाई! हमारे तो महँगा पड़ता है। महँगा कहते हैं न? महँगा पड़ता है। भाई! आटा घी पी जाये, पश्चात् घी तो पचे नहीं। थोड़े शक्कर के पानी में सेंकने से फिर थोड़ा घी डाले। थोड़ा डालने से पोटीश जैसा भी नहीं होगा? शीरा-हलुवा कैसे होगा?

उसी प्रकार भगवान कहते हैं कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह मोक्ष का मार्ग है। उसमें पहले दर्शनशुद्धि बिना तेरा ज्ञान और व्रत, तप और चारित्र कभी तीन काल में नहीं होगा। समझ में आया? यह भी खबर नहीं। हमारे तो बस करना है, हमें समझण कुछ नहीं, परन्तु बस अपवास करो, सामायिक करो, प्रौषध करो, नमो... नमो... नमो। तीन दिन नहीं खाये, आठ दिन नहीं खाये, अपवास किये। यह दस दिन दशलक्षण के

अपवास किये। क्या किया? क्या किया? वह तो जड़ की क्रिया है। आहार, पानी आने का नहीं था तो नहीं आया। उसमें तूने क्या किया? तुझमें कोई राग की मन्दता हुई हो तो पुण्य है। और उसमें तेरी दृष्टि वहाँ पड़ी है तो मिथ्यात्वभाव है। देवीलालजी!

मुमुक्षु : कोई अपवास करे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? करता है कौन? उपवास तो आत्मा स्वभाव में उप अर्थात् समीप में बसना, उसका नाम उपवास है। उपवास। बाकी यह तो अपवास है। भान बिना!

यह तो यहाँ कहते हैं कि पहले हेय-उपादेय तत्त्व क्या है। ज्ञेय-ज्ञायक क्या है? हेय-उपादेय क्या है, ज्ञेय-ज्ञायक क्या है। ऐसी समझण आये बिना तुझे आत्मा की दृष्टि नहीं होती। और आत्मा की दृष्टि बिना स्वरूप में स्थिरता नहीं होती तो निर्जरा और संवर नहीं होते। समझ में आया? ऐ सेठ! कठिन बात है। क्या करना? पहले समझण करके ज्ञान का सुधार करना और ज्ञान का सुधार करके पश्चात् अन्तर्मुख दृष्टि करके आत्मा की पहिचान करना। यह पहला धर्म है। समझ में आया? बाकी तो चलता है। पूरी दुनिया चलती है वैसे। यह तो अनादि काल से चलता है। केवली के समय में भी कोई संसार का अन्त आया नहीं। अनन्त काल संसार रहेगा। आस्रव और बन्ध तत्त्व का किसी दिन नाश नहीं होगा। सब अनादि से चला आता है।

कहते हैं, **आत्मा को स्वोपलब्धि से उपलब्ध करके...** यह भाषा ली है। क्यों? यह कहते हैं, देखो! **गुण-गुणी का वस्तुरूप से अभेद होने के कारण...** समझ में आया? शरीरादि क्रिया मेरी है तो दृष्टि में से छूट गयी, वह तो होने की हो तो होती है। पुण्यपरिणाम भी उत्पन्न होता है तो शुभभाव भी आस्रव है, बन्ध का कारण है। और उससे हटकर अपने स्वभाव सन्मुख में यह भगवान आत्मा गुणी है और ज्ञान, आनन्द उसके गुण हैं, ऐसा भेद भी इस विकल्प में से छूट जाना चाहिए।

गुण-गुणी का वस्तुरूप से अभेद होने के कारण... दोनों भिन्न नहीं है। वही गुण और वही गुणी, गुणी के आधार में रहनेवाला गुण और गुणी आधेय, गुणी के आधार से रहते हैं। ऐसा अभेद होने से, **उसी ज्ञान को—स्व को...** ज्ञान कहो या आत्मा

कहो। **ज्ञान को—स्व को—स्व द्वारा...** देखो! अपने स्व को स्व के द्वारा, ज्ञान को ज्ञान द्वारा, आत्मा को आत्मा द्वारा। आहाहा! देखो! समझ में आया?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दर्शन, यह किसकी लगायी है? यह बबूल को बांथ में जकड़कर बबूल छूटता नहीं, ऐसा कहे तो क्या करना भाई! बावळ समझते हो? बावळ-वृक्ष, वृक्ष। बांथ में भरे और फिर कहे कि वृक्ष छूटता नहीं। तो क्या करना? क्या करना क्या? हाथ छोड़ देना।

मुमुक्षु : वृक्ष को उखाड़ डाले तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वृक्ष को उखाड़ेगा तो साथ में स्वयं भी गिरेगा। वृक्ष और आदमी दोनों गिरेंगे। कदाचित् वृक्ष ऐसे गिरेगा तो सिर के ऊपर वृक्ष पड़ेगा। बावळ समझते हो न? बबूल। वृक्ष, कांटेवाला होता है। अरे! बबूल ने मुझे पकड़ रखा है। हाथ छोड़ दे। किसी ने तुझे पकड़ा नहीं। समझ में आया? जेचन्दभाई! पकड़ रखा है अन्दर ऐसे, मेरा प्रकाश और मेरा शरीर और मेरी धूल! ऐई! जेचन्दभाई! इस ममता को पकड़ रखा है, बापू! यह ममता, भाई! तूने की है, बापू! किसी ने की नहीं। परन्तु खबर नहीं होती। यह मेरा और यह तेरा। भाई!

प्रभु! तू तो महा वीतरागस्वभाव तुझमें है। परन्तु भूलकर यह मेरे और यह.... यह ममता तो तूने की है। किसी ने पकड़कर करायी नहीं है। दृष्टान्त दिया था न बन्दर का। बन्दर होता है न, तो बोर थे इतने-इतने। बोर कहते हैं न? बेर। इतने-इतने काशी के बोर पचास, सौ। घड़े में, घड़े में। तो घड़े का मुख छोटा था। अन्दर हाथ तो डाला परन्तु हाथ बोर पकड़े थे तो हाथ बाहर निकले ही नहीं। (उसे ऐसा हुआ कि) किसी ने हाथ पकड़ रखा है। तूने पकड़ा है बोर को। किसी ने पकड़ा नहीं। सुन न! हाथ में से छोड़ दे न! हाथ तो अन्दर चला गया। अरे! किसी ने पकड़ा है। अन्दर में भूत है। जेचन्दभाई!

मुमुक्षु : वह यह दुःख कैसे मिटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : ले, यह किसकी बात चलती है? यह किसकी बात चलती है

भाई! वह यह ममता मिटे तो दुःख मिटे। इसके बिना दुःख मिटे, ऐसा है नहीं। शरीर की बात नहीं, हों! शरीर में दुःख है नहीं। ममता का दुःख है। अन्तर में आत्मा के आनन्द का आश्रय करके दुःख मिटता है। दूसरा कोई उपाय तीन काल, तीन लोक में है नहीं। यह तो उसे अभी शरीर का दुःख मिटाना है। शरीर की पर्याय... जेचन्दभाई! शरीर की पर्याय को, बापू! यह दुःख नहीं है। यहाँ तो पहले कहा न कि वह तो जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय में दुःख कहाँ से आया? दुःख कहाँ होता है, जहाँ आनन्द होता है, वहाँ दुःख होता है।

आत्मा में आनन्द है, उसकी उल्टी दशा में दुःख है। जड़ में कहाँ आनन्द है कि उसमें दुःख हो? बराबर है, देवीलालजी! यह दुःख? इस रोग में दुःख? शरीर में रोग हो तो वह तो मिट्टी की अवस्था है। यह मुझे होती है, ऐसा अजीव को अपना मानना, ऐसी मान्यता का दुःख है। ओहोहो! दुःख तो अपनी पर्याय में, आनन्द की उल्टी अवस्था में होता है न? पर में आनन्द है? उसमें दुःख है? आनन्द तेरा स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल शान्तरस से आत्मा भरा है। भगवान केवलज्ञानी अनन्त शान्तरस से उत्पन्न हुई वह पर्याय कहाँ से आयी? वह अन्तर में से आयी है। ऐसा पूर्ण भरा है, उसकी दृष्टि किये बिना यह मेरी चीज़ और मैं इसका। यह पुण्य-पाप मेरी चीज़ और मैं इनका, ऐसी (उल्टी) मान्यता का नाम भगवान दुःख कहते हैं।

वह दुःख मिटाने का उपाय आनन्द का आश्रय लेने से दुःख मिटता है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहाहा! अरे! आनन्द क्या? अभी तो निर्णय करने का भी ठिकाना नहीं। समझ में आया? यहाँ तो नौ तत्त्व की बात चलती है न! कल से चला आता है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर चले। अब निर्जरा का अधिकार चलता है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर छह तत्त्व तो चले। अब सातवाँ अधिकार चलता है। पहले से है। परन्तु ध्यान कहाँ रखते हैं! वह-वह प्रकाश अन्दर याद आता है, उल्टा प्रकाश। यह चैतन्य प्रकाश नहीं।

मुमुक्षु : शरीर में तकलीफ हो तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : इस शरीर में तकलीफ? क्या बात की? सुनते हैं कहाँ यह?

शरीर में तकलीफ है ही नहीं। वह तो इसकी पर्याय है। उसमें तकलीफ कहाँ से आयी? उस पर दृष्टि रखने से, वह अस्तित्व भिन्न है। मुझमें हुआ? मुझमें हुआ, इस मान्यता का दु:ख है। आहाहा! अस्तित्व जिसकी सत्ता ही भिन्न है, उसमें दु:ख कहाँ आया? ऐसा हुआ और अमुक (हुआ), वह तो जड़ की पर्याय है। कभी नौ तत्त्व क्या भिन्न है, इसका अभी विवेक-श्रद्धा ही नहीं की। सम्यग्दर्शन तो बाद में। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं **गुण-गुणी का वस्तुरूप से अभेद होने के कारण...** ज्ञान को कहो या आत्मा कहो, दोनों एक ही बात है। **ज्ञान को—स्व को—स्व द्वारा...** चैतन्य प्रभु अपना आत्मा, वह ज्ञान स्वरूप कहा, वहाँ गुण-गुणी.... भिन्न है और उस चीज़ को ही आत्मा कहा, ज्ञान कहा। वह अपने ज्ञान को अथवा आत्मा को। स्व द्वारा। अपने ज्ञान-आनन्द की दृष्टि करने से, उसके द्वारा, **अविचल....** देखो! विकल्प नहीं, शरीर नहीं। यहाँ हो तथापि ऐसा होता है। आहाहा! खबर नहीं कि क्या करता है! अभी उसके **स्व को—स्व द्वारा...** समझ में आया? **अविचलपरिणतिवाला होकर संचेतता है,...** लो! सम्यग्दर्शन उपरान्त की यहाँ बात है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन तो अपने स्वरूप की पुण्य-पाप से भिन्न, देह की क्रिया से भिन्न एक समय की अवस्था जितनी भी वर्तमान प्रगट अवस्था है, उतना भी मैं नहीं। पूर्ण शुद्ध द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखने से राग और स्वभाव की एकताबुद्धि का नाश होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन कहते हैं। पहले में पहली चीज़ यह है। यह उसकी पहले समझण करना कि यथार्थ क्या है? उसका नाम पहले भास कहने में आता है। पश्चात् स्वरूप में स्थिरता करने से भगवान वीतराग विज्ञान घन में शुभाशुभ विकल्प से भी हटकर अन्तर में स्थिरता करने से **अविचलपरिणतिवाला...** परिणति अर्थात् पर्याय। स्वरूप में इतना लीन हो कि जो पर्याय में विचलित न हो, फिरे नहीं। संचेतता अर्थात् आत्मा को ऐसा अनुभव करता है। कहो, समझ में आया?

पहले विधि समझे, फिर विधि का प्रयोग करे। विधि समझे बिना.... माल लेने जाते हैं तो, शाक-भाजी लेने जाते हैं तो उसे पहले से ऐसा कहते हैं कि पाँच रुपये हैं, मुझे सब्जी दे। शाक कहते हैं न? सब्जी दो, पाँच रुपये की सब्जी दो। कौन सी सब्जी?

मुझे खबर नहीं। यह पचास प्रकार की सब्जियाँ हैं। कौन सी सब्जी? मुझे खबर नहीं। हमारे पिताजी ने पाँच रुपये दिये हैं कि सब्जी ले आओ। परन्तु किसकी सब्जी? वह मूर्ख कहे। ....ले। सबमें से निकालकर यह लौकी मुझे चाहिए। उनचास चीज़ नहीं, मुझे लौकी चाहिए। रास्ता अवसर हो तो दूसरी चीज़ में मुझे करेला चाहिए। इसी प्रकार पर से भिन्न करके लक्ष्य करके बोलता है तो साता मिलती है। तो इस जगत में मैं कौन हूँ? राग, वह भी एक पुण्यास्रव है, धर्म नहीं।

यहाँ तो गुण मैं और यह गुणी, ऐसा भी नहीं। यह तो ज्ञान वह आत्मा। आत्मा वह ज्ञान। बस ऐसा। मूल तो दो की बात करते हैं। पुण्य-पाप का विकल्प है, वह आत्मा नहीं। परन्तु ज्ञान वह आत्मा और आत्मा, वही ज्ञान। दोनों एक ही चीज़ है, ऐसा कहना है। उसमें अपना अनुभव ज्ञान द्वारा, **अविचलपरिणतिवाला...** अन्तर्मुख में विकल्प से छूटकर, छूटकर यह तो नास्ति से कहना है परन्तु अन्तर में आया तो विकल्प से हट गया ही है। अन्तर में अविचलित अवस्था द्वारा, अविचलित परिणति द्वारा संचेतता है। अपने आत्मा को अन्तर अनुभवता है। उस अनुभव की दशा को निर्जरा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

किसी को यह बात बड़ी एल.एल.बी. की लगे। एल.एल.बी की नहीं, अभी यह तो एकड़ा के शून्य की बात है। धर्म की बात भी अभी सुनी नहीं और ऐसा कर दे, गृहस्थ व्यक्ति हो पाँच, पचास हजार, लाख, दो लाख खर्च कर डाले, (उसे सब) धर्म धुरन्धर का खिताब दे। सेठ! 'समाजभूषण' तुम्हारे पिताजी को पद दिया है या नहीं? वह तो बाहर में तो ऐसा ही दे न? उसमें क्या है? 'आत्मभूषण' है, यहाँ तो यह कहते हैं।

मुमुक्षु : समाजभूषण में सुख है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सुख नहीं। समाजभूषण वहाँ मरता है तो क्या कहलाता है? गिरवी छोड़कर जाना पड़ता है? गिरवी रखो हमारी इज्जत को। सेठ! बाहर की बात क्या है! धूल में, यह पाँच, पचास लाख मिले, करोड़, पाँच करोड़ मिले न। धूल के सेठ हैं। यह तो सब धूल के सेठ।

यहाँ तो दूसरी बात है कि पुण्य परिणाम आते हैं, उनका भी सेठ हो तो मिथ्यादृष्टि

है। परिणाम, हो! मन्द कषाय के, पुण्य के, दया के, वह मेरा स्वरूप और उनका स्वामी हो तो मिथ्यादृष्टि सेठ है। मिथ्यात्व का सेठ है। नटुलालजी! बहुत कड़क बात है, हों! सागर में आये थे न? दूध लेकर आये थे। दूध लेकर आये थे न? समझ में आया? ओहो! पहले समझना चाहिए। पहले इसे स्वाध्याय, सत्समागम से बराबर समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान करना चाहिए।

सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् स्वरूप-सन्मुख का प्रयोग अन्तर्मुख की दृष्टि करना, वह पहले में पहली दृष्टि शुद्धि, वह धर्म है। समझ में आया? यह तो बाद की बात चलती है। पश्चात् स्वरूप में लीनता करने में अपने स्वभाव का अनुभव उग्र हो, पुण्य-पाप से हटकर, वह **वह जीव वास्तव में अत्यन्त निःस्नेह वर्तता हुआ...** देखो! वह जीव वास्तव में, यथार्थरूप से **अत्यन्त निःस्नेह वर्तता हुआ...** देखो! है न? (नीचे फुटनोट में) निःस्नेह=स्नेहरहित; मोह-राग-द्वेषरहित। विकल्प की चिकनाई का भाव भी नहीं रहा। थोड़ा, उसे गिनते नहीं। इतना राग टलकर अन्दर स्वभाव सन्मुख एकाकार हुआ है, अत्यन्त निःस्नेह वर्तता हुआ, ओहोहो! स्निग्धता भी नहीं जरा। यह दया, दान का विकल्प भी चिकनाई है। उससे हटकर द्रव्यस्वभाव सन्मुख झुकना और विशेष उग्रता से पुरुषार्थ से लीन होना।

जिसको स्नेह के लेप का संग प्रक्षीण हुआ है,... देखो! दृष्टान्त दिया। **ऐसे शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भाँति...** अन्दर चैतन्य शुद्ध स्फटिक स्तम्भ है। देह देवालय में, जैसे स्फटिक में चिकनाई निकले, (उसी प्रकार) शुद्ध स्फटिक स्तम्भ स्थिर दिखाई दे, वैसा आत्मा शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भाँति, **जिसको स्नेह के लेप का संग प्रक्षीण हुआ है, ऐसे शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भाँति...** उसी प्रकार आत्मा। राग के विकल्प की चिकनाई छूट जाना। स्फटिक जैसे शुद्ध है, वैसे आत्मा शुद्ध स्फटिक देह प्रमाण भिन्न अपने अनुभव में आना, इसका नाम वीतरागता और इसका नाम निर्जरा कहते हैं। ओहोहो!

आचार्य किसे कहते हैं? यह पंचम काल के आचार्य, जिन्हें अभी नौ सौ वर्ष हुए हैं। प्राणी को कहते हैं या चौथे काल के जीव को कहते हैं? पंचम काल के प्राणी

को कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य नौ सौ वर्ष पहले तो हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले हुए हैं। श्लोक के कर्ता। अरे! प्राणियों! ऐसा करो। तो कर सकता है, उसे कहते हैं या नहीं कर सकता, उसे कहते हैं? हाँ, कर सकता है। परन्तु कभी किया नहीं, इसलिए खबर नहीं पड़ती। कर सकता है। करो आत्मा! तुम इतनी समझण करो। प्रभु! तेरी प्रभुता में तो पुण्य-पाप भी नहीं है, तेरी प्रभुता में जड़ता, शरीर की पर्याय बिल्कुल नहीं है। ऐसी समझण करो और समझण करके अपने स्वरूप की दृष्टि करो। मेरा ज्ञान सच्चिदानन्द ज्ञाता-दृष्टा है। और पश्चात् शुभाशुभपरिणाम की आसक्ति ज्ञानी को उत्पन्न होती है तो उससे हटकर स्वभाव में लीन हो। तो जितनी लीनता और अविचल परिणति हुई, उतनी शुद्धि हुई। उसे निर्जरा कहते हैं। कहो, समझ में आया? कहो, ज्ञानचन्दजी! आहाहा!

अब शरीर का खोखा बाहर पड़ा रहा और आत्मा अन्दर भिन्न स्फटिक रत्न जैसा। कुछ सम्बन्ध नहीं होता पर के साथ। यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी वास्तव में सम्बन्ध है नहीं। हें? भगवान ज्ञायकमूर्ति प्रभु! वह तो ज्ञेय पर। यह ज्ञेय और ज्ञायक, यह भी व्यवहारसम्बन्ध है, परमार्थसम्बन्ध नहीं। आहाहा! ऐसे चैतन्य को अन्तर्दृष्टि करके, स्वभाव की अनुभवदृष्टि करके, पश्चात् पुण्य-पाप के परिणाम भी ज्ञानी को होते हैं। सम्यग्दृष्टि है, गृहस्थाश्रम में है, राजपाट के परिणाम हों परन्तु उन परिणाम से हटकर जितनी स्वरूप में स्थिरता करता है। भरत चक्रवर्ती जैसे छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं परन्तु जब निवृत्त होते थे, अन्दर ध्यान में आ जाते थे। छह खण्ड का राज्य हो, विकल्प उठता था, हुकम करे—ऐसा करो और वैसा करो। हो जायेगा सब। वे तो क्षायिक समकिती थे।

राजा को ऐसा हो तो लड़ाई करने का भी कहे। समझ में आया? वाणी तो वाणी की क्रिया है परन्तु अन्दर राग आवे तो समझता है कि यह दोष है। मेरे चारित्र का दोष है। मैं स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता। समझ में आया?

यह बात कहते हैं कि जब वे भी अन्दर ध्यान में आते हैं, तो विकल्प को छोड़कर स्वरूप में इतनी लीनता करते हैं, उतनी निर्जरा होती है। परन्तु अपने चैतन्य का क्या

माहात्म्य और कैसी चीज़ है, यह माहात्म्य! धूल का, पैसे का, इज्जत का, कीर्ति का। शरीर रूपवान। शरीर मिट्टी, उसका माहात्म्य! और अन्दर पाप के परिणाम तो कहते हैं कि हम करते हैं। कोई न करे ऐसा व्यापार हम करते हैं, कोई न करे ऐसा हम करते हैं। क्या करता है? पाप के परिणाम! और या तो करे पुण्य के परिणाम। देखो! भाई! हम कितना धर्म करते हैं। पाँच लाख की पूँजी, एक लाख छोड़ दिये। लो! समझ में आया?

मुमुक्षु : सौ की पूँजी हो और पाँच हजार दे दे.....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ है? इसके पास हो उसमें से दे कि, पाँच हजार हो तो पाँच हजार दे देवे। तो भी राग जितना मन्द पड़े, उतना पुण्य है। वह दे सकने की क्रिया उसकी है क्या? समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं कि अन्तर स्वभाव चैतन्यधीठ अकेला स्फटिक रत्न का जैसा पत्थर हो, वैसे चैतन्य स्फटिक रत्न के-चैतन्य स्फटिक रत्नस्वरूप अत्यन्त देह से, कर्म से निराले की दृष्टि करके फिर यहाँ ध्यान की बात करते हैं। शुभाशुभ परिणाम छोड़कर अचलित परिणाम करना, वह स्नेह रहित स्फटिक रत्न जैसे शोभता है, उसी प्रकार रागरहित भगवान अपनी पर्याय में शोभता है। यह उसका नाम निर्जरा कहते हैं। समझ में आया?

जिसको स्नेह के लेप का संग प्रक्षीण हुआ है, ऐसे शुद्ध स्फटिक के स्तम्भ की भाँति—पूर्वोपार्जित कर्मरज को खिरा देती है। लो! अन्दर आत्मा में जितना लीन हुआ, उतने कर्म के रजकण खिर जाते हैं। कर्म खिराता नहीं कि लाओ कर्म को खिरा डालूँ। उसके कारण से खिरते हैं। समझ में आया? अपने साथ कोई बात करने आता है। और बात करने की इच्छा न बतावे और अपने में ही रहे तो वह चला जाता है। गद्दी पर सेठिया बैठा हो और बात करने आवे, तब मुझे अभी इच्छा नहीं। बात करने की इच्छा न दे और मुँह ऐसा कर दे तो वह उठकर चला जायेगा।

उसी प्रकार अपने स्वभावसन्मुख करके कर्म के उदय के सन्मुख न हो तो कर्म खिर जाते हैं। ओहोहो! गजब बात भाई! समझ में आया? उसकी पहले समझण, सच्चा ज्ञान बराबर करना चाहिए। विपरीत ज्ञान का नाश करके ऐसा ज्ञान करना चाहिए। उस ज्ञान में फिर रुचि जम जाये, पश्चात् स्वभाव पर दृष्टि हो, माहात्म्य अन्तर में निर्विकल्प—

राग बिना की दृष्टि होती है, तो उसका नाम पहला सम्यग्दर्शन कहते हैं। हो, राजपाट हो। सब हो। सम्यग्दृष्टि उसमें रहता है अपने स्वभाव में। जरा शुभाशुभभाव आवे, उतना आस्रव है। वह भी घटाकर स्वभाव में जितना काल लीन हो, उतने पूर्व के कर्म के रजकण छूट जाते हैं। निर्जरा हो जाती है। समझ में आया? इतनी अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती। इतनी स्वभाव सन्मुख शुद्धता उत्पन्न होती है। दस लक्षण पर्व देखो तो ऐई धमाधम करते हों लोग। सिद्धचक्र और क्या कहलाता है? अमुक चक्र और अमुक चक्र। सोलह कारण भावना और सुगन्ध दशमी न। ज्ञानचन्दजी! बारह महीने का सब पानी फेर दे। बारह महीने का ऐसा। पाप का। बारह महीने का पाप लगा हो तो छोड़ देते हैं न! ऐसा कहते हैं? परन्तु पाप कहाँ लगा है, यह खबर तो नहीं। पाप कहाँ (लगा) है? समझ में आया? और वह पाप कहाँ है और वह पाप कहाँ से निकल जाता है। आहाहा! १४५ गाथा हुई। **इससे (-इस गाथा से) ऐसा दर्शाया कि निर्जरा का मुख्य हेतु ध्यान है।** लो! समझ में आया? इसमें यह दिखलाया है। १४५ में।

गाथा - १४६

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुडहणो झाणमओ जायते अगणी ।। १४६ ।।

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो ध्यानमयो जायते अग्निः ।। १४६ ।।

ध्यानस्वरूपाभिधानमेतत् ।

शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिर्हि ध्यानम् । अथास्यात्मलाभविधिरभिधीयते । यदा खलु योगी दर्शनचारित्रमोहनीयविपाकं पुद्गलकर्मत्वात् कर्मसु संहृत्य, तद्नुवृत्तेः व्यावृत्योपयोगम-मुह्यन्तमरज्यन्तमद्विषन्तं चात्यन्तशुद्ध एवात्मनि निष्कम्पं निवेशयति, तदास्य निष्क्रियचैतन्यरूप-स्वरूपविश्रान्तस्य वाङ्मनःकायानभावयतः स्वकर्मस्वव्यापारयतः सकलशुभाशुभकर्मेन्धन-दहनसमर्थत्वात् अग्निकल्पं परमपुरुषार्थसिद्ध्युपायभूतं ध्यानं जायते इति । तथा चोक्तम्-*''अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ वुआ णिव्वुदिं जंति'' ।। ''अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा । तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ''।।१४६।।

नहिं राग-द्वेष-विमोह अरु नहिं योग सेवन है जिसे ।
प्रगटी शुभाशुभ दहन को, निज ध्यानमय अग्नि उसे ।।१४६।।

अन्वयार्थ :— [यस्य] जिसे, [मोहः रागः द्वेषः] मोह और रागद्वेष, [न विद्यते] नहीं हैं, [वा] तथा, [योगपरिकर्म] योगों का सेवन नहीं है (अर्थात् मन-वचन-काया के प्रति उपेक्षा है), [तस्य] उसे [शुभाशुभदहनः] शुभाशुभ को जलानेवाली [ध्यानमयः अग्निः] ध्यानमय अग्नि [जायते] प्रगट होती है।

टीका :— यह, ध्यान के स्वरूप का कथन है।

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति, सो यथार्थ ध्यान है। वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है; जब वास्तव में योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गलकर्म होने से उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में समेटकर, तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके (-उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके), मोही, रागी और द्वेषी

न होनेवाले ऐसे उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही निष्कम्परूप से लीन करता है, तब उस योगी को—जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रान्त है, वचन-मन-काया को नहीं [१]भाता और स्वकर्मों में [२]व्यापार नहीं करता उसे—सकल शुभाशुभकर्मरूप ईंधन को जलाने में समर्थ होने से अग्निसमान ऐसा, [३]परमपुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।

फिर कहा है कि :—

*''अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदतं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वृर्दि जंति॥''
''अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ॥''

[अर्थ :— इस समय भी त्रिरत्नशुद्ध जीव (-इस काल भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नों से शुद्ध ऐसे मुनि) आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपना तथा लौकान्तिक-देवपना प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर (मनुष्यभव प्राप्त करके) निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

श्रुतियों का अन्त नहीं है (-शास्त्रों का पार नहीं है), काल अल्प है और हम [४]दुर्मेध हैं; इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है कि जो जरा-मरण का क्षय करे।]

---

१. भाना=चिन्तवन करना; ध्याना; अनुभवन करना।

२. व्यापार = प्रवृत्ति।[स्वरूपविश्रान्त योगी को अपने पूर्वोपार्जित कर्मों में प्रवर्तन नहीं है, क्योंकि वह मोहनीयकर्म के विपाक को अपने से भिन्न-अचेतन-जानता है तथा उस कर्मविपाक के अनुरूप परिणमन से उसने उपयोग को विमुख किया है।]

३. पुरुषार्थ = पुरुष का अर्थ; पुरुष का प्रयोजन; आत्मा का प्रयोजन; आत्मप्रयोजन। [परमपुरुषार्थ अर्थात् आत्मा का परम प्रयोजन मोक्ष है और वह मोक्ष ध्यान से सधता है, इसलिए परमपुरुषार्थ की (-मोक्ष की) सिद्धि का उपाय ध्यान है।]

* इन दो उद्धृत गाथाओं में से पहली गाथा श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत, मोक्षप्राभृत की है।

४. दुर्मेध=अल्पबुद्धिवाले; मन्दबुद्धि; ठोट।

भावार्थ :— निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार में निश्चल परिणति, वह [१]ध्यान है। यह ध्यान मोक्ष के उपायरूप है।

जिस प्रकार थोड़ी-सी भी अग्नि बहुत-से घास और काष्ठ की राशि को अल्प काल में जला देती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि विभाव के परित्यागस्वरूप महा पवन से प्रज्वलित हुई और अपूर्व-अद्भुत-परम-आह्लादात्मक सुखस्वरूप घृत से सिंची हुई निश्चल-आत्मसंवेदनरूप ध्यानाग्नि मूलोत्तरप्रकृति-भेदवाले कर्मरूपी ईंधन की राशि को क्षणमात्र में जला देती है।

इस पंचम काल में भी यथाशक्ति ध्यान हो सकता है। इस काल में जो विच्छेद है, सो शुक्लध्यान का है, धर्मध्यान का नहीं। आज भी यहाँ से जीव धर्मध्यान करके देव का भव और फिर मनुष्य का भव पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और बहुश्रुतधर ही ध्यान कर सकते हैं, ऐसा भी नहीं है; सारभूत अल्प श्रुत से भी ध्यान हो सकता है। इसलिए मोक्षार्थियों को शुद्धात्मा का प्रतिपादक, संवर-निर्जरा का करनेवाला तथा जरामरण का हरनेवाला सारभूत उपदेश ग्रहण करके ध्यान करनेयोग्य है।

[यहाँ वह लक्ष में रखनेयोग्य है कि उपरोक्त ध्यान का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना ध्यान नहीं होता, क्योंकि निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की (शुद्धात्मा की) सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चल परिणति कहाँ से हो सकती है ? इसलिए मोक्ष के उपायभूत ध्यान करने की इच्छा रखनेवाले जीव को प्रथम तो जिनोक्त द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझपूर्वक निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की सम्यक् प्रतीति का सर्व प्रकार से उद्यम करनेयोग्य है; उसके पश्चात् ही उस चैतन्यचमत्कार में विशेष लीनता का यथार्थ उद्यम हो सकता है]॥१४६॥

इस प्रकार निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।

---

१. मुनि को जो शुद्धात्मस्वरूप का निश्चल उग्र आलम्बन वर्तता है, उसे यहाँ मुख्यतः 'ध्यान' कहा है। (शुद्धात्मावलम्बन की उग्रता को मुख्य न करें तो, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी 'जघन्य ध्यान' कहने में विरोध नहीं है, क्योंकि उसे भी शुद्धात्मस्वरूप का जघन्य आलम्बन तो होता है।)

गाथा - १४६ पर प्रवचन

ध्यान। देखो! आहाहा! अन्तर ज्ञातास्वभाव की महिमा अन्तर में आने के पश्चात् उसके पीछे अन्दर बारम्बार लग जाना, लीन होना वह ध्यान है। परन्तु पहले सम्यग्दर्शन बिना ध्यान नहीं होता। उस स्वरूप में सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में भी ध्यान कर लेता है। समझ में आया? तो कहते हैं कि इस गाथा में क्या कहा? कि निर्जरा का मुख्य हेतु तो ध्यान ही कहा है। आहाहा! समझ में आया?

तब कहते हैं कि मुख्य हेतु कहा तो गौण हेतु कौन है। वह तो निमित्त बाहर का माहात्म्य करते थे न तो निमित्त कहने में आया है। विकल्प उठा वह। निर्जरा का मुख्य हेतु यही (ध्यान) है।

ध्यान का स्वरूप। सम्यग्दृष्टि ध्यान कर सकता है। मिथ्यादृष्टि आर्तध्यान और रौद्रध्यान कर सकता है। कर सकता है। नहीं, किसलिये कहें? कर सकता है। समझ में आया? जिसे जड़ की पर्याय की कर्ताबुद्धि है। पुण्य परिणाम का प्रेम है, पाप परिणाम में मजा मानता है। ध्यान करता है आर्तध्यान और रौद्रध्यान। आत्मा की शान्ति के प्राण घाणी में जैसे तिल पिल जाते हैं, वैसे अपनी शान्ति पिल जाये, ऐसा ध्यान करता है। समझ में नहीं आया?

यह घाणी में तिल पिलते हैं। वैसे आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है। राग में एकाग्र होता है, तो आत्मा की शान्ति लुट जाती है। अज्ञानी का ऐसा ध्यान है। ज्ञानी का ध्यान अपने ज्ञायक की ओर एकाग्रता करना वह है। पहले ज्ञायक है, ऐसी दृष्टि तो हुई है। गृहस्थाश्रम में चौथे गुणस्थानवाला हो, पाँचवेंवाला हो, छठवें गुणस्थानवाला मुनि हो, गुणस्थान में स्थिरता प्रगट हुई है, उस स्थिरता में अन्तर में ध्यान करके चौथे गुणस्थान, पाँचवें गुणस्थान में भी जितने अंश में शुद्धोपयोग हो जाये अभेद, उतने अंश में विशेष निर्जरा होती है, अशुद्धता टलती है।

१४६। ध्यान का स्वरूप हो सकता है, उसकी बात करते हैं या नहीं हो सकता, उसकी बात करते हैं? श्लोक में कहेंगे। उसमें श्लोक आयेगा। हाँ, हो सके वह श्लोक

अन्दर आयेगा। पहले दृष्टि की खबर नहीं और ध्यान है, उसकी प्रसिद्धि नहीं आती। आहाहा!

अनुभवप्रकाश में दीपचन्दजी कहते हैं। वे गृहस्थाश्रम में समकिती ज्ञानी थे। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सब (थे)। बहुत ग्रन्थ बनाये हैं। अनुभवप्रकाश, आत्मावलोकन, चिद्विलास, बहुत ही अच्छे बनाये हैं। एक बार.... कहते हैं कि अरे भाई! हमें समय नहीं मिलता। अरे भाई! क्या समय नहीं मिलता? तेरे पास कोई चक्रवर्ती का राज तो नहीं। चक्रवर्ती को छियानवें करोड़ सैनिक थे, छियानवें करोड़ गाँव थे। तेरे पास छियानवें करोड़ पैसा भी नहीं। कंकड़ भी छियानवें करोड़ नहीं। .....

अनुभवप्रकाश में लिखा है। आत्मा में एकाग्र होना हो तो तुझे रोकता कौन है? क्या परचीज़ रोकती है? बिल्कुल नहीं रोकती। ऐसा अनुभवप्रकाश में लिखा है, हों! छियानवें करोड़ तो सैनिक थे। छियानवें हजार गाँव थे, बहत्तर हजार नगर थे, अड़तालीस हजार पाटण थे और सोलह हजार देव सेवा करते थे। तो भी ध्यान का समय उन्हें मिलता था। उन्हें ध्यान का समय मिलता था। (और यह कहे) हमें समय नहीं मिलता। तेरे पास कितने नळिया है? नळिया समझते हो? क्या कहते हैं उसे? खपरा, खपरा। तेरे घर में छियानवें करोड़ खपरा भी नहीं। और तुझे निवृत्ति नहीं मिलती? और निवृत्त हो तो गप्प में चढ़ जाता है। निवृत्ति मिले तो गप्प मारने चढ़ जाता है। ऐसा है और ऐसा है और ऐसा। ऐसा पेपर में आया है और ऐसा अमुक है, और ऐसा है न। जर्मन में ऐसा होता है और अंग्रेजी में ऐसा है और तेरे घर में क्या होता है? ऐसे परिणाम करने के लिये तुझे समय नहीं मिलता! तेरा अपराध है और तू कहता है कि क्या करें? हमारे पंचम काल है। यह पुत्र-पुत्री लड़के बहुत ही बढ़ गये। हम पचास लोग हैं। हमारे कितना करना है। क्या करना?

मुमुक्षु : चिन्ता तो होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : चिन्ता हो परन्तु धूल में चिन्ता करने से फेरफार हो जायेगा? चिन्ता करने से पर में फेरफार हो जायेगा? समझ में आया? उसमें लिखा है। तुझे धर्म की रुचि नहीं इसलिए तू ऐसे बहाने करता है। ऐसा कहा है। रुचि नहीं। जिसकी रुचि

जाने और जिसकी आवश्यकता जाने, उसमें पुरुषार्थ किये बिना रहे, ऐसा नहीं होता। जिसकी आवश्यकता जाने, उसमें पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। तुझे आवश्यकता आत्मा की है और वह कैसे प्राप्त हो और कैसे दृष्टि हो, इसकी खबर नहीं। तुझे तेरी आवश्यकता तेरी कीमत में आयी नहीं। आवश्यकता बिना तेरा पुरुषार्थ कहाँ से होगा? समझ में आया?

१४६ में ध्यान का स्वरूप कहा है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुडहणो झाणमओ जायते अगणी।।१४६।।

ओहोहो! आचार्यदेव ने जगत के जीवों पर करुणा करके जंगल में ताड़पत्र पर यह शास्त्र लिखा है। जंगल में रहकर ताड़पत्र पर, हों! यह गाथा २००० वर्ष पहले और टीका ९०० वर्ष पहले (हुई है)। दोनों नग्न दिगम्बर मुनि जंगल में बसनेवाले। आहाहा! जगत की करुणा! अरे! आत्मा! तुझे करने का अवसर है न, भाई! और यह करने का काल है और उसमें नहीं करता तो प्रभु! तू कब करेगा? खो जायेगा, हों! चौरासी के अवतार में कहाँ जायेगा? वर्तमान में कोई तुझे मदद करनेवाला है नहीं, भविष्य में भी कोई है नहीं। १४६ (गाथा)।

यह ध्यान के स्वरूप का कथन है। **शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति, सो यथार्थ ध्यान है।** देखो! ध्यान की व्याख्या। **अविचलित...** शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा। पहले प्रतीति में लिया है कि मुझमें किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा शुद्ध भगवान आत्मा ज्ञानरस और आनन्दरस से भरपूर अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार आत्मा है। लो! भण्डार आया। इसके मामा हैं न, वे सौभाग्यचन्दजी के। हीरा, माणिक और पन्ना भरा हुए हैं। सब धूल भरी हुई है। है न सौभाग्यचन्दजी के मामा सरदारशहरवाले।

यहाँ तो यह भरे हैं, कहते हैं। उसकी ममता हो तो वहाँ बिच्छु और सर्प हो। समझ में आया? यह भगवान, यह देखने न मिले ऐसा यहाँ है। यह भण्डार उसका कहाँ है। वह तो जड़ का है। जड़ की पर्याय है। आहाहा! देखो! एक पर्याय... एक पंक्ति में

वह उल्लासपूर्वक वीर्य से निर्णय तो करे! उल्लासपूर्वक वीर्य से। ओहो! मेरी चैतन्य चीज़ ही अत्यन्त विकल्प, राग से, पुण्य, दया, दान से भिन्न है। जड़ की क्रिया तो कहीं रह गयी। उसके कारण से हो या न हो!

ऐसे **शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति...** पर्याय ली। देखो! अविचलित, चलित नहीं ऐसी चैतन्य की पर्याय, वह यथार्थ ध्यान है। उसका नाम ध्यान है। मैं ध्यान को ऐसे करूँ और ऐसे करूँ और ऐसे करूँ, ऐसा है नहीं। विशेष बात करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३, गाथा-१४६
दिनांक - ०९-१०-१९६४, आसोज शुक्ल ४, शुक्रवार

यह पंचास्तिकाय नवपदार्थ अधिकार में निर्जरा अर्थात् धर्म की वृद्धि का अधिकार चलता है। तो धर्म की वृद्धि का अधिकार और धर्म पहले हुआ है। समझ में आया? धर्म-सम्यग्दर्शन पहले हुआ है। उसे यहाँ ध्यान की क्रिया निर्जरा का कारण है, ऐसा बताते हैं। आगे कथन में आयेगा।

सबसे पहले तो सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। यह अर्थ में आयेगा। इसके पश्चात यह ध्यान की व्याख्या क्या है और कैसे होता है, यह बताना है। तो पहले द्रव्य, गुण, पर्याय प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु का स्वतन्त्र है। समझ में आया? अपना द्रव्य वस्तु उसके गुण और उसकी पर्याय अन्दर होती है अवस्था, वह स्वयं से स्वतन्त्र है। और परद्रव्य के द्रव्य, गुण, पर्याय यह शरीरादि की होती है, वह उससे स्वतन्त्र है। आत्मा उसे नहीं करता और आत्मा उसे रोकता भी नहीं। ऐसे सब द्रव्य, गुण, पर्याय की यथार्थ दृष्टि करके शुद्ध चैतन्यपरिणति वह पर्याय, गुण, द्रव्य का भान करके अपने चैतन्य त्रिकाली ज्ञायकभाव अत्यन्त शुद्ध है, ऐसी अन्तर में दृष्टि करना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? कहो, सेठ!

यह सम्यग्दर्शन पश्चात् निर्जरा कैसी होती है, यह व्याख्या अब चलती है। सेठिया! यहाँ अपने हिम्मतभाई ने लेखन किया है, नीचे। उस ओर पढ़ना हो तो पहले पढ़ो। २१४। नीचे पैराग्राफ है, अन्तिम। २१४, अन्तिम पैराग्राफ है न? अन्तिम तीन लाईन।

यहाँ वह लक्ष में रखनेयोग्य है... है? **कि उपरोक्त....** उपर्युक्त **ध्यान का मूल सम्यग्दर्शन है।** व्याख्या ध्यान की चलेगी। परन्तु उसका मूल सम्यग्दर्शन है। **सम्यग्दर्शन के बिना ध्यान नहीं होता, क्योंकि निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की (शुद्धात्मा की) सम्यक् प्रतीति बिना...** भगवान आत्मा देहादि की क्रिया तो कर नहीं सकता। राग, दया, दान का विकल्प भी वास्तव में उसका कर्तव्य नहीं है। वह तो निर्विकार निष्क्रिय

चैतन्यचमत्कार वस्तु आत्मा है। उसकी सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चयपरिणति कहाँ से हो सकती है? यह निश्चयपरिणति उसका नाम ध्यान। सेठी! है? है, हं... अच्छा! समझ में आया? जगत को यह कठिन पड़ता है।

यह लोग कहे, देह की क्रिया नहीं कर सकता, ऐसा नहीं कर सकता, यह तो... ओहोहो! सत्य तो ऐसा ही है। समझ में आया? तारणस्वामी तो कहते हैं कि जो जनरंजन के लिये कथा करेगा, वह मूढ़ निगोद में जायेगा। ऐसा कहते हैं। सुना है या नहीं? जनरंजन लोगों को ठीक पड़े। ऐसा कहना और सभा को प्रसन्न करना कि आहा! यह बड़ी-बड़ी बात है। यह तो जनरंजन कलरंजन आता है न? बहुत शब्द आता है। कलरंजन, शरीररंजन। जन दुनिया। दुनिया को क्या साथ लेना है? दुनिया तो तुझसे पर वस्तु है। वह प्रसन्न कहाँ से होगी? वह तो अनादि से अज्ञानी है। तो उसे तत्त्व की दृष्टि सुनी तो नहीं जाती। तो क्या सारी दुनिया को रंजन कराना है? समझ में आया? कि जिसमें दुनिया प्रसन्न हो, खुश हो, वाह! वाह! वह तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनरंजन करने के लिये टाईम लिया है? ऐसा उसमें लिखा है। जनरंजन, मनरंजन! जाये निगोद में। चार गति तो (है परन्तु) निगोद अनन्त काल में दो इन्द्रिय नहीं होगा, ऐसे निगोद में जायेगा। ऐसी कड़क भाषा है। राजमलजी!

यहाँ कहते हैं। पहले सम्यग्दर्शन बिना यह ध्यान की क्रिया नहीं होती तो इसे पहले सम्यग्दर्शन समझना चाहिए।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका? उल्टा। उल्टा ध्यान हो सकता है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान, ऐसा तो कल कहा था। यहाँ तो धर्मध्यान। बात जगत से अत्यन्त निराली है। जगत को साथ लेकर यह बात नहीं चलेगी। समझ में आया? सेठी! जिसे अपने धर्म का कर्तव्य करना है, वह दुनिया को छोड़कर अपना लक्ष्य अपने में करना चाहिए। पर का लक्ष्य छोड़ देना चाहिए। मैं पर का नहीं कर सकता। किसी का (नहीं)। वाणी नहीं कर सकता, देह की क्रिया नहीं कर सकता। यह क्रिया होगी, होगी, होनेवाली है वह होगी। ऐसे जड़ के-पर के कार्य मेरे नहीं हैं। ऐसा निर्णय करने में अपना लक्ष्य करे तो

उसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जायेगा। क्रिया हो, वह उसके कारण से। कषाय कोमल हो जायेगी। कषाय मन्द हो जायेगी। समझ में आया?

परन्तु मैं कर सकता हूँ और पर का कार्य मेरे अधिकार में है ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो, यह तो मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबन्धी के कषाय को पोषता है। तो कहते हैं कि यह पहले दृष्टि छोड़ देना चाहिए। यह ध्यान तो उससे भी कठिन है, निर्जरा तो। देखो! **उसमें निश्चल परिणति कहाँ से हो सकती है?** सम्यक् चैतन्य ज्ञायकमूर्ति है। उसमें पर का कार्य तो क्या? राग का कर्तृत्व भी अपने स्वभाव में नहीं है। ऐसी दृष्टि हुए बिना उसमें निष्क्रियध्यान कभी नहीं हो सकता।

इसलिए मोक्ष के उपायभूत ध्यान करने की इच्छा रखनेवाले जीव को प्रथम तो जिनोक्त... जिनोक्त, हों! सर्वज्ञ ने कहा। अज्ञानी कल्पना करके कहे, वह नहीं। जिनागम-सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा सौ इन्द्रों के पूज्य परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकर हो गये। उन्होंने जो द्रव्य, गुण, पर्याय कहये, उन्हें जानना चाहिए। अज्ञानी अपनी कल्पना से कहता है, उसे छोड़ दे। समझ में आया?

मुमुक्षु : छह काय के जीव जानना या द्रव्य-गुण-पर्याय जानना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह द्रव्य, गुण, पर्याय-छह काय के जीव, जीव हैं, उनकी वर्तमान पर्याय मरण-जीवन आदि पर्याय पलटे, वह उसकी पर्याय है। हमारा उसके जीवन-मरण पर कोई अधिकार नहीं है। ऐसे **जिनोक्त,....** भाषा ऐसी है। भगवान परमात्मा परमेश्वर वीतरागदेव ने जो द्रव्य, गुण, पर्यायरूप वस्तुस्वरूप की, ऐसी वस्तु है। यथार्थ समझपूर्वक, यथार्थ समझपूर्वक पहले उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। **निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की...** निर्विकार ज्ञायकमूर्ति आत्मा! कोई पर का तो तीन काल में करता नहीं। परन्तु राग का भी मेरा कर्तव्य नहीं। ऐसे निष्क्रिय चैतन्य चमत्कार की सम्यक् प्रतीति का, सर्व प्रकार से, सर्व प्रकार से उद्यम करनेयोग्य है। पहले यह करनेयोग्य है। गृहस्थाश्रम में हो, त्यागी में हो, परन्तु यह निर्णय किये बिना उसे धर्म की शुरुआत नहीं होती। समझ में आया?

तत्पश्चात् ही उस **चैतन्यचमत्कार में विशेष लीनता का यथार्थ उद्यम हो सकता**

है। अभी समझण में भी उल्टी मेहनत चलती है। समझ में आया? आहाहा! आठ-आठ वर्ष की बालिका ऐसे समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है। समझ में आया? आत्मा है न? मस्तिष्क स्पष्ट हो न.... मस्तिष्क अर्थात् क्या? यह जड़ मस्तिष्क! यह तो मिट्टी है। अपनी ज्ञान की नजर में स्पष्टता, स्पष्टता, चुस्तता होना। ज्ञान की नजर में अन्दर ज्ञान की ज्ञान की नजरें, ज्ञान की वर्तमान नजर-पर्याय में स्पष्टता, शुद्धता दृष्टि की आनी चाहिए। पर मेरा कार्य नहीं। पूरी दुनिया हो (तो भी) ओहो! (वह) उसके कारण से होता है। मेरा किंचित् कार्य नहीं। समझ में आया?

मुझमें रागादि होते हैं, वह भी पुण्य-पाप का तत्त्व है। वह भी मेरा कार्य नहीं। अजीव का नहीं। पुण्य-पाप के विकल्पों में भी मेरा कार्य नहीं। मैं तो चैतन्यचमत्कार मात्र वस्तु हूँ। ऐसी प्रथम में प्रथम सर्व प्रकार से प्रयत्न करके, उद्यम करके सम्यक् प्रतीति प्रगट करना चाहिए। बराबर है? नत्थुलालजी! यह करना है, हों! व्यापार-ब्यापार करने की यहाँ इनकार करते हैं। बाहर का तो कर सकता नहीं। परिणाम कर सकता है। भाव कर सकता है। पुण्य-पाप का शुभाशुभभाव। परन्तु उसे निर्णय करना चाहिए कि शुभाशुभपरिणाम भी विकार है। मेरी चीज़ उससे भिन्न है। बाहर से तो भिन्न है परन्तु पुण्य-पाप के राग से भी मेरी चीज़ भिन्न है।

ऐसा चैतन्यचमत्कार ज्ञायक परमात्मा अपना निज स्वरूप है। आठ वर्ष की बालिका भी ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकती है। न करे तो अनादि काल से ग्यारह अंग पढ़ गया और इतना क्रियाकाण्ड किया, शरीर के खण्ड-खण्ड करे तो भी क्रोध न करे, उसमें क्या है? उसमें आत्मा का शुद्ध कार्य है ही नहीं। तो पहले **सर्व प्रकार से उद्यम करनेयोग्य है;...** सम्यग्दर्शन प्रगट करने का पहला प्रयत्न है। समझ में आया? यह बात चलती है। उसमें भी ध्यान कैसा हो, यह बात चलती है।

सम्यग्दृष्टि को ध्यान जो मोक्ष का कारण है। सम्यग्दृष्टि को जो ध्यान मोक्ष का कारण है। **वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है;...** है? सुमेरुमलजी! है या नहीं? आहाहा! अरे! प्रभु तुझे तेरा सत् का कार्य करना है या नहीं? सत् का, हों! उल्टा तो अनादि से मान्यता में करता है। आहाहा! सूझ पड़ती नहीं। सूझ पड़ती नहीं।

अन्दर नजर न मिले क्या चीज़ है। और उस चीज़ में क्या होता है और मुझसे पर में क्या होता है और पर का कार्य पर से कैसे होता है। ऐसी नजर यदि पर से भिन्न काम न करे, उसे पुण्य-पाप से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसी नजर काम नहीं करे। और पुण्य-पाप से भिन्न है, ऐसी दृष्टि न हो, तब तक उसका ध्यान नहीं हो सकता। पर्याय, पर्याय का विवेक कहते हैं। पहले सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय राग से पृथक् और पूर्ण स्वभाव से एकत्व। पुण्य-पाप के विकल्प से पृथक् पूर्ण स्वभाव से एकत्व ऐसी प्रतीति, वह प्रथम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? पहले में पहला कर्तव्य करने योग्य हो तो यह है।

मुमुक्षु : कुछ दिया जा सके ऐसा है....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दिया जा सकता है न। यह नहीं। यह समझ करे, वह आत्मा को दे सकता है। ख्याल है। दोपहर में बाकी रहे हैं न चार बोल बाकी हैं। कर्ता, कर्म दो आये हैं और करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण चार (बोल) बाकी हैं षट्कारक के। दे सकता है, अपनी पर्याय अपने को दान दे सकता है। पर को नहीं दे सकता तीन काल, तीन लोक में। सेठ! सेठिया पैसा नहीं दे, ऐसा कहोगे तो। कौन देता है? वह तो रजकण है, जड़ है, जानेवाली चीज़ जायेगी, आनेवाली चीज़ आयेगी, उसमें तेरे अधिकार की बात है नहीं।

मुमुक्षु : अपने कारण से क्षेत्रान्तर होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्षेत्रान्तर होता है। लक्ष्मी जाती है तो उसके कारण से जाती है। सेठ का दान का भाव हुआ, इसलिए जाती है?

मुमुक्षु : निमित्त बन जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का अर्थ, उसका उत्पाद होकर चली जाती है तो निमित्त कहने में आता है। परन्तु मेरे कारण वहाँ गयी (ऐसा माने) तो निमित्त नहीं हुआ (स्वयं) कर्ता हुआ। भाई! बराबर है? आहाहा! अरेरे! यह मनुष्यदेह अनन्त काल में मुश्किल-मुश्किल से मिला, उसमें सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर नौ तत्त्व कहते हैं। नव की व्याख्या चलती है न? नव तत्त्व नौ में हैं। एक-दूसरे में खीचड़ा नहीं होता। इकट्ठे नहीं हो जाते।

जड़, जड़ में है। आत्मा आत्मा में है, राग राग में है, निर्मल पर्याय पर्याय में है, गुण शक्तिरूप है, वस्तु शक्तिवान है। समझ में आया? ऐसी बात सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग के अतिरिक्त तीन काल, तीन लोक में कहीं नहीं होती। समझ में आया? छह द्रव्य, नौ तत्त्व, पंचास्तिकाय है कहीं दूसरे स्थान में? यह चीज़ ऐसी है। ऐसा भगवान ने जाना और ऐसा कहने में आया? देखो! कल आया था न? इसका रस उत्पन्न होता है। यह देखो न माहात्म्य बताते हैं या नहीं? किसका रस उत्पन्न होता है? धूल का रस जो छोड़े.... यह राग का रस है, उसे भी छोड़ देना। पुण्य-पाप का विकल्प है, वह मैल है। उसका भी प्रेम और रस छोड़कर ज्ञायकमूर्ति प्रभु है, उसका रस ले। उसकी दृष्टि कर तो तुझे सम्यक् सत्यता का आदर होगा। नहीं तो असत्य का आदर है अनादि से। आहाहा! समझ में आया?

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति, सो यथार्थ ध्यान है। यह पहली लाईन है। कल आयी थी। **वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है;...** यह विधि अब बताते हैं। ध्यान कैसे प्रगट (हो) किसे, किस प्रकार से होता है। सम्यग्दृष्टि को भी ध्यान आत्मा में स्व अवलम्बन-एकाग्रता कैसे होती है, पर से कैसे हटता है, ऐसी बात बताते हैं।

जब वास्तव में योगी, योगी अर्थात् आत्मा के स्वभाव में जुड़ान करनेवाला। जुड़ान कहते हैं, क्या कहते हैं? जुड़ान। आत्मा चैतन्य चमत्कार ज्ञायक द्रव्यस्वभाव में जिसकी बुद्धि का जुड़ान हुआ है, उसे योगी कहते हैं। सम्यग्दृष्टि भी योगी है। चारित्रवन्त विशेष योगी है। समझ में आया? अनादि काल से देहादि क्रिया और विकल्पादि दया, दान का भाव, उसमें जो दृष्टि हुई थी, वह अज्ञान का योग है, मिथ्यात्व का योग सम्बन्ध है।

वह योग छोड़कर अपना ज्ञायकभाव चैतन्य पूर्ण द्रव्यस्वभाव पूर्ण का स्वीकार; निमित्त का मुझमें अभाव, राग का मुझमें अभाव, अपूर्ण वर्तमान प्रगट पर्याय जितना मैं नहीं। मैं पूर्ण ज्ञायक हूँ, शुद्ध चैतन्यचमत्कार ऐसा पूर्ण का-स्वभाव का स्वीकार। ऐसी दृष्टि को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दृष्टि को ध्यान कैसे होता है—वह योगी है। अपने में जुड़ान करके... जुड़ान समझते हो? सम्बन्ध। जितना सम्बन्ध पर के साथ

अभी समकितदृष्टि को रहा है। अपनी दृष्टि हुई, सम्यक्भान हुआ, तथापि ज्ञानी को भी अपनी कमजोरी के कारण थोड़े पुण्य-पाप के सम्बन्ध का जुड़ान होता है।

अब उससे हटकर अपना ध्यान करना है, उसकी बात चलती है। समझ में आया? संसार की बात एक उसकी माँ लापसी बतावे तो कैसे करना, उसमें बाई कितना ध्यान दे! यह लापसी; लापसी कहते हैं न? देखो! गेहूँ को ऐसे-ऐसे करना, करते-करते हिलाते रहना, ऐसे गठ्ठ न हो जाये, नहीं तो (गठ्ठ में से) सूखा आटा निकलेगा। कोई ऐसे कड़क रिश्तेदार आ जाये और लापसी-ऐ यह क्या? अन्दर आटा है। गठ्ठ बन जाये न, लापसी बराबर नहीं (हिलावे) ऐसा करे तो गठ्ठ बन जाये और गठ्ठ में कच्चा आटा रह जाये। ऊपर से सेका हुआ दिखे और अन्दर से ऐसा। परन्तु ध्यान रखो कि मेरी माँ कैसे बनाती है।

उसी प्रकार भगवान कहते हैं कि हम कहते हैं, उसमें तुझे ध्यान रखना चाहिए। आत्मा के ध्यान की लापसी कैसे बनती है। सेठी! वहाँ तो न आवे तो उसको सासू उलहाना दे, तेरी माँ ने ऐसा सिखाया है? ऐसा कुछ भान नहीं? करते हैं या नहीं? सेठ! गृहस्थ की लड़की हो तो करे वह सासू हो वह। यह कहीं सब काम करनेवाले लोग होते हैं? ऐसा सीखकर आयी है?

यहाँ भगवान कहते हैं कि तेरी चीज़ कहाँ है और तुझे कहाँ से हटना है, यह तुझे खबर नहीं? तुझे क्या काम करना है? तू क्या सीखकर आया है यहाँ? ज्ञानचन्दजी! तो कहते हैं कि पहले आत्मा सम्यक् प्रतीति में लेना चाहिए कि मैं यह तीन काल, तीन लोक में यह शरीरादि चलता है, उसकी क्रिया होती है, वह मेरी नहीं। मैं रोक नहीं सकता और मैं बनाता नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। और कब क्या? यह शरीर, वाणी, मन की क्रिया अभी चलती है तो चलो और रुकती है तो रुको, मेरे अधिकार की बात है नहीं। वह जड़ की पर्याय है। फिर पुण्य-पाप का विकल्प उठता है, वह भी मेरी चीज़ में कृत्रिम उपाधि है। अकृत्रिम चिदानन्द पूर्णानन्द यह भिन्न है। ऐसी दृष्टि करने के पश्चात् सम्यग्दर्शन

हुआ, फिर उसे मोक्ष का कारण ध्यान कैसे उत्पन्न होता है, उसकी बात करते हैं।

जब वास्तव में योगी,... धर्मी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक... लो! अन्दर आत्मा पर दर्शनमोहनीय के जड़ के रजकण पड़े हैं। जिसे समझना है न, उसे ऐसा होता ही है कि मेरे पास दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक। दर्शन अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय के परमाणु जड़ और चारित्रमोहनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि रजकण की पर्याय को चारित्रमोह कहते हैं। जड़ की दशा।

वह **विपाक पुद्गलकर्म होने से...** देखो! क्या कहते हैं? मुझे अब पर से लक्ष्य छोड़ना है। और अपने में जो लक्ष्य किया था कि आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, उसमें विशेष लीन होना है। तो उसे दर्शनमोह और चारित्रमोह यह दो कर्म अन्दर है, उसका विपाक पुद्गलकर्म होने से वह जड़ है, अजीव है। **उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में समेटकर,...** इसका क्या अर्थ कहते हैं। जरा! आत्मा वर्तमान पर्याय में अपना ध्यान करने में जब प्रयत्नवान होता है, तो पहले दृष्टि में तो आत्मा है कि ज्ञायकमूर्ति है। परन्तु फिर विशेष लीनता होती है, तब अन्दर जो कर्म है, उसका पाक जड़ में आता है।

वह जड़ की पर्याय जड़ में रख दे। इसका अर्थ कि विपाक का लक्ष्य छोड़ दे। हें? लक्ष्य को हटा दे। उस लक्ष्य को हटा दे, इसका अर्थ कि कर्म का पाक जड़ में आया, उसमें रख दिया। अपना लक्ष्य वहाँ से छोड़ दिया। समझ में आया? यह समझे बिना ध्यान करते हैं, (ऐसा कहे) मूढ़ हो जायेगा। अभी द्रव्य, गुण, पर्याय क्या है? वस्तु कैसी है (उसके ख्याल बिना) ध्यान क्या करे? बावळ जैसा हो जायेगा। बावळ समझे? बबूल। काँटे जैसा। अज्ञान का काँटा मिथ्यात्व का काँटा तो अन्दर पड़ा है।

ऐसी दृष्टि होने के पश्चात् अपने स्वरूप की पूर्ण स्थिरता है नहीं, ऐसा सम्यग्दृष्टि को ख्याल है। तो अपने में एकाकार होने के कारण कर्म का जो पाक आया, उसे कर्म में रख दिया। रख दिया का अर्थ, उसका लक्ष्य छोड़ दिया।

मुमुक्षु : दर्शनमोहनीय अब वहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दर्शनमोहनीय क्षयोपशम समकित है, उसे है तो सही न?

थोड़ा है न थोड़ा। बराबर है। हमारे ख्याल में था। तुम्हारी.... क्षयोपशम समकित है न? दर्शनमोह के रजकण उदय में आते हैं तो उनके विपाक से लक्ष्य छोड़ दे। समझ में आया? क्योंकि अपने में लक्ष्य जमाना है। दृष्टि हुई है, मानता है कि मैं ज्ञाता हूँ, शुद्ध हूँ। मेरी कोई चीज़ जगत में दूसरी है ही नहीं। परन्तु स्वरूप में अस्थिरता है। चारित्र का दोष ज्ञानी को भी है। समझ में आया? चौथे गुणस्थान में उसके प्रमाण में आर्तध्यान, रौद्रध्यान का भाव होता है। भोग का भाव, युद्ध का भाव ऐसा होता है। वह चारित्र का दोष है। सम्यग्दर्शन में दोष नहीं। पंचम गुणस्थान में स्वरूप का बहुत लक्ष्य किया है, तो उसमें बारह व्रत का विकल्प आता है, आर्तध्यान होता है, रौद्रध्यान भी होता है। पंचम गुणस्थान के श्रावक सच्चे भानवाले, हों! और व्यापार धन्धा अरबों का भाव होते हैं, भाव। उस भाव का अन्दर में विवेक भी है कि यह मेरी चीज़ में नहीं, यह तो विकार है। इसलिए विकार बहुत मन्द हो गया है। मेरे स्वभाव में नहीं, ऐसी दृष्टि होने से विकार बहुत ही मन्द हो गया है। समझ में आया?

और मुनि होकर छठवें गुणस्थान में नग्न दिगम्बर हो और अपने स्वरूप में तीन कषाय का अभाव हो, उसके भी थोड़े ध्यान की विधि कहेंगे। सबकी ध्यान की विधि है। उसे भी अभी जरा चारित्रमोहनीय का उदय, दर्शनमोहनीय का उदय अन्दर है। क्योंकि यदि न हो तो पर में लक्ष्य जितनी अस्थिरता है, उतना निमित्त अन्दर है या नहीं? यदि अस्थिरता न हो, तब तो केवलज्ञान हो जाए। सम्यग्दर्शन हुआ तो तुरन्त ही केवलज्ञान हो जाये। तो अपने में जो राग-द्वेष की अस्थिरता है, उसका अन्दर उदय भी विपाक उसका लक्ष्य करने की चीज़ है। समझ में आया?

मुमुक्षु : दर्शनमोह....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न पहले? चौथा कहा अब। छठवें में चारित्रमोह-समकित मोहनीय का उदय है न जरा? उसमें दर्शनमोहनीय का उदय है। क्षायिक नहीं न! यह तो पहले कहा। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि **उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में समेटकर,...** क्यों? कि कर्म कैसे हैं? कि पुद्गलकर्म हैं। मेरी चीज़ में है नहीं। मेरी चीज़ में तो अब

आनन्द का पाक होनेवाला है। समझ में आया? कर्मों के पाक की ओर से लक्ष्य (छोड़कर) उसे कैसे ख्याल आया? परन्तु उसे ख्याल है कि मेरे स्वरूप में मैं पूर्ण स्थिर नहीं तो (उसका) कारण क्या? कि मेरी परिणति परलक्ष्य में जाती है। सम्यग्दृष्टि की भी परलक्ष्य से, हों! पर से नहीं। पर से नहीं होती परन्तु परलक्ष्य में जाती है। इतना मैं मेरे लक्ष्य से च्युत होता हूँ। दृष्टि से (च्युत) नहीं। दृष्टि सम्यक्, सच्चा सम्यग्दृष्टि है।

मुमुक्षु :....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव है। चारित्र में दोष है या नहीं? चौथे, पाँचवें, छठवें में।

मुमुक्षु : राग....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी राग है। राग है तो लक्ष्य पर के ऊपर है, ऐसा निर्णय किया है बस, इतना।

मुमुक्षु :....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। राग जाने, पश्चात् बात है। अभी तो है, उसकी सिद्धि करते हैं। यह लक्ष्य हटावे तो कैसे हटाता है पहले उसका लक्ष्य पर के ऊपर है। इतनी सिद्धि करते हैं। समझ में आया?

आत्मा ज्ञायक चैतन्यमूर्ति शुद्ध ध्रुव परमात्मा को जैसा देखा, वैसा प्रतीति में आया है। पश्चात् मुझमें अभी अस्थिरता है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि राग आता है। पुण्य-पाप के, पाप के भाव, विषय के भाव, राग के भाव आते हैं। तो अस्थिरता है तो उसका लक्ष्य दूसरी चीज़ है। इस कारण मुझमें मेरे कारण से राग-द्वेष की अस्थिरता है। उसका लक्ष्य पर है। तो वह विपाक जो है, वह जड़ है। उससे है, ऐसा पहले निर्णय किया।

यह तो पहले निर्णय किया है। कर्म निमित्त है। मेरा लक्ष्य जाता है। इतनी मेरी अशुद्धपरिणति मुझसे उत्पन्न हुई है। मेरे द्रव्यस्वभाव में नहीं। पहले ऐसा निर्णय किया है। फिर अब यह लक्ष्य छोड़ता है। यह तो **समेट कर...** (ऐसा) आया न। समेट कर, ऐसा क्यों कहा? कि उसके लक्ष्य में था कि मुझमें यह राग-द्वेष है, इतना पर में लक्ष्य है। तो परचीज़ कर्म का विपाक है। उस विपाक को विपाक में रख दिया। अपना लक्ष्य वहाँ से हटा दिया।

अब कहते हैं देखो! **तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके...** अब देखो! यह शब्द अब आया। विपाक से लक्ष्य छूटा। उसका अर्थ यह हुआ कि विपाक के अनुसार-तद्नुसार परिणति जो विकार की थी, उस उपयोग को व्यावृत्त करके, उपयोग को वहाँ से हटा लिया। यह तो विधि कहते हैं या नहीं? आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो पहले यह सिद्ध किया कि ज्ञानी हुआ, सम्यग्दृष्टि हुआ, क्षायिक सम्यग्दृष्टि। भरत चक्रवर्ती क्षायिक समकिती, छियानवें हजार स्त्रियों में रहा। श्रेणिक राजा (भी) क्षायिक समकिती। हजारों रानी, राज्य बड़ा, हों। परन्तु यह क्रिया मेरी नहीं। मैं लाया नहीं और मैं उसमें हूँ नहीं। और मेरे में अस्थिरता आती है, वह मेरे स्वभाव में है नहीं। परन्तु अस्थिरता है, उसका लक्ष्य एक विपाक कर्म है अन्दर में।

अब जब आत्मा ध्यान करता है, तब अन्दर में क्या करता है कि उसमें विपाक विपाक में डाल दिया। इसका अर्थ यह कि उसका लक्ष्य था, उसे छोड़ दिया। तो लक्ष्य छोड़ दिया का अर्थ क्या हुआ कि **तदनुसार परिणति...** जो विपाक के लक्ष्य से अपने में राग-द्वेष की परिणति होती थी, वैसे उपयोग को व्यावृत्त करके, ऐसा उपयोग हटा किया। समझ में आया? आहाहा!

यह तो आत्मा की लक्ष्मी—पैसा कैसे पैदा होते हैं, उसकी बात है। नथुलालजी! आत्मा की लक्ष्मी, हों! यह धूल की नहीं। प्रेमचन्दजी! क्या पैदा होता है? तुम्हारे पैसा पैदा होते हैं? पैसा कहाँ तुम्हारे पास आया है? पैसा तो वहाँ ग्वालियर में रह गया। ममता रही है। ज्ञान करता है, लक्ष्य करता है कि वह है।

यहाँ कहते हैं। बहुत सरस बात की है। आहाहा! और सब सिद्ध करते जाते हैं कि अपनी दृष्टि अपने चैतन्य पर पहले सम्यक् हुई है और पुण्य-पाप के भाव भी मुझमें हैं और लक्ष्य करने की चीज़ भी अन्दर कर्म है। इतने की प्रतीति सब है। अजीव की प्रतीति है। विपाक, मुझमें पुण्य-पाप अस्थिरता होती है। अशुद्ध उपयोग की प्रतीति है कि है। और मेरा स्वभाव भिन्न है, ऐसी भी दृष्टि हुई है, ऐसी भी प्रतीति हो गयी है। समझ में आया? अब उसे दशा में कैसे हटता है उपयोग। अपने परिणाम जो अस्थिर हैं राग-द्वेष; विपाक जो कर्म (का) लक्ष्य करने से थे (उसका) ख्याल तो था कि मुझमें

अशुद्ध परिणति राग-द्वेष है, तो वह अपने लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होती। कमजोरी से परलक्ष्य से उत्पन्न होती है। तो परलक्ष्य उसमें रख दिया। विपाक विपाक में। वह अजीव मुझमें नहीं। तो उसका लक्ष्य करने की जो चीज़ थी, वह पर में डाल दी तो उससे लक्ष्य छूट गया।

तो लक्ष्य छूटने से क्या हुआ? **तदनुसार परिणति...** कर्म के लक्ष्य अनुसार जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप का उपयोग था, ज्ञानी को, हों! उस **उपयोग को व्यावृत्त करके...** समझ में आया? व्यावृत्त—हटा करके। हटा करके का अर्थ समझाना किस प्रकार? यह लक्ष्य छोड़ा तो अपने ज्ञायकभाव में लक्ष्य किया तो लक्ष्य के अनुसार जो पुण्य-पाप के परिणाम थे, वे रुक गये। उन्हें व्यावृत्त करके, ऐसा कहने में आया। आहाहा! समझ में आया? अपना निज व्यापार कैसे करना, इसकी बात चलती है। निज का कार्य कैसे करना, इसकी बात चलती है। आहाहा! लक्ष्य छोड़। तेरी दृष्टि का जिसमें लक्ष्य हुआ है, उसमें अब स्थिरता का लक्ष्य कर तो पर का लक्ष्य छूट जायेगा। लक्ष्य छोड़ना, ऐसा व्यवहार से कहा है।

अपने में स्थिर होता है, तब पुण्य-पाप के परिणाम कर्म के लक्ष्य अनुसार होते थे, वह व्यावृत्त हो गया। छूट गये—छूट गये का अर्थ यह कि उत्पन्न नहीं हुए। आहाहा! यह बात साधारण जनता को भान नहीं होता।

मुमुक्षु : यह तो खास चीज़ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो खास चीज़ है। हमारे सेठी ऐसा कहते हैं। लो! यह तो खास चीज़ है। जो चीज़ अपना कार्य करने में सफलता प्राप्त हो, वह यह विधि है। आहाहा! विधि की खबर नहीं, वस्तु की खबर नहीं, द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं और धर्म करना है। अनादि काल से इसने ऐसा काल गँवाया है। चौरासी के अवतार करते-करते करके निगोद.... निगोद.... निगोद। समझ में आया?

कहते हैं **तद्नुसार...** तद्नुसार क्या? कर्म का विपाक विपाक में डाल दिया था। इसका अर्थ यह कि तद्नुसार अपनी कमजोरी से पुण्य-पाप के परिणाम उपयोग जो था, **उस विपाक के अनुरूप...** विपाक था, उसके अनुरूप। विपाक तो निमित्त है। यहाँ तो

नैमित्तिक **अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके...** यह व्यवहार से बात की है। परन्तु इसका अर्थ (यह कि) ज्ञायकस्वभाव पूर्ण स्वभाव की दृष्टि हुई है, उस ओर की अपनी स्थिरता जमायी तो लक्ष्य पर से छूटा और तद्नुसार व्याप्त परिणाम थे, उनसे निवृत्त हो गया, ऐसा कहने में आया। समझ में आया? यह क्रिया ध्यान और निर्जरा का कारण और यह क्रिया मोक्ष का कारण है। बाकी धूल की -देह की क्रिया और अन्दर दया, दान का कोमल भाव न, हें?

मुमुक्षु : ध्यान करनेवाले गिरनार में बहुत देखे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह योगी धूल के भी योगी नहीं। वस्तु के भान बिना योगी किसे कहना? द्रव्य, गुण, पर्याय क्या है, वह तो उसे खबर भी नहीं। द्रव्य किसे कहते हैं, गुण किसे कहते हैं, पर्याय का काल कितना है। एक समय में पर्याय कितनी है, काल कितना है, यह तो खबर भी नहीं। किसका ध्यान करे? योगी कैसा? भोगी है, अज्ञान का। समझ में आया? आहाहा!

यह तो गृहस्थाश्रम में भी रहने पर भी सम्यग्दृष्टि ध्यान करता है, उसकी विधि है। आहाहा! अरे! यह तो बात, भाई! जिसे भूख लगी हो न, उसमें ऐसे मक्खन के क्या कहे तुम्हारे? जामुन। इस सेठ के घर में नहीं थे? हाँ, वे। दाँत भी न हो और ऐसे चबा जाये, ...समझे? बीस वर्ष का जवान हो और भूख लगी हो ऐसी बराबर! और उसमें जहाँ यह मावा के जामुन आवे! चबाना न पड़े। बहुत प्यास लगी हो, ऐसी प्यास कि गला सूखता हो, उसमें मौसम्बी का पानी और उसमें बर्फ डाले।

मुमुक्षु :....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ से जिज्ञासा कैसी उसकी तृप्ति होती है, यह बात करते हैं। बस। जिज्ञासा उसमें कहाँ लगी है, यह बात है। ऐसे आत्मा की जिज्ञासा लगाना चाहिए।

अरे रे! अनादि काल की मेरी भूख मिटाने का रास्ता यह है। प्यास मिटाने का रास्ता यह है। समाज को गले लगा दिया। समाज का थोड़ा काम हो न? धूल में भी नहीं होगा। वह तो उसकी पर्याय से होगा तो करेगा। तुझसे क्या होगा? घर यह। अनन्त गुण

का समाज यह आत्मा। आत्मा को कौन सा समाज था? पर के साथ तो कोई सम्बन्ध है नहीं। आगे आयेगा। उसमें आयेगा दोपहर में। दोपहर में है न?

यह परमाणु साथ में है, उसके साथ कुछ सम्बन्ध है नहीं। कुछ सम्बन्ध है नहीं। उसकी पर्याय के काल में पर्याय चली कर्तृत्व के काल में। परमाणु कर्ता है। वह पर्याय कार्य है। परमाणु का कार्य है। परमाणु में भी कर्ता नाम का गुण है। उस कर्ता गुण की पर्याय का उत्पाद परमाणु में स्वयं से होता है। आत्मा से बिल्कुल किंचित् नहीं होता। ऐसा तो पहले अनुभव में दृष्टि सम्यक् ऊपर की है। समझ में आया? आठ वर्ष की बालिका समकिती हो, जब ध्यान करने लगे वह भी....

मुमुक्षु : राजकुँवरी की बात करते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : राज चक्रवर्ती की पुत्री। गरीब की पुत्री तो हो, उसमें क्या विशिष्टता है? परन्तु यह तो चक्रवर्ती की पुत्री है महा। वह भी ध्यान कर सकती है। सम्यग्दर्शन पा सकती है न! गरीब को तो क्या? गरीब किसे कहना? बाहर के अल्प साधन हों तो गरीब और विशेष साधन हों तो धनिक। यह साधन आत्मा में है ही नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : क्योंकि चक्रवर्ती की पुत्री हो वह तो सब कर सके।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर सके। साधन बहुत होते हैं न इसलिए ऐसा। हाँ किया था न। जेठाभाई आये थे। जेठाभाई नहीं थे पहले? मन्दिरमार्गी थे खेड़ावाले। पहला व्याख्यान सुना तो उन्हें ऐसा लगा—ऐसा लगा कि यह क्या कहते हैं? यह कहीं जैनधर्म की तो इसमें कुछ बात ही नहीं आती। एक जेठाभाई खेड़ा के, करते... करते... करते... करते... करते... करते... सुनते... सुनते... सुनते... अब तो ऐसी लग गयी है। उनके साधु को उन्होंने सैकड़ों प्रश्न किये सैकड़ों, हों! कोई जवाब देता है? कुछ मिला नहीं। मेरा तत्त्व तो यह है। एक खेड़ावाला पगड़ी बाँधकर आते हैं न? जेठालाल! ऑडीटर थे। कहाँ हैं अभी? मुम्बई। अब तो पक्की (श्रद्धा)। सब क्रिया करते, हों! गर्म पानी पीवे और एक बार खाये और ऐसी सब क्रिया बहुत करते थे। बहुत... बहुत...

अब क्रिया कैसी तेरी? जड़ की क्रिया यहाँ कहाँ है। जड़ में जड़ की पर्याय

होती है, उसमें तूने क्या किया? गर्म पानी पीये, वह पानी तो जड़ की-पर की पर्याय है। विकल्प उठता है, वह भी राग है। अपने स्वभाव में नहीं, ऐसी दृष्टि किये बिना कभी सत्य का स्वीकार नहीं आता, असत्य का नाश नहीं होता। सत्य तो यह है। समझ में आया? परमज्ञायक सत् परमात्मा अपना निज आनन्दकन्द ज्ञायक, उसका—सत् का आदर, वही पहले सत् का आदर है। समझ में आया? आहाहा! अन्तर में जब तक माहात्म्य न आवे, तब तक वह चीज़ क्या है, उसकी महत्ता नहीं लगती। बाहर की-बाहर की-बाहर की (महिमा)।

यहाँ तो कहते हैं सम्यग्दृष्टि बालक, समझ में आया? जब सविकल्प में से निर्विकल्प ध्यान करता है, वह उपाय है। तरीका का अर्थ क्या? उपाय। समझ में आया? यह उपाय है, भगवान! हें? विधि कही। देखो! होने की विधि कहने में आती है। ओहो! **उस विपाक के अनुरूप...** कौन सा विपाक? उस कर्म का। वह निमित्त। वह अनुकूल है। मेरे पुण्य-पाप की अस्थिरता में कर्म का विपाक अनुकूल है। और अनुकूल को निमित्त कहते हैं। और उसके अनुसार अपना लक्ष्य करके जितनी परिणति है, उसे अनुरूप कहते हैं। अपने स्वभाव के अनुरूप न हुआ। सम्यग्दृष्टि को भी अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, ज्ञान हुआ, संसार कम हो गया, अल्प संसार रह गया। परन्तु ज्ञानी को जितना पुण्य-पाप का भाव होता है, वह स्वभाव के अनुरूप नहीं। इतने परिणाम निमित्त के अनुरूप हैं। कर्म का पाक है, वह निमित्त। निमित्त का अर्थ अनुकूल-अनुकूल और यह परिणाम हुए, वह अनुरूप। निमित्त के अनुरूप पुण्य, पाप, दया, दान, काम, क्रोध, विकार परिणाम हुए। मेरे स्वभाव के अनुरूप नहीं, ऐसा ज्ञानी जानता है। समझ में आया?

परिणाम हुए, हों! करना-फरना यह बात यहाँ है नहीं पर की। **उस विपाक के अनुरूप...** अनुरूप क्यों कहा?—कि मेरे अस्थिरता के परिणाम उसे अनुकूल तो कर्म का विपाक जड़ है, वह निमित्त अनुकूल है। वह पुण्य-पाप के परिणाम को मेरा स्वभाव अनुकूल नहीं। (क्यों)—कि स्वभाव के आश्रय से कभी विकार उत्पन्न नहीं होता। समझ में आया? ओहो! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध किया। मैं ज्ञान चैतन्य ज्ञायक हूँ। मेरी क्रिया दूसरी नहीं। ऐसा भान होने पर भी अपनी पर्याय में कमजोरी से

कर्म के पाक के अनुकूल निमित्त और अपनी परिणति विकार की अनुरूप निमित्त के अनुरूप है। ऐसी नैमित्तिक पर्याय और कर्म का विकार निमित्त, ऐसे दो सम्बन्ध थे, वे अब ज्ञानी सम्बन्ध को तोड़ते हैं और स्वभाव के साथ जोड़ते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसा ज्ञान-दर्शनरूप महात्मा उसे नजर से न देखे!

पूज्य गुरुदेवश्री : नजर से देखे क्या धूल हो? महात्मा तो स्वयं अन्दर है, उसे देखे तो होता है। शक्कर का स्वाद कोई खाता हो, उसे देखने से उसे स्वाद आवे?

मुमुक्षु : मन तो हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन हो, वह अलग बात! स्वाद नहीं आता। शक्कर कोई खाता हो तो दूसरा उसे देखे तो उसे शक्कर का स्वाद आवे? मैं ज्ञायक पूर्ण हूँ। मेरी पर्याय में निर्मलता भी उत्पन्न हुई है। संवर, निर्जरा। मलिन पर्याय भी अभी आस्रव, पुण्य-पाप की है, उस परिणाम में लक्ष्यवान चीज़ें कर्म का पाक भी है, अजीव भी है। इतना-इतना सिद्ध करने के पश्चात् उसे नौ तत्त्व में से आत्मा निराला करके प्रतीति की है।

जिसे कर्म भी नहीं, पाप क्या, विकार क्या, निर्मल क्या, पर्याय क्या, स्वभाव क्या। मोड़ना, इसका अर्थ यह कि अपने में लगाना है। उसे पर से विमुख हुआ ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? मोड़ना होना यह नास्ति से कथन है। कथन की पद्धति को समझाना तो पड़े न? विधि बतलानी है न?

मुमुक्षु : इसमें तो मस्तिष्क चक्कर खाये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चक्कर खाये तब अन्दर प्रविष्ट होता है, ऐसा है। भान कब किया है। भाई! बापू! ऐसा का ऐसा हैरान होकर मर गया है। कुछ किया नहीं, कुछ हलका होकर, जीवन समाप्त हो जाए। समझ में आया? कहीं कोई कोर्ट की सीढ़ियाँ चढ़ा नहीं और रिपोर्ट किसके पास लिखाना.... सेठी! कोर्ट में कभी चढ़ा नहीं और नये-नये कृषिकार है। मेरे प्रार्थनापत्र देना है। कौन लिखेगा? कौन लेगा? चाय-पानी कितना, खबर नहीं। उलझन-उलझन। और कोई कहे कि देखो यह व्यक्ति बैठा है, उसके पास रिपोर्ट लिखाओ। आठ आना, बारह आना, अभी तो अधिक लेते होंगे।

पहले तो आठ आना, बारह आना थे। तुझे लिखना न आवे, ऐसा कोर्ट में लिखना चाहिए। बहुत नाम होते हैं न! अन्नदाता! भाषा होगी कोई उसकी। हमारे वह गायकवाड़ सरकार को दे न? गायकवाड़ सरकार को दे। शमशेर बहादुर।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यर्थ जाये।

हमारे वहाँ वड़ोदरा नजदीक है न, पालेज से। पालेज से अठारह कोस है। शमशेर बहादुर। अमुक-अमुक। ऐसा हो तो वह रिपोर्ट पड़े। नहीं तो पढ़े भी नहीं। रिपोर्ट कहलाये न? क्या कहलाये? कायदेसर! वह किसान बेचारा कृषिकार, भान भी न हो। कौन कैसे लिख देता है। उसे पान-पट्टी देनी पड़ती है। खबर भी नहीं। पाँच रुपये देना या आठ आने देना। रिपोर्ट और वापस सरकार के पास रिपोर्ट।

यहाँ अभी रिपोर्ट किसके पास लिखाना और किसके पास सुनाना, यह भी खबर नहीं। समझ में आया? कैसी चीज़ यथार्थ भगवान आत्मा के पास दलील हो जाये। ऐसी दलील कैसे कौन सुनाता है, किससे सुनना और क्या सुनना, इसकी खबर नहीं। और भगवान आत्मा के पास जाना है और धर्म करना है। पहले तो कांप उठता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अब घर का क्या? एक हो तो है न? यहाँ तो अन्तर के घर की करनी है। यह तो दृष्टान्त था। सबको आत्मा का करना है। जिसे करना हो उसकी बात है। उसमें तो अब लौकिक की बात है। यह तो अभी दृष्टान्त दिया। सिद्धान्त! आहाहा!

आठ वर्ष की कन्या भी, ओहो! मैं तो परम परमात्मस्वरूप वर्तमान में हूँ। वर्तमान मेरी पर्याय में अन्दर शक्ति में परमात्मा न हो तो परमात्मा बाहर कहाँ से आयेगा? समझ में आया? निमित्त में मैं नहीं, संयोग में नहीं, राग में नहीं, अल्पज्ञ में नहीं। वर्तमान अल्पज्ञ पर्याय में मैं नहीं। मेरा स्वरूप अकेला चिद्घन ऐसा पूर्ण स्वभाव का जहाँ स्वीकार हुआ वहाँ सब दृष्टि उड़ गयी। ऐसे स्वभाव की दृष्टि हुई उसमें अब लीनता की मोक्ष की क्रिया कैसे विशेष करना, उसकी बात चलती है।

कोई कहे कि भाई ऐसे दान और कितनी तपस्या और कितने व्रत करना? क्या

व्रत, तप करे? वह तो सब विकल्प है। यह करना, उसकी बात चलती है। समझ में आया? यह तप, उसका नाम सच्चा व्रत। ज्ञायक चैतन्य में लक्ष्य बाँधकर दृष्टि हुई है, और जितनी पुण्य-पाप के विकल्प की राग की अस्थिरता थी, वह पर का विपाक है, ऐसा लक्ष्य में था। लक्ष्य हटा लिया और स्वरूप में स्थिरता हुई, वही व्रत और वही तप, वही निर्जरा, वही ध्यान, वही मोक्ष का उपाय। बाकी सब (थोथा है)। न्यालचन्दजी! सागर में यह बात है? ....करते हो! ना नहीं किया।

वीतराग की बात वीतराग में होती है, दूसरे में होती नहीं। ओहोहो! एक गाथा में कितनी बात! अमृतचन्द्राचार्य! महामुनि! छठवें गुणस्थान में झूलते थे। वाणी निकल गयी वाणी के कारण। हम कर्ता नहीं हों, प्रभु! यह वाणी हमने बनायी नहीं। ऐसी वाणी निकल गयी! हम कर्ता नहीं तो हमारे से कैसे निकल जाये। जो विकल्प आया है, वह भी हमारा पुण्यास्रव है। उससे भी हटकर अन्दर कैसा प्रयत्न करना, यह बात करते हैं। समझ में आया?

पश्चात्, **उस विपाक के अनुरूप...** यह अनुरूप की व्याख्या है, हों! अनुरूप क्यों कहा? कि कर्म के विपाक को अनुकूल कहा। अनुकूल कहो या निमित्त कहो। और निमित्त के अनुरूप विकार। कोई स्वभाव के अनुरूप विकार है? विकार कहीं आत्मा के स्वभाव के अनुकूल नहीं होता। विकार अनुरूप और स्वभाव अनुकूल, ऐसा नहीं है। क्या कहा? पुण्य-पाप के विकार अनुरूप और स्वभाव अनुकूल, ऐसा नहीं है। विकार अनुरूप और कर्म का पाक—विपाक अनुकूल दो का सम्बन्ध है, तो अभी स्वरूप में भान था कि यह सम्बन्ध मुझमें नहीं है। अब अस्थिरता का था तो पर का लक्ष्य हटाकर अन्तर में एकाकार होता है, तब उपयोग जो पुण्य-पाप का था, वह रुक गया। स्वरूप में जम गया। यह उसका नाम ध्यान और उसका नाम निर्जरा है। उसे कर्म का क्षय होता है। बाकी सब करके मर जाये, लंघन करके, अपवास करके, (सब निरर्थक है)। समझ में आया? रण में चिल्लाहट कोई सुने नहीं। ध्यान की और निर्जरा की यह विधि है। गुप्त दूसरी कहाँ यहाँ गुप्त है। ऐसा कि यह गुप्त बात दूसरी कोई होगी, खानगी—गुप्त कहने की। गुप्त हो या प्रगट हो, यही बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ध्यान में कोई जानकारी हुई, उसमें कुछ गुप्त....

पूज्य गुरुदेवश्री : गुप्त-बुप्त यह है। गुप्त भी यह और प्रगट में भी यह। देखो, कहा न। **विधि अब कही जाती है;...** ध्यान प्रगट करने की विधि। देखो! प्रगट करने की विधि कही जाती है। उसमें कोई गुप्त-बुप्त है नहीं। कैसा ध्यान करना, ओम... ओम... ओम... ओम... अरे! ओम... ओम... कर न (तो भी) क्या है? ओम... ओम... ओम... ओम... णमो... णमो... णमो... णमो... णमो... णमो अरिहंताणं, ये तो सब विकल्प है। यह तो राग है।

मोही, रागी और द्वेषी नहीं होनेवाले, देखो! और उपयोग जब पर से हटा तब **मोही, रागी और द्वेषी न होनेवाले ऐसे...** उस उपयोग को ऐसे आत्मा के शुद्ध परिणाम को **अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही...** अत्यन्त त्रिकाल शुद्ध आत्मा में ही, देखो! ऐसे उपयोग को, वहाँ वर्तमान पर्याय है। अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही, यह द्रव्य आया। अत्यन्त शुद्ध आत्मा में, यह वस्तु आयी और उपयोग को हटाकर यहाँ (द्रव्य सन्मुख) लाये, वह पर्याय आयी। शुद्ध पर्याय जो निर्जरा का कारण है। वह धर्मध्यान है। ओहोहो!

अब धर्मध्यान कैसे करते हैं। देखो! बाहर में पूजा, भक्ति और सामायिक, व्रत किये और धर्मध्यान हो गया। समझ में आया? इस मार्ग का मुख दूसरा है। गुफा में किस मुख से जाना, वह मुख ही दूसरा है। भगवान आत्मा अन्दर भगवानस्वरूप, उसके मुख में कहाँ से जाना और कहाँ से निकलना, यह मार्ग ही दूसरा है। समझ में आया? ओहोहो! आचार्य जगत के निकट प्रसिद्ध करते हैं। कुछ गुप्त नहीं रखा, भाई! यह जगत को ठीक पड़ेगा या नहीं? 'लोग चिल्लाते रहते हैं' लोक को क्या भान है। समझ में आया?

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसकी विधि और रीति यह है। सेठी! एक रतनचन्दजी थे। वे भाई ऐसा कहते थे। सिद्ध की अपेक्षा यह सिद्ध। लोग चिल्लाते हैं। लोग तो चिल्लायेंगे ही। अज्ञानी जहाँ-तहाँ। उसे यह बात नहीं बैठती। चिल्लाहट मचाते हैं। वह चिल्लाहट ही किया करेंगे। पुकार... पुकार...! अरे! ऐसा नहीं रे नहीं! अरे! ऐसा नहीं रे! यह तो लोक तो चिल्लाहट ही करेगा। अज्ञानी रोयेगा ही।

मुमुक्षु : बड़ बड़ बड़ बड़ किया करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया ही करे। यह तो अज्ञानी का स्वभाव है। जिसे सत्य की रुचि नहीं और सत्य क्या है, यह खबर नहीं, वह तो बड़-बड़ किया ही करे। ऐसा नहीं और ऐसा होना चाहिए और ऐसा होता है न। क्या होना, तुझे खबर नहीं न। समझ में आया? ज्ञानचन्दजी! आहाहा! यह बैंक का ताला कैसे खोलना, उसकी बात करते हैं। 'मास्टर की' है। पहले तो खोल दिया है। रागादि मैं नहीं, पर की क्रिया आदि मैं नहीं, ऐसा मेरा स्वभाव है। परन्तु विशेष खोलकर अन्दर ज्ञानी को शान्ति का निधान... निधान... निधान निकालना है, तो अपना उपयोग पर से हटाकर अपने में जम जाना।

यह **अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही...** यह द्रव्य आया। उस उपयोग को, वह वर्तमान निर्मल पर्याय आयी। निष्कम्परूप से लीन करता है। उपयोग के अन्दर कम्पन न हो, हटे नहीं, वैसे लीन करता है। लो! यह उसका नाम ध्यान है। उसे कर्म क्षय होते हैं। समझ में आया?। समय हो गया। थोड़ा बाकी है, हों! एकदम नहीं लिया जाता। समझ में आया? (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४, गाथा-१४६
दिनांक - १०-१०-१९६४, आसोज शुक्ल ५, शनिवार

.....पहले नौ पदार्थ क्या है, यह समझे बिना कभी सम्यग्दर्शन-धर्म नहीं होता। समझ में आया? तो सम्यग्दर्शन में नौ तत्त्व भिन्न-भिन्न उनके नौ विषय हैं। भिन्न-भिन्न का अर्थ—नौ के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। फिर अपने स्वरूप पर दृष्टि करने से नौ का यथार्थ भान उसमें होता है। जिसे नौ तत्त्व क्या? (उसकी) दृष्टि और ख्याल नहीं, उसे कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन बिना त्याग, वैराग्य, व्रत आदि कभी नहीं होते।

कहते हैं, नौ पदार्थ में निर्जरातत्त्व किसे कहते हैं, यह बात चलती है। निर्जरा पदार्थ। थोड़ी सूक्ष्म बात है। ध्यान का विषय है न यह तो। ध्यान का विषय लिया है। कहाँ तक आया। देखो! **तब उस योगी को...** गाथा फिर से लेते हैं। क्योंकि पूरी मिलाने के लिये। फिर से, तुम्हरे फिर से? होशियार लोगों को।

मुमुक्षु : होशियार लोगों को पक्का करना नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो! फिर से। यह ध्यान के स्वरूप का कथन है। है गाथा के नीचे?

यह ध्यान सम्यग्दृष्टि को होता है। यह फिर विशेष लिखेंगे। पहले आ गया है। अपना स्वरूप, जड़ रजकण, शरीर, वाणी, मन इन परपदार्थ का कार्य कभी भी नहीं कर सकता। क्योंकि वे अजीवतत्त्व हैं। यह हाथ हिलना, वह भी आत्मा का कार्य नहीं है। और आत्मा नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : दुखे तब क्या? सदाय। द्रव्य अलग है। यह तो अजीव है। शरीर, वाणी अजीव है। वह अजीव की पर्याय अजीव से होती है, मुझसे नहीं—ऐसा पहले अजीव के कार्य से दृष्टि हट जाये। पश्चात् पुण्य और पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति आदि शुभभाव और अशुभभाव, वह भी मेरा कर्तव्य नहीं है। वह भी विकार है। उस तत्त्व से मेरा ज्ञायकतत्त्व भिन्न है।

अजीवतत्त्व भिन्न है और पुण्य-पाप, दया-दान, भक्ति, व्रत, तप के जितने विकल्प उठते हैं, वे सब राग हैं। उनसे मेरा ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। और उस ज्ञायकतत्त्व का आश्रय लेकर अन्तर में जो शुद्ध संवर प्रगट होता है, वह धर्म की पहली सीढ़ी कहने में आती है। समझ में आया?

चिदानन्द अनन्त गुण का धाम भगवान! अनन्त गुण का धाम ऐसा द्रव्य, एक द्रव्य अपना, उस पर नजर करके, अन्तर्दृष्टि करके और स्वभाव में एकत्व होने पर और राग विकल्प से विभक्त होकर। समझ में आया? शुभ दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के सब विकल्प, वे राग हैं। उनसे विभक्त होकर और ज्ञानानन्दस्वभाव पूर्णानन्द में एकत्व होकर जो दृष्टि उत्पन्न हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ, तब संवरदशा उत्पन्न हुई। मिथ्यात्व और राग की उत्पत्ति का अभाव और स्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता अनन्तानुबन्धी का अभाव होने पर स्वरूप के आचरण की उत्पत्ति, वह संवर हुआ। उस संवरपूर्वक निर्जरा किसे होती है, यह बात चलती है। ओहोहो! आये लगते हैं कहाँ बैठेंगे? यहाँ बैठेंगे कहाँ? वहाँ जगह कर दो। अब यह बीच में डोलते हैं देखो! उन्हें पहले से आना था न या.... क्योंकि उतरते हैं कहा? उतारने का बन्ध किया है न?

इस आत्मा को पहले धर्म कैसे होता है, कि यह आत्मा अनन्त आत्माओं से भिन्न और अनन्त परमाणु अजीवतत्त्व से भी भिन्न है। पर आत्मा और पर अजीव का कार्य अर्थात् अवस्था कभी भी आत्मा तीन काल में अज्ञानभाव से भी नहीं कर सकता। समझ में आया? डालचन्दजी! अब ज्ञानी जब अपने में ज्ञान होता है, तब तो जड़ का कार्य होता है या नहीं होता, वह उसके कारण से है। मेरे कारण से कभी हाथ भी नहीं चलते। यह देखो! देखा है या नहीं? इच्छा से और ज्ञान से शरीर का कार्य नहीं होता। इस शरीर की पर्याय होनेवाली है, वह उससे होती है। ऐसा पहले जड़ से अपनी दृष्टि हटाकर अपने आत्मा में एक समय में अनन्त गुण है। अनन्त गुण है। अनन्त-अनन्त गुण है। कल कहा था, समझ में आया?

एक आत्मा में अनन्तानन्त गुण हैं। एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त शक्ति है।

एक-एक गुण की त्रिकाल अनन्त पर्याय है। ऐसे अनन्त गुणस्वरूप एक आत्मा की अन्तर एकरूप दृष्टि करने से, स्वभाव की एकता करने से और दया, दान, व्रतादि का विकल्प राग है, उसका लक्ष्य छोड़कर पृथक् करने से, अपने में एकत्वबुद्धि चैतन्य में हो, अनन्त गुण की राशि एक आत्मा, उसमें एकत्वबुद्धि हो, राग से पृथक् हो, शरीर से तो पृथक् है ही। तो मेरे शरीर का कार्य भी मेरा नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प का कार्य भी मेरा नहीं और मेरे स्वभाव सन्मुख की दृष्टि होने से मेरा कार्य जानना-देखना आनन्द होना, वह मेरा कार्य है। समझ में आया? ऐसी सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में उत्पन्न होती है। समझ में आया?

अभी श्रावक होने से पहले, हों! श्रावक, वह यह वाड़ा के श्रावक नहीं। नटुलालजी! श्रावक वाड़ा के अर्थात् समझे? यह सम्प्रदाय के को श्रावक कहते हैं। वे नहीं। कुल। कुल के श्रावक वाड़ा में रहे। कुल के श्रावक नहीं। समझ में आया? आत्मा का जो भान, सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं, ऐसा अन्तर में वीतराग परमात्मा, ऐसा कहते हैं, हों! दूसरा कोई कहे, वह वस्तु तीन काल में है ही नहीं। ऐसी अन्तर में दृष्टि सम्यग्दर्शन द्रव्य, गुण, पर्याय का भान-बोध होकर। परद्रव्य, परगुण, परपर्याय मुझसे भिन्न है, मेरे में विकार की पर्याय भी भिन्न है। वर्तमान निर्विकार पर्याय जितना भी मैं नहीं और मैं एक ज्ञानगुण आदि का लक्ष्य पृथक् करूँ तो भी अन्तर्मुखदृष्टि नहीं होती। समझ में आया?

सर्वथा अन्तर्मुखदृष्टि तो कब होती है?—कि पर्याय का लक्ष्य नहीं, गुणभेद का लक्ष्य नहीं, राग का नहीं, निमित्त का नहीं। एक स्वरूप सच्चिदानन्द ध्रुव सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा आत्मा अन्तर्दृष्टि में आने से जो एकत्वबुद्धि में सम्यग्दर्शन हो, वह प्रथम में प्रथम धर्म और संवर कहने में आता है। नटुलालजी!

कुल के श्रावक नहीं। यह सब कुल के श्रावक हो गये न? ऐसा कुछ सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् स्वरूप में एकाग्रता का ध्यान होता है। पंचम गुणस्थान में, चौथे गुणस्थान में, छठवें गुणस्थान में ध्यान होता है। यह ध्यान निर्जरा का कारण है। अशुद्धि का नाश करता है। कर्म का अभाव होता है और आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होती है। उस ध्यान का लक्षण चलता है। कहो, समझ में आया?

फिर से, देखो! **शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति, सो यथार्थ ध्यान है।** है पहली लाईन? नटुलालजी! कहाँ है? हाँ, यह है। बराबर है। शुद्ध स्वरूप में... बहियों में कितना ध्यान रखते हैं कि कहाँ नामा है! खबर है या नहीं? शुद्धस्वरूप में अपना शुद्ध चैतन्य अनन्त गुण का पिण्ड, उसमें **स्वरूप में अविचलित...** चलित न होना। अन्दर वस्तुस्वरूप जो सम्यग्दर्शन में भान में आया है, ऐसी चीज़ में चलित नहीं होना; स्थिर हो जाना। ऐसी चैतन्य परिणति। ऐसी आत्मा की परिणति अर्थात् पर्याय, यह शुद्ध चैतन्य की परिणति। चेतनद्रव्य, अनन्त गुण। चैतन्यगुण ज्ञान-दर्शन आदि और उसकी परिणति, वह पर्याय। समझ में आया?

चेतन पूर्ण एक द्रव्य उसमें चैतन्य ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण और उस ओर के झुकाव से जो चैतन्य की परिणति अविचलित अवस्था होती है, यह उसका नाम उस पर्याय का नाम यथार्थ ध्यान है। डालचन्दजी! पर्याय समझे? अवस्था। द्रव्य ध्यान नहीं, गुण ध्यान नहीं। द्रव्य और गुण त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप है। उस ओर के एकाकार झुकाव से यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक की बात है। सम्यग्दर्शन बिना ध्यान-ब्यान होता नहीं। अज्ञानी को अभी वस्तु की भी खबर नहीं, क्या चीज़ है, कैसे उत्पन्न होती है, कहाँ से हटना, नौ तत्त्व की खबर नहीं, उसे तो ध्यान होता नहीं। सम्यग्दर्श होता नहीं तो उसे ध्यान होता नहीं।

सम्यग्दृष्टि को अविरत सम्यग्दृष्टि से पंचम, छठे गुणस्थान आदि में ध्यान किस प्रकार का होता है कि चैतन्यपरिणति वह यथार्थ ध्यान। परिणति अर्थात् अवस्था। निर्मल दशा। समझ में आया? चैतन्य त्रिकाली वस्तु उसके चैतन्य ज्ञान, दर्शन त्रिकाली गुण, उसके साथ अविनाभावी अनन्त शक्तियाँ, उसमें एकाकार होने से चैतन्य की परिणति निर्मलदशा, पुण्य और पाप के विकल्प से रहित ऐसी परिणति पर्याय उत्पन्न होती है। चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में, छठवें गुणस्थान में, समझ में आया? या सातवें में। वह यथार्थ ध्यान है। समझ में आया?

ओम... ओम... ओम... करे, वह ध्यान नहीं। वह तो सब विकल्प है। णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं। यह सब राग है, पुण्य है,

आस्त्रव है; ध्यान नहीं और धर्म नहीं। समझ में आया? ऐसी परिणति ध्यान, **वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है;...** अर्थात् आत्मा में शुद्धि की वृद्धि ऐसी निर्जरा कैसे हो, ऐसे ध्यान की विधि कहने में आती है। **जब वास्तव में योगी,...** योगी अर्थात् धर्मी सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि को यहाँ योगी कहने में आता है। अज्ञानी और पीर के बाबा बाबा यह सब जंगल में नग्न होकर रहते हैं, वे योगी नहीं। समझ में आया? जिसकी दृष्टि अभी आत्मा अखण्ड आनन्द पूर्ण कौन, पर्याय क्या, गुण क्या, विकार क्या, संयोगी चीज़ का अस्तित्व क्या? नौ के अस्तित्व का भी अभी जिसे स्वीकार नहीं, उसे सम्यग्दृष्टि स्वभाव सन्मुख झुकाव होता नहीं। समझ में आया?

यहाँ योगी सम्यग्दृष्टि से लेना है। गृहस्थाश्रम में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, उसे भी योगी कहते हैं। आगे बढ़कर पंचम गुणस्थान में श्रावक हुआ, उसे भी योगी कहा जाता है। मुनि हुआ, वह तो अलौकिक दशा छठे गुणस्थान में वनवासी जंगल में रहनेवाले। सर्वज्ञ की वस्तु की आज्ञा प्रमाण आत्मा का अनुभव करके, निर्मलदशा अरागी, विकारी पर्यायरहित उत्पन्न होना, उसका नाम ध्यान और ध्यानी अथवा योगी कहने में आता है। कहो, समझ में आया? बहुत ही सूक्ष्म बात, भाई! मूल तत्त्व की वस्तु का अभ्यास नहीं होता, फिर उसे धर्म करना। **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गलकर्म होने से...** अब देखो!

कर्म जड़ है। वह अजीवतत्त्व है, (ऐसा) ज्ञानी के लक्ष्य में है। सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य में है कि पुद्गल कर्म एक है, उसका पाक होता है, वह अजीव है। वह अजीव पुद्गलकर्म होने से, दर्शनमोह एक कर्म है और चारित्रमोह एक कर्म है। उस अजीवतत्त्व में उसकी श्रद्धा में यह आ गया है। सम्यग्दृष्टि को यह कर्म अभी मुझमें बाकी है। क्योंकि वह अभी वीतराग परमात्मा नहीं हुआ। तो उसका अजीवतत्त्व का संयोग और कर्म का पाक, वह अजीव है, ऐसी ज्ञानी को लक्ष्य में अजीव की प्रतीति है।

ऐसा पुद्गलकर्म का पाक वह अजीव, पुद्गल, जड़ होने से, **उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में समेटकर,...** जरा सूक्ष्म बात है। अपना स्वरूप तो सम्यग्दर्शन में अपना भाव आनन्द और शुद्ध आ गया है। अब सम्यग्दृष्टि को भी जो

शुभ और अशुभभाव है, उसमें कर्म का विपाक लक्ष्य में था और उसका अनुसरण करके शुभाशुभपरिणाम ज्ञानी को भी सम्यग्दृष्टि को भी होता था। शुभ और अशुभ। उन कर्मों को समेटकर उसमें डाल दिया। डाल दिया का अर्थ कर्म का विपाक अजीव में है। मेरी लक्ष्य करने की चीज़ थे। मुझमें नहीं।

शुभ और अशुभभाव जो मुझमें होता है, सम्यग्दृष्टि जानता है कि मुझमें पापभाव होता है। आर्तध्यान होता है, रौद्रध्यान होता है। समझ में आया? हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना ज्ञानी को भी होती है। सम्यग्दर्शन का भान है। तो कहते हैं कि मेरी इस पर्याय में जो होता है, उसका लक्ष्य क्या? कर्म का विपाक उसका लक्ष्य है।

अजीव है, उसकी दृष्टि में भी उस विपाक को उसमें डाल दिया। अर्थात् उस ओर का झुकाव छोड़ दिया। हें? उस ओर का झुकाव छोड़ दिया। है न? कर्मों में समेटकर, उस विपाक को विपाक में रखा। अर्थात् सम्यग्दृष्टि कर्म के विपाक में जो लक्ष्य करता था, तब अपनी पर्याय में पुण्य-पाप का जो कर्म का अनुसरण करके अपनी पर्याय में कमजोरी थी, अब उसकी निर्जरा यहाँ करनी है।

इस विपाक का लक्ष्य छोड़कर विपाक को विपाक में रखा। उसका अर्थ विपाक का लक्ष्य छोड़ा। समझ में आया? समेटकर अर्थात् विपाक उसमें रखा। उसका अर्थ यह कि उससे लक्ष्य छोड़ दिया। समझ में आया? अपने में सम्बन्ध करता था। शुभ-अशुभपरिणाम होने पर विपाक का सम्बन्ध करता था, वह लक्ष्य छोड़ा और विपाक को विपाक में रखा, ऐसा कहने में आया है। भारी सूक्ष्म बात, भाई! समझ में आया?

तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके... अब दूसरी बात ली है। यह तो लक्ष्य छोड़ा तो उसका अनुसरण करके जो उस विपाक का अनुसारण करके, समकिती को अपने में शुभ और अशुभराग होता था। पुण्य-पाप का विकल्प मलिन भाव होता था समकिती को, **उस उपयोग को व्यावृत्त करके...** पर अनुसरण करना छोड़ दिया। उसका अर्थ अपने स्वभाव का उग्र अनुसरण किया। आहाहा! समझ में आया? यह धर्म होने की विधि, यह निर्जरा होने की विधि, यह धर्मध्यान होने की प्रगट विधि का प्रकार। तो कहते हैं कि **उपयोग को व्यावृत्त करके (-उस विपाक के अनुरूप...** अनुरूप समझे न?

कल आया था। यह कर्म का पाक है, (वह) सम्यग्दृष्टि जानता है कि है। परन्तु वह निमित्त है। निमित्त है। किसमें? अपनी पुण्य-पाप की अशुद्ध परिणति / पर्याय होती थी, उसमें वह निमित्त था। तो निमित्त था वह अनुकूल था। और उस अनुकूल या अनुसरण करने से अन्दर पुण्य-पाप की पर्याय, उसे अनुरूप कहा गया है। कर्म का पाक अनुकूल निमित्त और पाक को अनुसरण करके अपना आत्मा अपनी कमजोरी से पुण्य और पाप का भाव जो होता था, उसके अनुरूप। **विपाक को अनुरूप,....** यह अनुरूप या अनुकूल। अनुकूल या अनुरूप शब्द सुना है? अनुकूल-अनुरूप क्या कहते हैं? कि यह मेरे पुत्र हमें अनुकूल है। लो! ऐसा नहीं कहते? अनुकूल का अर्थ निमित्त। वह यहाँ ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को अपना शुद्धस्वरूप दृष्टि में अनुभव में आया है। अभी बाकी रहे हैं, पुण्य-पाप के मैल भाव। यदि बाकी न रहे हों तो वीतराग हो जाये और पर से पृथक् न किया हो तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। समझ में आया?

तो पुण्य-पाप का विकल्प राग से अपना स्वभाव पृथक् किया है। दृष्टि में ज्ञायकपना लिया है। पृथक् किया है परन्तु अभाव नहीं किया। तो अभाव करने के काल में क्या होता है?—कि जो कर्म की जड़ प्रकृति है, नौ तत्त्व में अजीवतत्त्व लक्ष्य में-प्रतीति में आये हैं। उनकी ओर के झुकाव से जो पुण्य और पाप अपनी पर्याय में शुभ, अशुभ, हिंसा, झूठ, चोरी, भोग आदि वासना थी, वह कर्म के निमित्त को अनुरूप। निमित्त को अनुरूप अपनी पर्याय निमित्त से अनुरूप और अनुरूप को कर्म का पाक अनुकूल। अनुकूल को निमित्त कहते हैं और नैमित्तिक पर्याय को अनुरूप कहते हैं। समझ में आया?

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने नौ पदार्थ कहे। तो कहते हैं, देखो! उसमें नौ का भान आ गया है कि मैं ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि हुई। मेरी पर्याय में इतना स्वभाव का अनुसरण करके शुद्धता प्रगट हुई है, वह पर्याय संवर है और जितनी शुद्धि की वृद्धि है, वह निर्जरा है और पुण्य-पाप जो कर्म के पाक का अनुसरण करके अपने में उत्पन्न होता है, वह आस्रव और बन्ध है। अरूपी आत्मा की पर्याय। समझ में आया? वह अरूपी आत्मा की पर्याय जो पर का अनुसरण करके उत्पन्न होती थी (उसे) व्यावृत्त करके, **परिणमन**

में से उपयोग का निवर्तन करके... समझ में आया? अनजाने व्यक्ति को तो ग्रीक लेटिन (अटपटा) लगे ऐसा है। यह ग्रीक लेटिन जैसा क्या होगा यह?

कभी अभ्यास (नहीं) कि चैतन्य तत्त्व वीतराग क्या कहते हैं? सर्वज्ञ का पंथ क्या है? वीतराग तीन लोक का नाथ सौ इन्द्रों के पूजनीक! उन्होंने क्या तत्त्व कहा? यह तो पर का करो, ऐसा करो, ऐसा करो। कहते हैं धर्मी को अपने स्वभाव की दृष्टि होने पर भी, उसकी प्रतीति है कि मैं ज्ञायकभाव हूँ। उसके आश्रय से जितना संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन में एकाग्रता उत्पन्न हुई है, उतना पर्याय में संवरतत्त्व है और जितना कर्म के पाक को अनुसरण करके, उस कर्म के अनुरूप अपनी पर्याय में-अवस्था में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वह आस्रव और बन्ध है और विपाक है; वह अजीव है। अजीव आया, पुण्य-पाप आये, संवर आया, आत्मा आया। संवर में शुद्धि की वृद्धि, वह शुभाशुभ परिणाम से हटकर जितनी एकाग्रता होती है, उतनी संवर की वृद्धि अर्थात् शुद्धि की वृद्धि अर्थात् निर्जरा है।

मुमुक्षु : दोनों एक साथ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक साथ। समझ में आया? अनुकूल निमित्त से होता है। वह निमित्त है न पाक? वह अपेक्षा से अनुरूप कहा है। है अपनी पर्याय अपने में तादात्म्य। परन्तु उसे अनुरूप क्यों कहा कि कर्म है न जड़, वह अनुकूल है। अनुकूल अर्थात् निमित्त और उसके अनुरूप हुई। अपनी पर्याय वह अनुरूप। पर्याय अपने में हुई। वह अनुरूप। किसे अनुरूप? निमित्त के अनुरूप। अपने निर्मल परिणाम में मलिन परिणाम जो थे, वे अनुरूप और कर्म का पाक अनुकूल। अनुकूल का लक्ष्य छोड़ दिया। विकारी पर्याय जो अनुरूप थी, वह छूट गयी।

फिर से। **विपाक के अनुरूप।** यहाँ विपाक को अनुरूप लेना है न? कर्म का पाक है परन्तु जो सम्यग्दर्शन हुआ परन्तु यदि वीतराग हो जाये तो बात पूरी! वीतराग पहले नहीं होता। सम्यग्दृष्टि तो संसार में राजपाट में भी पड़ा हो, छियानवें हजार स्त्रियों के (वृन्द में) पड़ा हो। क्षायिक सम्यग्दृष्टि। तो कहते हैं कि अपने आत्मा को अजीव के कार्य से भिन्न किया। पुण्य-पाप से पृथक् किया। ज्ञायकभाव में एकाकार दृष्टि की। अब

पुण्य-पाप जो उत्पन्न होते हैं, वह कर्म का पाक निमित्त है, वह अनुकूल। उसके अनुरूप विकार वह अपनी पर्याय। अपने आत्मा में विकारी पर्याय वह आत्मा के साथ अनित्य तादात्म्य है। अनित्य तादात्म्य है। नित्य तादात्म्य नहीं। उसमें दो भेद हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द जो गुण हैं, वे नित्य तादात्म्य, नित्य तद्रूप है। और विकारी पर्याय है, वह अनित्य एक क्षण की समय की पर्याय में अनित्य तादात्म्य है। आहाहा! मालचन्दजी! यह माल की बात चलती है। अन्दर में क्या माल पड़ा है? देखो! आहाहा!

विकार पर्याय निमित्त वह विकार कर्म। उसे अनुरूप विकारी पर्याय। अपनी पर्याय में अनित्य तादात्म्य है। अपने आत्मा में, हों! अनित्य तादात्म्य है। परन्तु दृष्टि ज्ञायक पर नित्य तादात्म्य स्वभाव पर है। तो उसका (विकार का) कर्तव्य मेरा है, यह दृष्टि छूट गयी है। होता है। क्या कहा? समझ में आया? समयग्दृष्टि को भी पुण्य-पाप का भाव होता है। युद्ध का, भोग का, विषय का। हों! वह अनुरूप। किसे अनुरूप? कि वह विपाक कर्म निमित्त अनुकूल, उसके अनुरूप। हुआ किसमें? अपनी पर्याय में। आत्मा की पर्याय में। होने पर भी, सम्यग्चैतन्य ज्ञायक का भान है, तो वह कार्य मेरा है, ऐसी बुद्धि छूट गयी है, परन्तु परिणति रह गयी है। आहाहा! परिणति समझे? पर्याय। अवस्था है।

मैं करूँ, ऐसी बुद्धि छूट गयी है। परन्तु पुण्य-पाप की परिणति कर्म के निमित्त के अनुरूप है। और विकार के परिणाम को कर्म का पाक अनुकूल अर्थात् निमित्त है। यह अनुरूप आत्मा की पर्याय में सम्यग्दृष्टि को भिन्न तत्त्वरूप ज्ञान में भासित होता है। दया, दान, व्रतादि के विकल्प ज्ञायक से भिन्न तत्त्वरूप अन्तर में भासित होते हैं। हैं अवश्य। परन्तु मेरे ज्ञायकतत्त्व से भिन्न हैं। है पर्याय में, परन्तु कर्तृत्वबुद्धि से रहित है। परिणति सहित है।

मुमुक्षु : अभिप्राय में भासते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भासते हैं। एक समय उपयोग थोड़ा, असंख्य समय में उसमें काम करे। परन्तु उसमें ऐसा कार्य में भासन होता है। समझ में आया? एक समय पकड़ा नहीं जा सकता।

मुमुक्षु : ....दोनों के साथ अनित्य तादात्म्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है। एक ही समय में, एक ही समय में। दोनों के साथ अनित्य तादात्म्यसम्बन्ध। लो! भाई ने प्रश्न पूछा विपाक का। फिर से अधिक स्पष्ट करते हैं। देखो! यहाँ नौ तत्त्वसहित की अनुभवदृष्टि हुई, उसकी बात चलती है न? तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, अकेला चिद्घन, ऐसी द्रव्यरूप बुद्धि हो गयी। तो पुण्य-पाप के परिणाम से बुद्धि हट गयी। अजीवतत्त्व का कार्य मेरा है, ऐसी बुद्धि हट गयी। और अपने स्वभाव की ओर जितना जम गया, उसकी दृष्टि को सम्यग्दर्शन कहते हैं। और उस सम्यग्दर्शन को संवर कहते हैं और संवर के साथ थोड़ी शुद्धि भी है तो उसे निर्जरा कहते हैं। परन्तु विशेष निर्जरा कैसे होती है, यह बात चलती है। तो वह जीवद्रव्य दृष्टि में आया है। उसके आश्रय से थोड़ी संवर, निर्जरा उत्पन्न हुई है, वह भी प्रतीति में है, परन्तु संवर निर्जरा आत्मा के साथ पर्याय से अनित्य तादात्म्य है। परन्तु वास्तव में शुद्ध है तो आत्मा के साथ अभेद हो जाते हैं और पुण्य-पाप की पर्याय उत्पन्न होती है, अनित्य तादात्म्य होती है, तथापि वह स्वभाव से भिन्न है। आहाहा! भाई!

मुमुक्षु : भारी कठिन!

पूज्य गुरुदेवश्री : हें?

भगवान आत्मा... वह तो नौ पदार्थ और उसमें से निकालकर मात्र आत्मा की दृष्टि हुई, तथापि नौ की प्रतीति वर्तती है। समझ में आया? जितना उस वस्तु का स्वभाव से आश्रय (से), विकल्प, पुण्य-पाप से पृथक्, अपनी परिणति निर्मल हुई, वह तो स्वभाव के साथ अभेद हुई, इसलिए उसे कोई अनित्यतादात्म्य की कुछ आवश्यकता नहीं। स्वभाव के साथ अभेद हुई। समझ में आया? है तो अनित्य एक समय की पर्याय। परन्तु पृथक् पड़े तो लक्ष्य करने में आता है कि यह पर्याय। परन्तु है अभेद। और जो राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं समकिती को चौथे, पाँचवें, छठवें (गुणस्थान में)। राग तो मुनि को भी होता है पंच महाव्रत के, यह सब राग हैं। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, यह सब राग है। धर्म या संवर-बंवर नहीं। वह राग आस्रव है, ऐसी ज्ञानी को ज्ञान में प्रतीति हैं। अनित्य तादात्म्यरूप है। परन्तु मेरा कर्तव्य है, ऐसी बुद्धि छूट गयी है परन्तु

परिणमन में न्यूनता रह गयी है, इसका नाम आस्रव तत्त्व कहते हैं और दूसरे प्रकार से कहें तो त्रिकाल स्वभाव थोड़ा रुक गया है सम्यग्दृष्टि को भी, उतना भावबन्ध है। वह अनित्य तादात्म्य है। पुण्य-पाप, विकार उसकी पर्याय में होता है, कहीं जड़ में नहीं। पुण्य-पाप कहीं जड़ में नहीं होते। हैं तो आत्मा की पर्याय में। उस पर्याय में निर्मल उत्पन्न हुए वह तो अपने स्वभाव के अनुकूल हुई और उत्पन्न हो गये। और जितना विकार रहा, वह तो कर्म के अनुरूप रहा। कर्म उसमें निमित्त और उसे अनुरूप विकार। उस विकार से हटकर। ऐसा आया न?

देखो! **अनुरूप परिणमन में से...** अनुरूप परिणमने से अर्थात् विकारी शुभ-अशुभभाव, पुण्य-पाप के भाव, हिंसा-झूठ के भाव, भोग के भाव। ऐसे परिणमन से **उपयोग को व्यावृत्त करके मोही, रागी और द्वेषी न होनेवाले ऐसे...** पर में एकत्बुद्धि नहीं, वह मोही नहीं और रागी-द्वेषी भी नहीं। वह राग-द्वेष के परिणाम थे। वहाँ से उपयोग को हटाकर अपने ज्ञायक में जोड़ दिया। **ऐसे उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही...** देखो, अब! ऐसे उस उपयोग को, उपयोग वह पर्याय है, शुद्ध पर्याय। पुण्य-पाप की पर्याय से हटकर अपनी पर्याय में शुद्धता हुई, वह उपयोग है, व्यापार है, पर्याय है।

उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही... वह द्रव्य है। अत्यन्त शुद्ध आत्मा में रोका, वह द्रव्य है। 'अत्यन्त शुद्ध आत्मा', वह द्रव्य है, वस्तु है। 'उपयोग', वह पर्याय है। पर्याय को द्रव्य में रोका। समझ में आया? यह समझे बिना का, यह समझे नहीं उसे ध्यान नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को ध्यान होता है, उसे भी ऐसे विवेक से होता है। ऐसे अपवास कर डाले और ऐसे बैठ जाये और ऐसे कर जाये... ताव काय ठाणेणं माणेणं अप्पाणं वोसिरामी काउसग्ग, किया। मालचन्दजी! आता है या नहीं? धूल में भी काउसग्ग नहीं। अभी आत्मा क्या है, गुण क्या है, पर्याय क्या है, निर्मल क्या है, संवर क्या है, संयोग क्या है। कितना संयोग का तत्त्व है। समझ में आया? पर्याय कितनी एक समय में है। निर्मल कितनी, मलिन कितनी किसमें है। उसका विवेक नहीं उसे सम्यग्दर्शन नहीं और सम्यग्दर्शन बिना कभी भी ध्यान होता नहीं। समझ में आया?

बात भाई कठिन है, प्रभु! जहाँ वस्तु जैसी है, वैसी आनी चाहिए या नहीं?

मुमुक्षु : आप तो नयी-नयी बातें सुनाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नवीनता कुछ नहीं। इसने सुनी नहीं, समझी नहीं। नवीनता है। वस्तु तो अन्तर की है। परन्तु कभी इसने अभ्यास में लिया नहीं। परिचय में दूसरा अभ्यास कर-करके मर गया। शास्त्र ग्यारह अंग पढ़ गया, लो न! परन्तु उसमें यह क्या चीज़ है, ऐसा विवेक अन्दर में किया नहीं। दूसरे पठन की तो बात भी कहाँ है? वह तो अज्ञान पठन है। क्या वकील के भी अज्ञान पठन होंगे, रामजीभाई का? कुज्ञान लो! ऐसे बड़े वकील। एक दिन में दो सौ रुपये लेते थे। लो, पच्चीस वर्ष पहले। वह कुज्ञान होगा?

मुमुक्षु : आप कहते हो कुज्ञान। चतुर हो तो कुज्ञान कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन चतुर है? वकालत की बुद्धि सब कुज्ञान है। ऐई! डालचन्दजी! यह तम्बाकू की बुद्धि सब कुज्ञान है। भाई को सुना तो दें डालचन्दजी को, कि सब बहुत ही होशियार है। यह बुद्धि कुज्ञान है। धर्म के पठन के अतिरिक्त दूसरे सब पठन कुज्ञान है। अरे! शास्त्र के पठन भी अपने ज्ञायक का ज्ञान हुए बिना, वह भी कुज्ञान है। नथुलालजी! समझना तो पड़ेगा न, क्या सच्चा है? ऐसी की ऐसी जिन्दगी निकाल डाले। अनन्त काल गया। अनन्त बार मुनि हुआ, त्यागी हुआ, अनन्त बार ब्रह्मचारी हुआ। समझ में आया? ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ डाला। पढ़ डाला। नौ पूर्व पढ़ डाला। नौ पूर्व शास्त्र, हों! क्या चीज़ है। सर्वज्ञ प्रमाण कैसे प्राप्त होता है, ऐसा कभी प्रयत्न किया नहीं। ओहोहो! क्या कहा, समझ में आया?

ऐसे उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही... ऐसा उपयोग। कौन सा उपयोग? कि जो कर्म निमित्त था, और उसके अनुरूप जो पुण्य-पाप का विकार था। वह व्यापार छोड़ दिया। इसका अर्थ-छोड़ दिया, यह भी व्यवहार कथन है। ऐसे छोड़ नहीं सकता। स्वभाव सन्मुख एकाग्र होने पर वह परिणाम छूट गये अथवा उत्पन्न नहीं हुए। और जो शुद्ध पर्याय हुई, उसे स्वभाव में जोड़ दिया। समझ में आया?

स्वभाव क्या? कि अत्यन्त शुद्ध आत्मा। उस स्वभाव का द्रव्य, उसे द्रव्य कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध आत्मा, उसका नाम द्रव्य और उपयोग जो पहले कहा, वह पर्याय। उस

निर्मल पर्याय को अपने शुद्ध आत्मा में जोड़ दिया। इसका नाम योगी कहा जाता है। यह क्रिया हो वह योगी। देरियाजी! यह योगी!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पूरी दूसरी बात है। बात सत्य है भाई! १०० में १०० प्रतिशत। अनन्त काल में इसने यह बात विचार में भी नहीं ली। थोथे थोथा बाहर की बात और ऐसा और ऐसा और ऐसा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहते हैं **उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही...** देखो! निश्चय किया। **निष्कम्परूप से लीन करता है,...** लीन करते हैं क्या? कि अपने पुरुषार्थ से उपयोग को अन्दर में लीन करता है। कोई कर्म मार्ग दे तो लीन होते हैं, ऐसा है नहीं। कर्म भिन्न है जड़। उनका लक्ष्य छूट गया। समझ में आया?

तब उस योगी को— देखो! अब वह योगी अर्थात् ध्यानी। कि **जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रान्त है,...** जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्य स्वरूप में विश्रान्त है। कल यहाँ तक आया था। अपना निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप, यह द्रव्य लिया। **निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रान्त है,...** स्थिर हुआ है। विश्रान्ति ली है। उपयोग वहाँ ध्यान में जम गया है। वचन, मन, काया को भाता नहीं। वह स्वभाव में बाहर से हट गया तो **वचन-मन-काया को नहीं भाता...** मन, वचन, काया के ओर की भावना नहीं। छूट गयी। शुभ-अशुभभाव भी छूट गये। मन, वचन, काया को भाता नहीं। चिन्तवन नहीं करता। नहीं ध्याता—अनुभव करता। भाने का नीचे अर्थ है।

और स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता... आहाहा! देखो! दोनों नास्ति की बात ली है। अपने शुद्ध स्वरूप में वचन, मन, काया को भाता नहीं। अथवा वचन, मन, काया के परिणाम के ओर की भावना छूट गयी। स्वभाव सन्मुख की भावना-एकाग्रता हुई तो **स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता...** देखो! स्वकर्मों द्वारा लिया। नीचे (फुटनोट में) व्यापार का अर्थ है। व्यापार २ है न? **व्यापार = प्रवृत्ति। (स्वरूपविश्रान्त योगी को...)** ओहो! विश्रान्त है। देखो! विश्रान्त लिखा है। विश्रान्ति लेनी है? कहते हैं या नहीं? विश्रान्ति

लेनी है। कहाँ लेनी है ? अत्यन्त शुद्ध चैतन्य भगवान में विश्रान्ति लेना, वह विश्रान्ति है।

स्वरूपविश्रान्त योगी को अपने पूर्वोपार्जित कर्मों में प्रवर्तन नहीं है,... यह स्वकर्म की व्याख्या। जो जड़कर्म है न, उसे स्वकर्म निमित्त से कहा। निमित्तसम्बन्ध है न ? **क्योंकि वह मोहनीयकर्म के विपाक को अपने से भिन्न-अचेतन-जानता है...** सम्यग्दृष्टि मोहकर्म को तो अचेतन मानता है, अजीव मानता है, जड़ मानता है, धूल मानता है। जैसे यह धूल है, वैसे कर्म सूक्ष्म धूल है। कहो, समझ में आया ?

तथा उस कर्मविपाक के अनुरूप... लो, आया। देखो ! कर्म का पाक जो जड़ में आया, उसके अनुरूप परिणमन से उससे उपयोग को विमुख किया है। उस ओर का शुभाशुभ परिणमन जो कर्म के निमित्त के अनुरूप हैऔर अपने परिणाम में, वह कर्म का विपाकमात्र निमित्त (है)। पृथक् चीज़ है हों, इतना। कराता नहीं। आत्मा में कर्म से विकार होता नहीं। कर्म से विकार मुझमें होता है, (ऐसा माननेवाले) को तो अजीव और आस्रवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। अजीव पृथक् तत्त्व है, आस्रव पृथक् तत्त्व है। नौ में दो तत्त्व पृथक् है। कोई ऐसा माने कि मुझे अजीवतत्त्व से यह विकार आया, तब तो अजीव को (और अपने को) दोनों को एक माना। समझ में आया ? क्या करें भाई ! कर्म का जैसा उदय आवे, वैसा हमें विकार करना पड़ता है। वह तो मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। स्वच्छन्दी है। क्योंकि कर्म अजीव और पुण्य-पाप परिणाम तुझमें हुए, वे आस्रव। दो तत्त्व नौ में भिन्न हैं। एक अजीव और एक आस्रव। तो अजीव से आस्रव हुआ तो अजीव और आस्रव एक हो गये। समझ में आया ?

वहाँ तो विपाक है, इतना सिद्ध किया। परन्तु उसका अनुसरण करे तो विपाक होता है। न करे तो विकार नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को भी। आहाहा ! कितनी बात को स्पष्ट करते हैं। विपाक है, अजीवतत्त्व है, प्रतीति में है, जिसका अनुसरण जितना में करूँ, उतना विकार होता है। मुझमें होता है। मेरे स्वभाव में नहीं। परन्तु इतनी मलिनता है। तो उस अनुरूप परिणमन से उसने उपयोग को विमुख किया। लो ! उस परिणमन से हटा, परिणमन से हटकर, विपाक का लक्ष्य तो था परन्तु परिणमन से हटकर स्वरूप में एकाग्रता की। वह स्वकर्म का निमित्त है न अपने में। स्वकर्म हुआ न।

किसी का कर्म नहीं। निमित्तरूप से कर्म अपने में है। आस्रव भी अपने नहीं। स्वकर्म अपना कहा। वह स्वकर्म निमित्त विपाक है या नहीं अन्दर में? अपने सम्बन्ध में है या नहीं? अपने सम्बन्ध में है या नहीं? या दूसरे के सम्बन्ध में है और यहाँ आस्रव होता है, ऐसा नहीं है।

एकक्षेत्रावगाह कर्म जड़ अपने क्षेत्रावगाह में रहे हैं। उसे यहाँ स्वकर्म कहा गया है। समझ में आया? लो! कहाँ आया। देखो! **स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता उसे...** अर्थात् दो बात हुई। एक तो धर्मी जीव अपने सम्यग्दर्शन के भान में अशुद्ध की परिणति परलक्ष्य से थी, उस अशुद्ध परिणति का लक्ष्य छोड़कर, अशुद्ध परिणति भी छोड़ दी। अर्थात् शुद्धस्वभाव में लीन दृष्टि सम्यग्दर्शन है, तो राग से भिन्न विवेक तो हो गया। उसमें विशेष लीन हुआ, वह चारित्र हुआ। वह चारित्र हुआ, ध्यान हुआ। ध्यान हुआ, वह निर्जरा हुई। एक-एक तत्त्व पर्याय-नौ तत्त्व में जीव और पुद्गल दो द्रव्य तत्त्व है और सात पर्याय तत्त्व है। समझ में आया?

जीव और कर्म पुद्गल आदि या दूसरे अजीव द्रव्य, द्रव्य है वस्तु। और दोनों के संयोग में सात पर्याय है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। ये सात पर्याय हैं। गुण नहीं, द्रव्य नहीं। समझ में आया? तो पर्याय में कितनी मलिनता है और वह मलिनता छूटती है, वह बात करते हैं।

मुमुक्षु : जीव की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव की पर्याय है। अपनी शुद्ध। शुद्ध है न? अपने से प्रगट हुई, वह शुद्ध है। और आस्रव है, पुण्य-पाप वह अशुद्ध है, मलिन है। समझ में आया? संवर, वह शुद्ध पर्याय है, निर्जरा भी शुद्ध पर्याय है, मोक्ष भी पूर्ण शुद्ध पर्याय है। मोक्ष भी आत्मा की निर्मल पर्याय-अवस्था है। समझ में आया? सुनाई देता है थोड़ा-थोड़ा? हाँ, सुनाई देता है। इनको सुनाई देता है, इनको नहीं सुनाई देता। एक तो रह गया है कान ठीक! नहीं, नहीं, ध्यान तो बराबर है।

मुमुक्षु : जीव अजीव के साथ सात तत्त्व, वह पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह पर्याय है। अजीव में सात भिन्न है। उस अजीव में

सात भिन्न, सात भिन्न, सात भिन्न। दो, वह उसके दोष अजीव हैं, उसमें जो विकारी कर्मरूप पर्याय हुई, वह पर्याय हुई। उस पर्याय में भी जितना द्रव्यास्रव आनेवाला है, उसे द्रव्यास्रव पर्याय जड़ की कहते हैं। समझ में आया? वह आनेवाले हैं। नहीं आनेवाले, उसे द्रव्य संवर कहते हैं, जड़ की पर्याय को। बन्ध होने को द्रव्यबन्ध कहते हैं। बन्ध होता है, उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं और भावबन्ध यहाँ छोड़ा और द्रव्यबन्ध छूट गया, उसे निर्जरा का तत्त्व-द्रव्यनिर्जरा तत्त्व पर्याय में कहते हैं। जड़ की पर्याय। सात में जरा सूक्ष्म पड़े, इसलिए थोड़ा लेते हैं। अजीव में भी सात और जीव में भी सात हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्ति। द्रव्य? नहीं, यह नास्तिरूप है। द्रव्य को नास्ति कहा न? द्रव्य संवर परमाणु आनेवाले नहीं थे, उसे द्रव्यसंवर कहा। परन्तु यह बहुत सूक्ष्म पड़ती है। एक-एक में नहीं लेते। आत्मा में शुद्ध श्रद्धा सम्यग्दर्शन हुआ, वह संवर। तो उस समय मिथ्यात्व का आस्रव रुक गया। रुक गया का अर्थ कि आनेवाला नहीं था। उसे द्रव्यसंवर कहो, द्रव्यसंवर कहा, क्योंकि रुक गया इसलिए द्रव्यसंवर कहा। रुक गया इसलिए। मिथ्यात्व किया तो भावबन्ध। और नये रजकण आये, वे द्रव्यास्रव।

समकित दृष्टि को तो भावमिथ्यात्व है नहीं। मिथ्यात्व का द्रव्यास्रव भी है नहीं। अब समकिती को अव्रत, प्रमाद, कषाय के परिणाम रहे, वे भावास्रव हैं। और जितना भावास्रव है, उस प्रमाण में परमाणु-रजकण आनेवाले हैं। यहाँ आस्रव हुआ तो कषाय के रजकण को द्रव्यास्रव कहा। प्रमाद के रजकण इतने आये तो द्रव्यास्रव। कषाय भी इतनी आयी तो द्रव्यास्रव। वह तो बहुत सूक्ष्म बात है। और स्वभाव के आश्रय से जितने परिणाम रुक गये, वे भावसंवर और तब जो रजकण आनेवाले नहीं थे, उसे द्रव्यसंवर कहा। वहाँ शुद्धि की वृद्धि हुई, वह भावनिर्जरा। कर्म के रजकण का छूट जाना, वह द्रव्य निर्जरा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जड़ में कहा। जड़ में कहा न?

मुमुक्षु : लकड़ी के

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, लकड़ी के नहीं। उसके साथ सम्बन्ध ही नहीं। अन्दर कर्म के साथ सम्बन्ध है। हाथ के साथ सम्बन्ध नहीं। सूक्ष्म रजकण के साथ सम्बन्ध है। अन्दर कर्म के साथ सम्बन्ध है। हाथ के साथ सम्बन्ध नहीं। यह तो नोकर्म तो जड़ है, पर है। आत्मा में जो कर्म रजकण पड़े हैं, उनके साथ आत्मा को द्रव्य और भावपर्याय के साथ सम्बन्ध है। हाथ के साथ सम्बन्ध नहीं। वह तो बाह्य पदार्थ है। अन्तर में आठ कर्म के रजकण पड़े हैं, सूक्ष्म धूल। वह निमित्त अपनी पर्याय में अनुकूल से जो विकार, वह नैमित्तिक। अब जब विकार करता है, वह भावास्रव हुआ और कर्म के नये रजकण आते हैं, वह द्रव्यास्रव हुआ। वह द्रव्यास्रव जड़ की पर्याय है और जो आस्रव स्वभाव के आश्रय से रुक गया, वह भावसंवर हुआ। वहाँ द्रव्यास्रव आनेवाला नहीं था, उसे द्रव्यसंवर कहा। वह जड़ की पर्याय है। जरा थोड़ी अधिक सूक्ष्म है। सभा में साधारण बात नहीं पकड़ में आये।

यहाँ तो कर्म और आत्मा के बीच सात तत्त्व है। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो शरीर और नोकर्म जड़-पर है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्थिति ऐसी है। आठ कर्म। यह अवस्था में प्रकार पड़ते हैं, बस। उस कर्म की स्थिति। द्रव्यकर्म कहते है न? द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म, ये तीन बोल आते हैं न? तारणस्वामी में तो बहुत आते हैं। उसमें भी जिनागम के शब्दरूप हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म। द्रव्यकर्म कौन? आठ कर्म जड़। नोकर्म कौन? कि यह वाणी, शरीर आदि वह नोकर्म। भावकर्म कौन? कि आत्मा में पुण्य-पाप के विकार हो, वह भावकर्म। भावकर्म अरूपी, जड़कर्म रूपी, नोकर्म रूपी परन्तु स्थूल बाह्य चीज़।

इन तीनों से रहित भगवान ज्ञायकमूर्ति की दृष्टि होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन। उस समय कर्म का आस्रव रुक गया, उसे द्रव्यसंवर कहा गया। रुक गया का अर्थ?— आनेवाला था और रुक गया, ऐसा नहीं। बहुत सूक्ष्म बात है। आनेवाला नहीं था, उसे

द्रव्यसंवर कहने में आया है। समझ में आया? यहाँ आयेगा अभी। थोड़े समय में बहुत समझकर जन्म-मरण टले, इतना सीख ले। दूसरा सब भले भूल जा भले। यह आयेगा। अभी आयेगा। जिससे जन्म-मरण का अन्त आवे, वह बात सीख ले। दूसरी छोड़ दे। बुद्धि थोड़ी हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध ही नहीं है। क्यों सुमेरुमलजी! लो! **नहीं भाता और स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता...** अर्थात् जो जड़कर्म है, उस ओर का लक्ष्य छोड़ देता है। **सकल शुभाशुभकर्मरूप ईंधन को जलाने में...** देखो! यह शुभाशुभकर्म जड़, हों! मिट्टी। यह शुभाशुभकर्मरूप ईंधन अर्थात् लकड़ी। **जलाने में समर्थ होने से अग्निसमान ऐसा,...** आत्मा में सम्यग्दर्शनसहित जो उग्ररूप से एकाग्रता का ध्यान हुआ, वह अग्नि समान **परमपुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।**

एक गाथा में तो बहुत बात ली है। जड़ के साथ बहुत नहीं कहते, क्योंकि जड़कर्म है न, उस कर्म की अवस्था में एक आनेयोग्य अवस्था, एक रुकनेयोग्य अवस्था। वह और जड़ की अवस्था है। उस जड़ की सात पर्याय है। आत्मा में यह पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष यह आत्मा की पर्याय है। समझ में आया?

केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हो, वह भी एक पर्याय है। वह तो अपना स्वरूप ही है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, मोक्ष, वह अपनी पर्याय है। परन्तु वह अपना स्वरूप परिणमन है, सिद्ध सादि अनन्त परिणमन करते हैं। वे अपने परिणमन के आनन्द का अनुभव समय-समय में भिन्न-भिन्न है। एक समय में आनन्द है, वह दूसरे समय में नहीं है। वैसा सही, परन्तु वह नहीं। ऐसी पर्याय सिद्ध में भी सादि-अनन्त है। अनन्त पर्याय सिद्ध में उत्पन्न होती है। बहुत ही सूक्ष्म। सात तत्त्व का, नौ तत्त्व का ज्ञान और उसमें सम्यग्दर्शन क्या, इस बात में सब घोटाला उठा है।

कर दिया। उसने ऐसा कर दिया, उसने ऐसा कर दिया, उसने ऐसा किया, यह सब मिथ्यात्व का पोषण है। कौन करे तेरा? जड़ का कार्य तू नहीं कर सकता और पुण्य-पाप का कार्य मेरा मानना, वह भी मिथ्यात्व है। तेरी पर्याय में उत्पन्न होनेवाला विकार। समझ में आया? कर्ता हो तो पूरे द्रव्य को विकारी माना। सुमेरुमलजी! दूसरे

का कौन करे और किससे हो ? समझ में आया ? **अग्निसमान ऐसा, परमपुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।**

मुमुक्षु : ..... उठा लाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन उठा लाये ? धूल में भी उठा न लावे। **परमपुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है। उसका परमपुरुषार्थ,...** है न नीचे ? **पुरुषार्थ=पुरुष का अर्थ; पुरुष का प्रयोजन; आत्मप्रयोजन। (परमपुरुषार्थ अर्थात् आत्मा का परम प्रयोजन मोक्ष है,...** देखो ! **और वह मोक्ष ध्यान से सधता है, इसलिए परमपुरुषार्थ की (-मोक्ष की) सिद्धि का उपाय ध्यान है।)** यह सम्यग्दर्शनसहित का ध्यान है। समझ में आया ? इसके अतिरिक्त मोक्ष का उपाय और मोक्ष प्रगट नहीं होता। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४५, गाथा-१४६
दिनांक - ११-१०-१९६४, आसोज शुक्ल ६, रविवार

आज अधिकार जरा सूक्ष्म आया है। ध्यान का अधिकार हो तो सूक्ष्म ही होगा। ध्यान सम्यग्दर्शन के पश्चात् होता है, यह बात अन्दर में अब कहेंगे। आगे पण्डितजी ने लिखा है। यहाँ नौ पदार्थ हैं, उनकी प्रत्येक की पृथक्-पृथक् अवस्था और व्यवस्था और कार्य है। समझ में आया? नौ पदार्थ के नौ कार्य हैं। नौ कार्य कहो या नौ मार्ग कहो। समझ में आया?

यह इसमें ही है न? पहली इसमें ही गाथा है। देखो! पहली। देखो! पढ़ो भाई! देखो! कलश है। नौ पदार्थ के नौ मार्ग हैं, देखो! पाँचवाँ कलश है, तीसरे पृष्ठ पर। हिन्दी है न हिन्दी? तीसरे पृष्ठ पर पाँचवाँ कलश है। अमृतचन्द्राचार्य महाराज! जिन्होंने यह टीका की है। वे कहते हैं। है?

पश्चात् (दूसरे अधिकार में), जीव और अजीव—इन दो की पर्यायोंरूप नौ पदार्थों की—कि जिनके मार्ग अर्थात् कार्य भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, उनकी—व्यवस्था प्रतिपादित की है। यह चलता है वह। क्या कहा? समझ में आया? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन नौ पदार्थों का कार्य भिन्न है। इसका अर्थ कि नौ का मार्ग भी भिन्न है। समझ में आया? देखो! उसमें लिखा है न?

जीव और अजीव—इन दो की पर्यायोंरूप नौ पदार्थों की.... जीवद्रव्य है, वह तो ज्ञायकद्रव्य है। अनन्त गुण का पिण्ड। और अजीवद्रव्य है, वह कर्म आदि, शरीर आदि भी यहाँ तो अपने मुख्य कर्म लेना है। आवे तो अजीव पदार्थ का सब। अजीवद्रव्य है, और कर्म दोनों की सात पर्याय लेनी हैं न? तो पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को कर्म के साथ सम्बन्ध संयोग-वियोग से सात पर्याय होती है। समझ में आया?

अभी नौ तत्त्व किसे कहना और मार्ग क्या, यह बात चलती है। तो जीव और पुद्गलकर्म दो पदार्थ है द्रव्य और उनके संयोग-वियोग से आत्मा में सात पर्यायें होती हैं और पुद्गल में भी सात पर्यायें जड़ में होती हैं। नौ के नौ मार्ग अर्थात् नौ कार्य हैं।

यहाँ जीव का कार्य तो, जीवमार्ग तो ज्ञायकभाव है। जाननेवाला, देखनेवाला उसका कार्य जानने-देखने का है। समझ में आया?

जड़ का कार्य उसकी पर्याय जड़ में होना पर्याय जड़ में होना। ऐसा कार्य। और फिर आत्मा में पुण्य परिणाम हो दया, दान, भक्ति, व्रतादि के परिणाम वे पुण्यपरिणाम, वह बन्ध का मार्ग है, वह आस्रव है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग वह बन्ध का मार्ग है पाप। यह दो पर्याय है। पुण्य और पाप यह दो आत्मा की पर्याय है। दोनों का कार्य भिन्न है। दोनों का मार्ग भिन्न है और जड़ में भी कर्म के परमाणु आवें, वह पुण्यभाव है। रजकण की पर्याय का आना वह द्रव्यपुण्य की पर्याय जड़ की है। उसे यहाँ पाप हुआ, नये पाप के रजकण आये, वह जड़ की पर्याय है। समझ में आया?

अब जब यहाँ वह आस्रव। पुण्य और पाप दोनों मिलकर आस्रव है। तो वह आत्मा की पर्याय में विकार और पर के रजकण आनेवाले, उसे द्रव्य-जड़ आस्रव कहते हैं। अपने आत्मा में शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की ओर दृष्टि होकर अपनी पर्याय में जितनी शुद्धि उत्पन्न हो, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्शान्ति अरागी परिणति, उसका नाम जीव की संवर पर्याय कहने में आता है। उस संवर पर्याय का मार्ग, कार्य मोक्ष का कारण है। वह संवर अपना मार्ग-अपना कार्य भिन्न रखता है।

और निर्जरा, उस शुद्धि की वृद्धि हुई, शुद्धि हुई, उसमें स्वभाव के एकाग्र ध्यान द्वारा शुद्धि की वृद्धि हो, वह निर्जरा का-भावनिर्जरा कार्य है। यहाँ संवर हुआ तो नये रजकण आने से रुक गये। रुक गये का अर्थ आनेवाले नहीं थे, उसे द्रव्यसंवर की जड़ की पर्याय कहा। और यहाँ आत्मा में निर्जरा हुई तो कर्म में जड़ की अवस्था छूट गयी, वह द्रव्यनिर्जरा कहने में आयी। वह जड़ की पर्याय है।

बन्धमार्ग, आत्मा में जो त्रिकाल स्वभाव शुद्ध है, जितना राग-द्वेष में रुकता है, वह बन्धभाव है, वह बन्धमार्ग है, वह बन्धकार्य है। उन्मीष, नये रजकण आना और रुक जाना, वह द्रव्यबन्ध है। आत्मा में पूर्ण शुद्धि का होना, वह मोक्ष पर्याय है और रजकण का सर्वथा छूट जाना, वह द्रव्यमोक्ष है, वह जड़ की पर्याय है। कितना याद रखना इसमें? देखो! सेठ कठिन कहते हैं। यह तो इसकी मूल चीज़ नौ पदार्थ है। पश्चात् मोक्षमार्ग का वर्णन, है न देखो! नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग प्रपंचवर्णन, प्रपंच

अर्थात् विस्तार। तो अभी नौ पदार्थ क्या, यह खबर नहीं तो उसे मोक्षमार्ग कहाँ से होगा। समझ में आया?

नौ का भिन्न कार्य, नौ का भिन्न मार्ग। तो अजीवकर्म का मार्ग अपनी पर्यायरूप होना, उसे अपने में पुण्य-पाप का होना, वह नहीं। वह कार्य उसका नहीं। अपने में पुण्य-पापरूप आस्रव होना, वह अपनी विकारी पर्याय का कार्य। संवर, निर्जरा, मोक्ष होना वह अपनी निर्मलपर्याय का कार्य। पहली चीज़ ही अभी तो अन्य से भिन्न क्या भगवान कहते हैं और भगवान के मार्ग में ऐसी दूसरी चीज़ होती नहीं। उसकी अभी खबर नहीं। नौ का पन्थ क्या? रास्ता क्या? मार्ग क्या? किस प्रकार सम्यग्दर्शन होता है, किस प्रकार उसे आत्मा में शुद्धि होती है। समझ में आया?

यहाँ अपने निर्जरा अधिकार चलता है। निर्जरा का कार्य। वह पर्याय है, निर्जरा एक शुद्धपर्याय है। संवर की शुद्धि की वृद्धि, वह निर्जरा पर्याय भाव और रजकण का छूट जाना, वह जड़ निर्जरा है। समझ में आया? गजब बात! अब फिर कहा है। देखो! यहाँ तक तो आया था न अपने? **परमपरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।** यहाँ तक तो आया है न? भाई को दी पुस्तक? ठीक।

और कहा है कि —

''अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदतं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वृदिं जंति॥''

यह कुन्दकुन्दाचार्य महाराज की गाथा है। समझ में आया? इसमें लिखा नहीं, उसमें लिखा है। लिखा है इसमें। यह दो उद्धत गाथा में पहली गाथा कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत मोक्षप्राभृत की है, देखो!

कुन्दकुन्दाचार्य महाराज की यह गाथा है। भगवान परमगुरु कुन्दकुन्दाचार्य। जो दो हजार वर्ष पहले हुए। उन्होंने जो मोक्षप्राभृत आदि आठ (पाहुड़) बनाये, उसमें यह गाथा है। और दूसरी गाथा, दूसरी है।

''अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ॥''

अब दोनों का अर्थ। इस समय भी, इस पंचम काल में भी **त्रिरत्नशुद्ध जीव...** होते हैं। यह व्यवहार त्रिरत्नशुद्ध होगा? यह लोग कहते हैं न अभी। व्यवहार मोक्षमार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग है। नहीं... नहीं... नहीं...। यह त्रिरत्नशुद्ध जीव निश्चय मोक्षमार्ग है। शुद्ध है न? त्रिरत्नशुद्ध, वह (व्यवहार तो) अशुद्ध है। ओहोहो!

बड़े-बड़े शास्त्र के पढ़नेवाले ऐसी दखलगिरी करते हैं कि वर्तमान में जो मुनि सच्चे भावलिंगी हों कुन्दकुन्दाचार्य जैसे, उनके पास तो व्यवहाररत्नत्रय था। निश्चयरत्नत्रय तो बारहवें गुणस्थान में ही होता है, तेरहवें में ही होता है, बाहर में ऐसे लेख बहुत आते हैं। कोई आठवें शुक्लध्यान करते हैं कोई, सातवें से देशअंश निश्चय और लेते हैं। परन्तु पाँचवें, छठे तक तो अकेला व्यवहाररत्नत्रय होता है, ऐसा कहते हैं। जिसे जैसे ठीक पड़े, वह वैसे लगा देता है।

यहाँ कहते हैं इस काल में कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं, महा परम दिगम्बर सन्त मुनि परमगुरु (कहते हैं)। समझ में आया? **इस समय भी त्रिरत्नशुद्ध जीव (-इस काल भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नों से शुद्ध ऐसे मुनि)...** देखो! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र निर्विकल्प वीतरागी पर्याय, उसे त्रिरत्न शुद्ध कहते हैं।

आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द, उस ओर झुकने से जो अपनी सम्यक्श्रद्धा, सम्यक् अनुभव, उसमें प्रतीति आत्मा के वेदन का सम्यग्ज्ञान और आत्मा में लीनता का चारित्र, समझ में आया? यह त्रिरत्न कहने में आते हैं। यह त्रिरत्न कारण है और मोक्ष कार्य है। समझ में आया? **(-इस काल भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नों से शुद्ध ऐसे मुनि)...** देखो! पाठ में तो शुद्ध लिया है। '**तिरयणसुद्धा**' आत्मा का ध्यान करके सम्यग्दर्शन तो पहले है। आत्मा शुद्ध आनन्द का अनुभव ज्ञान होकर प्रतीति हुई और अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ, यहाँ निश्चय की बात चलती है। शास्त्र का ज्ञान व्यवहार, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का विकल्प व्यवहार और शास्त्र का ज्ञान भी व्यवहार और व्रतादि के विकल्प भी व्यवहार। व्यवहाररत्नत्रय, वह पुण्यबन्ध का कारण है। वह बात यहाँ नहीं ली।

यहाँ तो आत्मा 'तिरयणशुद्ध' किसी-किसी जगह त्रिकरणशुद्ध ऐसा भी लिखा

है। भाई! तिरयण शब्द है और वहाँ किसी-किसी जगह त्रिकरण ऐसा शब्द आता है। परन्तु यह ठीक है। त्रिरयणशुद्ध। समझ में आया? कहा है न स्वयं आचार्य ने। आत्मा अपने एक समय में पूर्ण आनन्द शुद्ध द्रव्यस्वभाव, वह अजीव से लक्ष्य हटकर, पुण्य-पाप के विकल्प से भी लक्ष्य हटकर, एक समय की वर्तमान चलती पर्याय की भी प्रतीति हटकर अपना पूर्ण स्वभाव वस्तु अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन अनुभव में प्रतीति होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन, वह तो चौथे गुणस्थान में भी होता है। और वह आत्मा का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान, हों! शास्त्र का ज्ञान थोड़ा बहुत हो, यह बाद में आयेगा। आत्मा का ज्ञान, स्वसंवेदनज्ञान, चिदानन्द ज्ञानमूर्ति पूर्ण स्वरूप, उसका अन्दर ज्ञान में ज्ञानगुण में पर्याय लीन होना, वह स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान है। यह चौथे गुणस्थान में भी होता है और सम्यक्चारित्र। पंचम गुणस्थान में थोड़ी शान्ति, स्थिरता, स्वरूप की रमणता बढ़ जाती है, पंचम गुणस्थान में।

इससे पहले का सम्यग्दर्शन, ज्ञान तो है। तदुपरान्त शान्ति, आनन्द बढ़ जाता है। समझ में आया? और निर्विकल्प उपयोग करने की ताकत चौथे गुणस्थान से और पाँचवें में अल्प काल में निर्विकल्प उपयोग होता है, ऐसी ताकत पाँचवें में बढ़ जाती है। समझ में आया? भाषा सब निर्विकल्प उपयोग और इसमें कहीं (समझ पड़े, ऐसा नहीं)। कहा गये तुम्हारे.... नहीं आये। काम में रुके होंगे। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी कहाँ बात! क्या चलता है? चौथे की पहले बात की।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पश्चात्, अभी आने तो दो बात! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चौथे से पहले से कहते आये हैं। अभी कहाँ? और पाँचवें तक पहुँचे हैं। अभी छठवें में आये नहीं। पहले चौथे गुणस्थान में अविरति सम्यग्दृष्टि जीव को अन्तर में तीन कषाय का त्याग नहीं। एक आत्मा का अनुभव चिदानन्द की कणिका सम्यक् प्रतीति और वेदन कणिका चलती है और स्वरूपाचरण का अंश है, उतना बोल तो चौथे गुणस्थान में उत्पन्न होता है। वह भी जघन्यध्यान। नीचे थोड़ा आयेगा। द्रव्य का इतना अवलम्बन है,

उतना जघन्यध्यान उसे भी कहने में आता है। नीचे है भाई! फुटनोट।

अभी वापस पंचम चलता है। पंचम गुणस्थान होता है, तब स्वरूप की आनन्द और शान्ति की अन्दर चौथे से वृद्धि होती है। और शान्ति में फिर बारह व्रत के विकल्प हों, वह आस्रव है। वह स्वरूप में स्थिरता अपना अनुभव करने के लिये चौथे गुणस्थानवाला निर्विकल्प उपयोग में जमता है, (उसका) काल अल्प रहता है और बहुत ही काल में निर्विकल्प ध्यान आता है। पंचम गुणस्थान में उससे थोड़ा विशेष रहता है और चौथे की अपेक्षा थोड़े काल में विशेष निर्विकल्प अनुभव, वास्तविक आनन्द का वेदन चौथे की अपेक्षा पाँचवें में उपयोग में विशेष आता है। छठे गुणस्थान में सम्यक्चारित्र विशेष हुआ। तीन कषाय का अभाव और चारित्र—स्वरूप की उग्र रमणता बाहर में नग्नदशा हो, वनवासी हो, आत्मा का ध्यान, तीन कषाय का अभाव तो हो गया और जब वह अपने स्वरूप में निर्विकल्प ध्यान करता है, तब सातवाँ गुणस्थान आता है। समझ में आया? और उपयोग अन्दर में इतना जम जाता है कि मैं ध्यान करता हूँ या अनुभव करता हूँ, ऐसा विकल्प भी नहीं। समझ में आया?

इन **तीन रत्नों से शुद्ध ऐसे मुनि...** ये तीनों पूर्ण हैं, उसे मुनि कहते हैं। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य मुनि थे न? तो अपने मुनि (की दशा से) बात करते हैं। गौण में चौथे, पाँचवें की बात तो की, वह मुनि आत्मा का ध्यान करके, **आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपना...** आहाहा! उस ध्यान का फल इन्द्रपना नहीं, परन्तु ध्यान में जितनी शुद्धि हुई, उतनी तो कर्म की निर्जरा हुई और उतनी अशुद्धता टल गयी। परन्तु अभी थोड़ा विकल्प बाकी है। वीतराग नहीं हुआ, पंचम काल में सर्वज्ञ नहीं हो सकता। वीतराग नहीं हो सकता। तो ऐसा ध्यान करने में राग बाकी रहा।

मुनि सन्त भावलिंगी कुन्दकुन्दाचार्य जैसे मुनि। ऐसा थोड़ा राग रहा, उसमें इन्द्रपद का बन्ध हो जाता है। वे मुनि यहाँ से छूटकर इन्द्रपद में जायेंगे। ऐसे त्रिरत्नशुद्ध भी इस काल में लिखते हैं, तो अभी है, ऐसा लिखते हैं। समझ में आया? **इन्द्रपना तथा लौकान्तिक-देवपना प्राप्त करते हैं...** कोई मुनि इन्द्रपद में जाते हैं। कोई लोकान्तिक सर्वार्थसिद्धि से आगे नहीं जा सकते।

पंचम काल के मुनि, जो सर्वार्थसिद्धि आगे है, कोई मुनि नहीं जा सकता। समझ में आया? यह तो दो हजार वर्ष पहले के मुनि यह कहते हैं। अभी यदि जाये तो इन्द्र हौ और कोई लोकान्तिक पाँचवें देवलोक में देव है, देवऋषि कहने में आते हैं। देव-ऋषि, देव, ऋषि जिन्दगी भर ब्रह्मचारी ररहते हैं और आत्मज्ञान और आत्मध्यान अनुभव लेकर गये हैं। यह वस्तु, नहीं तो बाहर का ब्रह्मचर्य तो नौवें ग्रैवेयकवाला अभव्य भी पालता है। अभव्य नौवें ग्रैवेयकवाला ब्रह्मचारी है। देव को, स्त्री का भी विकल्प नहीं, मन का भी विकल्प नहीं। इतना तो यहाँ से अभव्य मिथ्यादृष्टि वहाँ नौवें ग्रैवेयक में जाता है। वहाँ भी उसे बिल्कुल विकल्प नहीं। मन से भी नहीं। यह तो आत्मा के सम्यग्दर्शन ज्ञानसहित स्वरूप की रमणता लेकर गये हैं। थोड़ा विकल्प रह गया, इन्द्रपद का बन्ध हो गया या लोकान्तिक का हो गया।

प्राप्त करते हैं.... देखो! पाठ तो ऐसा है कि ध्यान करके इन्द्रपद लोकान्तिक प्राप्त करते हैं। परन्तु समझना चाहिए न कि ध्यान तो निर्जरा है। निर्जरा से कोई पुण्यबन्ध नहीं होता। परन्तु साथ में ऐसा विकल्प रहा तो सच्चे मुनि होते हैं, वे भी इस इन्द्रपद को लोकान्तिक ऐसा पाठ है। बात ध्यान की है तो सूक्ष्म तो है। परन्तु इसे समझना तो चाहिए या नहीं? समझ में आया? निर्जरा कैसे होती है, निर्जरा कहीं इतने अपवास कर डाले, ऐसा कर लिया, ऐसी जैसे-तैसे निर्जरा नहीं होती।

और वहाँ से चयकर... इन्द्रपद और लोकान्तिक से निकलकर **(मनुष्यभव प्राप्त करके) निर्वाण को प्राप्त करते हैं।** ऐसे भी मुनि भावलिंगी सन्त सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रयसहित लोकान्तिक इन्द्र में जाते हैं और वहाँ से चयकर मनुष्यपना पाकर चारित्र अंगीकार कर अन्दर बहुत ही आनन्द का अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को पाते हैं।

लो! इस काल में भी (अर्थात्) इस समय मुनि कहते हैं। एकभवतारी मुनि हो सकते हैं। समझ में आया? देखो! यहाँ सर्वार्थसिद्धि का नहीं कहा, हों! (अभी) सर्वार्थसिद्धि में कोई मुनि नहीं जा सकते। दो हजार वर्ष पहले के मुनि भी। समझ में आया? महान परम कुन्दकुन्दाचार्य गुरु महान छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले।

कहते हैं कि आज कोई हो तो लोकान्तिक (या) इन्द्रपद प्राप्त करता है। समझ में आया? यह पुण्य के फलरूप से (प्राप्त करता है)। और स्वभावरूप से शुद्धि का ध्यान, उतनी निर्जरा होती है। डालचन्दजी! सूक्ष्म बात है। बहुत ही सूक्ष्म!

अभी यह तो निर्जरा अधिकार थोड़ा नीचे आयेगा। फिर दूसरे श्लोक का अर्थ। पहले श्लोक का अर्थ कुन्दकुन्दाचार्य का था। दूसरा श्लोक यहाँ है। दूसरे में कहीं है? पाहुड़—दोहापाहुड़? ठीक। अरे! आचार्य कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं)। **श्रुतियों का अन्त नहीं है (-शास्त्रों का पार नहीं है),...** ओहोहो! और काल थोड़ा है। शास्त्रों का पार नहीं। **काल अल्प है और हम दुर्मेध हैं;...** आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचम काल के तीर्थंकर जैसा कार्य किया है और टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने गणधर जैसा काम किया है। यह टीका ऐसी समयसार की टीका, प्रवचनसार की टीका भरतक्षेत्र में (दूसरी है नहीं) है। ऐसी गम्भीर इतनी अध्यात्म के रस से भरपूर। (वे) कहते हैं कि हम तो दुर्मेध हैं। आहाहा! हम तो अल्पबुद्धिवाले, मन्दबुद्धिवाले, आहाहा!

कहाँ केवलज्ञान! कहाँ अवधिज्ञान! कहाँ मन:पर्ययज्ञान! कहाँ मुनियों का बारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान! ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य पंचम काल के श्रुतकेवली! समझ में आया? यह लघुता-लघुता। अरे! अपनी तो बहुत ही थोड़ी बुद्धि है न? दुनिया को साथ लेकर बात करते हैं। भाई! श्रुत का पार नहीं। काल रहा अल्प! अल्प काल में बड़ा काम करना है। केवलज्ञान लेने का साधन करना है। समझ में आया? भले केवलज्ञान न हो परन्तु तैयारी ऐसी करनी है कि भविष्य में एक भव के बाद दूसरे भव में केवलज्ञान लेकर मुक्ति जाना है। एक या दो आदि उसमें कुछ है नहीं। समझ में आया?

ओहो! शास्त्रों का तो पार नहीं। काल तो अल्प है। एक तो शास्त्रों का पार नहीं और काल अल्प, दो मिलाये। तीसरा हम दुर्मेध हैं। मेध अर्थात् बुद्धि। हमारी बुद्धि अल्प। समझ में आया? सुमेरुमलजी! आहाहा! श्रीमद् भी जहाँ इतने बुद्धिवाले थे श्रीमद्। क्षयोपशम जोरदार! तो भी कहते हैं कि अरे! पामर। इस हम पामर को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का बहुत ही उपकार है। समझ में आया? अभी ही हुए हैं। थोड़े वर्ष

पहले। बहुत ही क्षयोपशम। इस पामर को, हे भगवान कुन्दकुन्दाचार्य! आपके शास्त्र हमको महान उपकारभूत हुए हैं। अतिशय भक्ति से नमस्कार! समझ में आया?

आचार्य कहते हैं। नौ सौ वर्ष पहले के आचार्य। यह समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय की टीका। ओहो! अद्भुत टीका! यह तो जो अन्दर में खोज करता जाये, उसे खबर पड़े। खोज करता जाये, उसे खबर पड़े। यह कितना गम्भीर है।

यह कहते हैं कि अरे! हम दुर्मेध—बुद्धि अल्प, मन्दबुद्धि। **इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है...** इस कारण वह आत्मा में जाननेयोग्य-सीखनेयोग्य है। **कि जो जरा-मरण का क्षय करे।** एक बात। समझ में आया?

जिसमें जन्म, जरा, मरण का क्षय हो और आत्मा की शुद्धि की उत्पत्ति हो। यह एक करने का है। दूसरा कुछ तो अभी कर नहीं सकते। शास्त्रों का पार नहीं। कितना सीखें? समझ में आया? और बुद्धि अल्प, काल अल्प। दोनों अल्प पुरुषार्थ का काल। काम करना है। बस! आहाहा! **इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है...** कि यह एक आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा देखा (वह) कैसा है और उसकी शक्तियाँ कैसी हैं, उसकी पर्याय कैसी है और उसमें अन्दर जाननेयोग्य वेदन किस प्रकार होता है।—यह पहले सीख लेना। आहाहा! समझ में आया? जिससे ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति हो, वह कैसे हो, यह सीख लेना। बाकी क्या शास्त्र में, दूसरी विद्या की तो बात कहाँ है? इस शास्त्र के अतिरिक्त दूसरी विद्या तो निरर्थक है, पापबन्ध का कारण है। परन्तु शास्त्र, अपार शास्त्र पढ़ने से पर के ऊपर कितना जान सके। अपार शास्त्र..... यह सीख लेना।

भगवान आत्मा.... डालचन्दजी! भगवान आत्मा एक समय में द्रव्य है, उसमें अनन्त-अनन्त संख्या से गुण हैं और उसकी अनन्त-अनन्त निज पर्याय है। उसमें विकार और अविकारी दो पर्याय होती है और उसमें से विकारी पर्याय को छोड़कर अपनी निर्मल वर्तमान अस्ति आदि गुण की पर्याय का लक्ष्य छोड़कर, अपने द्रव्य को कैसे प्राप्त करे—यह सीख लेना। मगनभाई! आहाहा! **इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है...** जिसमें जन्म-मरण के अन्त का भणकार आवे। जन्म-मरण के अन्त का भणकार आत्मा दे। अब जन्म-मरण नहीं। समझ में आया? ऐसा पंचम काल में भी हो सकता है। आहाहा!

कहो, समझ में आया?

दूसरी विद्या की तो यहाँ बात भी नहीं की। अध्यात्मविद्या उसमें शास्त्र के पठन भी दूसरा अल्प हों, परन्तु अध्यात्मविद्या जो आत्मा को प्राप्त करा दे, वह तो इसे पहले सीखना आवश्यक है। मगनभाई! आहाहा! समझ में आया? कौन सीखे? सीखनेयोग्य है और सीखनेयोग्य कहा न? शब्द आवे तब कहे न? ओहो प्रभु! तेरी प्रभुता पहले अन्तर (में) जाननी चाहिए। ज्ञान में महान द्रव्य का स्वभाव, उसकी एक-एक पर्याय का महान अनन्त स्वभाव, उसका माहात्म्य उसकी दृष्टि में, अपनी निर्मल पर्याय का माहात्म्य तो क्या कहना? परन्तु उससे गुण और द्रव्य का कितना अनन्तगुणा माहात्म्य है! ऐसी वस्तु की स्थिति है। महिमा-माहात्म्यवन्त पदार्थ, 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब' यह अपूर्व अवसर में श्रीमद् कहते हैं न!

'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब'
उस स्वरूप को अन्य वाणी वह क्या कहे,
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा—

वहाँ अन्त में ऐसा कहा है, 'वह परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में,' देखो! गृहस्थाश्रम में थे, स्त्री-पुत्र थे, लाखों का मोती का व्यापार था, धन्धे के घर में धन्धा और आत्मा के घर में आत्मा था। 'यही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में, गजा बिना अरु हाल मनोरथरूप जब' अरेरे! मैं स्थिति बिना का हूँ, हों! कहे। आहाहा! समझ में आया? गजा बिना का समझते हो? भाषा नहीं समझते न? गुंजाईश नहीं।

श्रीमद् हो गये न? श्रीमद् राजचन्द्र। तैतीस वर्ष में देह छूट गयी। तैतीस वर्ष। सात वर्ष में तो जातिस्मरण हुआ था। और फिर उनतीस वर्ष में आत्मसिद्धि बनायी। और तीसवें वर्ष में अपूर्व अवसर बनाया। उसमें ऐसा लिखा 'यही परमपद प्राप्ति का किया ध्यान में, गजा बिना अरु हाल मनोरथ रूप जो', उस मनोरथ में रहेंगे। इतना ध्यान नहीं (होता) कि जिसमें केवल (ज्ञान) प्राप्त करूँ। तो भी निश्चय राजचन्द्र मन में रहा,

प्रभु आज्ञा से रहूँगा वही स्वरूप जब। प्रभु आज्ञा स्वीकारते हैं कि ऐसी दृष्टि और अल्प ध्यान हुआ तो अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। ऐसी भगवान की आज्ञा है। हम भी शीघ्र ही अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। अभी स्थिति नहीं है। मुश्किल-मुश्किल से यह पाँचवें-छठवे गुणस्थान की निर्जरा की क्रिया हमारे पास है नहीं। समझ में आया? वह ध्यान हमारे पास है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं **इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है कि जो जरा-मरण का क्षय करे।** समझ में आया? कोई कहे शास्त्र के प्रश्न पूछे, उसमें न आवे, उसमें आवे तो बड़ा हो गया, ऐसा नहीं, बापू! सुन तो सही अब! सेठ! समझ में आया? एक बार उसमें जहाँ कुछ सीखकर आया हो, वहाँ दूसरे को पूछे और उसे न आवे, हाँ.... यह नहीं आया वहाँ हो गयी बड़ी भूल! धूल में भी नहीं। सुन न अब! समझ में आया?! यह लड़का कहीं से सीखकर आता है। बहुत दिमागवाला! उसे पूछे लो! .....अब न आया या आया। जिसे आत्मा आया, उसे सब आया, सुन! समझ में आया? तुझे खबर नहीं पड़ती ज्ञानी के पद, समझ में आया? आहाहा! ज्ञानी के हृदय जानना जगत को कठिन पड़ता है। यह बात दूसरी है। यह सीख ले एक बार।

देखो! **इसलिए वही मात्र...** मात्र का अर्थ एक ही बार। जिसे सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ फरमाते हैं। ऐसा आत्मा का अनुभव हो, उसे सीख ले। समझ में आया? आहाहा! सेठी! अपूर्व अवसर सेठी को बहुत ही प्रिय है। समझ में आया? आचार्य महाराज अमृतचन्द्राचार्य मुनि! ओहोहो! भावलिंगी सन्त! परमेश्वरपद में विराजमान 'णमो लोए आयरियाणं', इस पद में विराजमान हैं। वे कहते हैं, अरे भाई! अरे प्रभु! श्रुत का तो पार नहीं न, भाई! और अपनी बुद्धि तो बहुत थोड़ी है न! और काल अल्प रहा है न भाई! बहुत थोड़ा! बहुत थोड़ा! पाँच, पच्चीस, पचास (वर्ष) उसमें तो कितनों के पचास-पचास (वर्ष) चले गये। समझ में आया? चालीस-चालीस, पचास के चले गये। बहुत थोड़ा रहना है, भाई! तो मुद्दे की माल की रकम समझ ले। समझ में आया? मुद्दे की रकम।

इस चैतन्य वस्तु का अनुभव वेदन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान शान्ति कैसे हो, यह

सीख ले। समझ में आया? यह कोई थोड़ा आया, किसी समय नहीं आया, मूल चीज़ में जो दिक्कत आयी (तो) तेरा सब पढ़ा-लिखा फोकट है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, देखो! यह धवल, यह तो बात चलती है। धवल, जयधवल परम श्रुत का अभ्यास कहाँ होता है? समझ में आया? बुद्धि इतनी नहीं, अभ्यास नहीं होता। बुद्धिवाले को कहते हैं तो उसे निवृत्ति नहीं मिलती। उसमें इतने बोल! ओहोहो! यह वीरसेनस्वामी क्षयोपशम के समुद्र! त्रिकाल सर्वज्ञ की सिद्धि करते थे, ऐसा पाठ इतिहास में है। इतने करोड़-अरबों श्लोकों की प्राप्ति की बात और चरणानुयोग की बात। आचार्य थे। महामुनि थे। पानी के पूर की भाँति अरबों श्लोक अरबों! ऐसे। फाट... फाट... फाट...! अपने ध्यान में लक्ष्य रखकर। समझ में आया? अभ्यास तो हो सकता नहीं। पहले तो दर्शनमात्र पुस्तकें थीं। अब बाहर आयी। समझ में आया? भाषण करे परन्तु सुननेवाले को खबर नहीं होती और एक व्यक्ति ने पूछा कि यह श्रद्धा वास्तविक है या नहीं? नहीं। श्रद्धा, वह तो अश्रद्धा हो बाकी श्रद्धा... श्रद्धा... नहीं। क्या कहते हैं, कुछ खबर नहीं होती। समझ में आया? यह वह वेदान्त कहता है कि यह वह जैन कहता है कि यह वह अन्य कहते हैं। कुछ खबर नहीं होती। कहनेवाले को भी खबर नहीं और सुननेवाले को भी खबर नहीं होती। डालचन्दजी!

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में पूर्ण समुद्र अनन्त शक्ति का पिण्ड भरा है। एक-एक शक्ति का अनन्त सामर्थ्य है और एक-एक शक्ति की अनन्त पर्याय, बस! यह द्रव्य। पर्याय, गुण और द्रव्य वास्तविक क्या है, यह समझ ले और स्वभाव सन्मुख की दृष्टि करना, वह सीखना है। कहो, बल्लभदासभाई! आगे-पीछे के पहलू जितने (हैं, वे बतलाना तो चाहिए न?) बहुत ही विपरीत मान्यता घुस गयी है तो इतने प्रमाण में अविपरीत ख्याल आये बिना विपरीत निकलेगा नहीं। नहीं निकलेगा। विपरीत बहुत ही डाला है न? विपरीत मान्यता का पार नहीं। सुनानेवाले, सुननेवाले भी ऐसे मिले। उसकी दृष्टि ऐसी। विपरीता इतनी घुस गयी कि उसे उसके प्रमाण में सच्ची समझ करके विपरीतता निकालनी पड़ेगी। समझ में आया? देखो! कोई गुजराती शब्द भी आ जाता है, हिन्दी कोई.... कारगार हुआ? लो, कर बात! यह तुम्हारे जामनगरवाले

आये और कारगार हो, ऐसी बात है। समझण करके विपरीतता निकाल देना। वह तो इसलिए बात चलती है।

अब भावार्थ। **निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार में निश्चल परिणति, वह ध्यान है।** पाठ में आया था न? ध्यान की व्याख्या। उसे समझे बिना ऐसे-ऐसे सब मूढ़ हो जायेंगे। समझ में आया? यह तो मूढ़ हो जायेंगे। अन्दर लगे, सुन्न-मुन्न जैसा लगे। जरा लौकिक आदि विकल्प कम दिखायी दे, इसलिए अन्दर ध्यान। वह ध्यान नहीं। ध्यान की बात तो कोई अपूर्व है। समझ में आया?

यह आत्मा जैसा है, वैसी वस्तु की दृष्टि करके, फिर अन्दर निर्मल परिणति की पर्याय उत्पन्न हो स्व के आश्रय से, वह **निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार में...** यह द्रव्य लिया और **निश्चल परिणति...** यह पर्याय ली। यह ध्यान है। निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार, वह द्रव्य। उसमें निश्चल परिणति वह ध्यान। **यह ध्यान मोक्ष के उपायरूप है।** मोक्ष का कारण एक ही है। इसमें कोई वह नहीं लिया कि व्यवहार ध्यान और निश्चयध्यान। यह व्यवहारध्यान मोक्ष का कारण ऐसा है और वैसा है। यह तो एक ही ध्यान कहा है। कौन जाने क्यों... आहाहा!

जिस प्रकार थोड़ी-सी भी अग्नि बहुत-से घास और काष्ठ की राशि को अल्प काल में जला देती है,... थोड़ी अग्नि। एकदम थोड़ी। लाखों ढ़ेर घास को जला डालती है। **उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि विभाव के परित्यागस्वरूप...** देखो! परन्तु पहले अन्दर मिथ्यात्व का त्याग होना चाहिए। तो मिथ्यात्व किसे कहते हैं, यह खबर बिना त्याग कैसे होगा? **उसी प्रकार मिथ्यात्व-कषायादि विभाव के परित्यागस्वरूप महा पवन से प्रज्वलित हुई और अपूर्व-अद्भुत-परम-आह्लादात्मक सुखस्वरूप घृत से सींची हुई...** अग्नि-ध्यानाग्नि। ध्यानाग्नि में एक तो मिथ्यात्व और कषाय का त्याग बराबर होना चाहिए। पश्चात् वह **महा पवन से प्रज्वलित हुई और अपूर्व-अद्भुत-परम-आह्लादात्मक सुख...** आनन्द। इस ध्यान में परम अतीन्द्रिय आनन्द का रस झरे, उसे यहाँ घी से सींची हुई कहा जाता है। ध्यान में परम अतीन्द्रिय आनन्द का रस आना चाहिए। ऐसे थोथा ध्यान, ऐसा नहीं।

निश्चल-आत्मसंवेदनरूप ध्यानाग्नि... यह तीन बोल लिये। निश्चय-आत्मसंवेदनरूप ध्यानाग्नि, आत्मा का ज्ञानानन्द में वेदन, ध्यानाग्नि। ये तीन बोल लिये। ध्यान किसे होता है?—कि पहले मिथ्यात्व और कषाय का त्याग, उसकी हवा लगे और अपूर्व सुखस्वरूप घी से सिंचित-आनन्द से और आत्मसंवेदनरूप ध्यानाग्नि। लो! यह संक्षिप्त में सीखने की बात आयी।

मूलोत्तरप्रकृति-भेदवाले कर्मरूपी ईंधन की... मूल अर्थात् आठ कर्म, उत्तर अर्थात् बहुत प्रकृति ऐसे **कर्मरूपी ईंधन की राशि को क्षणमात्र में जला देती है।** क्षणमात्र में कर्म का नाश होता है। समझ में आया? **इस पंचम काल में भी यथाशक्ति ध्यान हो सकता है।** इस काल में जो विच्छेद है, वह शुक्लध्यान का है। अभी शुक्लध्यान नहीं है। धर्मध्यान का विच्छेद नहीं है। धर्मध्यान तो है। **आज भी यहाँ से जीव धर्मध्यान करके देव का भव और फिर मनुष्य का भव पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं...** आज भी अपने स्वरूप की दृष्टि सम्यग्दर्शन प्रगट करके, समझ में आया? स्वभाव का अवलम्बन लेकर और उतना धर्मध्यान जो हुआ, जो राग बाकी रहे तो **देव का भव और फिर मनुष्य का भव पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं...** समझ में आया?

और **बहुश्रुतधर ही ध्यान कर सकते हैं, ऐसा भी नहीं है;...** शास्त्र का बहुत ज्ञान हो, वह ध्यान कर सकता है, ऐसा भी नहीं है। दूसरे की बुद्धि की तो बात भी नहीं। यह तो शास्त्र का बहुश्रुत लिया न? शास्त्र के बहुश्रुतधर ही ध्यान कर सकते हैं, ऐसा भी नहीं है। **सारभूत अल्प श्रुत से भी ध्यान हो सकता है।** समझ में आया? नव तत्त्व वास्तविक पदार्थ का बोध हुआ और आत्मद्रव्य क्या है, (वह जानकर) उस ओर झुका तो उससे भी ध्यान हो सकता है।

सारभूत अल्प श्रुत से भी ध्यान हो सकता है। इसलिए मोक्षार्थियों को शुद्धात्मा का... देखो! **शुद्धात्मा का प्रतिपादक,...** शुद्धात्मा का प्रतिपादक। उसमें सब आया, देखो! अशुद्धता अन्दर है नहीं, ऐसा शुद्धात्मा पूर्णस्वरूप है, गुण अनन्त है, शुद्ध स्वभाव है। **संवर-निर्जरा का करनेवाला...** ध्यान-ध्यान। **तथा जरामरण का हरनेवाला सारभूत उपदेश ग्रहण करके...** ऐसा उपदेश ग्रहण करके, ध्यान करनेयोग्य है। समझ में आया?

ठीक! यह गाथा रविवार को आयी। मोक्षार्थियों को, जिसे आत्मा की पूर्ण प्राप्ति करनी है। उसे शुद्धात्मा को कहनेवाले का उपदेश ग्रहण करना। शुद्धात्मा की इसमें व्याख्या। शुद्धात्मा की भाषा तो अन्य भी कहते हैं। उसमें तो है ही नहीं।

सर्वज्ञ परमात्मा जैसा आत्मा कहते हैं, उसमें उपदेश है, वह उपदेश सच्चा है। समझ में आया? बौद्ध में कहते हैं, वेदान्त में कहते हैं। उपदेश की भाषा तो बहुत ही आती है। सब ही मिथ्यात्व। सब मिथ्यादृष्टि के कथन हैं। समझ में आया? ऐई! देखो! यहाँ तो सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख में से परमात्मा त्रिलोकनाथ ने कहा, उसे सन्त भावलिंगी सन्त ने कहा, वही शुद्धात्मा, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा शुद्धात्मा हो नहीं सकता। कहो, समझ में आया? **संवर-निर्जरा का करनेवाला तथा जरामरण का हरनेवाला सारभूत उपदेश...** सारभूत सार **ग्रहण करके ध्यान करनेयोग्य है।** अब थोड़ा स्पष्टीकरण।

यहाँ वह लक्ष में रखनेयोग्य है... अपने पढ़ा था। **उपरोक्त ध्यान का मूल सम्यग्दर्शन है।** वह सुनकर एकदम ध्यान में चढ़ जाये, ऐसा-ऐसा। नहीं चढ़े कोई। अभी बहुत चलता है अभी। यह अभी यहाँ की बात बहुत चली न? कोई साधु, कोई मन्दिरमार्गी के, कोई अमुक के (कहते हैं कि) यह अब ध्यान में चढ़ जाओ, अपने नदी के किनारे जाकर बैठ जाओ। परन्तु आत्मा के किनारे कैसे आया जाये, इसकी तो अभी खबर कर! नदी किनारे बाहर में धूल में क्या है? गिरिगुफा तो अन्दर है। बाहर की गिरिगुफा में क्या है? सेठी!

उपरोक्त ध्यान का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना ध्यान नहीं होता। आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा ने मुनि सन्तों ने जैसा जाना और कहा है, वैसी अन्तर्दृष्टि अनुभव हुए बिना ध्यान नहीं होता। याद करे, विकल्प ऐसे-ऐसे चाहे जो करे, उसे ध्यान नहीं होता। समझ में आया? क्योंकि निर्विकार निष्क्रिय चैतन्य चमत्कार की सम्यक् प्रतीति बिना, भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध एकरूप निर्विकार रागादि की क्रिया बिना के चैतन्य चमत्कार की, ऐसे भगवान **चैतन्यचमत्कार की सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चल परिणति कहाँ से हो सकती है?**

चीज़ ही क्या है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान नहीं, उसे स्थिरता कहाँ से हो सकती है? यह मुद्दे की बात है। समझ में आया? अभी बहुत ही लिखाते हैं। बड़े-बड़े साधु लिखते हैं, देखो! बौद्ध में ऐसा है, अमुक में ऐसा है, दोनों पन्थ ऐसे हैं न? दोनों पन्थ का मूल एक ही है न। बौद्ध में भी सम्यग्दर्शन, निर्वाण और मुक्ति और फुक्ति, अब जितने शब्द आवें, वे सब मिथ्यात्व के हैं। सुन न अब! तुझे (खबर नहीं)। इन सेठियों को कुछ खबर नहीं होती। अब तुम्हारे चिरंजीवी पर कहते हैं। सिर पर (बैठा हो वह) कहे वह सत्य होगा। वहाँ कहाँ कोई पढ़े लिखे हैं? समझ में आया? बहुत निश्रित में ऐसा है, अमुक निश्रित में ऐसा है। निश्रित में ऐसा है। सुन न? सब गप्प-गप्प मारी है।

सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वे यहाँ कहते हैं। वीतराग परमेश्वर ने जैसा केवलज्ञान में देखा। अनन्त आत्मा, अन्त परमाणु, अनन्त-अनन्त एक द्रव्य के गुण ऐसी एक-एक पर्याय अनन्त एक-एक द्रव्य में ऐसी बात तीन काल-तीन लोक में दूसरी हो नहीं सकती। समझ में आया? निचोड़ी गयी पछेड़ी! **निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की (शुद्धात्मा की) सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चल परिणति कहाँ से हो सकती है? इसलिए मोक्ष के उपायभूत ध्यान करने की इच्छा रखनेवाले जीव को प्रथम तो जिनोक्त...** जिनोक्त देखो! आया। जिनोक्त-वीतराग ने कहा वह। अभी वीतराग क्या कहते हैं, यह खबर नहीं और मार्ग वीतराग ऐसा कहते हैं। सब ऐसे ही कहते हैं। अभी लोग समन्वय बहुत ही करते हैं। समन्वय... समन्वय। जहर और अमृत इकट्ठे। जहर और अमृत का समन्वय। एक रेशम का टुकड़ा और एक.... पाणकोरुं नहीं। यह थैलियों का। यह चावल... चावल.. वह क्या कहते हैं? टाट। एक टाट का टुकड़ा और एक रेशम का टुकड़ा, इसका समन्वय करे। यह अक्ल नहीं है!

वीतरा त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जो छह द्रव्य और नव तत्त्व, पंचास्तिकाय कहे, ऐसी बात तीन काल-तीन लोक में अन्यत्र कहीं है नहीं। उन्हें (लोगों को) खबर नहीं और लगा देते हैं, वे भी ऐसा कहते हैं, वे भी ऐसा कहते हैं। सब में एक ही बात है न? सब में बात तो, ध्येय तो एक ही है न? धूल में भी ध्येय एक नहीं। सुन तो सही! ऐसा ही कहते हैं। तुमको खबर नहीं, ऊपर (वाला) कहा हो, वह तुमने मान लिया। सेठ!

खबर नहीं, खबर नहीं क्या चीज़ है और अभ्यास नहीं न? अभ्यास नहीं। समझ में आया?

कहते हैं **जिनोक्त द्रव्यगुणपर्यायरूप...** देखो! भाषा! वीतराग परमात्मा ने कहा हुआ द्रव्य, उनके कहे हुए गुण और उन्होंने कही हुई पर्याय। यह तो महा समुद्र है। **वस्तुस्वरूप की यथार्थ...** यह तो फिर मगनभाई याद आ गये। मगनभाई एक बार कहते थे, उसमें भी थोड़ा सत् तो है। है कहा। झपट लगी फिर तो, उन्होंने सुन लिया बराबर! पढ़े बहुत, निवृत्त बहुत है तो पढ़े बहुत। गीता और उपनिषद् यह और वह। थोथे थोथा दिमागवाले व्यक्ति। यहाँ भी है और उसमें भी कुछ है। है, कहा है। समझ में आया? नरभेरामभाई! यह तुमको कोई खबर नहीं पड़े और वकालत करके निवृत्त हुए और ऊपर वह कहे, वैसे हाँ, वह हाँ।

यह तो **जिनोक्त द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझपूर्वक...** भाषा देखो! इतनी कड़क। इतनी शर्त! जिनोक्त द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझणपूर्वक, जैसी वस्तु है, वैसी यथार्थ समझणपूर्वक। **निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कार की सम्यक् प्रतीति का सर्व प्रकार से उद्यम करनेयोग्य है;...** पहले तो यह सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता करो, पश्चात् दूसरी बात! समझ में आया? **पश्चात् ही उस चैतन्यचमत्कार में विशेष लीनता का यथार्थ उद्यम हो सकता है।** नहीं तो यथार्थ उद्यम नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? यह अधिकार भी आज पूरा करना था। डालचन्दजी! तुम पहले कह गये, फिर बाद में सेठ आये। कहा, आज नहीं चलेगा। हमारा निर्णय बदलता नहीं। और यह..... कारण था। समझ में आया?

ओहो! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा देवाधिदेव... तारणस्वामी भी जहाँ और तहाँ— जिनोक्त जिनोक्त हजारों बार जिन-जिन शब्द आता है। पढ़ा है? देरियाजी! कितनी बार? हेतु है। शब्द साधारण नहीं। चलती भाषा में रखा है। जिन... जिन... जिन... जिन... इसके अतिरिक्त कहीं तीन काल में बात है नहीं। यह जिन ने कहे हुए द्रव्य-गुण-पर्याय को पहले यथार्थ समझना। गुरुगम से-शास्त्र से; पहले गुरुगम हो! अपने आप शास्त्र पढ़े तो समझ नहीं आवे। आता है या नहीं? उसमें आता है। 'गुरु बिना

ज्ञान।' ऐसा पीछे आता है। हाँ, यह। बराबर है। क्या है ? उसमें आया बराबर! निमित्त आया न ? देवानुप्रिया!

यह तो समझ में योग्यता हो, तब सच्चे गुरु मिले बिना रहे नहीं, और मिले तो उनसे ज्ञान हो, ऐसा है नहीं। गजब भाई! दोनों बात! जैसी चीज़ है, वैसा बोध पहले गुरुगम से लेना चाहिए। **पश्चात् ही उस चैतन्यचमत्कार में विशेष लीनता का यथार्थ उद्यम हो सकता है।** यह पहले नहीं हो सकता। निर्जरा का अधिकार पूरा हुआ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)